

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER S No	DUE DTATE	SIGNATURE

आचार्यश्री शिवार्य विरचित

भगवती आराधना

आचार्यश्री अपराजित सूरि रचित विजयोदया टीका
तथा तदनुमारी हिन्दी टीका सहित

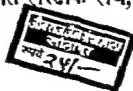
भाग २

पूर्व ग्रन्थमाला सम्पादक
स्व० डॉ० हीरालाल जैन
स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्ये

विरहमान ग्रन्थमाला सम्पादक
श्री प० कैलाशचन्द्र शास्त्री
सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी

सम्पादक एवं अनुवादक
सिद्धान्ताचार्य श्री प० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक
सेठ लालचन्द होराचन्द,
जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ, शोलापुर

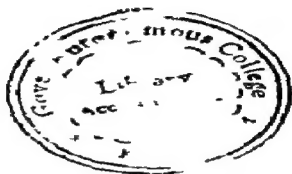


वीर सक्त् २५०४]

[ई० सन् १९७८

प्रकाशक
श्रीमान् सेठ लालचंद हीराचंद
अध्यक्ष—जैन संस्कृति संरक्षक संघ
मोलापुर

प्रथमावृत्ति
प्रति ११००



सर्वाधिकार सुरक्षित

मुद्रकः
वर्द्धमान मुद्रणालय,
जवाहर नगर कॉलोनी, दुर्गाकुण्ड, रोड,
वाराणसी-२२१००१

ACHARYA SHRI SHIVARAY'S
BHAGVATI-ARADHANA

With
The Samskrit text Vijaya-daya of Aparajit suri



Ex General Editors

Late Dr H L Jain

Late Dr A N Upadhye

General Editor

Pt Kailaschandra Shastri

Edited along with the Hindi Translation etc.

By

Pandit Kailaschandra Shastri

published by
Lalchand Hirachand

Jain Samskriti Samrakshaka Sangha
Sholapur



Copies of this book can be had direct from Jam Samaskriti Samrakshak
Sangha, Santosh Bhawan, Phaltan Galli, Sholapur (India)

Price Rs 20-00 per copy, exclusive of postage

श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला का परिचय

सोलापूर निवासी श्रीमान् स्व० ब्र० जीवराज गोतम चन्द दोशी कई वर्षोंमें उदासीन होकर धर्म कायमे अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी प्रबल इच्छा हुई कि अपनी न्यायो-पार्जित सम्पत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म तथा समाजकी उन्नतिके कार्यमें लगे।

तदनुसार उन्होंने अनेक जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियाँ इस बातकी सङ्गृहीत की, कि कौनसे कायमे सम्पत्तिका विनियोग किया जाय।

अन्तमें स्फुट मत सचय कर लेने के पश्चात् सन् १९४१ में प्रौढ कालमें मिद्ध क्षेत्र श्री गजपथजीके शीतल वातावरणमें अनेक विद्वानोंको आमन्त्रित कर उनके सामने लक्षापोह पूर्वक निर्णय करनेके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया गया।

विद्वत् सन्मेलनके फलस्वरूप श्रीमान् ब्रह्मचारी जीने जैन मस्कृति तथा प्राचीन जैन साहित्यका संरक्षण-उद्धार-प्रचारके हेतु 'जैन सस्कृति संरक्षक मण्ड' इस नामकी संस्था स्थापना की। तथा उनके लिए उक्त रु० ३०००० का वृहत् दान घोषित किया गया।

आगे उनकी परिग्रह निवृत्ति बढ़ती गई। सन् १९४४ में उन्होंने लगभग दो लाखकी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति मण्डको ट्रस्ट रूपसे अर्पण की।

इसी मण्डके अन्तर्गत 'जीवराज जैन ग्रन्थमाला' द्वारा प्राचीन मस्कृत-प्राकृत-हिन्दी तथा मराठी ग्रन्थोंका प्रकाशन कार्य आज तक अवण्ड प्रवाहमें चल रहा है।

आज तक इस ग्रन्थमाला द्वारा हिन्दी विभागमें ३४ ग्रन्थ तथा मराठी विभागमें ४४ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस ग्रन्थमालाका ३६ वा पुष्प प्रकाशित हो रहा है।



स्व ष जीवराज गौतमचंद दोषी
स्व रो ता १६-१-५७ (पीप नु १५)

प्रवचनमातृकाव्याख्यानयोत्तरप्रबन्धस्तत्र मनोगुप्ति वाग्गुप्ति व्याख्यातुमायातोत्तरमाया—

जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि त मणोगुप्ति ।

अलियादिणियत्ती वा मोण वा होड वच्चिगुत्ती ॥११८१॥

‘जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि त मणोगुप्ति’ या रागद्वेषाभ्यां निवृत्तिर्मनस्तथा जानोहि मनो-
गुप्ति । अत्रेदं परीक्ष्यते । मनसो गुप्तिरिति यदुच्यते किं प्रवृत्तस्य मनसो गुप्तिरस्याप्रवृत्तस्य ? प्रवृत्त चेदं शुभ
मनं तस्य का रक्षा । अप्रवृत्तं यदि तथापि असत् का रक्षा । ततोऽप्यपारपरिहारापयुक्तस्तेत्युच्यते ? किं च
मनोऽन्वेन किमुच्यते द्रव्यमन उत भावमन ? मनोद्वयवर्गणा मनश्चेन तस्य कोऽप्याया नाम यस्य परिहारो
रक्षा स्यात् ? किं च द्रव्यान्तरेण तेन रक्षितेनास्य जीवस्य कल य आत्मनः परिणामोऽनुभवमावहति । ततो-
ऽप्युक्तं रक्षात्मनः । अथ नो इन्द्रियमतिज्ञानावरणक्षयोपशममज्ञातं ज्ञानं मन इति गृह्यते तस्य अपायः कः ?
यदि विनाशः मनो परिहर्तुं शक्यते यतोऽनुभवसिद्धो विनाशः । अन्यथा एकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रवृत्तिरात्मनः
स्यात् । ज्ञानातीतं बोधं इवानागतमुत्पद्यते न चास्ति तदविनाशोपायः । अपि च इन्द्रियमतिरपि रागादिव्या-
वृत्तिरिष्टैव किमुच्यते रागादिणियत्ती मणस्स इति ।

अत्र प्रतिविधीयते—नो इन्द्रियमतिरिह मन शब्देनोच्यते । सा रागादिपरिणामं सत् एककाल आत्मनि
प्रवर्तते । न हि विषयावग्रहादिज्ञानमन्तरेणास्ति रागद्वेषयोः प्रवृत्तिः, अनुभवमिदंवास्ति नापरा युक्तिः अनु-
गम्यते । वस्तुतस्तानुयायिना मानसेन ज्ञानेन समं रागद्वेषौ न वर्तते इत्येतदप्यात्ममाश्रिकमेव । तत्र मनमस्त-

आगे प्रवचनमाताटीका व्याख्यान करते हैं । उनमें मे प्रथम मनोगुप्ति और वचनगुप्तिका
व्याख्यान करते हैं—

शा०-टी०—मनकी जो रागादिसे निवृत्ति है उसे मनोगुप्ति जानो ।

शका—यहाँ यह विचार करते हैं कि यह जो आप मनकी गुप्ति कहते हैं सो यह गुप्ति प्रवृत्त
मनकी है या अप्रवृत्त मनकी है ? प्रवृत्त मन तो शब्द रूप होता है उसको रक्षा कभी ? यदि मन
अप्रवृत्त है तो वह असत् हुआ, उसकी रक्षा कती । प्रवृत्त मनकी अपायमें बचाव करनेमें उप-
योगिता होती है । तथा मन शब्दसे द्रव्यमन लेते हैं या भावमन ? यदि द्रव्यवर्गणा रूप मन लेते
हैं तो उसका अपाय क्या, जिससे बचनेसे उसकी रक्षा हो । तथा द्रव्यवर्गणा रूप मन तो भिन्न
द्रव्य है । उसकी रक्षा करनेसे इस जीवको क्या लाभ जो आत्माके अनुभव परिणाम करता है ।
अन आत्माकी रक्षाकी बात युक्त नहीं है । यदि नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमने उत्पन्न
हुए ज्ञानको मन शब्दसे ग्रहण करते हैं तो उसका अपाय क्या है ? यदि अपायसे मनलभ विनाश
है तो उसका परिहार शक्य नहीं है क्योंकि विनाश तो अनुभवमे सिद्ध है । यदि ज्ञानका विनाश
न हो तो आत्माकी प्रवृत्ति सदा एक ही ज्ञानमे रहे । किन्तु ज्ञान तो तरंगोंकी तरह निरन्तर
उत्पन्न होते रहते हैं । उनके विनाश न होनेका कोई उपाय नहीं है । तथा इन्द्रियजन्य मतिकी
भी रागादिसे व्यावृत्ति मान्य है तब ‘मनकी रागादिसे निवृत्ति’ क्या कहते हैं ?

समाधान—यहाँ मन शब्दमे नोइन्द्रिय जन्य मति कही है । वह आत्मामे रागादि परि-
णामोंके साथ एक ही कालमे प्रवृत्तिशील है । विषयोंका अवग्रहादिज्ञान हुए विना रागद्वेषमे प्रवृत्ति
नहीं होती, यह बात अनुभव सिद्ध है । इसमे अन्य कोई युक्ति नहीं है । जो मानस ज्ञान वस्तुतत्त्व-
के अनुसार होता है उस ज्ञानके साथ रागद्वेष नहीं होते यह बात आत्ममाश्रिक है । अन नत्त्व-

त्वावप्राहिणो रागादिभिरसहचारिता या सा मनोगुप्ति । मनोग्रहणं ज्ञानोपलक्षणं तेन सर्वो बोधो निरस्तराग-
द्वेषकलङ्को मनोगुप्तिरित्युच्यते । इन्द्रियमती श्रुते, अवधौ, मनपर्यये वा परिणममानस्य न मनोगुप्तिः स्यात् । इष्यते
च । अथवा मन शब्देन मनुते य आत्मा स एव भण्यते तस्य रागादिभ्यो या निवृत्तिः रागद्वेषरूपेण या अपरि-
णति सा मनोगुप्तिरित्युच्यते । अथैव दूषे सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः दृष्टफलमनपेक्ष योगस्य वीर्यपरिणामस्य
निग्रहो रागादिकार्यकरणनिरोधो मनोगुप्तिः । 'अलिणादिगिण्यसौ वा मोघ वा होइ वचिगुती' विपरीतार्थप्रति-
पत्तिहेतुत्वात्परदुःखोत्पत्तिनिमित्तत्वाच्चाधर्मादा व्यावृत्तिः सा वागुप्तिः । ननु च वाचः पुद्गलत्वात् विपरी-
तार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वादिस्यो व्यावृत्तिहेतुर्वाचो धर्मो न चाती सवरणे हेतुरनात्मपरिणामत्वात् । शब्दादिबल ।
एव तर्हि व्यलीकाल्पर्यादात्मप्रशसापरात् परनिन्दाप्रवृत्तात्परोपद्रवनिमित्ताच्च वचसो व्यावृत्तिरात्मनस्तथा-
भूतस्य वचसोऽप्रवृत्तिः वागुप्तिः । या 'वाचः प्रवर्तयन् अशुभं कर्म स्वीकरोत्वात्मा तस्या वाच इह ग्रहणं
वागुप्तिरित्यत्र तेन वाचिवशेपस्यानुत्पादकता वाच परिहारो वागुप्तिः । मौनं वा सकलाया वाचो या परि-
हृति सा वागुप्तिः । अयोग्यवचनेऽप्रवृत्तिः प्रेक्षापूर्वकारितया योग्यं तु वचि वा न वा । भाषासमितिस्तु

का ग्रहण करने वाले मनका रागादि भावके साथ साहचर्य न होना मनोगुप्ति है । 'मन' शब्द ज्ञान-
का उपलक्षण है । अतः रागद्वेषकी कालिमामे रहित ज्ञानमात्र मनोगुप्ति है । यदि ऐसा न माना
जाय तो जब आत्मा इन्द्रिय ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मन पर्ययज्ञान रूपसे परिणत हो
उस समय मनोगुप्ति नहीं हो सकेगी । किन्तु उस समय भी मनोगुप्ति मानी जाती है । अथवा जो
आत्मा 'मनुते' अर्थात् पदार्थोंको जानना है वही मन शब्दसे कहा जाता है । उसको जो रागादिसे
निवृत्ति है अथवा रागद्वेषसे परिणमन करना वह मनोगुप्ति कही जाती है । ऐसा होने पर 'सम्यक्'
रूपसे योगका निग्रह गुप्ति है' ऐसा कहनेमें भी कोई विरोध नहीं है । सम्यक् अर्थात् किमी लौकिक
फलकी अपेक्षा न करके वीर्य परिणाम रूप योगका निग्रह अर्थात् रागादि कार्य करनेमें रोकना
मनोगुप्ति है ।

तथा विपरीत अर्थको प्रतिपत्तिमें कारण होनेमें और दूसरोंको दुःखकी उत्पत्तिमें निमित्त
होनेसे जो अधर्म मूलक वचनमें निवृत्ति है वह वचन गुप्ति है ।

शङ्का—वचन तो पौद्गलिक है अतः विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमें हेतु आदि होनेसे व्यावृत्ति
वचनका धर्म है और वह सवरमें कारण नहीं है क्योंकि वह तो पुद्गलका परिणाम है, आत्मा का
परिणाम नहीं है जैसे शब्द वगैरह पुद्गलके परिणाम हैं ।

समाधान—मिथ्या, कठोर, अपनी प्रशसा और परकी निन्दा करने वाले तथा दूसरोंमें
उपद्रव कराने वाले वचनमें आत्माकी निवृत्ति, जो इस प्रकारके वचनोंकी प्रवृत्तिको रोकती है
वह वचन गुप्ति है । वचन गुप्तिमें वचन शब्दसे जिस वचनको सुनकर प्रवृत्ति करता हुआ आत्मा
अशुभ कर्म करता है उस वचनका ग्रहण है । अतः वचन विशेषको उत्पन्न न करना वचनका
परिहार है और वही वचन गुप्ति है । अथवा ममस्त प्रकारके वचनोंका परिहार रूप मौन वचन-
गुप्ति है । अयोग्य वचनमें अप्रवृत्ति वचनगुप्ति है । प्रेक्षापूर्वकारी होनेमें वह योग्य वचन बोले
या न बोले । किन्तु योग्य वचन बोलना—उनका कर्ता होना भाषासमिति है । अतः गुप्ति और

योग्यवचस कृता नतो महाभेदो गुप्तिममित्यो । मौन वागुप्तिरत्र स्फुटतरो वचोभेद । योग्यस्य वचस प्रवर्तकता । वाच कस्याश्चित्तदनुत्पादकनेति ॥११८१॥

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती ।

हिंमादिणियत्ती वा सरीरगुत्ती हवदि दिट्ठा ॥११८२॥

‘कायकिरियाणियत्ती’ कायस्योदारिकादे शरीरस्य या क्रिया तस्या निवृत्ति ‘सरीरगे गुत्ती’ शरीर-विषया गुप्ति कायगुप्तिरिति यावत् । आमनस्यानशयनादीना क्रियात्वात् तासा चात्मना ‘प्रवर्तित्वात् कथ-मात्मन कायक्रियाभ्यो व्यावृत्ति । अथ मत, कायस्य पर्याय क्रिया, कायाच्चाथान्तरमात्मा ततो द्रव्यान्तरप-र्यायान् द्रव्यान्तर तत्परिणामशून्य तथापरिणत व्यावृत्त भवतीति कायक्रियानिवृत्तिरात्मनो भण्यते । सर्वेषामे-वात्मनामित्य कायगुप्ति स्यान् न चेष्टेति ।

अत्रोच्यते—कायस्य सम्बन्धिनी क्रिया कायशब्देनोच्यते । तस्या कारणभूतात्मन क्रिया कायक्रिया तस्य निवृत्ति । ‘काउस्सग्गो’ कायोन्मग शरीरस्याशुचितामसारतामाषनिमित्तता चावेत्य तद्गतममतापरि-हार कायगुप्ति । अन्यथा शरीरमायु शृङ्खलावद्ध त्यक्तु न शक्यते इत्यमम्भव कायोत्सर्गस्य । धातूनाम-नेकार्थत्वात् गुप्तिनिवृत्तिवचन इहेति सूत्रकाराभिप्रायोऽन्यथा ‘कायकिरियाणिवत्ती सरीरगे गुत्ती’ इति कथं ब्रूयात् । कायोत्सर्गग्रहणेन निश्चलता भण्यते । यद्येव कायकिरियाणिवत्ती इति न वक्तव्य, कायोत्सर्ग काय-

समितिमे महान् अन्तर है । मौन वचन गुप्ति है ऐसा कहने पर गुप्ति और समितिका भेद स्पष्ट हो जाता है । समिति योग्य वचनमे प्रवृत्ति कराती है । और गुप्ति किमी वचनकी उत्पादक नहीं है ॥११८१॥

गा०—टी०—काय अर्थान् औदारिक आदि शरीरकी जो क्रिया है उसकी निवृत्ति काय-गुप्ति है ।

शङ्का—बैठना, ठहरना, सोना आदि क्रियाएँ हैं । और वे क्रियाएँ आत्माके द्वारा प्रवर्तित हैं । तब आत्मा कायकी क्रियाओंसे कैसे निवृत्त हो सकता है । यदि कहोगे कि क्रिया कायकी पर्याय है और कायसे आत्मा भिन्न है । अत द्रव्यान्तर कायकी पर्यायसे द्रव्यान्तर आत्मा उस पर्यायमे रहित होनेमे कायकी पर्यायरूप परिणत नहीं होना अत उसमे वह निवृत्त है और इसीको आत्माकी कायकी क्रियाओंसे निवृत्ति कही है । तो इस प्रकारसे सभी आत्माओंके काय-गुप्तिका प्रमग आता है ।

समाधान—कायशब्दमे कायसम्बन्धी क्रिया कही है । उसकी कारणभूत आत्माकी क्रिया कायक्रिया है और उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है । अथवा कायोत्सर्ग अर्थान् शरीरकी अपवित्रता, अमरता और आपत्तिमे निमित्तपना जानकर उसमे समत्व न करना कायगुप्ति है । अन्यथा शरीर तो आयुकी साकलमे बँधा है । जब तक आयु है शरीरका त्याग नहीं किया जा सकता । यदि शरीर त्यागको कायोत्सर्ग कहेंगे तो कायोत्सर्ग अमम्भव हो जायगा । धानुओंके अनेक अथ होते हैं जन यहाँ गुप्तिका अर्थ निवृत्ति है ऐसा गायामूत्रकार आचार्यका अभिप्राय है । यदि ऐसा न होना तो ‘कायक्रिया निवृत्ति शरीर गुप्ति है’ ऐसा कैसे बहते ।

गुप्तिरित्येतदेव वाच्य इति चेत् न कायविषय ममेदभावरहितत्वमात्रमपेक्ष्य कायोत्सर्गस्य प्रवृत्ते धावनगमन-
लङ्घनादिक्रियामु प्रवृत्तस्यापि कायगुप्ति स्यात् चेप्यते । अथ कायक्रियानिवृत्तिरित्येतावदुच्यते मूर्च्छाभिग्नित-
स्यापि अपस्विन्दना विद्यते इति कायगुप्ति स्यात् । तत् उभयोपादान व्यभिचारनिवृत्तये । कर्मादाननिमित्त-
सकलकायक्रियानिवृत्ति कायगोचरमयतात्परापरा वा कायगुप्तिरिति सूत्रार्थः । 'हिंसादिगियत्तो वा सतीरगुत्तो
हृषीदि विद्वो' हिंसादिनिवृत्तीर्वा शरीरगुप्तिरिति दृष्टा जिनागमे, प्राणिप्राणवियोजन, अदत्तादान, मिथुनकर्म
शरीरेण, परिग्रहादानमित्यादिका या विशिष्टा क्रिया सेह कायशब्देनोच्यते । कायिकोपहृते गुप्तिव्यावृत्ति काय-
गुप्तिरिति व्याख्यात मूरिणा ॥११८२॥

छेत्तस्म वदी नयरस्म खाडया अहव होड पायारो ।

तह पावस्स णिरोहे ताओ गुत्तोओ साहुस्स ॥११८३॥

छेत्तस्म वदी' क्षेत्रस्य वृत्ति 'नगरस्य क्षातिक्वा अपवा पागारो अथवा प्रावारो भवति नगरस्य । 'तथा
पावस्स णिरोधो' पापस्य निरोध उपाय । 'ताओ गुत्तोओ' ता गुप्तय साधो ॥११८३॥

तम्हा तिविहेवि तुम मणवचिक्कायप्पओगजोगम्मि ।

होहि सुसमाहिदमदो णिरतर ज्ञाणसज्झाए ॥११८४॥

'तम्हा' तिविधेण मणवचिक्कायप्पओगजोगम्मि' मनोवाक्कायविषये प्रकृष्टे योगे । 'तुम' त्व । 'सुसमा-

शङ्का—यदि कायोत्सर्गसे निश्चलना कही जाती है तो 'कायक्रियानिवृत्ति कायगुप्ति है'
ऐसा नहीं कहना चाहिए । किन्तु कायोत्सर्ग कायगुप्ति है ऐसा ही कहना चाहिए ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कायमे यह मेरा है' इस भावकें न होने
मात्रकी अपेक्षासे कायोत्सर्ग शब्दको प्रवृत्ति होती है । किन्तु यदि कायगुप्ति यही है तो दौडना,
जाना, लापना आदि क्रियाओंको बर्तत हुए भी कायगुप्ति हो सकेगी । किन्तु ऐसा नहीं माना
जाता । और 'कायक्रियाकी निवृत्ति कायगुप्ति है' इतना ही कहा जाता है तो मूर्छित अवस्थामें
भी कायक्रियाकी निवृत्ति होनेसे कायगुप्तिका प्रमग आता है । इसलिए व्यभिचार दोषकी
निवृत्तिके लिए दोनोंका ग्रहण गायामें किया है ।

अतः कमके ग्रहणमें निमित्त समस्त कायकी क्रियाओंसे निवृत्ति और कायविषयक ममत्वका
त्याग कायगुप्ति है, यह गायामुत्रका अर्थ है ।

अथवा आगममें हिंसा आदिसे निवृत्तिको कायगुप्ति कहा है । यहाँ काय शब्दमें प्राणिघोके
प्राणोंका घात, बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण, शरीरसे मिथुन कर्म और परिग्रहका ग्रहण इत्यादि
विशिष्ट क्रिया कहें गई हैं । कायिक क्रियाओंमें गुप्ति अर्थात् व्यावृत्ति कायगुप्ति है ऐसा आचार्यने
व्याख्यान किया है ॥११८२॥

गा०—जैसे खेतकी बाड़ जोर नगरकी खाई अथवा चारदिवारी होती है वैसे ही पापको
गेकनेमें बाधुकी गुप्तिया होती हैं ॥११८३॥

गा०—इसलिए हे अत्तक ! तुम निरन्तर ध्यान और स्वाध्यायमें लगे रहकर मन बचन
काय विषयक तीन प्रकारके प्रकृष्ट योगमें सावधान रहो । क्योंकि ध्यान और स्वाध्यायके बिना
गुप्तियाँ नहीं ठहरती ॥११८४॥

हिवमवी होहि' सुष्ठु ममाहितमतिर्भव । कथं ? 'गिरतरं ज्ञानसज्जाए' निरन्तरप्रवृत्तध्यानस्वाध्याये । न हि ध्यानस्वाध्यायवन्तरेण गुप्तयोऽतिष्ठन्त इति भावः ॥११८४॥

समितिव्याख्यानायोक्तं प्रबन्धस्तत्रेयांसमिति निरूपणायोत्तरा गाथा—

मरगुज्जोवपओगालवणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो ।

सुनाणुवीचि भणिदा इरियासमिदी पवयणम्मि ॥११८५॥

'मरगुज्जोवपओगालवणसुद्धीहिं' मायशुद्धि, उद्योतशुद्धिरूपयोगशुद्धिश्चालम्बनशुद्धिरिति चतस्रः शुद्धयस्ताभिः करणभूताभिः । 'इरियदो' गच्छत । 'मुणिणो' मुने । 'सुत्ताणुवोचि' सूत्रानुसारेण । 'भणिदा' कथिता । 'इरियासमिदी' ईर्यासमिति । 'पवयणम्मि' प्रवचने । तत्र मार्गस्य शुद्धिर्नाम अप्रचुरविपीलिकादि-प्रसता, क्षोजाङ्कुरतृणहरितपलाशकदमादिरहितता । स्फुटतरता व्यापिता च उद्योतशुद्धिः । निशाकरनक्षत्रादीनामस्फुटप्रकाश, अव्यापो प्रदीपादिप्रकाश । 'पादोद्धारनिक्षेपदेशजीवपरिहरणावहितचेतस्ता' उपयोगशुद्धिः । गुरुनिर्घर्षतृणनिवन्दनादिकमपूववासन्नाथग्रहण, मयतप्रायोग्यश्रेष्ठमार्गण, वैयावृत्यकरण, अनियतावाम-स्वास्थ्यसाधनादने श्रमपराजय, नानादेशभ्रष्टासिद्धि, विनयेजनप्रतिबोधन चेति प्रयोजनापेक्षया आलम्बनाशुद्धिः । किं तन् सूत्रानुसारगमन, अद्वैत, नातिविलम्बित, पुरो युगमात्रदर्शनप्रवृत्ति, अद्विष्टचरणन्यास, भयवि-स्मयावन्तरेणासलीलमनत्युत्थेष परिहृतलङ्घनघावन प्रविलम्बितभुज, निर्विकार, अचपलमसंभ्रान्तमनूद्घ्व-निर्यक्प्रेक्षण, हस्तमात्रपरिहृततरुणतृणपल्लव, जकृतपशुपक्षिमृगादोजन, विरुद्धयोनिसंक्रमणजातवाधाव्यूहासाय

भागे समितिका व्याख्यान करते हैं । प्रथम ईर्यासमितिका कथन करते हैं—

गा०—दी०—मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि और आलम्बन शुद्धि, इन चार शुद्धियों-के द्वारा सूत्रके अनुसार गमन करते हुए मुनिके प्रवचनमें ईर्यासमिति कही है ।

मार्गमें चीटी आदि प्रम जीवोंकी अधिकताका न होना तथा दीज, अकुर, तृण, हरे पत्ते और कीचड़ आदिका न होना मार्गशुद्धि है । मूयके प्रकाशका स्पष्ट फेलाव और उमकी व्यापकता उद्योतशुद्धि है । चन्द्रमा नक्षत्र आदिका प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक आदिका प्रकाश व्यापक नहीं होता । पर उठाने और रखनेके देशमें जीवोंकी रक्षामें चित्तकी सावधानता उपयोगशुद्धि है । गुरु, तीर्थ, चैत्य और यतिकी वन्दनाके लिए गमन करना आदि किसीके पास शास्त्रका अपूर्व अर्थ या अपूर्व शास्त्रके अर्थका ग्रहण करनेके लिए गमन करना, मुनियोंके योग्य क्षेत्रकी खोजके लिए गमन करना, वैयावृत्य करनेके उद्देशसे गमन करना, अनियत आवासके उद्देशमें गमन करना, स्वास्थ्य लाभके लिए गमन करना, श्रमपर विजय पानेके लिए गमन करना, नाना देशोंकी भाषा सीखनेके लिए गमन करना, शिष्य समुदायका प्रतिबोधन करनेके लिए गमन करना, इत्यादि प्रयोजनोंकी अपेक्षा गमन करना आलम्बन शुद्धि है ।

सूत्रानुसार गमन इस प्रकार है—न बहुत जल्दी और न बहुत विलम्बसे सामने युगमात्र भूमि देखकर चलना, पादनिक्षेप अधिक दूर न करना, भय और आश्चयके बिना गमन करना, लीलापूर्वक गमन न करना, पर अधिक ऊँचा न उठते हुए गमन करना, लाधना दौडना आदि नहीं, दोनों भुजा लटकाकर गमन करना, विकार रहित, चपलता रहित, ऊपर तिर्यक् अवलोकन

कृतानुकृत्यतिरेक्यन, अप्रतिसारितप्रतिमार्गायापिमघट्टन दुष्टघेनु उलीवद् भारमेयादिपरिहृतिचतुर, परिहृत्युम-
सुगमपोभस्माद्रगामयतृणनिचयज'लोपलफलक, दूरीकृतचोरीकलह, 'अनासृद्धमक्रम निरूपयता यतेरीया-
समिति ॥११८५॥

भाषागमिनिनिष्पणायोत्तरभाषा—

सत्त्वं अमरुचमोस अलियादीदोसवज्जमणवज्ज ।

वदमाणस्मणुवीची भासाममिदी हवदि सुद्धा ॥११८६॥

सत्त्वविधा वाक्—सत्या, मृषा, मत्स्यसहिता मृषा, असत्यमृषा चेति । मता हिता सत्या । न सत्या
न च मृषा या सा अमरुचमोस । द्विप्रकारा वाचमित्यवभता । 'अलिगादिदोसवज्ज' व्यक्तीकता अर्थाभाव,
पाण्ड्य, पैशुण्ड्यमित्यादिदोषराहित । 'अणवज्ज' पापास्त्रयो न भवति इत्यनवध । 'वदमाणस्स' व्याहृत ।
'अणुवीचि' सूत्रानुसारेण 'भासासमिदी सुद्धा हवदि' भाषासमिति सुद्धा भवति ॥११८६॥

सत्यवचनभेद निरूपयति—

जनपदममदिठवणा नामे रूवे पडुच्चववहारे ।

सभावणववहारे भादेणोपम्ममरुचेण ॥११८७॥

'जनपदसत्तवि' नानाजनपदप्रसिद्धा गुप्तवेतानुविधायिनी वाणी जापवदस्य । गच्छति इति गी, गज-

रहित गमन करना, तरुण तृण पत्रोंसे एक हाथ दूर रहते हुए गमन करना, पशु पक्षी और
मृगोंको भयभीत न करत हुए गमन करना, विरुद्ध योनिवाले जीवोंके मध्यसे जानेपर उनको
होनेवाली बाधाको दूर करनेके लिए पीछीमे अपने शरीरको बारबार प्रतिलेखना करते हुए गमन
करना, सामनेसे आते हुए मनुष्योंसे न टकराते हुए गमन करना, दुष्ट गाय, दुष्ट बैल, कुत्ता
आदिसे चतुरतापूर्वक बचते हुए गमन करना, भुस, तुप, मसी, गीला गोबर, तृणसमूह, जल,
पापाण और लकड़ीके तन्तुसे बचकर गमन करना, चोरी और कलहसे दूर रहना और पुलपर न
चढ़ना । ये सब करते हुए गमन करना ईर्ष्यसमिति है ॥११८५॥

आगे भाषागमनिका कथन करते हैं—

गा०—वचनके चार प्रकार हैं—सत्य, असत्य, सत्यमहित असत्य और असत्यमृषा ।
मज्झिमेके हितकारी वचनको सत्य कहते हैं । जो वचन न सत्य होता है और न असत्य उसे
असत्यमृषा कहते हैं । इस प्रकार सत्य और असत्यमृषा वचनको बोलना तथा असत्य, कठोरता,
चुगली आदि दोषोंसे रहित और अनवध अर्थात् जिससे पापका आश्रय न हो ऐसा वचन सूत्रा-
नुसार बोलनेवालेके शुद्ध भाषासमिति होती है ॥११८६॥

मत्यवचनके भेद कहते हैं—

गा०—जनपद सत्य, मम्मति मत्य, स्थापना सत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य,
मग्भावना सत्य, व्यवहार मत्य, भाव मत्य और उपमा सत्य इस प्रकार सत्यवचनके दस भेद हैं ।

टो०—निश्चित जनपदोंमे जो उस उस जनपदके सकेतके अनुसार प्रचलित वाणी है वह

तीनि गज इत्येवमादिका अवयवार्थानुगमाभावेऽपि विवक्षितार्थप्रवृत्तिनिमित्तभूता । मम्मदिशब्देन सस्थानाम्युपगम उच्यते । गजेन्द्रो नरेन्द्र इत्यादिका शब्दा शुभलक्षणयोगान् वेपाञ्चिन स्वतो लक्षणत्वा नामोद्वरत्वेनाभ्युपगममाश्रित्य वचिद्गजे मानवे वा प्रयुज्यमाना सम्प्रतिमत्यशब्देनोच्यन्ते । अहन्निन्द्र स्कन्द इत्येवमादय मद्भावात्मभावस्थापनाविषया स्थापनामत्य । अग्रहनन, रजोहनन, इन्दन इत्येवमादीना क्रियाणा तत्राभावाद्ध्यलीकता नाशङ्कनीया आकारमात्रे परमाथत्वात्मवभावात् । तस्य च स्थापनाया वस्त्वामित्वाद् बुद्धिपरिग्रहेण वा सद्भावात् । इन्द्रादिगणा स्वप्रवृत्तिनिमित्तजातिगुणक्रियाद्रव्यनिरपेक्षा तच्छब्दाभिधेयसम्बधपरिणतिमाधेय वस्तुन प्रवृत्ता नामसत्य । रूपग्रहण उपलक्षण प्रवृत्तिनिमित्ताना नीलमुपलब्ध लोहि मृगलाञ्छन इत्येवमादिक रूपसत्य । सम्बन्धव्यन्तरापक्षामिष्यस्य च वस्तुस्वरूपालम्बन दीर्घो ह्रस्व इत्येवमादिक प्रतीत्यसत्य । वस्तुनि सत्याऽप्रवृत्तेऽपि तयाभूतकार्यकाम्यतादशाना सम्भावनया वृत्त सम्भावनासत्य । अपि दोर्म्या समुद्र तरेत्, चिरसा पर्वत भिन्नात् इत्यादि । वनमानकाले च परिणामा यद्यपि नास्ति तथाप्यतीतानागत-

जनपद सत्य है । जैसे गमन करे वह गाय है गर्जन करे वह गज—हार्थी है । यद्यपि गमनरूप और गर्जनरूप अर्थ नहीं होनेपर भी इन अर्थोंकी प्रवृत्तिमें निमित्तभूत वाणी जनपद सत्य है । अर्थात् जैसे गाय और गजशब्द गमन और गर्जन अर्थको लेकर निष्पन्न हुए हैं और उनका भवेत् गाय और गजमें किया गया है । गाय बैठी हो तब भी उसे गाय कहते हैं । इस प्रकार प्रत्येक देशकी भाषामें शब्द जनपद सत्य हैं ।

मम्मनि शब्दसे आकार विशेषकी स्वीकृति कही जानी है । जैसे गजेन्द्र नरेन्द्र इत्यादि शब्द शुभलक्षणके योगमें व्यवहृत होते हैं । किन्हींमें स्वयं शुभलक्षण पाये जानेसे उन्हें इन्द्र या ईश्वरके रूपमें स्वीकार करके किसी गजको गजेन्द्र या मनुष्यको नरेन्द्र कहना सम्प्रति सत्य है । किसी तदाकार या अतदाकार वस्तुमें अर्हन्त, इन्द्र या स्कन्दकी स्थापना करके उसे अर्हन्त आदि कहना स्थापना सत्य है । मूर्तिमें स्थापित अर्हन्त या इन्द्रमें अर्हन्तशब्दका अर्थ अरि—कर्मशत्रुका हनन करनी या कर्मगजका हनन करना और इन्द्र शब्दका अर्थ इन्दन क्रिया नहीं पाई जानी, इसलिए उसमें अमत्यपनेकी आज्ञा नहीं करनी चाहिए । क्योंकि सभी पदार्थ आकारमात्रम परमार्थ माने जाते हैं । और वह आकार तदाकार स्थापनामें वस्तुरूपमें रहता है अथवा अतदाकार स्थापनामें उसमें उस प्रकारकी बुद्धि कर ली जाती है ।

इन्द्रादि नामोंकी प्रवृत्तिमें निमित्त जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यकी अपेक्षा न करके जो उस शब्दका अपने वाच्यार्थके साथ सम्बन्ध है केवल उसी दृष्टिमें रखा वस्तुका इन्द्रादि नाम नाममत्त है । रूपका ग्रहण शब्दकी प्रवृत्तिके निमित्तोंका उपलक्षण है । जैसे कमलका नीला रूप देखकर नीलकमल कहना या चन्द्रमा सफेद कहना रूप सत्य है । अन्य वस्तुके सम्बन्धसे व्यक्त होनेवाला वस्तुका स्वरूप प्रतीत्य सत्य है जैसे किसीको लम्बा या ठिगना कहना ।

वस्तुमें वैसा नहीं होने पर भी उस प्रकारके कार्यकी योग्यता देखकर जो सम्भावना मूलक वचन है वह सम्भावना सत्य है । जैसे कहना अमुक व्यक्ति हाथोंमें समुद्र पार कर सकता है या मिरमें पर्वत तोड़ सकता है । इत्यादि । यद्यपि वर्तमान कालमें वस्तुमें वह परिणाम नहीं है तथापि

परिणामा 'इदमेव द्रव्यमिति कृत्वा प्रवृत्तानि वचांसि ओदन पच, कट कुटित्वेवमादीनि व्यवहारस्य । अहिमा-
लक्षणो भाव पाल्यते येन वचना तद्भावस्य निरोध्य खप्रयताचारो भवेत्येवमादिक । पत्योपममागरोप-
मादिकमुपमा सत्यम् ॥११८७॥

मृपादिवचनत्रयलक्षण वक्ष्यन्ति—

तत्त्विवरीद मोस त उभय जत्य सच्चमोम त ।

तत्त्विवरीया भामा असच्चमोमा हवे दिट्ठा ॥११८८॥

'तत्त्विवरीद' सत्त्विवरीत । 'मोस' मृपा । 'असच्चमिषानमनुत्' [न० सू० ७।] इति वचनान् । मिथ्या-
ज्ञानमिथ्यादर्शनयोरसद्यमस्य वा निमित्त वचनममदमिषान अप्रगस्त तत्पश्यद्विपरीत । 'त उभय' तत्सत्यमनु-
त् उभय । 'जत्य' यस्मिन् वाक्ये । 'त' तद्वाक्य । 'सच्चमोस' सत्यमप्येत्युच्यते । तत्त्विवरीया भासा' सत्याद-
नृत्तान्मिषाच्च पश्यभूता । भासा' भाषा वचन 'असच्चमोसा' असत्यमप्येति । 'हव' नवेन । 'दिट्ठा'
दृष्टा पूर्वगमेषु । एतान्तेन न सत्या नापि मृपा नोभयमिषा वितु जात्यन्तर यथा वस्तु नैका'तेन नित्य नापि
अनित्य नापि सर्वथा एकान्तयो समुच्चय वितु वक्ष्यचिदूषान्नित्यानित्यागमः । एवमिय भारती ॥११८८॥

सा नवप्रकारा तस्यास्य भेदा इत्यन्त इति गाथाद्वयेनाक्षटे—

आमत्तणि आणवणी जायणि मपुच्छणी य पणवणी ।

पचवखाणी भामा भामा इच्छणुलोमा य ॥११८९॥

अतीत और अनागत परिणाम रूप यही द्रव्य है ऐमा मानकर किया गया वचन व्यवहार सत्य है
जैसे भात पकाओ या चटाई बुनो । ये दोनों परिणाम वर्तमानमें नहीं हैं क्योंकि चावल पकने पर
भात बनेगा और बुनने पर चटाई होगी । फिर भी अनागत परिणामकी अपेक्षा इनका व्यवहार
होता है । जिस वचनके द्वारा अहिमा रूप भाव पाला जाता है वह वचन भाव सत्य है । जैसे
देखकर सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति कगे आदि । पत्योपम, मागरोपम आदिका जो कथन आगममें
कहा है वह उपमा सत्य है ॥११८७॥

असत्य आदि तीन वचनोका लक्षण कहते हैं—

गा०-टी०—सत्यसे विपरीत वचन असत्य है । सत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है 'असत् वहना झूठ
है ।' जो वचन मिथ्याज्ञानमें, मिथ्याश्रद्धानमें और असयममें निमित्त होता है वह वचन असत्
कथन रूप होनेमें अप्रगस्त है । अतः सत्यसे विपरीत है । जो वचन सत्य और असत्य दोनों रूप
होता है वह वचन सत्यमृपा है । जो वचन सत्य, असत्य और सत्य असत्यसे विपरीत होता है उसे
पूर्व आगमोंमें असत्यमृपा कहा है । वह वचन न तो एकान्तसे सत्य होता है न एकान्तसे असत्य
होता है और न सत्यासत्य होता है किन्तु आत्यन्तर होता है । जैसे वस्तु न तो एकान्तमें नित्य है,
न अनित्य है और न सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य है, किन्तु कश्चित् नित्यानित्य है । उमी
प्रकार मह असत्यमृपा वचन भी होता है ॥११८८॥

उम असत्यमृपा वचनके नौ भेद दो गाथाओंसे कहते हैं—

‘आमत्रणी’ यथा बाबा परोऽभिमुखीक्रियते सा आमन्त्रणी । हे देवदत्त इत्यादि । अगृहीतमन्त्रेन नाभिमुखी करोति इति न मत्प्रेकान्तेन गृहीतमभिमुखी करोति तेन न मृषा गृहीतगृहीतमन्त्रेण प्रतीतिनिमित्तमनिमित्त चेति द्वयात्मकता । स्वाध्याय कुर्वत, विरमतामयमात् इत्यादिका अनुशामनवाणी आणवणी । चोदिताया क्रियाया करणमकरण चापेक्ष नैकान्तेन सत्या न मूर्ध्व वा । ‘जायणी’ ज्ञानोपकरण पिच्छादिक वा भवदिन्द्रिय इत्यादिका याचनी । दानुरोक्षया पूर्ववदुभयस्या । निरोध^१ वेदनास्ति भवता न वेति प्रश्न-वाक् ‘सपुच्छणी’ । यद्यस्ति सत्या न चेदितरा इति । वेदनाभावभावमपेक्ष प्रवृत्तमयस्या । ‘पणवणी’ नाम धर्मकथा । मा बहन्मिदं प्रवत्ता कैश्चिन्मनसि करणमितरैरकरण चापेक्ष द्विरुपः । ‘पञ्चवणी’ नाम केनचिदगुरुमननुज्ञाय उद शौरादिक इत्यन्त काल मया प्रत्याख्यात इत्युक्त कार्यान्तरमुद्दिश्य^२ तत्कुर्वित्युदित गुरुणा प्रत्याख्यानादभिकालो^३ न पूर्ण इति नैकान्तत सत्यता गुणवचनात्प्रवृत्तो न दोषायेति न मूर्ध्वकान्त । ‘इच्छानुलोमा म’ ज्वरितेन पुष्ट पृतनकरामिध क्षीर न शोभनमिति । यदि परो ब्रूयात् शोभनमिति भाष्यार्थदि-

गा०—आमन्त्रणी आणवणी, याचनी, सपुच्छणी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी और इच्छानुलोमा ।

टी०—जिस वचनमें दूसरेको बुलाया जाता है वह आमन्त्रणी भाषा है । जैसे हे देवदत्त । यह वचन जितने सबैत ग्रहण नहीं किया उसे बुलाने वालेके अभिमुख नहीं करता अर्थात् वह बुलाने पर नहीं आता । इसलिए यह वचन सत्य भी नहीं है और जिसने सर्वथा सकेत ग्रहण किया है उसे अभिमुख करता है इसलिए असत्य भी नहीं है । इस तरह यह वचन गृहीत सकेत वालेको तो प्रतीति करानेमें निमित्त होता है किन्तु जिसने सकेत ग्रहण नहीं किया उसको प्रतीति करानेमें निमित्त नहीं होनेमें दो रूप है । ‘स्वाध्याय करो, असयमसे विरत होओ,’ इत्यादि अनुशामन वचन आणवणी है । जो काम करनेकी प्रेरणा की गई है वह करने या करनेकी अपेक्षा यह वचन न तो एकान्तसे सत्य है और न एकान्तने अमत्य है । आप मुझे ज्ञानके उपकरण अथवा पीठी आदि प्रदान करें, इत्यादि वचन याचनी भाषा है । यह भी दाताकी अपेक्षा पहलेकी तरह न तो सर्वथा सत्य है और न सर्वथा अमत्य है क्योंकि माँगने पर दाता दे भी सकता है और नहीं भी दे सकता ।

आपकी वेदना—कष्ट रुका या नहीं ? या निरोध—जेलमें आपको कष्ट है या नहीं ? इस प्रकार पूछना सपुच्छनी भाषा है । यदि वेदना है तो सत्य है, नहीं है तो मिथ्या है । इस प्रकार वेदनाके भाव और अभावकी अपेक्षासे प्रवृत्त होनेसे यह वचन उभयरूप है ।

धर्मकथाको पणवणी या प्रज्ञापनी कहते हैं । यह बहुतसे श्रोताओंको लक्ष करके होती है अतः कुछ तो अपने मनमें उसका पालन करनेका विचार करते हैं और कुछ नहीं करते । इस अपेक्षा यह भी उभयरूप है । प्रत्याख्यानी भाषा इस प्रकार है—किमीने गुम्मे निवेदन किये बिना यह दूध आदि मैंने इतने कालतक त्यागा’ ऐसा नियम किया । किसी अन्य कार्यको लक्ष करके गुरुने कहा ऐसा करो । उसके त्याग करनेकी मर्यादाका काल पूरा नहीं हुआ, इसलिए उसका प्रत्याख्यान सर्वथा सत्य नहीं है और गुरुकी आज्ञामें उमने त्यागी हुई वस्तुमें प्रवृत्ति की इसलिए दोष भी न होनेसे सर्वथा अमत्य भी नहीं है ।

इच्छानुलोमा भाषा इस प्रकार है—किसी ज्वरके रोगीने पूछा—घी और शक्कर मिला

१ यो वेदनाया अस्ति—आ० । निरोधो वेदनास्ति—अ० २ इय तद्गुहिन—अ० इय तन्मृद्विगु-
अ० । ३ इ तद्गुहिन गु—आ० । ४ कालेन पूर्वं इति—अ० । वागो ३ पूर्वं इति—अ० ।

प्रशम्यगुणसद्भाव ज्वरवृद्धिनिमित्तात् चापेक्ष्य न क्षाभनमिति वचो मृपैकान्ततो नापि मृत्यमेवेति द्वयात्म-
क्ता ॥११८९॥

ससयवयणी य तद्वा असच्चमोमा य अट्टमी भासा ।

णवमी अणक्सरगदा अमञ्चमोमा हवदि णेया ॥११९०॥

‘ससयवयणी’ क्रिय स्याणुकुत पुरुष इत्यादिका द्वयोरेवस्य मदभावनिमित्तग्न्याभाव चापेक्ष्य
द्विरूपता । ‘अणक्सरगदा’ अट्टलिस्फोटदिध्वनि वृत्तावृत्तसर्वेत्तपुण्यापेक्षया प्रतीतिनिमित्ततामनिमित्तता च
प्रतिपद्यते इत्युभयरूपा ॥११९०॥

उगमउप्पायणएमणाहिं पिंडमुवधि सेज्ज च ।

सोधिंतस्स य मुणिणो विसुज्झए एसणासमिदी ॥११९१॥

‘उगमउप्पायणएमणाहिं’ उद्गमोत्पादनपणादोपरहित भक्तमुपकरण वमति च गृह्यत एषणामितिर्म-
वतीति सूत्राय । दगवैकालिकटीकाया श्रोविजयोदयाया प्रपञ्चित उद्गमादिशेषा इति नेह प्रत-
न्यन्ते ॥११९१॥

आदाननिक्षेपणसमितितिरूपणा गाथा—

सहसाणाभोगिददुप्पमज्जिय अपच्चवेमणा दोसो ।

परिहरमाणस्स हवे समिदी आदार्णाणक्खेवो ॥११९२॥

‘सहसाणाभोगिद’ आलोचनप्रमाणे कृत्वा आदान निक्षेप इत्येको भङ्ग । अनालोक्य प्रमार्जनं कृत्वा

दूध उत्तम नहीं है ? यदि दूसरा कहे कि माघुर्य आदि प्रगस्त गुणोंकी अपेक्षा नो उत्तम है किन्तु
ज्वरको बढ़ानेवाला होनेसे उत्तम नहीं है तो इस प्रकारके वचन न सर्वथा व्यर्थ है और न सर्वथा
सत्य हैं किन्तु दोनों रूप होनेमें उभयात्मक हैं । यहाँ उभयात्मकमें इन वचनोंको नत्य और
असत्यरूप नहीं समझना चाहिए । किन्तु सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं अर्थात् अनुभयरूप
समझना चाहिए ॥११८९॥

गा०—आठवीं असत्यमृषा भाषा सशय वचनो है । जैसे यह स्याणु है या पुरुष । दोनोंमेंसे
एकके सङ्भाव और दूसरेके अभावकी अपेक्षा यह वचन उभयरूप है । और नौवीं असत्यमृषा
भाषा अनक्षरात्मक भाषा है । जैसे अगुलि चटवाने आदिका शब्द । जिस पुरपने मन्त्र ग्रहण
किया है उसे तो ध्वनिसे प्रतीति होती है दूसरेको नहीं होती । इस तरह यह वचन उभयरूप
है ॥११९०॥

अव एषणा समितिका कथन करते हैं—

या०—उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित भोजन, उपकरण और वसतिको
ग्रहण करनेवाले मुनिकी एषणा समिति निर्मल होती है ॥११९१॥

आदाननिक्षेपण समितिका कथन करते हैं—

गा०—टी०—विना देखे और विना प्रमार्जनं किये पुस्तक आदिका ग्रहण करना या रखना

आदान निक्षेपो वेति द्वितीयो भङ्गः । आलोच्य दुःप्रमृष्ट इति तृतीयः । आलोकित प्रमृष्ट च न पुनरालोकित शुद्ध न शुद्ध वेति चतुर्थो भङ्गः । एतदोपचयुष्ट्यपरिहरतो भवति आदाननिक्षेपणसमिति ॥११९२॥

एदेण चैव पदिट्ठावणसमिदीवि वणिणया होदि ।

वोमरणिज्ज दन्व थडिल्ले वोसरितस्स ॥११९३॥

‘एदेण चैव’ आदाननिक्षेपविषयककथनेन । ‘पदिट्ठावणसमिदीवि वणिणया होदि’ प्रतिष्ठापनसमितिवर्णिता भवति । ‘वोसरणिज्ज’ परित्यक्त्य मूत्रपुरीषादिक मल । ‘थडिल्ले वोसरितस्स’ थडिल्ले निर्जन्तुके, निश्चिच्छ्रे, समे व्युत्सृजत ॥११९३॥

एदाहिं सदा जुत्तो समिदीहिं जगम्मि विहरमाणो हु ।

हिमादीहिं ण लिप्पइ जीवणिकायाउले साहु ॥११९४॥

‘एदाहिं समिदीहिं’ गताभि । ‘सदा जुत्तो’ सदा युक्त । ‘जगम्मि विहरमाणो हु’ जगति विचरन्तपि । कीदृशी ? जीवणिकायाउले’ यद्जीवनिकायासीत् । हिमादीहिं’ हिंसादिभिः । ‘ण लिप्पइ’ न लिप्यते साधु । आदिग्रहणेन परित्यागन, सघट्टन, अङ्गव्यूनाकारणादिपरिग्रह । समितिषु प्रवर्तमान प्रमादरहित । ‘प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्युच्यते’ । हिंसादिसहितानि कर्माणि हिंसादिशब्दबोधोच्यन्ते । वार्ये कारणशब्दप्रवृत्ति प्रतीततरत्वात् ॥११९४॥

यद्यपि विद्यर्जननिमित्तगुणान्वित तत्र प्रवर्तमानमपि तेन न लिप्यते यथा स्नेहगुणान्वित तामरसपत्र

सहसा नामक प्रथम दोष है । बिना देखे प्रमार्जन करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना अनाभोगित नामक दूसरा दोष है । देखकर भी सम्य प्रतिनिर्लेखना न करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना दुःप्रमृष्ट नामक तीसरा दोष है । देखा भी और प्रमार्जन भी किया किन्तु यह शुद्ध है या अशुद्ध, यह नहीं देखा यह चतुर्थ अप्रत्यवेक्षण नामक दोष है । इन चारो दोषोको जो दूर करता है उसके आदान निक्षेपण समिति होती है ॥११९२॥

प्रतिष्ठापन समिति कहते हैं—

गा०—आदान और निक्षेप विषयक सावधानताका कथन करनेमें प्रतिष्ठापन ममतिकका कथन हो जाना है । त्यागने योग्य मूत्र विष्टा आदिको जन्तुरहित और छिद्ररहित समभूमिमें त्यागना प्रतिष्ठापन समिति है ॥११९३॥

गा०—टी०—इन पाँच समितियोंका सदा पालन करनेवाला मुनि छ प्रकारके जीवनिवायो-से भरे हुए लोकमें गमनागमन आदि करता हुआ भी हिंसा आदिमें लिप्त नहीं होता । ‘आदि’ शब्दसे छहकायके जीवोंको कष्ट दना उनका परस्परमें सघट्टन करना, उनके अंग उपागोंको छिन्न-भिन्न करना आदि पापोंसे लिप्त नहीं होता । समितियोंमें प्रवृत्ति करते हुए मुनि प्रमादमें रहित होता है । और प्रमत्तयोगमें प्राणोंके घातको हिंसा कहा है । हिंसा आदिमें सहित वर्य हिंसा आदि शब्दमें कहे जाते हैं । क्योंकि कार्यमें कारणशब्दकी प्रवृत्ति अति प्रसिद्ध है । आदान निक्षेपमें निमित्त गुणोंसे युक्त मुनि प्रवृत्ति करने हुए भी हिंसा आदि पापसे लिप्त नहीं होता ॥११९४॥

जैसे चित्रकणगुणमें युक्त कमल नीलमणिके समान निर्मल जलमें मदा रहते हुए भी

वाचनीलनीरगिन्तरवत्यपि नाम्बुना लिप्यते । निरन्तरनिचितजीवनिकायाबुलेऽपि जगति मञ्जरन्तपि मुनिर्न लिप्यते' अप्रमत्ततया प्रवृत्त पक्षेऽसु समितिष्विति वक्ष्यति—

पउमणिपत्त व जहा उदयेण ण लिप्पदि सिणेहगुणलुत्त ।

तह समिदीहिं ण लिप्पड माधु काएसु इरियतो ॥११९५॥

पउमणिपत्त' क्षणनया गायया-पद्यपत्र यथा नोदयेन विलिप्यते स्नेहगुणममन्वित । तथा कासेसु शरीरेषु प्राणभूता प्रवतमानोऽपि न लिप्यते साधु समितिभिर्हेतुभूताभि ॥११९५॥

सरवासे वि पडते जह दढक्वचो ण विज्झदि मरेहि ।

तह ममिदीहिं ण लिप्पड माधु काएसु इरियतो ॥११९६॥

सरवासे वि पडते शरवपेऽपि पतति सति च रणक्षणे यथा दृढक्वचो न शरीरमिद्यत, यथा समिति-भिर्हेतुभूताभिर्न लिप्यते कायेषु वतमाना मुनि ॥११९६॥

जत्थेव चरड वालो परिहारण्हू वि चरइ तत्थेव ।

वज्झदि पुण मो वालो परिहारण्हू वि मुच्चड सो ॥११९७॥

जत्थेव चरइ वालो यथा क्षण वर्तते जीवपरिहारवतमानविज । परिहारण्हू वि जीववाधापरिहार-प्रमत्ताऽपि तत्रैव वर्तते । तथापि वज्झदि सो पुण वालो' वक्ष्यते पुनरसौ ज्ञानबालश्चारिबालश्चानौ । परि-हारण्हू' परिहारण । मुच्चड' मुच्यत वमनेपात् ॥११९७॥

उक्तमयमुपसहरत्युक्तगायया—

तम्हा चेड्डिदुकामो जइया तइया भवाहि त ममिदो ।

ममिदो हु अण्णमण्ण णादियदि खवेदि योगण ॥११९८॥

जलसे लिप्त नहीं होता । पाँचो समितियामे अप्रमादोद्वपमे प्रवृत्ति करनेवाला मुनि भी निरन्तर जीव निवायासे भरे हुए जगत्मे गमनागमन करते हुए पापसे लिप्त नहीं होना । यह कहते हैं—

गा०—जैसे स्नेह गुणमे युक्त कमलपत्र जलसे लिप्त नहीं होता । उसी प्रकार प्राणियोंके शरीरोंके मध्यमेसे गमनागमन करते हुए भी साधु समितिका पालन करनेसे पापसे लिप्त नहीं होता ॥११९५॥

गा०—जैसे दृढ कवचसे युक्त योद्धा युद्धभूमिमे वाणोंकी वर्षा होते हुए भी वाणोंमे नहीं छिदता । उसी प्रकार पट्कायके जीवोंके मध्यमे विचरण करता हुआ भी समितियोंके कारण हिंसा आदिसे लिप्त नहीं होता ॥११९६॥

गा०—जीवोंकी हिंसामे वचनेके उपायोंको न जाननेवाला जिस क्षेत्रमे विचरण करता है, जीवोंकी हिंसामे वचनेके उपायोंको जाननेवाला भी उसी क्षेत्रमे विचरण करता है । तथापि वह ज्ञान और चाग्रिममे बालकके समान अज्ञ तो पापमे बद्ध होता है किन्तु उपायोंको जाननेवाला पापसे लिप्त नहीं होता बल्कि उससे मुक्त होता है ॥११९७॥

आगे उक्त वचनका उपसहार करते हैं—

यस्मात्समितिषु प्रवर्तमानो न बध्यते, पापेन मुच्यते । असमितस्तु महता बध्यते कर्मसमूहेन 'तम्हा' तस्मात् । 'चेट्टिहुकामो' गमनभाषणाद्यभिलाषी । 'जइया तइया' यदा तदा । 'त' भवान् 'समिदो भवाहि' समितिपरो भवेति नियोपकमूरिराह क्षपक । 'समिदो खु' समित सम्म्यक्प्रवृत्त ईयादिषु । 'अण्णसण्ण कर्म' अन्यत् अन्यत् । प्रत्यय । 'णादियदि' नैवादत्ते । 'सवेदि पोराण' प्राक्तन च कर्म क्षपयति निजरति ॥११९८॥

एदाओ अट्टपवयणमादाओ णाणदसणचरित्त ।

ग्मसति मदा मुणिणो मादा पुत्त व पयदाओ ॥११९९॥

'एदाओ अट्टपवयणमादाओ' एता अष्टपवचनमातृका 'वयदाओ' प्रयता । 'णाणदसणचरित्त रक्कजित्ति' मनीषीनज्ञानदर्शनचारित्राणि पालयन्ति सदा मुने । 'मादा पुत्त व जथा' जननी पुत्र यथा । प्रयता माता पुत्र पालयत्यपायस्यानेभ्य ॥११९९॥

व्रतभावनानिरूपणाद्योत्तरप्रबन्ध । त्रयोदशा वध चारित्र्य अवलम्बनाराधयतश्चारित्र्याराधना । तत्र व्रतानां स्वरूपं सम्प्रदक्षितुं भावना एकैकस्य पञ्च पञ्चार्थमहितास्तत्रेमा अहिमाव्रतभावना इति बोधयति ।

एषणामितिनिर्हृष्यते—

एमणसिक्खेवादाणिगियासमिदी तहा मणोगुची ।

आलोयभोयण वि य अहिमाए भावणा होति ॥१२००॥

'एमणसिक्खेवादाणिगियासमिदी' एमणसमिदी एषणामितिरावाननिक्षेपणासमिति, ईयांसमितिरतथा मनोगुप्ति । 'आलोयभोयण च' आलोकभोजन च । अहिमाए' अहिमाव्रतस्य । 'भावणा' भावना । 'होति' भवन्ति ।

भिक्षाकाल, बुभुक्षाकालोऽग्रहकालश्चेति कालत्रयं ज्ञातव्यं । ग्रामनगरादिषु इयता कालेन आहार-

गा०-टी०—यत् समिनियोका पालकपापसे लिप्त नहीं होता किन्तु उससे छूटता है और समितिका पालन न करनेवाला महान् कर्मसमूहसे बंधता है अतः जब तुम गमन करना या बोलना चाहो तो समितिमें सत्पर रहो । ऐसा नियोपकाचार्य क्षपकसे कहते हैं । क्योंकि ईयां आदिमें सम्म्यक् प्रवृत्ति करनेवाला नवीन नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करता और पूर्वमें बाँधे कर्मों की निर्जरा करता है ॥११९८॥

गा०—जैसे सावधान माता पुत्रकी अनिष्टोसे रक्षा करके उसका पालन करती है । वैसे ही सम्म्यक् रूपसे पालित ये आठ प्रवचन मातायें मुनिके सम्म्यग्ज्ञान सम्म्यग्दर्शन और सम्म्यक्चारित्र की रक्षा करती हैं ॥११९९॥

आगे व्रतोकी भावनाओका कथन करते हैं । जो तेरह प्रकारके चारित्र्यको निर्दोष आराधना करता है उसके चारित्र्याराधना होती है । उनमेंमे व्रतोकी स्थिर करनेके लिए एक-एक व्रतकी पांच-पांच भावना कही है । उनमेंसे अहिमाव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०-टी०—एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, ईयांसमिति, मनोगुप्ति और आलोक भोजन ये पाँच अहिमाव्रतकी भावना हैं । उनमेंमे एषणा समिति कहते हैं—भिक्षाकाल, बुभुक्षा-काल और अवग्रहकाल ये तीन काल जानना चाहिए । अमुक मागोमें ग्राम नगर आदिमें अमुक

निपत्तिर्भवति, अमीषु मानेषु, अल्प वा कुलस्य वाप्य भोजनकाल इच्छाया प्रमाणादिना निष्ठायाऽन्व-
गन्तव्यः । क्षुद्रस्य मम तोषा मन्दा वति स्वशरीरव्यवस्था च परीक्षणीया । अन्नमवग्रह पूर्व गृहीत एवभूत
आहारो मया न भोज्य इति । ज्ञाप्यमवग्रहो ममेति सोमानां चार्थाः । तदनन्तरं पुरतो मुग्धस्तरनाकभूमावा-
लोऽनुरत अद्भुत, अविलम्बित, असम्मानं व्रजेत् प्रलम्बबद्धुरविद्वष्टवरणस्यानो निषिद्धा ईषद्वदनतीनाङ्ग
अक्षदमेनानुद्वेन अग्रमहरितबहूतेन वर्त्मना । दृष्ट्वा तु खरान्, करमान्, बलीवर्दान्, गजान्तुरागमहिषान्ना-
रमेयान्कटकारिणो वा मनुष्यान्धरत परिहरेत् । पक्षिणो मृगारवाहाश्चालोदना वा यदा न दिव्यन्ति यदा
वा स्वमाहारं मृत्वा न व्रजन्ति तदा यायात् । मुमुना प्रतिरेखनेन कृतप्रयार्ज्जो गन्धर्वादि निरन्तरासु-
माहितफलादिकं वाग्रतो भवेत् मार्गान्तरमस्ति निम्नवर्णा वा भूमिं प्रविशन्तद्रणभूमा एव ब्रह्मनामं
बुधेति । तुषगोमयभस्मबुसफलानिचय दलोपलफलादिकं च परिहरेत् । निन्दनानो न क्रुध्येत्, पूज्यमानो-
ऽपि न तुध्येत् । न गीतमृत्युबहुल, उद्धितपत्राक वा गृहं प्रविशेत् । तथा नक्षत्राणां गृहं न प्रविशेत् । सुगन्ध-
ज्जनालोकाहितकुल वा यज्ञशाला दानशाला, विवाहगृहं वार्षमणानि रक्ष्यमाणानि, अमुक्तानि च गृहाणि
परिहरेत् । दरिद्रबुलानि उत्क्रमाद्यकुलानि न प्रविशेत् । ज्यष्ट्यान्पमस्यानि मममेवाटेन् । द्वारमालं वधाट वा
मोडाहयेत् । बालवत्स्य एलकं गुनो दा मोल्लक्षयेत् । पूर्णं फलैर्वाजैर्वावकीर्णं भूमिं व्रजेत् । तदानीमेव अव-
शिष्या । निष्ठाचरेण परेषु लाभाधिषु निक्षेपे नङ्गेह न प्रविशेत् । तथा कुटुम्बेषु अग्रविषयपदीनक्षेपे च

समय भोजन वनता है अथवा अमृक कुल्का या अमृक मुहाल्का अमृक समय भोजनका है ।
इस प्रकार इच्छाके प्रमाण आदिसे भिक्षाका काल जानना चाहिए । तथा मेरी भूख आज मन्द है
या तीव्र है इस प्रकार अपने शरीरकी स्थितिकी परीक्षा करनी चाहिये । मैंने पहले यह नियम
लिखा था कि इस प्रकारका आहार मैं नहीं लूंगा और आज मेरा यह नियम है इस प्रकार विचार
करना चाहिए । उसके पश्चात् आगे केवल चार हाथ प्रमाण जमीन देखते हुए न अधिक शीघ्रता-
से न एक-एककर किसी प्रकारके वेगके बिना गमन करना चाहिए । गमन करते समय हाथ
लटकते हुए हो चरण निक्षेप अधिक अन्तरालमें न हो, शरीर विकाररहित हो, मिर थोड़ा झुका
हुवा हो, मांमें कीचड़ और जल न हो तथा श्रमजीवो और हरितकायकी बहुलता न हो । यदि
मांमें गंधे ऊँट, बैल, हाथी, घोड़े, भैंस, कुत्ते सपवा कलह करनेवाले मनुष्य हो तो उस मांसि
दूर हो जाये । पक्षी और खाने पीते हुए मृग भयभीत न हो और अपना आहार छोड़कर न भागे,
इस प्रकारसे गमन करे । आवश्यक होनेपर पीछेसे अपने शरीरकी प्रतिरेखना करे । यदि मार्गमें
आगे निरन्तर इधर उधर फलादि पड़े हो, या मार्ग बदलता हो या भिन्न वर्णवाली भूमिमें प्रवेश
करना हो तो उन वर्णवाले भूमिभागमें ही पीछेसे अपने शरीरको साक कर लेना चाहिये । तुष,
गोबर, राख, भुन, और घासके ढेरमें तथा पत्ते, फल, पत्थर आदिसे बचते हुए चलना चाहिये,
इनपर पैर नहीं पड़ना चाहिये । कोई निन्दा करे तो क्रोध न करे और पूजा करे तो प्रसन्न न
हो । जिस घरमें गाना नाचना होता हो, झण्डिया लगी हो उस घरमें न जावे । तथा मत्तवालेके
घरमें न जावे । शराबी, बेव्या, लोकमें निन्दित कुल, यज्ञशाला, दानशाला, विवाहशाला घर
तथा जिन घरोंमें जानिकी मनाई हो, आगे रक्षक खड़ा हो, नव कोई न जा नक्ता हो ऐसे घरोंमें
नहीं जाये । दरिद्रबुलोमें और आचारहीन सम्पन्नबुलोमें भी प्रवेश न करे । बड़े छोटे और मध्यम
गृहोंमें एक नाथ ही भ्रमण करे । द्वारपर यदि साकल लगी हो या कपाट बन्द हो तो उन्हें खोलें
नहीं । बालक, वधवा, भेटा और कुत्तेको लांघकर न जावे । जिन भूमिमें पुष्प, फल और बीज
फले हो उनपरमें न जावे । तत्कालकी लिपी भूमिपर न जावे । जिन घरपर अन्य निष्ठायाँ

सत्सु नो तिष्ठेत् । भिक्षाचर भिक्षामार्गणभूमिमतिक्रम्य न गच्छेत् । याञ्चामव्यक्तस्त्वन वा स्वागमननिवेद-
नार्थं न कुर्यात् । विदुदिव स्वा तनु^१ च दर्शयेत् कोष्मलभिक्षा दाम्यतीति अभिक्षाधि न कुर्यात् । रहस्यगृह,
वनगृह, कदलीलतागुन्मगृह, नाट्यगान्धर्वशालाश्च अभिन्नचमनोऽपि न प्रविशेत् । बहुजनप्रचारे प्राणिरहिते
अगुच्यपरोपरोषवर्जिते अनिर्यमनप्रवेशमार्गे गृहिभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत् । समे विच्छिद्रे, भूमगे चतुरङ्गुत्पा-
दान्नरो निश्चल कुड्यस्तम्भादिस्त्र्यम्बलम्ब्य तिष्ठेत् । छिद्रद्वारकवाट, प्राकार वा न पश्येत् चार इव ।
दातुदागमनमाग अवस्थानदेश, कडुच्छन्नभाजनादिक च शोषयेत् । स्तन प्रयच्छन्त्या, गर्भिण्या वा दीयमान न
गृह्णीयात् । पिशाणा, अनिवृद्धेन, बालेनोन्मतेन पिशाचेन, भुग्धेनान्धेन, मूकेन, दुर्बलेन, भीतेन, शङ्कितेन,
अत्यामन्नेन^२, दूरेण, लज्जान्नावृतमुख्या, आवृतमुख्या, उपानदुपरिन्त्यस्तपादेन वा जनेनोन्नतदेशावस्थितेन वा
दीयमान न गृह्णीयात् । न खण्डेन भिन्नेन वा कण्डकटुकेन दीयमान कपालोच्छिष्टभाजने पद्मकदलीपत्रादि
भाजने निक्षिप्य दीयमान वा मांस, मधु, नवनीत, फल^३ अवदारित, मूल, पत्र, साङ्गुर, वन्द च वजयेत् ।
तत्सस्पृष्टानि मिद्वान्पि विपन्नपरमगन्धानि, कुपितानि, पुष्पितानि, पुराणानि, जन्तुसस्पृष्टानि च^४ न दद्यान्
खादेन, न स्पर्शेच्च । उद्गमोन्पादनं पणादापदुष्ट नाम्यवहरेत् । नवकोटिपरिगुदाहारग्रहणमेपणमिति ।

भिक्षाके लिए खड़े हो उस घरमें प्रवेश न करे । जिस घरके कुटुम्बी घरराये हो, उनके मुखपर
विषाद और दीनता हो वहाँ न ठहरे । भिक्षार्थियोंके लिए भिक्षा माँगनेकी जो भूमि हो, उस
भूमिमें भागे न जावे । अपना आगमन बतलानेके लिए याचना या अव्यक्त शब्द न करे । थिजली
की तरह अपना शरीरमात्र दिखला दे । कौन मुझे निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा भाव न करे । एकान्त
घरमें, उद्यान घरमें, केले लता और झाड़ियोंमें बने घरमें, नाट्यशाला और गायनशालामें
आदरपूर्वक आतिथ्य पानेपर भी प्रवेश न करे । जहाँ बहुतसे मनुष्योंका आना जाना हो, जीव
जन्तुसे रहित, अपवित्रता रहित, दूसरेके द्वारा रोक-टोकसे रहित तथा जाने आनेके मार्गसे
रहित स्थानमें गृहस्थोंकी प्रार्थनामें ठहरे । सम और छिद्ररहित जमीनपर दोनों पैरोंके मध्यमें
चार अंगुलका अन्तर रखकर निश्चल खड़ा हो और दीवार स्तम्भ आदिका सहारा न ले ।
चोरकी तरह द्वारमें लगे कपाटोंके छिद्र अथवा चार दीवारोंके छिद्रमेंसे न देखे । दाताके आनेके
मार्ग, उसके खड़े होनेके स्थान और करछुल आदि भाजनोकी शुद्धताकी ओर ध्यान रहे । जो
स्त्री बालकको दूध पिलाती हो या गर्भिणी हो, उसके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण न करे ।
गेगी, अतिवृद्ध, बालक, पागल, पिशाच, मूढ़, अन्धा, गूंगा, दुर्बल, डरपोक, शकालु, अनि
निवृत्तवर्ती, दूरवर्ती मनुष्यके द्वारा, जिसने लज्जासे अपना मुख फेर लिया या मुखपर घूँघट
ढाला है ऐसी स्त्रीके द्वारा, जिसका पैर जूतेपर रखा है या जो ऊँचे स्थानपर खड़ा है ऐसी
व्यक्तियोंके द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण नहीं करे । टूटे हुए या फूटे हुए करछुल आदिसे दिया
हुआ आहार ग्रहण न करे । तथा कपालमें, जूटे पात्रमें, कमल केलें आदिके पत्ते आदिमें रखकर
दिया हुआ आहार ग्रहण न करे । मांस, मधु, मक्खन, विना कटा फल, मूल, पत्र, अकुरित तथा
कन्द ग्रहण न करे । इनमें जो भोजन छू गया हो उसे भी ग्रहण न करे । जिस भोजनका रूप
रस गन्ध विगड़ गया हो, दुर्गन्ध आती हो, फफूँद आ गई हो, पुराना हो गया हो और जीव-
जन्तु जिसमें पड़े हो उसे न ता किसीको देना चाहिये, न स्वयं खाना चाहिये और उसे छूनातक

१ तनु न च-अ० ज० ।

२ नेन अदूरे-अ० ज० म० ।

३ पत्रादि हरित-अ० ।

४ चराद-अ० । च दीनाद-अ० ।

यन्निक्षिप्यते यत्र यदादीयते यस्तत्तदुभय प्रतिलेखनायोग्य न वति विलोच्य पञ्चातृत्तमार्जन पुनरवलोच्य निक्षिपेद् गृह्णीयाद्वा । एषा आदाननिक्षेपणसमिति । ईर्यामिति निमित्तव तथा मनोगुप्तिश्च । स्फुटतरप्रकाशा-
वशेनित्यस्य अन्नस्य भोजनमित्यहिमावतभावना पञ्च ॥१२००॥

द्वितीयव्रतभावना उच्यन्ते—

कोषभयलोभहस्यपदिण्णा अणुवीचिभासण चेव ।

विदियस्म भावणाओ वदस्स पचेव ता होंति ॥१२०१॥

कोषभयलोभहस्याना प्रत्याख्यानानि चतस्रः । 'अणुवीचिभासण चेव' सूत्रानुसारेण च भाषण ।
मत्स्या, मृषा, मत्स्यमृषा, अमत्स्यमृषा चेति चतस्रो वाच । तत्र सत्या असत्यमृषा वा ध्यवहणीया नैतरद्ध्य ।
क्राधादीनामसंयवचनकारणाना प्रत्याख्याने अगत्यावाक्परिहृता भवति नान्यथा ॥१२०१॥

तृतीयव्रतभावना उच्यन्ते—

अणुण्णादग्गहण अमग्गवुद्धी अणुण्वित्ता वि ।

एदावतियउग्गहजायणमध उग्गहाणुस्म ॥१२०२॥

'अणुण्णादग्गहण' तस्य स्वामिभिरननुज्ञातस्य अग्रहण ज्ञानापकरणार्थे । 'अमग्गवुद्धी अणुण्वित्ता
वि' परानुज्ञा सम्पाद्य गृहीतेर्ग्रह असाक्षबुद्धिता । 'एदावतिय उग्गहजायण' एतत्पन्निमाणमिदं भवता दातव्य-
मिति प्रयोजनमात्रपरिग्रह यावन्नाचितो यावदगृह्णामि इति न बुद्धिं वार्या । 'उग्गहाणुस्म' ग्राह्यवस्तुज्ञस्य इदं

नहीं चाहिये । जो भोजन उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषसे दुष्ट है उसे नहीं खाना चाहिये ।
इस तरह नौ कोटियोंमें शूद्ध आहार ग्रहण करना एषणा समिति है । जो वस्तु जिस स्थानपर
रखी जाय और जो वस्तु जिस स्थानसे उठाई जाये वे दोनों प्रतिलेखनाके योग्य हैं या नहीं, यह
देखनेके पञ्चात् पीछीसे उनकी झाडकर पुन देखे और तब रखे या ग्रहण करे । यह आदान
निक्षेपण समिति है । ईर्यामिति पहले कही है और मनोगुप्ति भी वही है । अति स्पष्ट प्रकाशमें
देखे गये अन्नका भोजन आलोकभोजन है । ये पाँच अहिमावतकी भावना हैं ॥१२००॥

दूसरे सत्यव्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—क्रोधका त्याग, भयका त्याग, लोभका त्याग, हास्यका त्याग और सूत्रके अनुसार
बोलना ये पाँच सत्यव्रतकी भावना हैं । वचनके चार भेद हैं—सत्य, असत्य, सत्य अमत्य तथा न
सत्य न अमत्य । इनमेंसे सत्य और अनुभय वचन बोलने योग्य हैं । शेष दो नहीं बोलने चाहिये ।
क्रोध आदि झूठ बोलनेमें कारण होते हैं । उनको त्याग देने पर असत्य वचनका त्याग हो जाता
है अन्यथा नहीं होता ॥१२०१॥

तीसरे व्रतकी भावना कहते हैं—

गा०—टी०—ज्ञानोपकरण आदिके स्वामीकी स्वीकृतिके बिना ज्ञानोपकरण आदिको स्वी-
कार न करना, स्वामीकी स्वीकृति मिलने पर स्वीकार की गई वस्तुमें भी आसक्ति न होना,
'आपको इतना देना चाहिये' इस प्रकार जितनेसे प्रयोजन हो उतना ही ग्रहण करना, जितना
मांगा है उतना ही ग्रहण करूँगा ऐसी वृद्धि नहीं रखनी चाहिये । जो ग्रहण करने योग्य वस्तुको

ज्ञानसयमयोरन्यतरस्य साधनमन्तरेण ज्ञान चारित्र्य वा मम न सिध्यतीति तस्य ग्रहणं नानुपयोगि नो याच-
तश्च ते ॥१२०२॥

वज्जणमणणुणादगिहप्पवेसस्म गोयरादीसु ।

उग्गहजायणमणुवीचिए तद्वा भावणा तडए ॥१२०३॥

‘वज्जणमणणुणादगिहप्पवेसस्म’ गृहस्वामिभिरननुज्ञानगृहप्रवेशजन भावना । ‘गोयरादीसु’ गोचरा-
दियु इव वैश्व प्रविश, अथ वा तिष्ठेति योजननुज्ञातो देशस्तस्य अप्रवेशन । ‘उग्गहजायणमणुवीचिए’ अवग्रह-
याचना मन्त्रानुसारेण तृतीये भावना ॥१२०३॥

महिलालोयणपुव्वरदिमरणमसत्तवसहिविकहाहिं ।

पणिदरसेहिं य विरदी भावणा पच वमस्स ॥१२०४॥

‘महिलालोयणपुव्वरदिमरणमसत्तवसहिविकहाहिं’ स्त्रीणामालोकन, पूर्ववत्तस्मरण, स्त्रीभिराकुला य-
वसति शृङ्गारकथा इत्येतद्विरतय । ‘पणिदरसेहिं य विरदी’ बलदपक्वरेभ्यो विरतिश्चेति पञ्च व्रत-
भावना ॥१२०४॥

अपडिग्गहस्स मुणिणो सदफरिमगसरूवगघेसु ।

रागदोसादीण परिहारो भावणा हुति ॥१२०५॥

‘अपरिग्गहस्स’ परिग्रह रहितस्य । ‘मुणिणो’ मुने । ‘सदफरिसररूवगघेसु’ शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु ।
मनोज्ञमनोज्ञेषु । ‘रागदोसादीण’ रागद्वेषयो परिहारो विषयभेदात्पञ्चप्रकारभावना पञ्चमस्य ॥१२०५॥

जानता है कि यह वस्तु ज्ञान और समयमेंसे एककी साधन है इसके बिना मुझे ज्ञान अथवा
चारित्र्यकी सिद्धि नहीं होगी और उसीको ग्रहण करता है, अनुपयोगी वस्तुको ग्रहण नहीं करता ।
उसीके ये भावना होती है ॥१२०२॥

गा०—गोचरी आदिमे गृहस्वामीके द्वारा अनुज्ञा नहीं दिये धरमे प्रवेश न करना अर्थात्
इन धरमे प्रवेश करें, अथवा यहाँ ठहरें इस प्रकारसे जहाँ गृहस्वामीकी अनुज्ञा प्राप्त न हो उस
देगमे प्रवेश न करे और शास्त्रके अनुसार ग्रहण करने योग्य वस्तुकी याचना करना, ये पाँच
अदत्तादानविरमण्यन को भावना है ॥१२०३॥

गा०—स्त्रियोकी ओर देखना, पूर्वमे भोगे हुए भोगोका स्मरण, स्त्रियोमे युक्त वसतिका,
शृङ्गारकथा और इन्द्रियोमे मद और बल पैदा करनेवाले रस, इन सबसे विरक्त होना ग्रहणचर्य-
व्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥१२०४॥

गा०—परिग्रह रहित मुनिका मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमे राग और द्वेषका
त्याग अर्थात् मनोज्ञमे राग और अमनोज्ञसे द्वेष न करना विषयोंके भेदसे पाँच प्रकारकी भावना
पाँचवें अपरिग्रह व्रत की है ॥१२०५॥

भाव माहात्म्य कथयति—

ण करेदि भावणाभाविदो खु पीड वदाण सव्वेसि ।

साधू पामुत्तो समुहदो व किमिदाणि वेदतो ॥१२०६॥

‘ण करेदि खु’ न करोत्येव । क ? ‘भावणाभाविदो’ भावनाभिर्भावित । ‘पीड’ पीडा । ‘वदाण’ व्रताना । ‘सव्वेसि’ सर्वेषा । ‘साधू’ साधु । ‘पामुत्तो’ प्रकर्षेण निद्रामुपगत । ‘समुहदो व’ समुद्रात् गतो वा । ‘किमिदाणि’ किमिदानी । ‘वेदतो’ चेतयमान ॥१२०६॥

एदाहिं भावणाहिं हु तम्हा भावेहि अप्पमत्तो त ।

अच्छिदाणि अस्सद्धाणि ते भविस्सति हु वदाणि ॥१२०७॥

‘एदाहिं’ एताभि । ‘भावणाहिं’ भावनानि । ‘तम्हा’ तस्मान् । ‘भावेहि’ भावय । ‘अप्पमत्तो त’ अप्रमत्तस्त्व । ‘अच्छिदाणि’ अच्छिद्राणि । नैरन्तर्येण प्रवृत्तानि । ‘अस्सद्धाणि’ सम्पूर्णानि तव भविष्यन्ति व्रतानि ॥१२०७॥

व्रतपरिणामोपघातनिमित्तानि शल्यानि ततस्तद्वर्जनं कार्यमित्याद्यष्टे—

णिस्सल्लस्सेव पुणो महव्वदाइ हवंति सव्वाइं ।

वदमुवहम्मदि तीहिं हु णिदाणमिच्छचमापाहिं ॥१२०८॥

‘णिस्सल्लस्सेव’ शल्यरहितस्यैव । शृणाति हिंस्तीति शल्य शरकण्टवादि शरीरादिप्रवेष्टेन तेन तुल्य यत्प्राणिनो वाधानिमित्तं, अन्तर्निविष्ट परिणामजात तच्छल्यमिह गृहीत । ‘महव्वदाइ’ महाव्रतानि भवन्ति । शल्य कस्यचिदेव व्रतम्योपघातक, यथा एषणाममित्यभावो अहिमाव्रतस्येत्याद्यङ्का निरन्त्यति सर्वदाभ्यो । ननु च महत्त्वेन व्रतमवशेष्य । मिथ्यात्वादिसल्य अणुव्रतान्यपि हन्त्येव । सत्य प्रस्तुतत्वाम्हाव्रतानामित्यमुष्य ।

भावनाका माहात्म्य कहते हैं—

गा०—भावनाओंसे भावित साधु गहरी नीदमें सोता हुआ भी अथवा मूर्छित हुआ भी सब व्रतोमें दोष नहीं लगाता । तब जागते हुए की तो बात ही क्या है ॥१२०६॥

गा०—इसलिये हे क्षपक । तुम प्रमाद त्यागकर इन भावनाओंमें अपनेको भावित करो । इसमें तुम्हारे व्रत निरन्तर बने रहेंगे और सम्पूर्ण होंगे ॥१२०७॥

शल्य व्रतरूप परिणामोके घातमें निमित्त होते हैं । अतः उनको त्यागना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०—टी०—शल्यरहितके ही सब महाव्रत होते हैं । ‘शृणाति’ अर्थात् जो कष्ट देता है वह शल्य है । जैसे शरीर आदिमें घुसनेवाला वाण, काँटा आदि । उनके समान जो अन्तरगमने घुसा परिणाम प्राणीको कष्ट पहुँचानेमें निमित्त है उसे यहाँ शल्य शब्दसे कहा है । जैसे एषणाममिति का अभाव अहिमा व्रतका घातक है वैसे ही शल्य किसी एक व्रतका घातक है क्या ? इस आशका को दूर करनेके लिये सर्व शब्दका प्रयोग किया है ।

शका—मिथ्यात्व आदि शल्य अणुव्रतोका भी घात करते हैं । यहाँ उन्हें महाव्रतोका घातक क्यों कहा ?

अथ चोत्र—हिमादिभ्यो विरतिपरिणाममात्राणि व्रतानि । शल्ये मिथ्यात्वादिवे सति किं न भवन्ति । येनैव-
मुच्यते नि शल्यस्यैव महाव्रतानि भवन्ति इति ? एतन्नतिविधानायाह—‘वदमुवहम्मदि’ व्रतमुपहृत्यते । ‘तोहि दु’
निमृमि । ‘णिदाणमिच्छतमायाहि’ निदानमिथ्यात्वमायाभि । अल्पात्तरत्वान्मायाशब्दस्य पूर्वनिपात इति
चेन—मिथ्यात्व द्वन्विधान प्रकरणेण करोतीति प्रधानं ततो मिथ्याव माया चेति द्विपदे द्वन्द्वे मिथ्यात्वशब्दस्य
पूर्वनिपात पञ्चान्निदानान्गदेन द्वन्द्व तस्याल्पात्तरत्वात्पुनर्निपात । सम्यक्चारित्रमिह मोक्षमार्गत्वेन प्रस्तुत,
तच्च नामतो सम्यग्दर्शनज्ञानयोर्भवति । सति मिथ्यावे विरोधिनि न ते स्त समोचीनज्ञानदर्शने । रत्नत्रय-
स्वात्मकुणे अनन्तज्ञानादिकाच्चाश्रयत्र चित्तप्रणिधान इदमेतत्स्म स्यादिति निदान । तच्च सम्यग्दर्शनादि-
परम्परया व्रतोपधानकारि । मनसा स्वातिचारनिगूहलक्षणा माया च व्रतमुपहृतीति मन्यते ॥१२०८॥

तत्थ णिदाण तिविहं होड पसत्थापमत्थभोगकद ।

तिविध पि त णिदाण परिपथो सिद्धिमग्गस्स ॥१२०९॥

तस्य तेषु शल्येषु । ‘णिदाण’ निदानाश्च शल्ये । ‘तिविध’ त्रिविध । ‘होडि’ भवति । ‘पसत्थमप-
सवभोगकद’ प्रगम्तनिदानमप्रगम्तनिदान, भोगनिदान चेति । ‘तिविध पि तनिदान’ त्रिप्रकारमपि निदान ।
‘परिपथो विज्ज । सिद्धिमग्गस्स’ रत्नत्रयस्य ॥१२०९॥

समाधान—आपका कहना सत्य है किन्तु यहाँ महाव्रतका प्रकरण होनेसे महाव्रतोका
घातक कहा है ।

शंका—व्रत तो हिंसा आदिसे विरतिरूप परिणाम मात्र हैं । वे मिथ्यात्व आदि शल्यके
होने पर क्यों नहीं होते, जिससे यह कहा गया है कि नि शल्यके हो महाव्रत होते हैं ?

समाधान—इस शङ्काका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—निदान, मिथ्यात्व और माया
इन तीनोंके द्वारा व्रतका घात होता है ।

शंका—माया शब्द अल्प अर्चवाला है अतः उसे पहले रखना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व व्रतका घात प्रकर्ष रूपसे करता है अतः प्रधान है ।
तब ‘मिथ्यात्व और माया’ ऐसा द्वन्द्व समाप्त करने पर मिथ्यात्व शब्दका पूर्व निपात होता है ।
फिर निदान शब्दके साथ द्वन्द्व करने पर निदान शब्दका पूर्व निपात होता है क्योंकि वह अल्प
अर्चवाला है । यहाँ मोक्षके मार्ग रूपसे सम्यक्चारित्रका कथन है । वह सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन
और सम्यग्ज्ञानके अभावमें नहीं होता । क्योंकि विरोधी मिथ्यात्वके रहते हुए सम्यग्ज्ञान और
सम्यग्दर्शन नहीं होते । रत्नत्रयरूप अथवा अनन्त ज्ञानादिरूप भुक्तिमें अन्यत्र चित्तका उपयोग
लगाना कि इसका यह फल भुक्ति मिले, निदान है । वह सम्यग्दर्शन आदिकी परम्परासे व्रतका
घातक है । तथा मनसे अपने दोषोंको छिपाने रूप माया भी व्रतका घात करती है ।

विशेषार्थ—निदानमें सम्यग्दर्शनमें अतिचार लगना है और व्रतका मूल सम्यग्दर्शन है ।
तथा निदानमें व्रतोका घात होता है ॥१२०८॥

गा०—उन शल्योंमें निदान नामक शल्यके तीन भेद हैं—प्रगम्त निदान, अप्रगम्त निदान
और भोग निदान । तीनों ही प्रकारका निदान मोक्षके मार्ग रत्नत्रयका विरोधी है ॥१२०९॥

प्रशस्तनिदाननिरूपणार्थोत्तरमाया—

सजमहेदु पुरिसत्तसवलविगियसघदणबुद्धी ।

सावअवधुक्कुलादीणि णिदाण होदि हु पसत्थ ॥१२१०॥

‘सजमहेदु’ समयनिमित्त । ‘पुरिसत्तत्तवलविगियसघदणबुद्धी’ पुरुषत्वमुत्साह, बल शरीरगत दाढपं, वीर्य वीर्यान्तरायकक्षयोपशमज परिणाम । अस्थिवन्धविषया वज्रशृङ्गभनाराचसहननादि । एतानि पुरुषत्वा-
दीनि समयमाधनानि सम स्युरिति चित्तप्रणिधान प्रशस्तनिदान । ‘सावयवधुक्कुलादिनिदान’ श्रावकवन्धुनिदान ।
‘अदरिद्रकुले, अवन्धुकुले वा उत्पत्ति प्रार्थना प्रशस्तनिदान ॥१२१०॥

अप्रशस्तनिदानमाचष्टे—

माणेण जाइकुलरूपमादि आइरियगणधरजिणत्त ।

सोभग्माणादेय पत्थतो अप्पसत्थ तु ॥१२११॥

माणेण’ मानेन हेतुना । ‘जातिकुलरूपमादि’ जातिर्मातृवश, कुल पितृवश, जातिकुलरूपमात्रस्य
सुलभत्वात्प्रशस्तजात्याविपरिग्रह । इह ‘आइरियगणधरजिणत्त’ आचार्यत्व, गणधरत्व, जिनत्व । ‘सोभग्माणा-
देय’ सोभाय, आज्ञा, आदेयत्व च । ‘पच्छेतो’ प्रार्थयत । ‘अप्पसत्थ तु’ अप्रशस्तमेव निदान मानकपाय-
दूषितत्वात् ॥१२११॥

प्रशस्त निदानका कथन करते हैं—

गा०—समयमे निमित्त होनेमे पुरुषत्व, उत्साह, शरीरगत दृढता, वीर्यान्तरायके क्षयोपशम
से उत्पन्न वीर्यरूप परिणाम, अस्थियोंके बन्धन विशेष रूप वज्रशृङ्गभनाराच सहनन आदि, ये
समय साधन भुजे प्राप्त हो, इस प्रकार चित्तमे विचार होना प्रशस्त निदान है । तथा मेरा जन्म
श्रावक कुलमे हो, ऐसे कुलमे हो जो दरिद्र न हो, बन्धु बान्धव परिवार न हो, ऐसी प्रार्थना
प्रशस्त निदान है ॥१२१०॥

विशेषार्थ—एक प्रतिमे दरिद्रकुल तथा एकमे बन्धुकुल पाठ भी मिलता है । दीक्षा लेनेके
लिये दरिद्रकुल भी उपयोगी हो सकता है और सम्पन्न घर भी उपयोगी हो सकता है । इसी
तरह बन्धु बान्धव परिवारवाला कुल भी उपयोगी हो सकता है और एकाकीपना भी । मनुष्यके
मनम विरक्ति उत्पन्न होने की बात है ॥१२१०॥

अप्रशस्त निदान कहते हैं—

गा०—मानकपायके वश जाति, कुल, रूप आदि तथा आचार्यपद, गणधरपद, जिनपद,
सोभाग्य, आज्ञा और आदेय आदिकी प्राप्तिकी प्रार्थना करना अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

टी०—माताके वशको जाति और पिताके वशको कुल कहते हैं । जाति कुल और
रूप मात्र तो सुलभ हैं क्योंकि मनुष्य पर्यायमे जन्म लेनेपर ये तीनों अवश्य मिलते हैं । इसलिये
यहां जाति कुल और रूपसे प्रशमनीय जाति आदि लेना चाहिये । मान कपायमे दूषित होनेसे
यह अप्रशस्त निदान है ॥१२११॥

कुटो वि अप्ससत्य मरणे पत्येड परवधादीयं ।

जह उगसेणघादे कद णिदाणं वमिद्वेण ॥१२१२॥

‘कुटो वि’ कुटोऽपि । ‘अप्ससत्य’ परवधादिक । ‘मरणे’ मरणकाले । ‘पत्येदि’ प्रार्थयते । ‘जहा’ यथा ‘उगसेणघादे’ उग्रमेनमरणे । ‘कद णिदाणं’ कृत निदानं ‘वमिद्वेण’ वसिष्ठेन मनना ॥१२१२॥

मोनिदाननिष्पन्ना—

देविगमाणुसभोगे णारिस्सरसिद्धिसत्यवाहत्त ।

केमवचक्कधरत्तं पत्यते होदि भोगकद ॥१२१३॥

‘देविगमाणुसभोगे’ देवेषु मनुष्येषु च भवान्भोगान् । ‘पत्यते’ क्षमिलपति । ‘भोगकद’ भोगकृत निदान । ‘णारिस्सरसिद्धिसत्यवाहत्त’ नारान्व, ईश्वरान्व, श्रेष्ठिान्व, सत्यवाहत्त्व च । ‘केमवचक्कधरत्तं’ वामुदेवत्व सकलचक्रवर्तिन्य च वाञ्छनि भोगार्थं । मोनिदान भवति ॥१२१३॥

सजम सहगरुढो घोतवपरक्कमो तिगुत्तो वि ।

पगग्ज्ज जह णिदाण सोवि य वड्ढेड दीहममार ॥१२१४॥

‘सजमसिहराहो’ मयम शिखरमिव दुःखरोहत्वादवलम्ब्याडा । एतदुक्त भवति । प्रहृष्टमयमोऽपि । ‘घोतवपरक्कमो’ घोरे तपसि पराक्रम उन्माहो यम्य भोगेऽपि दुर्धरतपोऽनुष्ठाप्यपि । ‘तिगुत्तो वि’ गुप्तित्रय-समन्वितोऽपि । ‘पगग्ज्ज जह णिदाणं’ निदानं यदि कुर्यात् । ‘सो विय’ व्यावर्णितगुणोऽपि ‘वड्ढेड’ वर्धयति समारमान् । किमपरमिन्निदानकारिणि वाच्यम् ॥१२१४॥

जो अप्ससुखहेदु कुणड णिदाणमविगणियपरमसुहं ।

सो कागणीए विक्केड मणि बहुकोडिमयमोल्ल ॥१२१५॥

गा०—क्रोड कपायके वश होकर भी कोई मरते समय दूसरेका बंध करनेकी प्रार्थना करता है । जैसे वशिष्ठ ऋषिने उग्रमेनका घात करनेका निदान किया था ॥१२१२॥

विशेषार्थ—वशिष्टनामने उग्रमेनको मारनेका निदान किया था । इस निदानके फलमे वह मरकर उग्रमेनका पुत्र बन हुआ । और उमने पिताको जेलमे डालकर राज्यपद प्राप्त किया । पीछे कृष्णके द्वारा स्वयं भी मारा गया ॥१२१२॥

भोगानिदानका कथन करते हैं—

गा०—देवों और मनुष्योंमे होनेवाले भोगोंकी अभिलाषा करना तथा भोगोंके लिए नारी-पना, ईश्वरपना, श्रेष्ठिपना, सत्यवाहपना, नारायण और सकल चक्रवर्तीपना प्राप्त होनेकी वाछा करना भोगनिदान है ॥१२१३॥

गा०-टी०—मयम पर्वतके शिखरके समान है क्योंकि जैसे पर्वतका शिखर अचल और दुःखने चढ़ने योग्य है वैसे मयम भी है । उस मयमपर जो आस्य है अर्थात् उत्कृष्ट मयमका धारो है, धार तप करनेमे उन्माही है अर्थात् दुर्ग तप करता है और तीन गुप्तिधोका धारो है, वह भी यदि निदान करता है तो अपना मनार बढ़ाता है, फिर दूसरे निदान करनेवालेका तो कहना ही क्या है ॥१२१४॥

‘जो अण्पुसुवखेटेडु’ योऽण्पुसुवनिमित्त निदान करोति परमे मुक्तिमुखे अनादर कृत्वा । स वाक्प्या
विब्रवीतीते मणि बहुकोटिदत्तमत्यम् ॥१२१५॥

सो भिदइ लोहत्थ णाव भिदइ मणि च सुत्तत्थ ।

छारफदे गोमीरं डहदि णिदाणं सु जो कुणदि ॥१२१६॥

‘सो भिदइ’ स भिनत्ति कीललोहार्यं नाव अनेकवस्तुभूता । भिनत्ति रत्न च सूत्रार्थ । गोमीरं च दन
दहति भस्मार्थं यो निदान करोति स्वल्पार्थ । सारविनाशसाधर्म्यादिभेदमाचष्टे—‘सूपकारोपरं दया यो
निदानकारी, तेन मोक्षभूतिक विनाशित । अर्थास्थानकानि बाच्यानि ॥१२१६॥

कोडी सतो लङ्घण डहइ उच्छु रमायण एसो ।

सो सामण्ण णासेइ भोगहेदुं णिदाणेण ॥१२१७॥

‘कोडी सतो’ कुण्डी सन् रसायनभूतमिदं लङ्घ्या दहति य समानता नाशयति सर्वदुःखव्याधिबिना-
शोद्यता भोगार्थनिदानेन ॥१२१७॥

पुरिमत्तादिणिदाण पि मोक्खकामा मुणी ण इच्छन्ति ।

ज पुरिमत्ताइमओ भवो भवमओ य ससारो ॥१२१८॥

‘पुरिमत्तादिणिदाणपि’ पुण्यत्वादिनिदानमपि मोक्षाभिलाषिणो मुनयो न वाञ्छन्ति । यस्मात्पुण्यत्वा-
दिण्यो भवपर्याय । नवात्मकश्च ससार भवपर्यायपरिवर्तस्वरूपत्वात् ॥१२१८॥

दुक्खक्खयकम्मक्खयसमाधिमरण च बोधिलाभो य ।

एय पत्थेयव्व ण पत्थणीय त्तओ अण्ण ॥१२१९॥

गा०—जो मुक्तिके उत्कृष्ट सुखका अनादर करके अल्पसुखके लिए निदान करता है वह
करोड़ों रूपयोंके मूतवाली मणिको एक कौडीके बदले बेचता है ॥१२१५॥

गा०—जो निदान करता है वह लोहेकी कीलके लिए अनेक वस्तुओंसे भरी नाव को—
जो समुद्रे जा रही है तोड़ता है, अस्मके लिए गोक्षीर्पचन्दनको जलाता है और धागा प्राप्त
करनेके लिए मणिनिर्मित हारको तोड़ता है । इस तरह जो निदान करता है वह थोड़ेसे
लाभके लिए बहुत हानि करता है । एक सूपकारने अपनी मूर्खतासे अपनी नाव नष्ट कर डाली
थी । इनकी क्याएँ (क्याकोसोसे) जानना ॥१२१६॥

गा०—जैसे कोई कोडी मनुष्य अपने रोगके लिए रसायनके समान ईखको पाकर उसे
जलाकर नष्ट करता है वैसे ही भोगके लिए निदान करके मूर्ख मुनि सर्व दुःख और व्याधियोंका
विनाश करनेमें तत्पर मुनि पदको नष्ट करता है ॥१२१७॥

गा०—मोक्षके अभिलाषी मुनिगण ‘मैं मरकर पुरुष हों’ या ‘मेरे वज्ररूपभनाराच
महान आदि हो, इस प्रकारका भी निदान नहीं करते । क्योंकि पुरुष आदि पर्याय भवव्यप है
और भवपर्यायका परिवर्तन स्वरूप होनेसे ससार भवमय है । अर्थात् नाना भवधारण करने रूप
ही तो ससार है ॥१२१८॥

‘दुषस्वस्वस्य दुःखानां शरीराणां, आगन्तुकानां स्वाभाविकानां च क्षयो भवतु । तथा कर्मणा तत्कारणभूतानां रत्नत्रयसम्पादनपुरःसरं मरणं, दीप्ताग्निमुखो बोधिलभश्च एतत्प्रार्थनीयं नान्यत ॥१२१९॥

पुरिसत्तादीणि पुणो सजमलामो य होइ परलोए ।

आराधयस्स णियमा तदत्थमङ्गदे णिदाणे वि ॥१२२०॥

‘पुरिसत्तादीणि’ पुरुषत्वादिक, समयलभश्च भविष्यति परजन्मनि । कस्य ? कृतरत्नत्रयप्राधान्यस्य निश्चयेन । तदर्थमङ्गदेऽपि निदाने ॥१२२०॥

माणस्म भजणत्थ चित्तेदब्बो सरीरणिब्बेदो ।

दोसा माणस्स तथा तहेव ससारणिब्बेदो ॥१२२१॥

‘माणस्स भजणत्थ’ मानभञ्जनार्थं ध्यातव्यं शरीरनिर्वेदः । तथा दोषाश्च मानस्य । तथैव समार-निर्वेदश्च ध्यातव्य इति क्षपकं निर्वापकमूरि शिक्षयति । शरीरस्य अनुचित्वादिवस्वभावचिन्तनं । किमेतेन शरीरेणैति शरीरे अनादरं शरीरनिर्वेदः । न कथं मानस्यं भञ्जने निमित्तं । स हि शरीरानुरागमेव विहृन्ति तत्प्रतिपक्षत्वान् । अत्रोच्यते—मानशब्दः सामान्यवचनोऽपि एवाभिमानविषयो गृहीतः । स च शरीरनिर्वेदेन भज्यते । मानस्य दोषा नीचकुलेपूतत्तिमान्मृगुणालाभः, सबिड्ढे व्यक्ता, रत्नत्रयाद्यलभ इत्यादिकाः । ससारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभयपरिवर्तनरूपस्य पराङ्मुखता ससारनिर्वेदः । तत्रोपयुक्तस्य अहङ्कारनिमित्तानां विनाशान्,

गा०—हमारे शारीरिक, आगन्तुक और स्वाभाविक दुःखोंका नाश हो । तथा उनके कारणभूत कर्मोंका क्षय हो । रत्नत्रयका पालन करते हुए मरण हो और जिनदीक्षाकी ओर अभिमुख करनेवाले जानका लाभ हो, इतनी ही प्रार्थना करने योग्य है । इनके सिवाय अन्य प्रार्थना करना योग्य नहीं है ॥१२१९॥

गा०—जो रत्नत्रयकी आराधना करता है उसे निदान न करने पर भी आगामी जन्ममें पुरुषत्व आदि का तथा समयका लाभ निश्चय ही होता है ॥१२२०॥

गा०—टी०—निर्वापकाचार्य क्षपकको शिक्षा देता है कि तुम्हें मानकपायका विनाश करने-के लिए शरीरमें निर्वेदका, मानके दोषों का और ससारसे निर्वेदका चिन्तन करना चाहिये । शरीरके अशुचित्व आदि स्वभावका चिन्तन करनेसे ‘इस शरीरसे क्या लाभ’ इस प्रकार शरीरमें अनादर होता है उसे ही शरीर निर्वेद कहते हैं ।

शङ्का—शरीरका चिन्तन मानकपायको दूर करनेमें निमित्त कैसे हो सकता है उसमें तो शरीरमें अनुराग का ही पात होता है क्योंकि शरीर निर्वेद उसका प्रतिपक्षी है ?

समाधान—यद्यपि मान शब्द मानसामान्यका वाचक है तथापि यहाँ एवविषयक अभिमान लिया है । वह शरीरके निर्वेदसे नष्ट होता है । नीच कुलोमें जन्म, आदरणीय गुणोंका प्राप्त न होना, सपका अपनेसे द्वेष करना, रत्नत्रय आदिका लाभ न होना, ये सब मानरूपायमें होनेवाले दोष हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भयपरिवर्तन रूप ससारमें बिमुख होना समार-निर्वेद है । समारनिर्वेदमें उपयोग लगानेमें अहङ्कारके निमित्तोंका विनाश होता है । क्योंकि

निन्दाना च गुणाना वदना असद्वृत्त्यवृत्ति अनेप्राणिलम्पत्त्वान् । स्वप्राप्तेभ्यो मुपेभ्योऽतिप्रयिताना गुणानामन्यैः पलम्पनात् ॥१२२१॥

कुलाभिमाननिरासोपायमावष्टे—

णीचो वि होइ उच्चो उच्चो णीचत्तण पुण उवेइ ।

जीवाणं खु कुलाइं पधियस्स व विस्समंताणं ॥१२२२॥

‘णीचो वि होइ’ स्थानमानैस्वर्यादिभिस्तिरोभूतो नीच इत्युच्यते । सोऽपि ‘होइ’ भवति । ‘उच्चो’ तैरेवोद्भूत । न उच्चो अतिगमितस्थानमानादिकाऽपि ‘नीचत्तण’ तन्मूनटा । ‘पुण उवेइ’ पुन उर्पति । जीवानां खु जीवानां यत्तु । कुलाइं कुलानि । कीदृग्भूताना ? ‘विस्समंताण’ विध्यमता ब्रूहि कुलानि कुलबहुत्वप्रकटनेन कुलानित्यता दर्शिता । अनियतकुलस्य क कुलगर्व । ‘पधियस्सव’ पधियस्य यथा विधामस्थान न नियतमस्ति तद्वदेवात्येति भावः ॥१२२२॥

किं च गर्वो ह्यात्मनो वृद्धि परस्य वा हानि कुटुम्बा मञ्जेषते तस्य मुक्तीश्चकार न चास्य वृद्धिहानी रत इति कथयति—

उच्चासु व णीचासु व जोणीसु ण तस्स अत्थि जीवस्स ।

वड्ढी वा हाणी वा सव्वत्थ वि तित्तिओ चेव ॥१२२३॥

‘उच्चासु व णीचासु व’ यत्र स्थित आत्मा शरीर निष्पादयति तद्योनिशब्देनोच्यते । न तस्य उच्चता नीचता वा तत् किमुच्यते उच्चासु व णीचासु व इति । अत्रोच्यते—योनिशब्देन कुलमेवात्रोच्यते । तैनायमर्थः । मान्ये कुले गर्हिते वा उत्पन्नस्य न तस्य जीवस्य वृद्धिर्हानिर्वा सर्वत्र तत्परिमाण एव ज्ञानादि-

अनेक निन्दनीय गुण, जो अहंकारमे निमित्त होते हैं, अनेक प्राणियोंमें पाये जाते हैं । तया अपने-को जो गुण प्राप्त हैं उनसे भी अतिशयशाली गुण दूसरोंको प्राप्त हैं । अतः उनका अभिमान कैसा ? ॥१२२१॥

कुलका अभिमान दूर करनेका उपाय कहते हैं—

गा०टी०—स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन व्यक्तिको नीच कहते हैं । जो स्थान, मान, ऐश्वर्य आदिसे हीन होता है वही नीच हो जाता है । जीवोंके कुल पथिकके विश्राम स्थानकी तरह हैं । जैसे पथिकके विश्राम लेनेका स्थान नियत नहीं है वैसे ही कुल भी नियत नहीं है । तब अनियत कुलका गर्व कैसा ? ‘कुलानि’ पद बहुवचनान्न होनेसे कुलोंकी बहुतायत प्रकट करता है । और कुलोंकी बहुतायतसे कुलोंकी अनित्यता दिखलाई है ॥१२२२॥

आगे कहते हैं कि अपनी वृद्धि और दूसरेकी हानिकी भावनासे गर्व होता है उसका अहंकार करना युक्त है किन्तु उच्च या नीच कुलमें जन्म लेनेसे आत्माकी हानि वृद्धि नहीं होती—

गा०टी०—शंका—जिसमें रहकर जीव अपने शरीरको रचता है उसे योनि कहते हैं । योनि तो उच्च या नीच होती नहीं । तब ‘उच्चासु व नीचासु’ क्यों कहा ?

समाधान—यहाँ योनि शब्दसे कुलको ही कहा है । अतः ऐसा अर्थ होता है—मान्य कुलमें अथवा निन्दनीय कुलमें उत्पन्न हुए जीवकी वृद्धि या हानि नहीं होती । सर्वत्र जीवका परिमाण

गुणातिशयादेव उत्कृष्टता । निन्दितगुण कुलीनोऽपि न पूज्यतेतरामन्यं । अमान्येऽपि कुले सम्भूतो यदि गुणी स्यात् । उक्तं च—

ससारवासे भ्रमतो हि जतोर्न चात्र किंचित्कुलमस्ति नित्यं ।
स एव नीचोत्तममध्यजाती स्वकर्मवश्यं समुपैति तास्ता ॥
नृपश्च दास इवपचश्च विप्रो दरिद्रवशश्च समुद्वेष्टा ।
धोरग्निदावाहितयाचिता (?) च सजायते कर्मवशात्स एव ॥
को बाधिकार मुकुतेषु नृणां का वा विहितान्यकुलप्रभृती ।
कार्योऽधिकारो ननु धर्म एव कार्यो विहितापि च मुकुतेषु ॥ [] ॥१२२३॥

कालमणत नीचागोदो होदूण लहह सगिमुच्च ।
जोणीमिदरसलाग ताओ वि गदा अणंताओ ॥१२२४॥

‘कालमणत नीचागोदो होदूण’ अनन्तकाल नीचगोत्रो भूत्वा । ‘सगिमुच्च जोणि’ लभते मङ्गदुर्चर्चगोत्र । कीदृशी ‘इदरसलाग’ इतरशलाका । इतरा नीचर्चयोनय शलाका यस्या उर्चर्चयौनेस्ता इतर-शलाका । ‘ताओ वि’ ता अपि ‘अन्तराले लब्धा अपि उर्चर्चयोनय । ‘गदा अणताओ’ अनन्ता प्राप्ता एवेन जीवने ॥१२२४॥

उतना ही रहता है । जानादि गुणोंमें अतिशय होनेमें ही उत्कृष्टता होती है । कुलीन भी यदि निन्दित गुण वाला होना है तो दूसरे उसका आदर सम्मान नहीं करते । और अनादरणीय कुलमें उत्पन्न होकर भी यदि गुणी होता है तो दूसरे उसका सम्मान करते हैं । कहते हैं—ससारमें भ्रमण करते हुए प्राणीका कोई कुल स्थायी नहीं है । वही जीव अपने कर्मके अधीन होकर नीच, उत्तम अथवा मध्यम कुलमें जन्म लेता है । वही जीव अपने कर्मके वश होकर राजा और दास, चाण्डाल या ब्राह्मण, दरिद्र वश वाला या सम्पन्न वश वाला होता है तथा बोर, आग और दावानलमें पीड़ित तथा मांगने वाला होता है । उच्च कुलमें मनुष्योंको जन्म लेनेका गर्व कैसा ? और नीच कुलमें जन्म लेने पर घृणा कैसी ? गर्व करना हो तो धर्ममें ही करना चाहिए और घृणा भी पापमें कानी चाहिए ॥१२२३॥

गा०-टी०—यह जीव अनन्तकाल तक नीच गोत्रमें जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेता है । इस प्रकार उच्च गोत्रकी शलाका नीच गोत्र है । शलाकासे मतलब है अनन्तकाल नीच गोत्रमें जन्म लेकर एक बार उच्च गोत्रमें जन्म । नीच गोत्रोंके अन्तरालमें प्राप्त उच्च गोत्र भी एक जीवने अनन्त बार प्राप्त किये हैं ॥१२२४॥

विशेषार्थ—यद्यपि यह जीव ससारमें भ्रमण करते हुए अनन्तबार नीच गोत्रमें जन्म लेता है तब कहीं एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेता है । तथापि अनन्त बार नीच गोत्रमें जन्म लेनेके परितः एक बार उच्च गोत्रमें जन्म लेनेकी परम्पराको भी इमने अनन्त बार प्राप्त किया है अर्थात् इस क्रममें इमने उच्च गोत्रमें भी अनन्त बार जन्म लिया है ॥१२२४॥

बहुसो वि लद्धविजडे को उच्चतम्मि विन्मओ णाम ।

बहुसो वि लद्धविजडे णीचत्ते चावि कि दुक्ख ॥१२२५॥

‘एव बहुसो वि’ बहुसोऽपि, ‘लद्धविजडे’ लब्धपरित्यक्तं च । ‘उच्चतम्मि’ मान्यकुलप्रसूतत्वे । ‘को णाम विन्मओ’ को नाम विस्मय । कदाचिदलब्धपूर्वमिदानोमेव लब्धमिति भवेद्गर्व । ‘बहुसो वि’ बहुसोऽपि । ‘लद्धविजडे’ लब्धपरित्यक्तं । ‘णीचत्ते चावि’ नीचगोत्रप्रसूतत्वे अपि । किं दुक्ख’ किमिदं दुःख ॥१२२५॥

उच्चतणम्मि पीदी सकप्पवसेण होइ जीवस्स ।

णीचत्ते ण दुक्ख तह होइ कसायवहुलस्स ॥१२२६॥

‘उच्चतणम्मि’ मान्यकुलत्वे । ‘पीदी’ प्रीति । सकप्पवसेण’ सवत्पवसेन ‘होइ जीवस्स’ भवति जीवस्य प्रशस्ते कुले जानोऽहमिति मनोनिधानात् प्रीतो भवत्यत्यय जन नेत्यभूत सकल्पमन्तरं सामान्यकुलत्वे सत्यपि प्रीतिर्भवति । नीचकुलत्वमेव च न दुःखस्य निमित्तं । अपि च ‘नीचतणे व’ नीचगोत्रत्वे च दुःख ‘तथा होइ’ तथा भवति । प्रीतिरिव परनिमित्तक भवति । कस्य ? कसायवहुलस्स’ कसायशब्द सामान्य-वधनोऽपि मानकपाये वर्तते । तेनायमय प्रचुरमानकपायो जनयति दुःखमस्य न नीचगोत्रत्वमेव ॥१२२६॥

प्रीतिपरितापो सकल्पायत्तावित्येतत्पट्यत्युत्तरणाय—

उच्चत्तण व जो णीचत्त पिच्छेज्ज भावदो तस्स ।

उच्चत्तणे व णीचत्तणे वि पीदी ण किं होज्ज ॥१२२७॥

‘उच्चत्तण व’ उच्चगोत्रत्वमिव ‘जो णीचत्त पेच्छेज्ज’ यो नीचगोत्रं प्रेक्षते इदं वण्डाल्य वरमिति । भावशब्दोऽनेकार्थवाच्यः इह चित्तवाच्यो । यन् येन लब्धं तत्तस्य शोभनं । अलक्ष्येन शोभनतापि किं नेनेति मनसि करोति यदा तदा तत्रैव प्रीतिरस्य जायते इति वदति उच्चतर्णं वि’ मान्यकुलत्वं इव नीचतर्णोऽपि’ नीचगोत्रत्वेऽपि । ‘पीदी किं ण होज्ज’ प्रीति किं न भवेत् भवत्येवेति यावत् ॥१२२७॥

गा०—इस प्रकार अनन्त बार प्राप्त करके छोड़े हुए उच्च कुलमे जन्म लेनेका गर्व कैसा ? गर्व तो तब होता जब अभी तक न पानेके बाद प्रथम बार ही इसे प्राप्त किया होता । तथा अनन्त बार प्राप्त करके छोड़े हुए नीच गोत्रमे जन्म लेनेका दुःख कैसा ॥१२२५॥

गा०—टी०—‘मैं उच्च कुलमे जन्मा हूँ’ ऐसा मनमे सकल्प होनेमे जीवका उच्चकुलमे अत्यन्त अनुराग होता है । इस प्रकारके सकल्पके बिना सामान्य कुलमे जन्म होने पर भी अनुराग नहीं होना । तथा नीच कुलमे जन्म लेना ही दुःखका कारण नहीं है । दुःखका कारण है मान-कपायकी बहुतायत । गाथांमे कपाय शब्द सामान्यवाची है तथापि यहाँ उसका अर्थ मानकपाय लेना चाहिए । मानकपायकी बहुतायत जीवको दुःख देती है, केवल नीच गोत्रमे जन्म ही दुःखका कारण नहीं होता ॥१२२६॥

अनुराग और दुःख सकल्पके अधीन हैं, यह कहते हैं—

गा०—टी०—गाथांमे आये भाव शब्दके यद्यपि अनेक अर्थ हैं तथापि यहाँ उसका अर्थ चित्त लिया है । जो मनसे उच्च गोत्रके समान नीच गोत्रको देखता है अर्थात् यह चाण्डाल कुलमे जन्म श्रेष्ठ है ऐसा मानता है । मनमे विचारता है कि जो जिमको प्राप्त है वही उसके लिए उत्तम है । जो प्राप्त नहीं है वह श्रेष्ठ भी हो तो उससे क्या ? ऐसा विचार करने ही उच्च कुलके समान नीच

णीचत्तणं व ज्जो उच्चत्त पेच्छेज्ज भावदो तस्स ।

णीचत्तणेव उच्चत्तणे वि दुक्ख ण किं होज्ज ॥१२२८॥

तद्विपरीताद्योत्तरमाथा । स्पष्टतया^१ वन्नुस्मिन्ति नापेपते । मङ्गुलपायता प्रीतिरप्रीतिर्वैत्यनुभव-
मिदमेवदविलम्ब जगत् इति वदति । यस्मादुच्चैर्गोत्रन्देऽपि न सुखदुःखयोर्भाविमावौ च भवत
मकल्पान् ॥१२२८॥

तम्हा ण उच्चणीचत्तणाइ पीदिं करोति दुःखत्वं वा ।

सकप्पो से पीदो करोदि दुक्ख च जीवस्स ॥१२२९॥

‘तम्हा’ तस्मान् । ‘उच्चणीचत्तणाणि’ मान्यामान्यकुलत्वानि । ‘न करोति पीदिं दुःखत्वं वा’ न कुरुत
प्रीतिं दुःखत्वं वा । ‘सकप्पो पीदिं करोदि’ सकप्पो ‘से’ अस्य जीवस्य तस्मान् प्रीतिं करोति दुःखत्वं वा । एति सकल्पे
भावादमिति अभावाच्च ॥१२२९॥

मानकपायमान्योऽयं दोष इति कथयति—

कुणदि य माणो णीयागोदं पुरिस भवेसु बहुएसु ।

पत्ता हु णीचजोणीं बहुमो माणेण लच्छिमदी ॥१२३०॥

‘कुणदि य’ करोति । ‘माणो’ अहकार । ‘णीयागोदं पुरिस’ नीचैर्गोत्रमस्येति नीचैर्गोत्र ‘पुरिस’
आत्मान । ‘भवेसु’ जन्मसु । ‘बहुमेसु’ बहुषु । ‘पत्ता’ प्राप्ता । ‘णीचजोणीं खु’ नीचैर्गोत्रमेव । का ? ‘लच्छि-
मदी’ लक्ष्मीमयी । केन निमित्तेन ? ‘माणेण’ सुख्या यौवनानुकूला कुलीना चेति गर्वेण ॥१२३०॥

कुलमे भी अनुराग क्यों नहीं होगा ? अवश्य ही होगा ॥१२२७॥

आगेकी गायामे हमने विपरीत बयन करते हैं—

गा०—जो जीव भावमे उच्चपनेको नीचपनेकी तरह देखता है उसको नीचपनेकी तरह
उच्चपनामे क्या दुःख नहीं होता ? होता ही है । किमीमे प्रीति या अप्रीति तो मकल्पके अधीन है
यह बात ममस्त जगत्के अनुभवमे सिद्ध है । क्योंकि मकल्पमे उच्च गोन होते हुए भी सुखका
भाव और दुःखका अभाव नहीं होता ॥१२२८॥

गा०—अत उच्च कुल या नीच कुल सुख या दुःख नहीं देता । किन्तु जीवका मकल्प
सुख या दुःख करता है । मकल्पके होने पर सुख दुःख होता है और मकल्पके अभावमे नहीं
होता ॥१२२९॥

आगे कहते हैं कि मानकपायके कारण यह दोष होता है—

गा०—मानकपाय अर्थात् अहकार पुरुषकी अनेक जन्मोमे नीच गोत्रो बनाना है । देखो,
लक्ष्मीमयी, मैं सुन्दर हूँ, कुलीन हूँ यौवनवती हूँ इस गर्वके कारण अनेक बार नीच गोत्रमे उत्पन्न
हुई ॥१२३०॥

विशेषार्थ—बृहत्कथा कोणमे १०८ नम्बरमे इसकी कथा दी है ॥१२३०॥

पूयावमाणरूपविरूढं सुभगत्तदुन्मगत्तं च ।

आणाणाणा य तद्वा विधिना तेणेव पडिसेज्ज ॥१२३१॥

‘पूयावमाणरूपविरूढं’ पूजा, अवमान परिभव । रूपशब्द सामान्यवचनोऽपि गोभनादीभिरन्यविषयतया इह विरूपशब्दमन्निधाने प्रयुज्यमानोऽतिशयिते रूपे प्रवर्तते । तेन मौग्य चेत्यर्थः । ‘सुभगत्तदुन्मगत्तं च’ सौभाग्य दुर्भाग्य च सर्वेषां प्रियत्व द्वेष्यत्व चेति ग्राह्यम् । ‘आणाणाणा म तद्वा’ आणा आदेशाप्रतिपात अनाज्ञा च तथा । विधिना माननिषेधप्रकारेणैव । ‘पडिसेज्ज’ प्रतिषेध्या । अभिधेयवशान्तिगवचनप्रवृत्तिरिति लिप्यन्तरेण पूजादिराशोपनोतेन प्रतिषेध्यशब्दस्याभिनव्यञ्च । परिभव प्राप्तोऽपि बहुधा कदाचित्सूज्यते । एवमपि प्राप्ता ह्यनन्तेषु पूजास्तत्र कोऽनुरो गोऽप्य । दुःख वा परिभवप्राप्ती । ‘पूज्यमानोऽपि बहुषु पुन परिभवानवाप्स्यति । न चात्मन पूजाया काचिद् वृद्धिः परिभवे वा हानि । सकल्पवशादेवात्मनो ज्ञायेने प्रीतिपरितापी न केवल पूजापरिभवाभ्यामेवेति । उक्तं च—

य स्तुयते शुचिगुणैर्मधुरैर्बन्धोभिः स निष्ठते च परपदं च नैव विचित्रं ।

हा चित्रतां कथमय भवसकटस्य प्राप्तोऽयनेव विधिवन्मफलोपभोग ॥

भूत्वा मनुष्यपतय पुनरेव दासा हीना भवन्ति शुचयोऽगुचयश्च भूय ।

कान्त्या^१ च ये युवतिभिर्विदमानरूपा द्वेष्या भवन्त्यसुभगत्वमुपैष्य भूय ॥

वृष्टः श्वविप्रवररत्नविभूषणो यः स दुश्यते विहङ्गपुष्पतया दरिद्रः ।

भूयश्च मित्रबहुबध्ननोपगूढः सलभ्यते ध्यसनभारमुदेक^२ एव ॥ [] ॥१२३१॥

गा०—टी०—मानकपायका जेमे निषेध किया है वैसे ही पूजा, अपमान, सौरभ्य, वैरुष्य, सौभाग्य, दुर्भाग्य, आज्ञा अनाज्ञाका भी निषेध जानना । गायामे आगत रूपशब्द यद्यपि सामान्यवाची होनेसे सुन्दर और असुन्दर दोनों ही प्रकारके रूपका वाचक है तथापि विरूप शब्दके साथमे प्रयुक्त होनेसे अतिशयरूपको कहता है । अतः उसका अर्थ सौरभ्य और वैरुष्य लिया गया है । मौभाग्यका अर्थ है सबको प्रिय होना और दुर्भाग्यका अर्थ है सबको द्वारा तिरस्कृत होना । जिमने अनेक जन्मोमे तिरस्कार पाया है वह भी कभी पूजा जाता है । इसी प्रकार अनन्त जन्मोमे पूजा प्राप्त करनेवाला भी तिरस्कृत होता है । अतः उनमे अनुराग कैसा और तिरस्कार पानेपर दुःख कैसा ? जो बहुत जन्मोमे पूजा जाता है वह पुनः तिरस्कारको प्राप्त करेगा । पूजा होनेपर आत्मामे वृद्धि नही होती और तिरस्कार होनेपर आत्मामे कोई हानि नही होनी । सकल्पके कारण ही प्रीति और सन्ताप होते हैं केवल पूजा और तिरस्कारमे नही होते । कहा भी है—

जो मधुर वचनोंके द्वारा अपने निर्मल गुणोंके लिये सस्तुत होता है वही नाना प्रकारके कठोर वचनोंसे निन्दाका पात्र होता है । कैसा आश्चर्य है कि ससाररूपी मकटमे पड़ा हुआ यह प्राणी अनेक प्रकारके कर्मोंके फलको भोगता है । मनुष्योंका स्वामी होकर उनका नीच दाम हो जाता है । पवित्र होकर पुनः अपवित्र हो जाता है । जो युवतियोंके प्रिय होते हैं वे ही दुर्भाग्य आनेपर द्वेषके पात्र बनते हैं । जो मनुष्य कभी उत्कृष्ट रत्नभूषणोंमे भूषित देखा गया है वही मनुष्य पुण्यहीन होनेपर दरिद्र देखा जाता है । जो बहुतमे मित्रों और बन्धु-बान्धवोंमे घिरा हुआ

१ पूजातोऽपि—अ० । २ नैवधित्वा—अ० ज० । ३ कान्ता च येपु युवति—अ० विपमानरूप द्वेष्या भवन्त्यसुभगत्वमुपैष्य भूय—अ० ज० । ४ वृष्टये च—अ० ।

‘इच्चेवमादि अविचित्तयदो माणो हवेज्ज पुरिसस्स ।

एदे सम्मं अत्थे पसदो णो होइ माणो हु ॥१२३२॥

जइदा उच्चत्तादिणिदाणं संसारवड्डण होदि ।

कह दीहं ण करिस्समिं ससार परवघणिदाण ॥१२३३॥

‘जइदा’ यदि तावत् । ‘उच्चत्तादिणिदाण’ उच्चैर्गोत्रता, पुण्यत्व, स्थिरशरीरता, अदरिद्रकुलप्रभृति-
बन्धुनैवमादिक मुक्तं परम्परया वाग्नमपि चित्ते जियमाणमपि । ‘ससारवड्डण होदि’ ममारवृद्धि करोति ।
‘क्विय ण करिस्समिं’ कथं न करिष्यमि । ‘दीहससार’ दीर्घससार । ‘परवघणिदाण’ परवधे चित्तप्रणि-
धान ॥१२३३॥

आचार्यगणधरत्वाद्विप्रार्थना कथमशोभना रत्नत्रयातिशयलाभप्रार्थना हि ‘सैत्थाशङ्कायामुच्यते—

आयरियत्तादिणिदाणे वि कदे णत्थि तस्म तम्मि भवे ।

धणिद पि मंजमंतस्म सिज्झण माणदोसेण ॥१२३४॥

‘आयरियत्तादिणिदाणे वि कदे’ आचार्यत्वाद्विनिदानेऽपि कृते । ‘णत्थि तस्म’ नास्ति तस्य । ‘तम्मि
भवे’ तस्मिन्भवे निदानकरणमवे । ‘धणिद पि मंजमंतस्म’ निन्दामपि तयम कुर्वत । किं नास्ति ‘सिज्झण’
मेघन मुक्तिः । केन ? ‘माणदोसेण’ मानकपायदोषेण । स ह्याचार्यत्वाद्विप्रार्थना करोति । पृष्टो भविष्यामीति
मङ्गल्येन, ततोऽप्यहमुता ॥१२३४॥

भोगदोषचिन्ताया मर्या निदान तथा न भवति इति कथयति—

होता है, विपत्तिमें पड़नेपर वही एकाकी देखा जाता है ॥१२३१॥

गा०—इत्यादि बातोंका विचार न करनेवाले पुरुषको मान होता है । और जो इन
बातोंको मम्यक् रूपमें देखता है उसको मान नहीं होता ॥१२३२॥

गा०—उच्चगोत्र, पुण्यत्व, शरीरकी स्थिरता, अदरिद्रकुलमें जन्म, बन्धु-बान्धव आदि
परम्परामें मुक्तिके कारण हैं ऐसा चिन्तमें विचारकर इनका निदान करना कि ये मुझे प्राप्त हो,
यदि ममारको बढ़ानेवाला है तो दूसरेके वधका चित्तमें निदान करना दीर्घ मसारका कारण
क्यों नहीं है ? अवश्य है ॥१२३३॥

यहाँ कोई शका करता है कि रत्नत्रयमें अनिश्चय लाभकी भावनासे मैं आचार्य गणधर
आदि वनों ऐसी प्रार्थना क्यों बुरी है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—आचार्य पद आदिका निदान करनेपर भी जिस भवमें निदान किया है उस भवमें
अन्यन्त मयमका पालन करनेपर भी मानकपायके दोषके कारण उसकी मुक्ति नहीं होती, क्योंकि
वह ‘मैं पूज्य होंगे’ इस मङ्गलमें आचार्य आदि होनेकी प्रार्थना करता है । इसमें उसका अहंकार
प्रकट होता है ॥१२३४॥

आगे रहते हैं कि भोगोंके दोषोंका चिन्तन करनेमें भोगोंका निदान नहीं होता—

भोगा चितेदन्वा किंपागफलोवमा कहुविवागा ।

मधुरा व भुंजमाणा पन्डा बहुदुक्खभयपउरा ॥१२३५॥

‘भोगा चितेदन्वा’ भोगाचिन्त्या । ‘किंपागफलोवमा’ किम्पागफलसदृशा । ‘कहुविवागा’ बहु अनिष्ट विषाक हन् एवमिति बहुविवागा । ‘मधुरा व’ मधुरा इव । ‘भुंजमाणा’ भुज्यमाना । ‘मज्जे’ मज्जे । ‘बहुदुक्खभयपउरा’ विचित्र दुःखभया ॥१२३५॥

भोगनिदानदोष कथयति—

भोगणिदाणेण य सामण्णं भोगत्थमेव होइ कदं ।

‘साहालंगा जह अत्थिदो वणे को वि भोगत्थं ॥१२३६॥

‘भोगनिदाणेण य’ भोगनिदानेन वा । ‘सामण्णं’ ग्रामण्य । ‘भोगत्थमेव होइ कदं’ भोगार्थमेव कृतं न कर्मक्षयार्थं भवति । ‘भोगनिदाने सति रागव्याकुलचित्तस्य प्रायश्चर्यमप्रवाहस्वीकृती उद्यतस्य वा सदनं तदा ॥१२३६॥

आवडणत्थं जह ओसरणं मेसस्म होइ मेसादो ।

मणिदाणवभवेर अण्णभत्थं तहा होइ ॥१२३७॥

‘आवडणत्थं’ अभिघातार्थं । ‘जह’ यथा । ‘ओसरणं’ उपशमः । ‘मेसस्म होइ’ मेपस्य भवति । ‘मेसादो’ मेयान् । ‘मणिदाणवभवेर’ सनिदानस्य यत्तेहोचयं । ‘अण्णभत्थं’ मेयुनायं । ‘तहा होइ’ तथा भवति ॥१२३७॥

जह वाणिया य पणियं लाभत्थं विकिणंति लोमेण ।

भोगाण पणिदभूदो मणिदाणो होइ तह धम्मो ॥१२३८॥

गा०—ये भोग किंपागफलके समान हैं । जैसे किंपागफल खाते समय मोठा लगता है किन्तु उसका परिणाम अतिवदुःख होता है । उसको खानेवाला मर जाता है । उनी प्रकार इन्द्रियोंके भोग भोगनेमें मधुर लगते हैं किन्तु उनका फल अतिवदुःख होता है पीछेमें जीवको बहुत दुःख और भय भोगना पड़ता है ॥१२३५॥

भोगनिदानके दोष कहते हैं—

गा०—टी०—मुनिपद धारण करके भोगका निदान करनेमें तो मुनिपद भोगोंके लिए ही धारण किया कहलायेगा । कर्मक्षयके लिये नहीं कहलायेगा । क्योंकि भोगका निदान करनेपर चित्त रागने व्याकुल रहता है और ऐसा होनेसे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है तब उनके मुनिपद कैसा ? जैसे कोई वनमें वृक्षकी शाखामें लगे फलोंको खानेमें लग जाये तो उनके अपने इच्छित स्थानपर पहुँचनेमें विघ्न आ जाता है वैसे ही भोगका निदान करनेवाले अमणवी भी दशा होती है ॥१२३६॥

गा०—जैसे एक मेढा दूसरे मेढेपर अभिघात करनेके लिये पीछे हटता है वैसे ही भोगका निदान करनेवाले यत्तिका ब्रह्मचर्य भी ब्रह्म अर्थात् मेघुनके लिए ही होता है ॥१२३७॥

१ साहोदरो—मु०, मूलरा० । माहामगा—आ० ।

'जह वाणिज्य' यथा वणिज । 'पणिय' पण्य । 'लाभत्य' लाभार्थ । 'विविक्कति' विव्रीणन्ति । 'लोभेण' लोभेन । 'भोगाण' भोगाना । 'पणिदो भूदो' पण्यभूत । 'सणिदाणो' सनिदान । 'तहा धम्मो होदि' तथा धर्मो भवति ॥१२३८॥

भोगनिदानवत् १ श्रामण्य प्रणिवृत्ति—

मपरिगहस्स अन्वभचारिणो अविरदस्म से मणसा ।

काएण सीलवहण होदि हु णडसमणरूव व ॥१२३९॥

'सपरिगहस्स' सपरिग्रहस्य भोगनिदानवतो वेदजनितो रागोऽभ्यन्तर परिग्रह इति सपरिग्रह । तस्य । 'अन्वभचारिणो' मनसा मैयुनकर्मणि प्रवृत्तस्य । 'अविरदस्स' अव्यावृत्तस्य मैयुनात् । 'मनसा' चित्तेन । 'से' तस्य कायेन क्षु शरीरेणैव । 'सीलवहण' ब्रह्मचर्यवहन । 'होदि' भवति । 'णडसमणरूव व' मठानां श्रमण-रूपमिव । कायेन भावश्रामण्यरहितं यथा अफलमेवमिदमपि इति भाव ॥१२३९॥

गेग इच्छेज्ज जहा पडियारसुहस्स कारणे कोई ।

तह अण्णोसदि दुक्ख सणिदाणो भोगतण्हाए ॥१२४०॥

'गेग क्लेशज' व्याधिर्मिलपति । 'जहा कोई' यथा कश्चिन् । किमय ? 'पडियारसुहस्स कारणे' औपधनेवामुत्पादिविगमनाय । 'तह' तथा 'अविरदस्स' अव्यावृत्तस्य । 'अण्णोसदि' अन्वेषते । 'दुक्ख' दुःख । क ? 'सणिदाणो' सनिदान । 'भोगतण्हाए' भोगतृष्णाया ॥१२४०॥

खधेण आसणत्थ बहेज्ज गरुम सिलं जहा कोड ।

तह भोगत्थ होदि हु संजमवहणं णिदाणेण ॥१२४१॥

'खधेण' स्वन्धेन । 'जहा कोड' यथा कश्चिन् । 'गरुम सिल' गुर्वीं गिला । 'बहेज्ज' बहति । किमर्थ ?

गा०—जैसे व्यापारी लोभवश लाभके लिये अपना माल बेचता है । वैसे ही निदान करनेवाला मुनि भोगोंके लिए धमकी बेचता है ॥१२३८॥

भोगोंका निदान करनेवालोंके मुनिपदकी निन्दा करते हैं—

गा०—टी०—भोगोंका निदान करनेवालोंके अभ्यन्तरमे वेदजनित राग रहता है अतः वह परिग्रही है । तथा वह मनसे मैयुन कर्ममें प्रवृत्त होनेसे अग्रहचारी है और मनमे मैयुनसे निवृत्त न होनेसे अविरत है । वह केवल शरीरमे ब्रह्मचर्यवत् धारण करता है अतः वह नरुश्रमण है । जैसे नट श्रमणका वेश धारण करता है वैसे ही उसने भी श्रमणका वेश धारण किया है । भावश्रामणके बिना केवल शरीरमे मुनि बनना जैसे व्यर्थ है उसी तरह उस मुनिकी मुनिपद भी व्यर्थ है ॥१२३९॥

गा०—जैसे कोई औपधि सेवनके मुखकी अभिलाषासे रोगी होना चाहता है वैसे ही निदान करनेवाला भोगोंकी तृष्णासे दुःख चाहता है ॥१२४०॥

गा०—मैं इसके ऊपर मुखपूर्वक बैठूंगा, ऐसा मानकर जैसे कोई भारी गिलाको कन्धेपर उठाना है और उसके उठानेके कष्टकी परवाह नहीं करता । वैसे ही इस दुर्चर समयको धारण

‘आप्तगत्य आसन्नार्थं । अस्या उपरि सुखेनाने इति मत्वा स यथा गुरुशिलोद्ग्रहणखेद नापेक्षते, स्वल्प तस्या उपर्याप्तनसुखमपेक्षते स्वबुद्धया । ‘तह भोगस्य क्षु’ तथा भोगार्थमेव । ‘होदि’ भवति । ‘सञ्जमवहण’ दुर्बलं समयधारण । ‘निदाणेण’ निदानेन सह ॥१२४१॥

बाह्यवस्तुजनित्वादिन्द्रियसुखातन्निमित्तवस्तुविनाशे यज्जायते दुःख तदधिकं तम अतः स्वल्पसुखनिमित्तं को नाम सचेतनो दुःखभीरुं स्वाब्धौ पवेदिति दर्शयति—

भोगोवभोगसोक्खं ज ज दुक्खं च भोगणासम्मि ।

एदेसु भोगणासे जातं दुक्ख पडिविमिट्ठं ॥१२४२॥

‘भोगोवभोगसोक्ख’ मृष्टायानताम्बूलादिकं स्त्रीवस्त्रालङ्कारादिभिश्च जनिन वस्तुसुख । ‘भोगणामम्मि’ सुखसाधनस्य वस्तुनो विनाशो च । ‘जं जं दुक्खं च’ यज्जदुःखं जायते । ‘एदेसु’ एतयोः सुखदुःखयोः ‘भोग-नासे’ सुखसाधनानां विनाशो च । ‘आत दुक्खं पडिविमिट्ठं’ अधिकतममिति यावत् ॥१२४२॥

देहे छुहादिमहिदे चले य मत्तस्म होज्ज कह मोक्खं ।

दुक्खस्स य पडियारो रहस्मणं चेव सोक्ख सु ॥१२४३॥

‘देहे’ शरीरे मनुजाना । ‘छुहादिमहिदे’ क्षुधा, पिपासया, शीतोष्णेन, व्याधिनिश्च भयिते । ‘चले’ भनित्ये च । ‘सत्तस्स’ आसन्नस्य । ‘किं च सुखं होज्ज’ किमत्र सुखं भवेत् । ‘दुक्खस्स य पडियारो’ दुःखस्य प्रतीकार । ‘रहस्मणं चेव’ नृस्वरूपेण एव ‘सोक्ख’ मोक्ष्य । ‘सु’ एव पादपूरणे दुःखप्रतीकारो-
ज्यता वा दुःखस्य सुखमित्यनेनास्यातम् ॥१२४३॥

सुखमन्तराणां अस्ति दुःख, सुखं पुनरिन्द्रियकं न जायते दुःखं विना ततः सुखार्थो दुःखमेव प्रागात्म-

करनेसे सुखे भोगोंकी प्राप्ति हो इस निदानके साथ जो समय धारण करता है उसका समय धारण भोगोंके लिये है अर्थात् स्वल्पसुखके लिए बहुत दुःख उठाता है ॥१२४१॥

आगे कहते हैं कि बाह्य वस्तुने उत्पन्न होनेवाले इन्द्रिय सुखसे उस सुखमे निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर जो दुःख होता है वह अधिक है, अतः थोड़ेसे सुखके लिये कौन दुःखभीरु ज्ञानी दुःखके समुद्रमे गिरना पसन्द करेगा—

गा०—भोग अर्थात् सुम्बादु भोजन पान आदि और उपभोग अर्थात् स्त्री वस्त्र अलंकार आदिमे होनेवाला सुख तथा सुखके साधनमे निमित्त वस्तुका विनाश होनेपर होनेवाला दुःख, इन दोनों सुख और दुःखमेंसे भोगके साधनोका विनाश होनेपर होनेवाला दुःख बहुत अधिक होता है ॥१२४२॥

गा०—यह शरीर भूख, प्यास, शीत, उष्ण तथा रोगोंसे पीडित और विनाशशील है । इसमे जो आसक्त है उसे क्या सुख होता है ? वास्तवमे दुःखका प्रतीकार अथवा दुःखको कम करना ही सुख है । अर्थात् दुःखके प्रतीकारको या दुःखकी कमीको ही सुख मान लिया गया है । वास्तवमे सुख नहीं है ॥१२४३॥

सुखके विना भी दुःख होता है किन्तु इन्द्रियजन्य सुख दुःखके विना नहीं होता । अतः

नोर्मिलपति न च दुःखामिलाप प्राज्ञस्य युक्त इति कथयति—

सोमस्र अणवेक्खित्ता वाधदि दुक्खमणुगपि जह पुरिस ।

तह अणवेक्खिय दुक्खं णत्थि सुह णाम लोगम्मि ॥१२४४॥

‘सोमस्र’ सोमस्य । ‘अणवेक्खित्ता’ अणवेक्ष्य । वाधति दुक्खमणुगं पि वाधते दुःखमण्वपि । जह पुरिस’ यथा पुरुष । ‘तह’ तथा । अणवेक्खिय’ अणवेक्ष्य । ‘दुक्ख’ दुःख । ‘लोगम्मि णत्थि सुह’ लोके नास्ति सुखं नार्थान्द्रियक । क्षुत्पिपासाम्बा पीडित एवाशन पान चान्वेपते । कठोरातपतप्त एव शीत, शीतमकुचिततनुरेव प्रावरणादिक, वातातपाम्बुभिरैकोपद्रुतो भवनमभिरूपति । स्थानासनोपजातधम एव शय्या कामयते । पाद-
गमनजातखेदव्यपोहनायैव विविचादिक, वैरूप्यनिराकृत्यैव वस्त्राणि भूषणाणि च दौर्गन्ध्यनादानायैव मृत्प्लकालागुर्वादिक, स्वेदगमनायैव रमण इति सब दुःखप्रतीकारमेव । त्रिविधवेदोदयजनित प्राणिना लिङ्ग-
नयवतिना परस्परामिलाप । स तेषा परस्परशरीरमसर्गं सत्यपि न विनश्यति । अभिलापनिमित्तानां कम्पा सद्भावात् । न हि कार्यमविरलकारणसन्निधौ न भवति । कामो हि सेध्यमानो वेदत्रय प्रत्यग्रमाकपति । सतोऽप्यनुभवमुपबृंहयते । कारणमभ्यर्कात्कार्यमभ्यादौ नित्यमिति निरन्तरामिलापदहनदह्यमानचेतनो न कदाचिन्निवृत्तिरस्ति । अपनोते तु वेदत्रये कारणाभावात् कार्याभाव इति निरवशेषवेदापगमे स्वाम्भ्यः पदस्य तदेव सुखमिति मन्यमानो दृष्टान्तं दर्शयति ॥१२४४॥

जो इन्द्रिय सुखका अभिलाषी है वह पहले दुःख चाहता है किन्तु विद्वान्के लिए दुःखको चाह पुष्कः नहीं है यह कहते हैं—

गा०—जैसे मुखकी अपेक्षाके बिना थोड़ा-सा भी दुःख पुरुषको कष्टदायक होता है वैसे ही लोकमें इन्द्रियजन्य सुख दुःखकी अपेक्षाके बिना नहीं है ॥१२४४॥

टी०—भूख और प्याससे पीडित पुरुष ही भोजन और पेयको खोजता है । कठोर धामसे पीडित शीतल प्रदेश खोजता है । शीतसे जिसका शरीर छिन्न गया है वही आँटना आदि खोजता है । वायु धाम वर्षा आदिसे पीडित ही मकान खोजता है । उठने बैठनेमें थका हुआ ही शय्या चाहता है । पैदल चलनेसे हुए कष्टको दूर करनेके लिए ही सवागी आदि चाहता है । विरूपता दूर करनेके लिए ही वस्त्र आभूषण चाहता है । दुर्गन्ध दूर करनेके लिए ही सुगन्धित द्रव्य लोबान आदि होते हैं । स्वेद दूर करनेके लिए ही सुन्दर स्त्रियाँ होती हैं । इस तरह सब दुःखके प्रतीकारके लिए हैं । स्त्री लिङ्गी, पुरुष लिङ्गी और नपुंसक लिङ्गी प्राणियोंको स्त्रीवेद पुष्पवेद और नपुंसकवेदके उदयसे परस्परमें रमण करनेकी अभिलाषा होती है । किन्तु वह अभिलाषा परस्परमें शारीरिक ससर्ग होनेपर भी नष्ट नहीं होती, क्योंकि उस अभिलाषामें निमित्त वेदकर्मका सद्भाव है । कारणोंके अविकल होते हुए कार्य अवश्य होना है । कामका सेवन करनेसे नवीन स्त्रीवेद पुष्पवेद या नपुंसकवेदका वन्ध होता है । तथा सत्तामें स्थित इन कर्मोंके अनुभागमें वृद्धि होती है क्योंकि कारणके होनेपर कार्य नित्य ही हुआ करना है । जिनके चित्त निरन्तर अभिलाषारूप आगसे जलते हैं उन्हें कभी भी शान्ति नहीं मिलती । तीनों वेदोंके चले जानेपर कारणका अभाव होनेमें कार्यका भी अभाव होता है । अतः वेदोंका पूरणमें अभाव होनेपर जो स्वास्थ्य होना है वही मख है ॥१२४४॥

जह कोडिल्लो अगि तप्पंतो जेव उवसमं लभदि ।

तह भोगे भु जतो खणं पि णो उवसमं लभदि ॥१२४५॥

‘जह कोडिल्लो’ यथा कुष्ठेनोपद्रुत । ‘अगि तप्पंतो’ अग्निना दह्यमानमूर्तिरपि । ‘जेव उवसमं लभदि’ नैव व्याधेरपशामक लभते । न ह्यग्निरपशामक कुष्ठस्यापि तु बद्धक । यद्यस्य बृद्धिनिमित्तं न तत्तदुपशामयति । यथा कुष्ठं नोपशमयति बह्वि । वर्धयति चाभिलाष अवलादित्तमं ‘तह’ तथा । ‘भोगे भु जतो’ भोगानु-
भवनोद्यत । ‘खणपि णो उवसमं लभदि’ क्षणमात्रमपि नोपशाम लभते भोगाभिलाषरोगस्य ॥१२४५॥

कच्छुं कंहुयमाणो सुहाभिमाणं करोदि जह दुक्खे ।

दुक्खे सुहाभिमाण मेहुण आदीहिं कुणादि तथा ॥१२४६॥

‘कच्छुं’ कच्छु । ‘कंहुयमाणो’ नखैर्मर्दयन् । ‘सुहाभिमाणं करोदि’ सुखाभिमानं करोति । ‘जह दुक्खे’ यथा दुःखे । ‘तह मेहुण आदीहिं’ तथा मैथुनादिदुःखं रमसालिङ्गने, अथरदने, उरस्ताडने नखैर्निशितरङ्ग-
च्छेदने कचाकर्षणे । उक्तं च—

नग्नं प्रेतं दृष्ट्वा विष्टं स्ववर्गिनि वि शवन्निव ।

इवासायासपरिभ्रान्तं स कामी रमते किल ॥१॥ इति ॥ [] ॥१२४६॥

घोसादकीं य जह किमि खतो मधुरित्ति मण्णदि चराओ ।

तह दुक्खं वेदंतो मण्णइ सुक्खं जणो कामी ॥१२४७॥

‘घोसादकीं’ घोषातकी । ‘किमि’ कृमि । ‘खतो’ भक्षयन् । ‘जह मधुरित्ति’ यथा मधुरमिति मन्यते
वराकः । ‘तह’ तथैव । ‘दुक्खं वेदंतो’ दुःखमनुभवन् । ‘मण्णदि सुक्खं जणो कामी’ मन्यते कामिजन
सुख ॥१२४७॥

इमे दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

गा०—जैसे कुछ रोगसे पीडित व्यक्ति का शरीर आगमें जलने पर भी कुछ रोग शान्त नहीं होता, क्योंकि आग कुछ रोगको शान्त नहीं करती, बल्कि बढ़ाती है । और जो जिसको बढ़ाता है वह उसको शान्त नहीं कर सकता । जैसे आग कुछ रोगको शान्त नहीं करती । उसी प्रकार स्त्री का सगम स्त्री विषयक अभिलाषाको बढ़ाता है । अतः जो ‘भोगोंके भोगनेमें तत्पर है उसका भोगकी अभिलाषा रूप रोग एक क्षणके लिए भी शान्त नहीं होता ॥१२४५॥

गा०—टी०—जैसे खाजको नखासे भुजाने वाला दुःखको सुख मानता है । उसी प्रकार मैथुनके समय वेगपूर्वक आलिंगन, ओष्ठ काटना, छाती मसलना, तोक्षण नखोंमें शरीर नोचना, केश खीचना आदिसे होने वाले दुःखको कामी सुख मानता है । कहा भी है—कामी पुरुष पिशाच-
से ग्रहीत पुरुषकी तरह नग्न होकर स्त्रीके साथ रमण करता है और श्वास तथा थकानसे पीडित होकर शब्द करते हुए श्वास लेता है ॥१२४६॥

गा०—जैसे बेचारा कीट घोषा नामक लताको खाते हुए उसे मीठी मानता है उसी प्रकार कामी जन दुःखका अनुभव करते हुए उसे सुख मानता है ॥१२४७॥

मुदु वि मग्गिज्जतो कथं वि कयलीए णत्थि जह सारो ।
तह णत्थि सुह मग्गिज्जते भोगेसु अप्पं पि ॥१२४८॥

‘मुदु वि’ मुदु अपि । ‘मग्गिज्जतो’ मयमाणोऽपि । सार कदन्या कचिदपि मूले मध्येऽन्ते वा यथा नास्ति तथा भोगेष्वन्विष्यमाणं सुखं न विद्यते ॥१२४८॥

ण लहदि जह लेहंतो सुखसन्लयमद्वियं रसं सुणहो ।
से सगतालुगरुहिर लेहतो मण्णए सुख ॥१२४९॥

‘जप सुणयो सुखसन्लयमद्वियं लेहतो रसं जहा ण लभदि’ इवा शुष्कमस्थिं लिहन् सन् यथा रमं न लभते । ‘सगतालुगरुहिर लेहतो सो सोक्ख मण्णदे’ तीक्ष्णास्थिच्छिन्नस्वात्तालुगलितरूपिरमास्वादयन्मुखाभिमानं करोति । ‘जह तह’ यथा तथा । ‘पुरिसो ण किंवि सुखं लभइ’ पुरुषो न किंचित्सुखं लभते ॥१२४९॥

महिलादिभोगसेवी ण लहदि किंचिवि सुह तथा पुरिसो ।
सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुखं ॥१२५०॥

‘महिलादिभोगसेवी’ स्थादिभोगसेवनाद्यतः । तथा ‘पुरिसो ण किंचि वि सुह लहदि’ तथा पुरुषो न किंचिदपि सुखं लभते एव । ‘सो वरापो सगकायपरिस्समं सोक्ख मण्णदे’ स वराय स्वकायभ्रमं तीक्ष्णं मन्यते ॥१२५०॥

अनुभवमिदं सुखं कथं नास्तीति शक्यते वक्तुं इत्यावाङ्मयं वसरयपि सुखं सुखज्ञानं जगती भवति विपर्यस्तं सुखकारणम्येति दृष्टान्तोपन्यासेन वदति—

दीसइ जलं व मयतण्हिया हु जह वणमयस्स तिसिदस्स ।
भोगा मुह व दीसंति तह य रागेण तिसियस्स ॥१२५१॥

‘दीसइ वणमयस्स तिसिदस्स जहा जलं मयतण्हिया वने मृगेण हरिणादिना तृषामिमूत्रेण जलकाशा-

गा०—जैसे अच्छी तरह खोजने पर भी केलेके वृक्षमें मूल मध्य या अन्तमें कहीं भी कुछ मार नहीं है वैसे ही खोजने पर भी भोगोंमें कुछ भी मार नहीं है ॥१२४८॥

गा०—जैसे कुत्ता सूखी हड्डीको चबाते हुए रम प्राप्त नहीं करता । किन्तु तीक्ष्ण हड्डीके द्वारा कटे अपने तालुसे झरते हुए रक्तका स्वाद लेते हुए सुख मानता है ॥१२४९॥

गा०—उसी तरह पुरुष स्त्री आदि विषयभोगमें किञ्चिन् भी सुख प्राप्त नहीं करता वह बेचारा अपने शरीरके श्रमको ही सुख मानता है ॥१२५०॥

विषयभोगमें सुख अनुभवसे मिथ है आप कैसे कहते हैं कि उसमें सुख नहीं है ऐसी आशंका करने पर दृष्टान्त द्वारा कहते हैं कि सुखके नहीं होने पर भी सुखके कारणमें विपरीत बुद्धि होनेसे जगत्को सुखका बोध होता है—

गा०—जैसे वनमें हरिण आदि जब प्यासमें व्याकुल होकर जलकी इच्छा करते हैं तो उन्हें मरीचिका जलके समान प्रतीत होती है किन्तु हरिणके उमें जल मानने पर भी वह जल रूप नहीं होती । उसी प्रकार रागके प्यासके भोग सुखकी तरह प्रतीत होते हैं ॥१२५१॥

वता जलमिव दृश्यते भृगुतृष्णिका । न ना भृगेण बलतयोपलब्धेऽपि जल भवति । तथा 'रागेण तिसिदस्स भोगा सुह व दोतति' रागतृपितेन भोगा सुखमिव दृश्यन्ते ॥१२५१॥

वग्घो सुखेज्ज मदय अवगासेऊण जह मसाणम्मि ।

तह कुणिमदेहसफसणेण अबुहा सुहायति ॥१२५२॥

वग्घो सुखेज्ज' 'इमशाने व्याघ्रो मृतकमवघास्य तृप्यति यथा तथा कुणितदेहसम्पन्ननेनावुधा सुखाधि-
गमहपनिर्मरा भवति ॥१२५२॥

नवतु नाम मुख भागस्तथापि तददयन्पमिति निवेदयति—

तह अप्प भोगसुह जह धावतस्स अठितवेगस्स ।

गिम्हे उण्हातत्तस्स होज्ज छायासुह अप्पं ॥१२५३॥

तथा अप्प भोगसुह धावतस्स अठितवेगस्स गिम्हे उण्हातत्तस्स जहा छायासुह अप्प तह अप्प भोगसुह'
धावतोऽस्थितवेगस्य ग्रीष्मे उष्माभितप्तस्य यथा भागश्चकतलच्छायासुखमस्य भोगमुख तथा ॥१२५३॥

अहवा अप्प आमाससुह सरिदाए उप्पियत्तस्स ।

भूमिच्छिक्कगुट्ठस्स उब्भमाणस्स होदि सोत्तेण ॥१२५४॥

अहवा' अथवा । 'अप्प' अल्प । 'आमाससुह' आश्वास एव मुख । 'सरिदाए' नद्या । 'उप्पियत्तस्स'
निमज्जन । 'भूमिच्छिक्कगुट्ठस्स' भूमिस्पृष्टाङ्गुष्ठस्य । 'सोत्तेण उब्भमाणस्स' स्रोतसा प्रवाहेनोद्भूतस्य ।
अल्प आश्वासमुख तद्वदिन्द्रियमुखमत्यल्पमित्यतिक्रान्तेन सबन्ध ॥१२५४॥

इन्द्रियसुखानि यद्यलङ्घ्यपूर्वाणि युक्तो विस्मयस्तत्र तानि सर्वाणि अनन्तवारपरिभुक्तानि, तेषु भुक्तेषु
परित्यक्तेषु न युक्तो विस्मय इति अनादर जनयति तेषु मूरि —

जायति केड भोगा यत्ता सव्वे अणतसुत्ता ते ।

को णाम तत्थ भोगेसु विंभओ लद्धविजडेसु ॥१२५५॥

गा०—जैसे स्मशानमे व्याघ्र मुर्देको खाकर सुखी होता है वैसे ही दुर्गन्धित शरीरके
आलिंगनमे अज्ञानी सुख मानकर हर्षसे भर जाते हैं ॥१२५२॥

आगे कहते हैं कि भोगमे भले ही सुख हो किन्तु वह सुख अति अल्प है—

गा०—जैसे ग्रीष्म ऋतुमे अत्यन्त वेगमे दौड़ते हुए और मध्यकालके सूर्यकी किरणोंसे सतस
पुरुषको मार्गमे स्थित एक वृक्षकी छायामे जानेमे थोडा-भा सुख होता है वैसे ही भोगमे अति
अल्प सुख है ॥१२५३॥

गा०—अथवा नदीमे डूबते हुए और प्रवाहके द्वारा बहाकर ले जाते हुए मनुष्यको भूमिसे
जगूठके छू जाने पर जैसा अल्प आश्वास सुख होता है कि मैं तट पर लग जाऊंगा, उमी प्रकार
इन्द्रियजन्य सुख अति अल्प होता है ॥१२५४॥

गा०—यदि इन्द्रिय सुख पूर्वमे कभी प्राप्त न हुए होते तो उनकी प्राप्तिमे हर्ष होना

१ स्मशाने मृतक शव भुक्त्वा व्याघ्रस्तृप्यति—आ० ।

‘जावति केइ भोगा’ यावन्त केचन भोगा । ‘ते सखे पत्ता अणतलुत्ता ते’ सर्वे प्राप्ता अनन्तवार तव । ‘को णाम तरव भोगेसु’ को नाम तेषु भोगेषु विम्मम- लब्धेषु जितेषु ॥१२५५॥

भोगतृष्णा निरन्तर दहति भवन्त, नेव्यमाना पुनर्भोगास्तामेव तृष्णा वर्द्धयन्ति ततो भोगेच्छा शिथिलता नेयेति वदति—

जह जह भु जह भोगे तह तह भोगेसु वड्ढदे तण्हा ।

अग्गीव इघणाइ तण्ह दीविति से भोगा ॥१२५६॥

‘जह जह भु जह भोगे’ यथा यथा भोगान्मुञ्चन्ते । ‘तह तह’ तथा तथा । ‘भोगेसु वड्ढदे तण्हा’ भोगेषु वर्धते तृष्णा । ‘अग्गी व’ अग्नि वा । यथा ‘इघणाइ’ इन्धनानि । ‘दीविति’ दीपयन्ति । ‘तहा’ तथा । ‘तण्ह’ तृष्णा दीपयन्ति । ‘से’ तस्य भोक्तुर्भोगा । तथा बोधन—

तृष्णाचित्तं परिवहन्ति न क्षातिरासा । इष्टेन्द्रियाद्यविभवे परिवृद्धिरेव ॥ [बृहत्सव्यभू०] ॥१२५६॥

जीवस्म णत्थि तिच्ची चिरं पि भोएहिं भु जमाणेहिं ।

तिच्चीए विणा चित्तं उव्वूर उव्वुद होइ ॥१२५७॥

‘जीवस्म जीवस्य । नास्ति तृप्तिश्चिरकालमपि भोगाननुभवत पत्त्योपमशय काल भोगभूमीषु त्रयस्त्रिंशत्सावरोपमकालं अमरेषु । तृप्त्या च विना चित्तं । ‘उव्वूर उव्वुद’ उत्तूर उद्धृतं भवतीति सूत्रार्थं ॥१२५७॥

जह इ धणेहि अग्गी जह व ममुदो णदीमहस्सेदि ।

तह जीवा ण ह्ठु सक्का तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥१२५८॥

‘जह इधणेहिं’ मयेन्वनैरनिर्न तृप्त्यनि । यथा वा समुद्रो नदीसहस्रं । तथा जीवो न शक्यो भोगैस्तनं पयितु ॥१२५८॥

उचित था, किन्तु उन सबको तुमने अनन्त बार भोगा है । उन भोगकर छोड़े गये विषयोंमें हर्ष मानना उचित नहीं है । इस प्रकार आचार्य विषयोंके प्रति अनादर भाव उत्पन्न करते हैं—जितने ससारके भोग हैं वे सब तुमने अनन्त बार प्राप्त किये हैं उन प्राप्त करके छोड़े गये विषयोंमें आश्चर्य कैसा ? ॥१२५५॥

आगे कहते हैं कि तुम्हें भोगोंकी तृष्णा निरन्तर जलाती है । भोगोंका सेवन उसी तृष्णाको बढ़ाता है अतः भोगोंकी इच्छाको कम करो—

गा०—जैसे जैसे भोगोंको भोगते हो वैसे वैसे भोगोंकी तृष्णा बढ़ती है । जैसे इधनसे आग प्रज्वलित होती है वैसे ही भोगोंमें तृष्णा बढ़ती है । कहा भी है—यह तृष्णारूपी ज्वाला सदा जलाती है, इष्ट इन्द्रियोंके विषयोंमें इनकी तृप्ति नहीं होती, बल्कि बढ़ती है ॥१२५६॥

गा०—नोन पत्त्य तव भोगभूमिमें, तेनीम मागर तक देवोंमें इस तरह चिरकाल तक भोगोंको भोगते हुए भी तृप्ति नहीं होती और तृप्तिके बिना चित्त अत्यन्त उत्कण्ठित रहता है ॥१२५७॥

गा०—जैसे ई धनमें आगकी तृप्ति नहीं होती । अथवा जैसे हजारों नदियोंमें समुद्रकी

देविंदचक्रवट्टी य वासुदेवा य भोगभूमीया ।

भोगेहि ण तिप्पति हु तिप्पदि भोगेसु किह अण्णो ॥१२५९॥

‘देविंद’ देवानामधिपतय, चक्रलाञ्छना वासुदेवा अर्धचक्रवर्तिन, भोगभूमिजादय भोगैर्न तृप्सन्ति । कथमन्यो जन्तस्तृप्तिमुपेयाद्भोगे । सुलभामितभोगसाधनादिचरजीविन स्वतन्त्रास्वामी । अन्ये तु भवाद्वा जडभरणमात्रमपि कर्तुं अशक्ता स्वल्पायुषः, पराधीनवृत्तयश्च तृप्सन्तीति वा कथा ॥१२५९॥

संपत्तिविवत्तीसु य अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु ।

भोगत्थ होदि णरो उद्धुयचित्तो य घण्णो य ॥१२६०॥

संपत्तिविवत्तीसु य सम्पत्सु विपत्सु च । ‘अज्जणरक्खणपरिग्गहादीसु’ द्रव्यस्यालक्ष्यस्यार्जने, पुञ्जीकरणे, राशीकृतस्य रक्षणे । पर हन्ते विप्रकीर्णस्य ग्रहणे । आदिराज्येन तद्व्ययकरणे वा । भोगत्थ अनुभवार्थ । अजनादिषु प्रवृत्त । ‘उद्धुयचित्तो य णरो होदि’ चलचित्त उत्कण्ठावाच्च भवति नर । द्रव्यमम्पदि जाताया रागाच्चलचित्त भवति । द्विणादिविनारो कथं जीवामि पुनर्द्व्यार्जनं करोमीति ॥१२६०॥

उद्धुयमणस्स ण सुह सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी ।

पीदीए विणा ण रदी उद्धुयचित्तस्य घण्णस्म ॥१२६१॥

‘उद्धुयमणस्स’ व्याकुलचित्तस्य ‘ण सुह’ न सुख भवति । ‘सुहेण य विणा कुदो हवदि पीदी’ सुखेन विना कुतो भवति प्रीतिस्फुटति । ‘पीदीए विणा’ प्रीत्या विना । ‘ण रदी’ न रति । ‘उद्धुयचित्तस्स’ व्याकुलचित्तस्य । ‘घण्णस्स’ उत्कण्ठावाङ्मन्या मृहीतस्य ॥१२६१॥

तृप्ति नहीं होती, कैसे ही भोगोसे जोवकी तृप्ति नहीं होती ॥१२५८॥

गा०—टी०—देवोके अधिपति इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव अर्थात् अर्धचक्रो और भोगभूमियाँ जीव भी भोगोसे तृप्त नहीं होते । तब साधारण मनुष्य कैसे भोगोसे तृप्त हो सकता है ? अर्थात् इनके लिए भोगोके अपरिमित साधन मूलभ हैं, तथा इनकी आयु भी बहुत होनेसे चिरकालतक ये जीवित रहते हैं और विमीके अधीन न होनेसे स्वतन्त्र होते हैं । आप सरीखे साधारण मनुष्य तो पेट भरनेमें भी असमर्थ और थोड़ी आयुवाले तथा पराधीन होते हैं । अब उनकी भोगोसे तृप्ति होनेकी तो बात ही क्या है ? ॥१२५९॥

गा०—मम्पत्ति होनेपर मनुष्य अप्राप्त द्रव्यके कमानेमें, एकत्र हुए द्रव्यके रक्षणमें, दूसरेके हाथमें गई सम्पत्तिको उभमें लेनेमें और आदि शब्दमें उसे खर्च करनेमें, तथा भोगनेमें व्याकुल रहता है और विपत्तिमें अर्थात् घन आदिका विनाश होनेपर कैसे मैं जीवित रहूँगा ? कैसे पुन द्रव्य कमाऊँगा इस उत्कण्ठामें व्याकुल रहता है ॥१२६०॥

गा०—जिसका चित्त व्याकुल रहता है उसे सुख नहीं होता । सुखके बिना प्रीति नहीं होती । प्रीतिके बिना रति नहीं होती । इस तरह जिसका चित्त व्याकुल रहता है और जो उत्कण्ठाभी ढाकिनीमें ग्रस्त है उसे सुख कैसे हो सकता है और सुखके बिना प्रीति और प्रीतिके बिना रति सम्भव नहीं है ॥१२६१॥

जो पुण इच्छदि रमिदुं अज्झप्पसुहम्मि णिव्वुदिकरम्मि ।

कुण्णदि रदिं उवसंतो अज्झप्पसमा हु णत्थि रदी ॥१२६२॥

‘जो पुण इच्छदि रमिदुं’ य पुना रमितु इच्छति । ‘सो कुण्णदि रदिं’ स करोतु रतिं । क्व ? ‘अज्झप्प-
सुहम्मि’ अध्यात्ममुखे । ‘णिव्वुदिकरम्मि’ निर्वृत्तिकरे । ‘उवसंतो’ उपशान्तरागकोष । एतदुक्तं भवति—मनो-
ज्ञानमोक्षविययसन्निधाने स्वसत्त्वरूपहेतुको यौ रागद्वेषौ तौ परित्यज्य निवृत्तितृप्तिकरे अध्यात्ममुखे रतिं करोतु ।
‘अज्झप्पसमा’ आत्मस्वरूपविषया रतिरध्यात्मशब्देनाच्यते । तया मदृशी रति । ‘णत्थि खु’ न विद्यते एव ।
यस्मान् भोगरतिरध्यात्मनो रत्या न मदृशी ॥१२६२॥

कथम् ?

अप्पायत्ता अज्झपरदी भोगरमण परायत्तं ।

भोगरदीए चड्ढो होदि ण अज्झप्परमणेण ॥१२६३॥

‘अप्पायत्ता’ स्वायत्ता । ‘अज्झपरदी’ आत्मस्वरूपविषया रति परब्रह्मज्ञानपेक्षणात् । ‘भोगरमण’
भोगरति ‘परायत्त’ परायत्ता परब्रह्मज्ञानम्वनत्वात् । तेषां च कश्चिदेव सात्त्विक्यं कश्चिदेव कल्पचिदवेति ।
एतेन स्वायत्ततया परायत्ततया चासाम्यमाख्यात । प्रकारान्तरेणापि ब्रह्म्यं दर्शयति । ‘भोगरदीए चड्ढो होदि’
भोगरत्या च्युतो भवति । न प्रच्युतो भवति ‘अज्झपरमणेण’ अध्यात्मरत्या ॥१२६३॥

अनेकविघ्नसहिता विनाशिनी च भोगरति, अध्यात्मरतेस्तु भाविताया न नाशो नापि विघ्न इति
कथयत्युत्तरगाथा—

भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिवहुया ।

अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा ॥१२६४॥

गा०—टी०—हे क्षपक ! जो तू रमण करना चाहता है तो रागद्वेषका शमन करके परम
तृप्तिकारक अध्यात्म मुखमें रति कर । कहनेका अभिप्राय यह है कि इष्ट और अनिष्ट विषयोंके
प्राप्त होनेपर ‘यह अच्छा है और यह बुरा है’ इस प्रकारके मकल्पके कारण जो रागद्वेष होते हैं
उन्हे त्यागकर तृप्तिकारक अध्यात्म मुखमें रमण कर । यहाँ अध्यात्म शब्दसे आत्मस्वरूप विषयक
रति कही है । उसके समान कोई रति नहीं है । क्योंकि भोगसम्बन्धी रति अध्यात्म विषयक रति-
के समान नहीं है ॥१२६२॥

गा०—टी०—क्योंकि आत्मस्वरूप विषयक रति अपने अधीन है उसमें परब्रह्मकी अपेक्षा
नहीं है । किन्तु भोग रति पराधीन है क्योंकि उसमें परब्रह्मका अवलम्बन लेना होता है । और
परब्रह्म कभी-कभी ही किसी किसीको ही थोड़े बहुत प्राप्त होते हैं । इससे स्वाधीन और पराधीन
होनेसे दोनोंमें असमानता कही । अन्य प्रकारसे भी दोनोंमें विषयता बतलाते हैं—

भोग रतिसे तो मनुष्य वंचित हो जाता है किन्तु अध्यात्म रतिसे नहीं होता क्योंकि
आत्म ब्रह्म सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा उसके पास रहता है ॥१२६३॥

भोग रतिमें अनेक विघ्न रहते हैं और वह नष्ट होने वाली है किन्तु भाविन अध्यात्म
रतिका कभी नाश नहीं होता और न उसमें विघ्न आता है, यह आगे कहते हैं—

‘भोगरदोए’ भोगरहया । ‘गियदो नासो’ नियतो विनाश । ‘विघ्ना म हू ति’ विघ्नाश्च भवन्ति । ‘अदिवह्णा’ अतीव बहव । ‘अञ्जपरदोए’ अध्यात्मरते । ‘सुभाविदाए’ सुपदु भाविताया । ‘शासो’ नाशो, न विद्यते । ‘विघ्ना वा’ विघ्ना वा न सन्ति । नियत नश्वरतयाऽनश्वरतया वा बहुविघ्नतया, निर्विघ्नतया च तयो रत्योर्वैषम्यमिति भावः ॥१२६४॥

इन्द्रियमुख प्राप्तया सङ्कल्पनीय तथा च तत्रादगो जन्तोर्निवृत्ते अनो अतीन्द्रियसुखात्मैव वीतरागत्व-हेतुके मवरे इति मत्वा सूरिचूलाभिराह—

दुक्खं उप्पादिता पुरिसा पुरिसस्स होति जदि सत्तु ।

अदिदुक्खं कदमाणा भोगा सत्तु किहु ण हुती ॥१२६५॥

‘दुक्खं उप्पादिता’ दुःखमुत्पाद्य । ‘जदि सत्तु होति’ यदि शब्दो भवन्ति । ‘पुरिसा पुरिसस्स’ पुरया पुरुषस्य । अदिदुक्खं कुणमाणा भोगा’ अतीव दुःख कुर्वन्तो भोगा इन्द्रियमुखाणि । ‘किध सत्तु ण हुति’ कथं शब्दो न भवन्ति भवन्त्येवेति । कथं भोगानां दुःखहेतुता एव मन्यते ? इन्द्रियमुख नाम स्त्रीवस्त्रगन्धमालादि-परद्रव्यमभिधानजन्य । तच्च स्त्र्यादिव दुर्लभतमं निर्द्रव्यिणस्य, तेन तदर्थं वृष्यादिकर्मणि प्रयतितस्य । ततो महान्तापः । इहैव भवानुगामी दुःखनिमित्तं च कर्म हिमादिषु प्रवर्तमानोऽर्जयति । तदिमं दुरन्ते मसारान्भोषो निमग्नयति । तत्र च निमग्नेन क्तमं दुःखमनेन नावाप्यते ॥१२६५॥

शत्रुतमा भोगा इति कथयति—

इहइ परलोगे वा सत्तु भित्तत्तण पुणमुवेति ।

इहइ परलोगे वा सदावि दुःखावढा भोगा ॥१२६६॥

‘इहइ’ अस्मिन्नेव जन्मनि । ‘परलोगे वा’ परजन्मनि वा । ‘सत्तु’ शब्दः । ‘भित्तत्तण’ भिन्नता ।

गा०—भोग रतिका नियमसे विनाश होता है तथा उसमें विघ्न भी बहुत हैं । किन्तु अच्छी रीतिसे भावित अध्यात्म रतिका न विनाश होता है और न उसमें कोई विघ्न आते हैं । इस तरह भोगरति नियमसे नश्वर और बहुत विघ्न वाली है तथा अध्यात्मरति निर्विघ्न और अविनाशी है इसलिए दोनोंमें कोई समानता नहीं है ॥१२६४॥

आचार्य कहते हैं कि इन्द्रिय मुखको शत्रुके समान मानो । ऐसा करनेसे उनमें जो आदर-भाव है वह दूर होगा । तथा अतीन्द्रिय मुख ही वीतरागताका कारण होनेसे सवर रूप है—

गा०—टी०—यदि दुःख देने वाले पुरुष पुरुषके शत्रु होते हैं तो अति दुःख देने वाले भोग अर्थात् इन्द्रिय मुख शत्रु क्यों नहीं हैं ? अवश्य है । भोग दुःखके कारण क्यों है यह विचार करें । स्त्री, वस्त्र, गन्धमाला आदि परद्रव्यके मिलनेसे जो होता है उसे इन्द्रिय मुख कहते हैं । वह स्त्री आदि धनहीनके लिए अत्यन्त दुर्लभ हैं । अतः धनकी प्राप्तिके लिए कृषि आदि कर्म करना चाहिए । उससे महान् आरम्भ होता है । हिंसा आदिमें प्रवृत्ति करनेमें इसी भव तथा परभवमें दुःख देने वाले कर्मका उपाजर्ज करता है । और वह कर्म उसे ऐसे ससार समुद्रमें डुबाता है जिसका पार पाना अत्यन्त कठिन है । उम ससार समुद्रमें डूबकर यह जीव बौन दुःख नहीं भोगता ॥१२६५॥

आगे कहते हैं कि भोग सबसे बड़े शत्रु हैं—

गा०—इस जन्ममें अथवा परजन्ममें शत्रु शत्रुताको छोड़कर भिन्न वन जाते हैं । अर्थात्

'पुणमुर्वेति' पुनर्होक्तम् । शत्रवः शत्रुतामपि बहू । कार्यवसान्, उपकारातिशयसम्पादनान्मित्रता वा यान्ति च । वाचा न स्फुटतरा । इहैव तथा परलोके वा 'सम्भवा दुःखसम्बन्धा भोगा मर्षदा दुःखावहा भागा । ततः शत्रुता इति भावनीया ॥१२६६॥

एगम्मि चेव देहे करेज्ज दुक्खं ण वा करेज्ज अरी ।

भोगा से पुण दुक्खं करति भवकोटिकोटीसु ॥१२६७॥

'एगम्मि चेव देहे' एकम्मित्थेव देहे । 'करेज्ज दुक्खं' ण वा करेज्ज अरी कुयदिदुःखं न वा शत्रु । 'भोगा पुण' भोगा पुन । 'से' तस्य । 'दुक्खं करति' दुःखं कुर्वन्ति । 'भवकोटिकोटीसु' अनन्तेषु भवेषु । एव भागशेषान्वेत्त्यात्र निदानं त्वया न काय इत्युपदिष्टं स्मरिष्यामि ॥१२६७॥

मधुमेव पिच्छदि जहा तडिओलधो ण पिच्छदि पपादं ।

तह सणिदाणो भोगे पिच्छदि ण हु दीहससार ॥१२६८॥

'मधुमेव पिच्छदि' मध्वेव पश्यामि यथा तदेज्जलम्बमानं । 'ण पिच्छदि' न प्रेक्षते । 'पपादं' प्रपातमात्मनः । 'तह' तथा 'सणिदाणो' निदानमहितं । 'भोगे पिच्छदि' भोगान्प्रेक्षते । 'ण हु दीहससार' नैव प्रेक्षते । 'दीहससार' दीर्घससार ॥१२६८॥

जालस्स जहा अते रमति मच्छा मय अयाणता ।

तह सगादिसु जीवा रमति संसारमगणता ॥१२६९॥

'जालस्स' जालम्ब्य । 'अते' मध्ये । 'जहा मच्छा रमति' यथा मत्स्या रमन्ते । 'अयमयाणता' अयमनवबुध्यमाना । 'तह सगादिसु' तथा परिग्रहादिषु । 'जीवा रमति' जीवा रमन्ते । 'ससारमगणता' ससारमगणयन्तः ॥१२६९॥

दुक्खेण देवमाणुमभोगे लद्धं चावि परिवडिदो ।

णियदमदीदि कुजोणीं जीवो सधर पउत्थो वा ॥१२७०॥

उपकार आदि करनेसे प्रभावित होकर शत्रु मित्र बन जाते हैं वह भी केवल कहनेके लिए नहीं किन्तु खुले दिलमें मित्र बन जाते हैं । किन्तु भोग इम जन्ममें और परजन्ममें मदा ही दुःखदायी होते हैं । इसलिये वे शत्रुसे भी बडे शत्रु हैं ॥१२६६॥

गा०—शत्रु एक हो भवमें दुःख दे या न भी दे । किन्तु भोग तो अनन्त भवोंमें दुःख देते हैं ॥१२६७॥

इम प्रकार भोगोंके दोष जानकर हे क्षपक तुम्हें निदान नहीं करना चाहिए, ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं—

गा०—इम प्रकार जैसे कुएँकी दीवारके एक ओर लटका हुआ मनुष्य टपकने वाले मधुकी बूंदोंको ही देखता है किन्तु अपने गिरनेको नहीं देखता । वैसे ही निदान करने वाला भोगोंको तो देखना है किन्तु अपने दोष समारचो नहीं देखता ॥१२६८॥

गा०—जैसे मत्स्य भयको न जानते हुए जालके मध्यमें उछलते-कूदते हैं, वैसे ही जीव समारकी चिन्ता न करके परिग्रह आदिमें आनन्द मानते हैं ॥१२६९॥

‘दुःखेण सङ्गूण’ नलेत्तेन लब्ध्वा । ‘देवमाणुषभोगे’ देवान्मानुषाश्च भोगान् । ‘परिवर्जितो’ परिपतित
प्रच्युतस्ततो भोगाञ्जोव । ‘कुजोषो’ नियमबोधि’ कुलिता योनि नियतमुपैति । किमिव ? ‘सघर’ स्वगृह,
‘पठस्यो वा’ प्रवासीव ॥११७०॥

जीवस्स कुजोणिगदस्स तस्स दुक्खाणि वेदयतस्स ।

किं ते करति भोगा मदोव वेज्जो मरंतस्स ॥१२७१॥

‘जीवस्स कुजोणिगदस्स’ कुयोनिगतस्य जीवस्य । ‘दुक्खाणि वेदयतस्स’ दुःखानि वेदयमानस्य । ‘किं
ते करति भोगा’ किं ते कुर्वन्ति भोगा स्त्रीवस्त्रादयः । नैव किञ्चिदपि दुःखलवमपनेतुं क्षमा । ‘मदोव वेज्जो’
वैद्यो मृतो यया । ‘मरंतस्स’ म्रियमाणस्य न किञ्चित्कुत्र क्षम ॥१२७१॥

जह सुत्तवद्धसउणो दूरपि गदो पुणो व एदि तहि ।

तह ससारमदीहि हु दूरं पि गदो णिडाणगदो ॥१२७२॥

‘जह सुत्तवद्धसउणो’ यया सूत्रेण दीर्घेण वद्ध पक्षो । ‘दूरपि गदो’ दूरमपि गत । ‘पुणो एदि तहि’
पुनरप्येति तमेव देशः । ‘तह ससारमदीहि धू’ ससारघन्यात्परं सु शब्दो द्रष्टव्यः, ततोऽपरमं—ससार-
मेवाधिगच्छतीति । ‘दूर पि गदो’ महद्दिक स्वर्गादिस्थानमुपगत । ‘णिडाणगदो’ निदान परभवमुत्तातिराये
मन प्रणिधान गत ॥१२७२॥

श्विचदुद्ध कागगृहे इयता कालेन तव द्रविण दास्यामि अवदीयमेव तावत्प्रयच्छेति गृहीत्वा द्रव्य
रोषवेभ्यः प्रदाय स्वगृहे सुखं वसन्त्यपि पुनर्यथा तैस्तुमर्षणायति तयैव निदानकारी स्वकृतेन पुष्येन परिप्राप्त-
स्वर्गोऽपि पुनरपि पततीति निगदति—

इन्द्रिय सुख नियमसे कुयोनियोमे भ्रमण करनेका मूल कारण है क्योंकि अत्यधिक राग-
द्वेषकी उत्पत्तिमे निमित्त है । उन कुयोनियोमे उत्पन्न होकर नाना प्रकारके दुःखोंका अनुभव करने
वाले जीवके दुःखोंको, देवगति आदिके भोग वस्त्र अलंकार भोजन आदि दूर करनेमे समर्थ नहीं
हैं, ऐसा आगे कहते हैं—

गा०—जैसे देशान्तरमे गया व्यक्ति सर्वत्र घूमकर अपने घरको ही जाता है वैसे ही वट्टे
कष्टसे प्राप्त देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोंको भोगकर उन भोगोंके नष्ट हो जाने पर नियमने
कुयोनिमे जाता है ॥१२७०॥

गा०—जैसे मरा हुआ वंछ मरते हुएकी रक्षा नहीं कर सकता । वैसे ही कुयोनिमे जाकर
उस दुःख भोगते हुए जीवका स्त्री वस्त्र आदि भोग क्या कर सकते हैं ? वे उसका किञ्चित् भी
दुःख दूर नहीं कर सकते ॥१२७१॥

गा०—जैसे लम्बे घाघेमे वध्या पक्षी सुदूर जाकर भी पुनः वही लौट आता है । वैसे ही
परभव सम्बन्धी विषय सुखमे मन लगाने वाला निदानो महान् वृद्धिसे सम्पन्न स्वर्गादि स्थानोमे
जाकर भी ससारमे ही लौट आता है ॥१२७२॥

जैसे कोई जेलखानेमे पड़ा व्यक्ति, मैं इतना समय बीतने पर तुम्हारा धन तुम्हें लौटा दगा
तुम मुझे धन दो, ऐसा वादा करके धन लेता है और वह धन जेलके रखकोंको देकर अपने घरमे
सुखपूर्वक निवास करता है किन्तु उसे पुनः कर्ज देने वाले पकड़ लेते हैं उसी प्रकार निदान करने

दाऊण जहा अत्थ रोघणमुक्को सुह घरे वसइ ।

पत्ते समए य पुणो रुभइ तह चेव धाराणओ ॥१२७३॥

'दाऊण' दत्ता । 'अत्थ' अर्थ । 'जह' यथा । 'रोघणमुक्को' रोघेन मुक्त । 'सुह घरे वसइ' सुगुणेन गृहे वसति । 'पत्ते समये य' प्राप्ते चावधि गते । 'पुणो रु भइ' पश्चाच्च रुम्यते । 'तथा चेव' पूर्ववदेव । 'धाराणओ' अधमर्ण ॥१२७३॥

दाष्टान्तिके योजयति—

तह सामण्णं किञ्चा किलेसमुक्क सुहं वसइ सगो ।

ससारमेव गच्छइ तत्तो य चुदो निदाणरुदो ॥१२७४॥

सभूदो वि निदाणेण देवसुक्ख च चक्कहरसुक्ख ।

पत्तो तत्तो य चुदो उववण्णो तिरियवासम्मि ॥१२७५॥

'सभूदो वि निदाणेण' निशनेन समूत करिचत् । 'देवसुक्ख' देवमुत् । 'चक्कहरसोक्ख' चक्रहर-
सोक्ख । 'पत्तो' प्राप्त । 'तत्तो य चुदो' तस्मात्सुगारप्रच्युत उत्पन्न । 'उववण्णो' उपपन्न । 'तिरियवासम्मि'
तिर्यग्वाते ॥१२७४॥

णञ्चा दुरत्तमद्धयमत्ताणमतप्पय अविस्माय ।

भोगसुह तो तम्हा विरदो मोक्खे मदि कुज्जा ॥१२७६॥

'णञ्चा' ज्ञात्वा । 'दुरत्त' दुरवसानदुःखकलमिति यावद् । 'अद्धयुव' अनिरय । 'अत्ताण' अत्राण ।
'अतप्पय' अतर्पक । 'अविस्माय' असहृद्बुद्ध । 'भोगसुख' भोग्यन्ते, सेव्यन्ते इति भोगा इत्यादयः, तैज्जित
सुख । 'तो' परचान् । 'तम्हा' तस्मान् । 'भोगसुखान्, दुरन्तादिदुष्टदोषात् । 'विरदो' व्यापुत् । 'मोक्खे' मोक्षे

वाला अपने द्वारा किये गये पुण्यसे स्वर्ग प्राप्त करके भी पुन गिरता है, यह कहते हैं—

गा०—जैसे धन देकर कागगारमे मुक्त हुआ कर्जदार सुखपूर्वक घरमे रहता है । किन्तु कर्ज चुकानेका समय आने पर पुन पकड़कर बन्द कर दिया जाता है ॥१२७३॥

गा०—वैसे ही मुनिपद धारण करके निदान करने वाला स्वर्गमे बन्दा रहित सुखपूर्वक रहता है और वहाँसे च्युत होकर ससारमे ही भ्रमण करता है ॥१२७४॥

गा०—समूत नामक व्यक्ति निदानके द्वारा देवगतिके सुख और चक्रवर्तिके सुखको प्राप्त हुआ अर्थात् मरकर सौधर्म स्वर्गमे उत्पन्न हुआ और वहाँसे मरकर ब्रह्मादत्त चक्रवर्ती हुआ । उसके पश्चात् मरकर तिर्यग्गति (नरक गति) मे उत्पन्न हुआ ॥१२७५॥

गा०—जो भोगे जाते हैं उन स्त्री आदिको भोग कहते हैं । उनमे होने वाला सुख ऐसा दुःख देता है जिसका अन्त होना दुष्कर है, तथा वह भोग जन्य सुख अनिरय है, अरक्षक है उसमे तूष्णी नहीं होती, अनादि समारम्भ उसे जीवने अनेक बार भोगा है । अत उसमे मनको हटाकर समस्त कर्मोंके अपायरूप मोक्षमे मन लगाना चाहिए । अर्थात् चारित्र और तपका पालन करनेमे

निरवशोपवर्मापाये । 'अदि कुञ्ज' मति कुर्यान्, अनुष्ठेयमानेन चारित्र्येण तपसा वा बर्मशयोऽस्तीति मतिं कुर्यान्, न निदानं कुर्यादित्यर्थः ॥१२७६॥

निदानदोष विस्तरत उपदर्श्य अनिदानत्वे गुण व्याचष्टे—

अणिदाणो य मुणिवरो दंसणणाचरणं विमोघेदि ।

तो सुद्धणाचरणो तवसा कम्मवत्तय कुण्ड ॥१२७७॥

अणिदाणो य मुणिवरो' अनिदानो यतिवृत्तः, 'दंसणणाचरणं' रत्नत्रय, 'विमोघेदि' विमोघयति, निदानाभावादनविचार सम्प्रदर्शनं शुद्धं भवति, तस्मिन्निर्मले निर्मलं ज्ञानं, निर्मलं विगुह्यज्ञानपूरणं चारित्र्यं विगुह्यं भवति, 'तवसा कम्मवत्तय कुण्ड' तपसा कर्माणि निरवशेषाणि वियोजयन्त्यात्मनः ॥१२७७॥

इच्चेवमेदमविचित्तयदो होज्ज ह्णिदाणकरणमदी ।

इच्चेव पस्मतो ण ह्ण होदि णिदाणकरणमदी ॥१२७८॥

'इच्चेवमेदमविचित्तयदो' इत्येवमेतद्वस्तुज्ञानं प्रविचिन्तयत । 'होज्ज ह्ण' भवेदेव, 'णिदाणकरणमदी' निदानकरणे बुद्धिः, 'इच्चेव पस्मतो' इत्येवमेतन्त्यस्यन्, 'न ह्ण होदि' नैव भवति 'णिदाणकरणमदी' निदानकरणमति । णिदाण ॥१२७८॥

मायामन्लस्मालोयणाधियारम्मि वणिणदा दोसा ।

मिच्छत्तमन्लदोमा य पुव्वमुववणिण्या सव्वे ॥१२७९॥

'मायासत्त्वस्त' मायान्त्यस्य, 'आलोयणाधियारम्मि' आलोचनाधिकारे 'वणिणदा दोसा' वर्णिता दोषा, 'मिच्छत्तसत्त्वदोसा' मिथ्यावशात्त्वदोषाश्च । 'सव्वे' सर्वे, 'पुव्वमुववणिण्या' पूर्वमेव व्यावर्णिता, शल्य-त्रयगतदोषा भवतो व्यावर्णिता इत्यनेन सूत्रैरेतत्कथयति आबुद्धदोषेण शल्यत्रयं त्वया व्याख्ययितम् ॥१२७९॥

मायाशल्यापरित्यागात्प्राप्तदोषमर्थाव्यानेन दर्शयति—

कर्मक्षय होता है ऐसी मति करना चाहिए । निदान नहीं करना चाहिए ॥१२७६॥

विस्तारमें निदानके दोष बतलाकर निदान न करनेमें गुण कहते हैं—

गा०—निदान न करने वाले मुनिवर सम्प्रदर्शनं सम्प्रज्ञान और सम्प्रज्ञा चारित्र्य रूप रत्न-त्रयको विगुह्य करते हैं । अर्थात् निदान न करनेसे निरतिचार सम्प्रदर्शनं शुद्ध होता है । सम्प्रज्ञा-दर्शनके निर्मल होने पर ज्ञान निर्मल होता है । और निर्मल विगुह्य ज्ञान पूर्वक चारित्र्य विगुह्य होता है । तब विगुह्य ज्ञान चारित्र्यमें सम्पन्न मुनि तपके द्वारा सब कर्मोंका क्षय करता है ॥१२७७॥

गा०—उक्त प्रकाशमें जो वस्तुस्वरूपका विचार नहीं करता उसकी मति निदान करनेमें लगती है । और जो उसका विचार करता है उसकी मति निदान करनेमें नहीं लगती ॥१२७८॥

गा०—आलोचना अधिकारमें मायाशल्यके दोष कह जायें हैं । और मिथ्यात्व शल्यके दोष पूर्वमें ही बड़े हैं । इस प्रकार हे क्षपक ! तीनों शल्योंके दोष आपमें हमने कहे हैं । अब इन दोषोंको जानकर तुम्हें तीनों शल्योंका त्याग करना चाहिए । इसमें आचार्य क्षपकके प्रति ऐसा कहते हैं ॥१२७९॥

मायाशल्याका त्याग न करनेमें प्राप्त हुए दोषोंको दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

पद्मद्वयोधिलाभा मायासल्लेण आसि पूदिमुही ।

दासी सागरदत्तस्स पुप्फदंता हु विरदा वि ॥१२८०॥

‘पद्मद्वयोधिलाभा’ प्रभ्रष्टो विनष्टो दीक्षाभिमुखबुद्धिलाभो यस्या सा प्रभ्रष्टवोधिलाभा । ‘आसी’ आसीत् । का ? ‘पूदिमुही’ पूनिमुखोसजिता । ‘सागरदत्तस्स दासी’ सागरदत्तवैश्यस्य दासी । केन ? ‘मायासल्लेण’ मायाशल्येन । ‘पुप्फदंता हु विरदा वि मायासल्लेण पद्मद्वयोधिलाभा आसी’ इति पदसम्बन्धा पुष्प-दन्ताख्या सयता च मायाया प्रभ्रष्टवोधिलाभा आसीत् । मायाशल्य ॥१२८०॥

मिच्छत्तसल्लदोसा पियधम्मो साधुवच्छलो सतो ।

बहुदुक्खे ससारे सुचिर षडिहिंदिओ मरीची ॥१२८१॥

‘मिच्छत्तसल्लदोसा’ मिध्यात्वशल्यदोषात् । ‘पियधम्मो’ प्रियधर्म । ‘साधुवच्छलो सतो’ साधूना वत्सलोऽपि सन् मरीचि । ‘ससारे सुचिर षडिहिंदिओ ससारे सुचिर भ्रान्त, कीदृशे ? ‘बहुदुक्खे’ बहुदुःखे । मिध्याशल्य ॥१२८१॥

एव निर्वाणकेण मूरिणा मस्तूयमान साधुवर्गो निर्वाणपुर प्रविशतीति दर्शयति उत्तरप्रबन्धेन—

इय पव्वज्जाभडि समिदिबइल्लं तिगुत्तिदिट्ठचक्क ।

रादियभोयणउद्ध मम्मचक्ख सणाणधुर ॥१२८२॥

‘इय सारमिज्जतो साधुवर्गस्यो साधुवर्णियो ससारमहावर्षे तरति’ पदघटना । व्यावर्जितक्रमेण सन्त्रियमाण साधुबुन्दमार्य ससारमहावर्षे तरति । ‘पव्वज्जाभडिमाहिय षडिबो’ प्रव्रज्याभडिमाह्य प्रस्थित, ‘समिदिबइल्लं’ समितिवलीवर्षा, ‘तिगुत्तिदिट्ठचक्क’ त्रिगुप्तिदृढचक्रा, ‘सम्मचक्ख’ सम्मववाक्षा, ‘सणाणधुर’ समीचीनज्ञानपूर्वती ॥१२८२॥

गा०—पुष्पदन्ता नामकी आर्थिका आर्थिका होनेपर भी मायाशल्यके कारण दीक्षाके अभिमुख होनेकी बुद्धिके लाभमें अष्ट होकर सागरदत्त वैश्यके घरमें पूतिमुखी नामकी दासी हुई ॥१२८०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा बृहत्कथाकोशमें ११० नम्बरपर कही है ॥१२८०॥

मायाशल्यका वर्णन हुआ ।

गा०—धर्मप्रेमी और साधुओंके प्रति वात्सल्यभाव रखनेवाला मरीचिकुमार मिध्यात्व-शल्य दोषके कारण बहु दुःखपूर्ण ससारमें भ्रमता हुआ ॥१२८१॥

विशेषार्थ—यह मरीचिकुमार भरतका पुत्र था जो महावीर तीर्थंकर हुआ । भगवान् आदिनाथके मुखमें अपना तीर्थंकर जोना सुनकर यह अष्ट हो गया था ॥१२८१॥

आगे कहते हैं कि इस प्रकार निर्वाणकाचार्यके द्वारा मस्तुन साधुवर्गके माय दापक मोक्ष-नगरमें प्रवेश करते हैं—

गा०—इस प्रकार क्षपकमाधुर्यपी व्यापारी दीक्षारूपी गाढीपर माधुर्यके सघने माय चटकर निर्वाणरूपी भाँडेके लिए मिट्टिपुरीकी ओर प्रस्थान करता है । उस दीक्षारूपी गाढीमें

वदभडभरिदमारुहिदसाधुमत्थेण पत्थिदो ममय ।

णिज्वाणभडहेदु सिद्धपुरीं साधुवाणियजो ॥१२८३॥

‘वदभडभरिद’ व्रतभाण्डपूर्ण । ‘साधुमत्थेण पत्थिदो ममय’ साधुसार्थेन सह प्रस्थित । किं प्रति ? सिद्धिपुर । ‘निज्वाणभडहेदु’ निर्वाणद्रव्यनिमित्त । ‘साधुवाणियजो’ दापकमाधुवणिक् ॥१२८३॥

आयरियसत्थवाहेण णिच्चजुत्तेण मारविज्जतो ।

सो साहुवग्गसत्थो संसारमहाडवि तरड ॥१२८४॥

‘आयरियसत्थवाहेण’ आचार्यसार्थवाहेन । ‘णिच्चजुत्तेण’ संबंदानपायिना । ‘सारविज्जतो’ ‘सत्स्य-माण ॥१२८४॥

तो भावणादियतं रक्खदि त साधुसत्थमाउत्त ।

इदियचोरेहिं तो कमायबहुसावदेहिं च ॥१२८५॥

‘तो’ तत् । ‘भावणादियतं रक्खदि’ भावनादिभिः प्रयत्नं रक्षति । ‘त साधुसत्थ’ त साधुसार्थ । ‘आउत्त’ जायमान आत्मना । वृत्तो रक्षति इत्याशङ्क्या उत्तर—‘इदियचोरेहिं तो’ इन्द्रियचोरेभ्यः । ‘कमाय-बहुसावदेहिं वा’ कपायबहुत्वापदेश्यश्च ॥१२८५॥

विसयाडवीए मज्जे ओहीणो जो पमाददोसेण ।

इ दियचोरा तो से चरित्तभड विलुंपति ॥१२८६॥

‘विसयाडवीए मज्जे’ स्पर्शरसस्पर्शगन्धराश्रवादिविषया अटवीव ते दुरतिब्रामणीया । तस्या विषया-टव्या मध्ये । ‘जो ओहीणो’ य साधुरपसुत । ‘पमाददोसेण’ प्रमादाख्येन दोषेण । ‘इदियचोरा’ इन्द्रियाख्या-इचोरा । ‘से’ तस्यापसुतस्य साधुवणिज । ‘चरित्तभड’ चरित्रभाण्ड । ‘विलुंपति’ अपहरन्ति । सन्निहित-मनोऽज्ञानोत्तविषयजा इन्द्रियमयनुमायिनो रागद्वेषादचारित्र्य विनाशयन्ति प्रमादिन । आचार्यस्तु ध्याने स्वाध्याये प्रवर्तयन् प्रमादमपसारयतीति नेन्द्रियचोरेर्दध्यते इति भाव ॥१२८६॥

समितिरूपी धूल जुडे है, तीन गुप्तिरूपी उसके मजबूत चक्के हैं । रात्रि भोजनसे निवृत्तिरूप दो दीर्घ सण्डे हैं । मम्यक्त्वरूपी अक्ष है समीचीनज्ञानरूपी घुरा है ॥१२८७-८३॥

गा०—आचार्य उम सघके नायक है जो निरन्तर सावधान हैं । उनके द्वारा बार-बार सन्मार्गमें लगाया गया वह आगधक साधु समुदाय ससाररूपी महावनको पार करता है ॥१२८४॥

गा०—वह सघर्षति आचार्य अपने द्वारा भावना आदिमें नियुक्त उस साधु समुदायकी इन्द्रियरूपी चोरोसे और कपायरूपी अनेक जगली हिंसक जानवरोंसे रक्षा करता है ॥१२८५॥

गा०—टी०—स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द आदि विषय अटवीके समान बड़े कष्टसे लाये जाते हैं इसलिए उन्हें अटवी (घोर वन) की उपमा दी है । उस विषयरूपी अटवीके मध्यमें जो साधु प्रमाद दोषसे जाता है उसके चारित्ररूपी घनको इन्द्रियरूपी चोर चुरा लेते हैं । अर्थात् प्राप्त इष्ट अनिष्ट विषयोंको लेकर इन्द्रिय बुद्धिके अनुमान उत्पन्न हुए रागद्वेष उम प्रमादी मुनिके चारित्रको नष्ट कर देते हैं । किन्तु आचार्य ध्यान और स्वाध्यायमें लगाकर प्रमादोंको दूर करता

अहवा तल्लिच्छाई कूराडं कसायसावदाई तं ।
सज्जति असजमदादाहिं संक्लिसादिदसेहिं ॥१२८७॥

‘अहवा’ अथवा । ‘तल्लिच्छाई’ अपसृतजनलिप्तावन्त । ‘कूराड’ कर । ‘कसायसावदाई’ कपाय-
व्यालमृगा । त अपसृत । ‘सज्जति’ भक्षयेयु । ‘असजमदादाहिं’ असजमदपट्टाभि । ‘संक्लिसादिदसेहिं’
संक्लिसादिदसेरथ । इन्द्रियाणा कपायाणा वा वदे निपतन्यननि निर्यापके सूर्याविति भाव ॥१२८७॥

तयोरिन्द्रियकपाययो प्रवृत्तिरनेकदोषमूलेति कथयति—

ओमण्णमेवणाओ पडिसेवतो असजदो होड ।
सिद्धिपहपच्छिदाओ ओहीणो साधुमत्थादो ॥१२८८॥
इ दिक्कसायगुरुगत्तणेण सुहमीलभावितो समणो ।
करणालमो भविता मेवदि ओमण्णसेवाओ ॥१२८९॥

‘इ दिक्कसायगुरुगत्तणेण’ तीव्रेन्द्रियकपायपरिणामतया । ‘सुहमीलभावितो समणो’ सुखममाधिभावित
अमण । ‘करणालमो’ त्रयोदशविधामु क्रियामु अलम् । ‘भवित्ता’ भूत्वा । ‘सेववि’ मेवने । ‘ओमण्णसेवाओ’
अवमन्त्रसेवा भ्रष्टचारिकाणा क्रियामु प्रवर्तने इति यावत् । ओमण्णो ॥१२८९॥

केडं गहिदा इदिक्कचोरेहिं कसायसावदेहिं वा ।
पथ छडिय पिज्जति साधुसत्थस्स पासम्मि ॥१२९०॥

‘केडं गहिदा इदिक्कचोरेहिं’ केचिद्गृहीता इन्द्रियचोरे । ‘कसायसावदेहिं’ तदा कपायव्यापदैश्च
गृहीता । ‘साधुसत्थस्स पथ छडिय’ माधुमार्गस्य पथान् त्यक्त्वा । ‘पासम्मि पिज्जति’ पादव-
यान्ति ॥१२९०॥

है इसलिए इन्द्रिय चोर नहीं मनाते, यह उक्त कथनका भाव है ॥१२८६॥

गा०—अथवा उस विषयरूपी अटबोमे फँस हुए लोगोको खानेके इच्छुक क्रूर कपायरूपी
मिह्रादि उम आगत माधुको अमयमन्पी दाढोमे और रागद्वेष मोहुरूपी दाँतोसे खा जाते हैं ।
कहनेका भाव यह है कि निर्यापकाचार्यके अभावमे क्षपक इन्द्रियो और कपायोंके फन्देमे फँस
जाना है ॥१२८७॥

आगे कहने हैं कि इन्द्रिय और कपायकी प्रवृत्ति अनेक दोषोका मूल है—

गा०—जो साधु चारित्र्य भ्रष्ट साधुओकी क्रिया करता है वह अमयमी होकर साधुओंके
सधमे बाहर हो जाता है और मोक्षमार्गसे दूर हो जाता है ॥१२८८॥

गा०—इन्द्रिय और कपायरूप तीव्र पणिणाम होनेसे सुखपूर्वक समाधिमे लगा साधु तेरह
प्रकारकी क्रियाओंमे आलसी होकर चारित्र्य भ्रष्ट साधुओकी क्रिया करने लगता है ऐमा साधु
अवमन्न कहलाना है ॥१२८९॥

गा०—कोई माधु इन्द्रियरूपी चोरो और कपायरूपी हिंसक जाँवोंके द्वारा पकडे जाकर
साधु मधके मार्गको छोडकर माधुओंके पार्श्ववर्ती हो जाते हैं । माधु मधके पार्श्ववर्ती होनेमे इन्हे
पासत्थ या पार्श्वस्य कहते हैं ॥१२९०॥

तो साधुसत्थपंथ छडिय पासम्मि णिज्जमाणा ते ।

गारवगहिणकुडिल्ले पडिदा पार्वेति दुक्खाणि ॥१२९१॥

‘तो साधुसत्थपंथ’ साधुसार्थस्य पन्थान । ‘छडिय’ त्यक्त्वा । ‘पासम्मि’ पार्वे । ‘णिज्जमाणा ते’ नीयमानास्ते । ‘गारव गहिण कुडिल्ले’ चिरऋद्धिगतास्तगीरवमञ्छन्ते गहने । ‘पडिदा’ पतिता । ‘पार्वेति’ प्राप्नुवन्ति । ‘दुक्खाणि’ दुःखानि ॥१२९१॥

सल्लविसकटएहिं विद्धा पडिदा पडति दुक्खेसु ।

विसकटयविद्धा वा पडिदा अडवीए एगागो ॥१२९२॥

‘सल्लविसकटएहिं विद्धा’ मिथ्यात्वमायानिदानशक्त्यकण्टकैर्वा विद्धा ‘पडिदा’ पतिता । ‘दुक्खेसु पडति’ दुःखेषु पतन्ति । ‘विसकटयविद्धा अडवीए एगागो पडिदा इव’ विपक्वपटवेन विद्धा अटव्यामेकाकिन पतिता यथा दुःखेषु पतन्ति तथैवेति दाष्टान्तिके योजना ॥१२९२॥

पथ छडिय सो जादि साधुसत्थस्स चेव ‘पागाओ ।

जो पडिसेवदि पासत्थसेवणाओ हु णिद्धम्मो ॥१२९३॥

साधुसार्थस्य पन्थान त्यक्त्वा कस्य पार्वे याति मस्यामी दोषा व्यावर्णिता — गौरवगहने पात शक्त्य-
विपक्वकवेधादयश्चेरवागङ्गाया वदति । ‘पथ छडिय साधुसत्थस्स सो जादि’ परित्यज्य साधुसार्थस्य पन्थान-
मसौ याति । ‘पासम्मि’ पार्वे । ‘जो पडिसेवदि’ य प्रतिसेवते, ‘पासत्थसेवणाओ’ दुः पार्वस्त्वसेवना, ‘णिद्धम्मो’
धर्मश्चारित्र्य तन्मादपगत, धर्मादपगत सन्ध्यादर्हस्याचरणीयानु क्रियानु प्रवर्तते ॥१२९३॥

सैव कथं निर्धर्मता तस्येत्याशङ्क्य वदन्ति—

इ दिवकसायगरुयत्तणेण चरणं तण व पस्सतो ।

णिद्धम्मो हु सविच्चा सेवदि पासत्थसेवाओ ॥१२९४॥

‘इ दिवकसायगरुयत्तणेण’ इन्द्रियकषायविषयैर्गौरवान्च रागद्वेषपरिणामयो क्रोधादिपरिणामाना च

गा०—साधु समूहके मार्गको छोड़कर पार्श्वस्थ मुनिपनेको प्राप्त हुए वे ऋद्धिगौरव, रस-
गौरव और सातगौरवसे भरे गहन वनमें पड़कर तोड़ दुःख पाते हैं ॥१२९१॥

गा०—अथवा जैसे विपले कांटोसे विधे हुए मनुष्य अटवीमें अकेले पड़े हुए दुःख पाते हैं,
वैसे ही मिथ्यात्व माया और निदानशक्त्यरूपी कांटोसे बंधे हुए वे पार्श्वस्थ मुनि दुःख पाते
हैं ॥१२९२॥

गा०—वह पार्श्वस्थ मुनि साधु सघका मार्ग त्यागकर ऐसे मुनिके पास जाता है जो
चारित्र्यमें भ्रष्ट होकर पार्श्वस्थ मुनियोंका आचरण करता है ॥१२९३॥

वह मुनि चारित्र्य भ्रष्ट क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—टी०—इन्द्रिय, कषाय और विषयोंके कारण रागद्वेषरूप परिणामों और क्रोधादि

तीव्रत्वात् । 'चरण' चारित्र्य, 'तण व' तृणमिव, 'पससतो' पश्यन् रागादयोऽप्यनुभपरिणामास्तत्त्वज्ञानम्य प्रतिबन्धकास्तेन सकलुष ज्ञानचारित्र्य निस्सारमिव पश्यति, तत एव तत्राकृतादर चारित्र्यादर्पतीति निर्द्वर्भ-
तास्य । तत पार्श्वस्थसेवानु प्रयतते । 'पससत्यो' ॥१२९४॥

इदियचोरपरद्धा कसायसावदभएण वा केई ।

उम्मगेण पलायति साधुसत्थस्स दूरेण ॥१२९५॥

'इदियचोरपरद्धा' इन्द्रियचोरकृतोषद्धवा । 'कसायसावदभएण वा केई' कपायव्यालमूत्रभयेन वा
केचित् । 'उम्मगेण' उन्मार्गेण 'पलायति' पलायन कुर्वन्ति । 'साधुसत्थस्स दूरेण' साधुसार्थस्य दूरात् ॥१२९५॥

तो ते कुमीलपडिमेवणावणे उप्पघेण घावता ।

सण्णाणदीसु पडिदा किलेमसोदेण बुद्धति ॥१२९६॥

'तो' तत साधुसार्थाद्दूरादपमुता, 'कुमीलपडिमेवणावणे' कुशीलप्रतिसेवनावने, 'उप्पघेण' उन्मार्गेण ।
'घावता' घावन्त । 'सण्णाणदीसु' सज्जानदीपुः । 'पडिदा' पतिता । 'किलेमसोदेण' कलेराग्नौनसा । बुद्धन्ति
ते बुद्धन्ति ॥१२९६॥

सण्णाणदीसु ऊढा बुद्धा थाह कहपि अलहता ।

तो ते संसारोदधिमदति बहुदुक्खमीसम्मि ॥१२९७॥

'सण्णाणदीसु ऊढा' सज्जानदीभिराकृष्टा सती निर्यन्ता 'थाह' वदस्थान 'कहपि' नवचिंदपि 'अलहता'
अलभमाना । 'तो' पश्चात् । 'संसारोदधिमदति' संसारसागर प्रविशन्ति । 'बहुदुक्खमीसम्मि' बहुदु-
खभीष्म ॥१२९७॥

आमागिरिदुग्गाणि य अदिगम्म तिदडकवखडसिलासु ।

ऊलोडिदपम्भडा खुप्पंति अणंतय काल ॥१२९८॥

परिणामोके तीव्र होनेसे वह चारित्र्यको तृणके समान मानता है । क्योंकि रागादिरूप अशुभ
परिणाम तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक होते हैं । अत उसका ज्ञान दूषित होनेसे वह चारित्र्यको सार-
हीन मानता है । इसीसे वह उसमें आदरभाव न रखनेके कारण चारित्र्यसे च्युत होता है । इसीसे
उसे चारित्र्य भ्रष्ट कहा है । चारित्र्य भ्रष्ट होकर वह पार्श्वस्थ मुनियोंकी सेवामें लग जाता है ।
यह पार्श्वस्थ मुनिका कथन है ॥१२९४॥

गा०—अथवा कोई मुनि इन्द्रियरूपी चोरोसे पीड़ित होकर वपायत्प हिंसक प्राणियोंके
भयसे साधु सघसे दूर होकर उन्मार्गमें चले जाते हैं ॥१२९५॥

गा०—साधु सघसे दूर होकर वे मुनि कुशील प्रतिसेवनात्प वनमें उन्मार्गसे दौड़ते हुए
आहार भय मैथुन परिग्रहत्प सज्जानदीमें गिरकर कष्टरूपी प्रवाहमें पडकर डूब जाते हैं ॥१२९६॥

गा०—सज्जान्प नदीमें डूबनेपर उन्हें कहीं भी छहरनेका स्थान नहीं मिलता वन वे
बहुत दु खोंमें भयानक समाग समुद्रमें प्रवेश करते हैं ॥१२९७॥

गा०—समार समुद्रमें प्रवेश करनेपर आगारूपी पहाड़ोंको लाधने हुए मन-वचन-वायकी

'आतागिरिदुर्गाणि य' आतागिरिदुर्गाश्च । 'अदिगम्भ' अतिगम्भ । 'तिदइक्कडसिलासु' तिरुण्डन-
कीरसिलासु । 'अलोडिद' 'पम्भट्टा' अवलुण्ठिता मन्त प्रञ्जय 'सवेति' गमयन्ति । 'अणतय काल' अनत
काल ॥१२९८॥

वहुपावक्कम्भकरणाडवीसु मइदीसु विप्पणट्टा वा ।

अद्विट्टिणिवुदिरथा भमति सुचिरं पि तत्थेव ॥१२९९॥

'वहुपावक्कम्भकरणाडवीसु' बहुविधाम्यनुभकर्माण्येवाटव्य तामु 'मइदीसु' दीर्घानु । 'विप्पणट्टा' विप-
नट्टा । 'अद्विट्टिणिवुदिरथा' अद्विट्टनिवृत्तिमार्गा । 'भमति' भ्रमन्ति । 'सुचिरं पि' सुचिरमपि । 'तत्थेव'
तथैव ॥१२९९॥

दूरेण साधुसत्थ छंडिय सो उप्पथेण सु पलादि ।

सेवदि कुमीलपडिसेवणाओ जो सुत्तदिट्टाओ ॥१३००॥

'दूरेण साधुसत्थ' दूरात्माधुमार्य । 'छंडिय' त्यक्त्वा । 'सो' य । 'उप्पथेण सु' उन्मार्गेण । 'पलादि'
पलायते । 'सेवदि कुमीलपडिसेवणाओ' सेवते कुमीलप्रतिमेवना । 'जो' य । 'सुत्तदिट्टाओ' सूत्र-
निर्दिष्टा ॥१३००॥

इंदियक्सायगुरुगत्तणेण चरण तण व पस्सतो ।

णिदधसो भवित्ता सेवदि हु कुसीलसेवाओ ॥१३०१॥

'इंदियक्सायगुरुगत्तणेण' इन्द्रियक्पायपरिणामाना गुप्त्वेन । 'चरण तण व पस्सतो' चरण तृणमिव
पश्यन् । 'णिदधसो भवित्ता' अहोको भूत्वा । 'सेवदि' सेवते कुसीलसेवा ॥ कुसीला ॥१३०१॥

मिद्विपुरमुवल्लीणा वि केड इदियक्सायचोरेहिं ।

पविलुत्तचरणभडा उवहदमाणा णिवट्टति ॥१३०२॥

दुष्प्रवृत्तिरूप शिलाओपर लटकते हुए गिरकर अनन्तकाल बिताते हैं ॥१२९८॥

विशेषार्थ—पहले वे उत्तरगुण छोड़ते हैं फिर मूलगुण और सम्यक्त्वसे भी भ्रष्ट होकर
ममारमे भ्रमण करते हैं ॥१२९८॥

गा०—अनेक प्रकारके अनुभक्तरूप सुदीर्घ अटवीमे भटकते हुए वे निर्वाणका मार्ग कभी
देखा न होनेसे चिरकालतक वही भ्रमण करते रहते हैं ॥१२९९॥

गा०—वे दूरसे ही साधुसगको त्यागकर कुमारमे दौड़ते हैं । और आगममे कहे कुमील
मुनिके दोषोंको करते हैं ॥१३००॥

गा०—इन्द्रिय और कपायरूप परिणामोंकी तीव्रताके कारण चारित्र्यको तृणके समान
मानते हैं और निर्लज्ज होकर कुमीलका सेवन करते हैं ॥१३०१॥

इस प्रकार कुमील मुनिका कथन हुआ ।

गा०—कोई-कोई मुक्तिपुरीके निकट तक जाकर भी इन्द्रिय और कपायरूपी चोरोंके
द्वारा चारित्र्यरूपी धन चुराये जानेपर सयमका अभिमान त्यागकर इसमे लीट आते हैं ॥१३०२॥

‘सिद्धिपुरमुत्तलोणा वि’ सिद्धिपुरमुपलीना अपि । ‘केई’ नेचित् । ‘इन्द्रियकसायचोरेहिं’ इन्द्रियकपाय-
चोरै । ‘पविलुत्तचरणभडा’ अपहृतचारिवयाण्डा । ‘उबहदमाणा’ उपहृताग्रिमाना । ‘निबट्ठति’ निव-
र्तन्ते ॥१३०२॥

तो ते सीलदरिदा दुक्खमणत सदा वि पावति ।

बहुपरियणो दरिदो पावदि तिब्ब जघा दुक्ख ॥१३०३॥

‘तो’ पश्चात् । ‘ते सीलदरिदा’ ते सीलदरिदा । ‘दुक्ख’ दुःख । ‘अणत’ अन्तातीत । ‘सदा वि
पावति’ सदा प्राप्नुवन्ति । ‘बहुपरियणो’ बहुपरिजनो । ‘दरिदो’ दरिद्र । ‘पावदि दुक्ख तिब्ब’ प्राप्नोति
दुःख तीव्र यथा ॥१३०३॥

मो होदि साधुसत्थादु णिग्गदो जो भवे जघाछदो ।

उत्सुत्तमणुवदिट्ठ च जधिच्छाए विक्कपतो ॥१३०४॥

‘मो होदि’ स भवति । ‘साधुसत्थादु णिग्गदो’ साधुमार्यान्निवत्त । ‘जो हवे जघाछ दो’ या भवति
स्वेच्छावृत्ति । ‘उत्सुत्त’ उत्सूत्र । ‘अणुवदिट्ठ’ अनुपदिष्ट च स्वविरै । ‘जधिच्छाए विक्कपतो’ यपेच्छमा
विकल्पयन् ॥१३०४॥

जो होदि जघाछदो तस्म धणिदपि भजमित्तस्म ।

णत्थि दु चरण चरण खु होदि सम्मत्तसहचारी ॥१३०५॥

‘जो होदि जघाछ दो’ यो भवति स्वेच्छावृत्ति । ‘तस्म धणिदपि भजमित्तस्म’ तस्य निवृत्तामपि समयमे
प्रवर्तमानस्य । ‘णत्थि दु’ नास्त्येव । ‘चरण’ चारित्र । ‘चरण खु होदि सम्मत्तसहचारी’ सम्यक्त्वसहचार्येव
यतेवचारित्र । स्वच्छन्दवृत्तंस्तु यत्किंचित्परिकल्पयत सूत्रमनुसरत नैव सम्यग्दर्शनमस्ति । तदन्तरेण सम्य-
क्चारित्र नैव भवति ॥१३०५॥

इन्द्रियकसायगुरुगतणेण सुत्त पमाणमकरतो ।

परिमाणेदि जिणुत्ते अत्थे मच्छन्ददो चेव ॥१३०६॥

गा०—पश्चात् वे सीलमे दरिद्र मुनि सदा अनन्त दुःख पाते हैं । जैसे बहुत परिवारवाला
दरिद्र मनुष्य तीव्र दुःख पाता है ॥१३०३॥

अथ यथाच्छन्द मुनिका स्वरूप कहते हैं—

गा०—साधुमधसे निकलकर जो पूर्वाचार्योक्ति द्वारा नहीं कहे आगम विरुद्ध मार्गकी अपनी
इच्छानुसार कल्पना करता है वह यथाच्छन्द मुनि होता है ॥१३०४॥

गा०—टी०—जो स्वच्छन्दचागी मुनि होता है वह समयमे अत्यन्त प्रवृत्ति भी करे तो भी
उसका चारित्र चारित्र नहीं है क्योंकि सम्यक्त्वके साथ जो चाग्रि होता है वही चारित्र होता
है । जो स्वच्छन्दचारो होता है वह तो जो उसकी इच्छा होती है तदनुसार आचरण करता है ।
आगमका अनुसरण नहीं करता, अतः उसके सम्यग्दर्शन नहीं है । और सम्यग्दर्शनके बिना
सम्यक्चारित्र नहीं होता ॥१३०५॥

‘इन्द्रियकसायगुरुत्तणेन’ कषायाधगुह्यतत्वेन सूत्रमप्रमाणयन् । ‘परिमाणेहि’ अन्यथा गृह्णाति ।
‘जिघृक्षते अन्ये’ जिज्ञासकानप्यान् । ‘सच्छब्दो चेव’ वेच्छामिप्रायेणेव ॥१३०६॥

इ दियकसायदोसेहिं अधवा सामण्णजोगपरिततो ।

जो उव्वायदि सो होदि णियचो साधुमत्थादो ॥१३०७॥

‘इ दियकसायदोसेहिं’ इन्द्रियकषायदोषे । ‘अधवा सामण्णजोगपरिततो’ अथवा नामान्यजोगेन दान्त ।
‘जो उव्वायदि’ यश्चारिदाच्यवते । ‘सो होदि’ स भवति । ‘णियतो साधुसपायो’ निवृत्त साधु-
सायात् ॥१३०७॥

इ दियकसायवसिया केई ठाणाणि ताणि सव्वाणि ।

पाविज्जते दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता ॥१३०८॥

‘इ दियकसायवसिया’ इन्द्रियकषायवसाया । ‘केई’ केचित् । ‘ठाणाणि ताणि सव्वाणि’ तान्दगुह्यमन्वा-
अपरिणामानि । ‘पाविज्जति’ प्राप्यन्ते । ‘दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं ससत्ता दोपैस्तं सर्वं ससत्ता’ ।
ससत्ता ॥१३०८॥

इय एदे पचविधा जिणेहिं भवणा दुमुच्छिदा सुत्ते ।

इ दियकसायगुरुत्तणेण णिच्चं पि पडिक्ख्वा ॥१३०९॥

पासत्पत्तिगद ॥१३०९॥

दुद्धा चवला अदिदुज्जया य णिच्च पि समणुवद्धा य ।

दुक्खावहा य भीमा जीवाणं इ दियकसाया ॥१३१०॥

‘दुद्धा’ दुष्टा अश्लोषद्रव्यारित्वान् । ‘चवला’ अनवस्थितत्वान् । ‘अदिदुज्जया य’ अतोव दुर्जया अनु-
पलब्धचारित्र्यनोद्दृष्टप्राप्तमप्रवर्षणेन जीवेन दु त्वेन अभिगृह्यते इति । ‘णिच्चपि’ नित्यनपि । ‘समणुवद्धा य’

गा०—इन्द्रिय और कषायोंकी प्रबलताके कारण वह आगमको प्रमाण नहीं मानता ।
और अपनी इच्छाके अनुसार जिनभगवान्‌के द्वारा कहे गये अर्थको विपरीतरूपमें ग्रहण करता
है ॥१३०६॥

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके दोषमें अधवा नामान्य योगसे विरक्त होकर जो चारित्र्यमें
गिर जाता है वह साधु भगमें अलग हो जाता है ॥१३०७॥

अब ससक्त मुनिका स्वरूप कहते हैं—

गा०—इन्द्रिय और कषायोंके वशमें हुए कोई मुनि उन सब दोषोंमें समक्त होकर उन सब
अशुभ स्थान रूप परिणामोंको प्राप्त होने है ॥१३०८॥

गा०—इस प्रकारये पाँच प्रकारके मुनि जिन भगवान्‌के द्वारा आगममें निन्दनीय कहे
हैं । ये इन्द्रिय और कषायोंकी प्रबलता होनेसे नित्य ही जिनागममें विमुख रहते हैं ॥१३०९॥

गा०-टी०—इन्द्रिय और कषायरूप परिणाम बड़े दुष्ट हैं क्योंकि ये आत्मामें उपद्रव पैदा
करते हैं । अनवस्थित होनेमें चपल हैं । इनको जीतना अति कठिन है क्योंकि जिन जीवोंके चारित्र्य-

सम्पगनुबद्धाश्चारित्रमोहोदयरय स्वकारणस्य सदा सद्भावात् । नित्यारुषेत्कथ चपला । नित्यशब्दो ध्रौव्ये न प्रयुक्त कित्वभीक्ष्णे मुहुर्मुहुरनुबद्धा इत्यर्थः । चपलता तु परिणामानां अनवस्थितत्व अतो न विरोधः । 'दुःखा-
घहा य' दुःखावहाश्च । 'जीवाण' जीवानां । अभिमतयोगालाभे पाप्मस्य वाप्याये महत् दुःखमित्यनुभवसिद्ध-
मेव सर्वप्राणभूता । कण्ठायास्तु क्रोधादयः कपायन्ति^१ हृदयः । अथवा दुःखकारणामद्वेष्टार्जन^२ निमित्तत्वात्
दुःखावहा । इन्द्रियकपायवशमो जीवान् हिनस्ति । दुःखकरणेन बाधवत्पदस्येति इति । यत एव दुःखावहा
अतएव भीमा । 'इदियकसाया' इन्द्रियकपायपरिणामा ॥१३१०॥

मरुतेन्लपि पियतो वत्यो जह वादि पूदिय गघ ।

तथ दिक्खिदो वि इदियकसायगघ वहदि कोई ॥१३११॥

'मुफल्कत्तैलमपि' 'पियतो' पियन्, 'वत्यो' वस्त अजपोत । 'जह वादि पूदिय गघ' पूतिगन्ध यया
वाति । प्राकृतगन्ध यया न जहाति सधियमाणोऽपि मुरभिणा द्रव्येण, 'तथ विक्खिदो वि' तथा दीक्षितो-
ऽपि परित्यक्तासयमोऽपि । इदियकसायगघ वहदि' इन्द्रियकपायदुर्गन्धमुद्रहति इति यावत् ॥१३११॥

भु जतो वि सुभोयणमिच्छदि जघ स्यरो समलमेव ।

तथ दिक्खिदो वि इदियकसायमलिणो हवदि कोइ ॥१३१२॥

'भु जतो वि सुभोयण' भुज्जानोऽपि शोभनमाहार । 'स्यरो जघ समलमेव इच्छदि' सूकरो यया
समलमेवाभिलपति चिरन्तनाभ्यासान् । 'तत्' तथा । 'दिक्खिदो वि' दीक्षितोऽपि कृतव्रतपरिग्रहनस्कारोऽपि ।
'कोइ' कश्चित् । 'इदियकसायमलिणो हवदि' इन्द्रियकपायास्यानुभपरिणामोपगतो भवति । भव्योऽपि जन

मोहके क्षयोपशमका प्रकर्ष नहीं है वह जीव बड़े कष्टमें इन्हे वशमें कर पाता है । तथा इनका
कारण चारित्रमोहका उदय सदा रहता है अतः ये नित्य बने रहते हैं ।

बाङ्गा—यदि ये नित्य हैं तो चपल कैसे हैं ?

समाधान—नित्य शब्दका प्रयोग ध्रौव्यके अर्थमें नहीं है किन्तु बार-बारके अर्थमें है । और
परिणामोंके स्थिर न होनेको चपलता कहते हैं अतः कोई विरोध नहीं है ।

तथा ये जीवोंको दुःखदायी हैं । इष्ट भोगकी प्राप्ति न होने पर अथवा प्राप्त भोगका
विनाश होने पर महान् दुःख होता है यह सभी प्राणियोंको अनुभवसिद्ध है । क्रोधादि कपाय
हृदयको सताप पहुँचाती है । अथवा दुःखका कारण जो असातावेदनीय कर्म है उसके बन्धमें
निमित्त है इसलिए दुःखदायी हैं । जो इन्द्रिय और कपायके वशमें होता है वह जीवोंका घात
करता है । जीवोंके दुःख देनेमें असातावेदनीय कर्मका बाधक होता है । और यतः ये इन्द्रिय तथा
कपाय दुःखदायी हैं, अतएव भयकर हैं ॥१३१०॥

गा०—जैसे बकरीका वच्चा सुगन्धित तेल भी पिये फिर भी अपनी पूर्व दुर्गन्धको नहीं
छोड़ता । उसी प्रकार दीक्षा लेकर भी अर्थान् असयमको त्यागने पर भी कोई कोई इन्द्रिय और
कपाय रूप दुर्गन्धको नहीं छोड़ पाते ॥१३११॥

जैसे मुअर मुन्दर स्वादिष्ट आहार खाते हुए भी चिरतन अभ्यास वन विष्टा ही खाना
पसन्द करता है । उसी प्रकार व्रतोंको ग्रहण करके भी कोई कोई इन्द्रिय और कपायरूप अनुभ

शुरूपदेशादधिगतदुःखनिवृत्त्युपायतया परित्यक्तेन्द्रियरूपायांऽपि गार्हस्थ्यपरित्यागकारे पुरारपि तत्राप-
तीति ॥१३१२॥

एतदनेकदृष्टान्तोपन्यासेन दर्शयति सूरिस्तरप्रवन्धेन—

वाहभएण पलादो जूह दट्ठण वागुरापडिद ।

सयमेव मओ वागुरमदीदि जह जूहतण्हाए ॥१३१३॥

‘वाहभएण’ व्याधभयेन । ‘पलादो मओ’ वृत्तपलायनो मूग । ‘वागुरापडिद जूह दट्ठण’ वागुरापतित
स्वययूथ दृष्ट्या । ‘सयमेव वागुरमदीदि मओ’ स्वयमेव वागुरा प्रविशति मूग । ‘जह’ यथा, वृत्त । ‘जूहतण्हाए’
यूथतृण्णया । ‘एव के वि गिहवास मुच्चा’ इत्यनया गायया सबन्ध वार्य ॥१३१३॥

पंजरमुक्को सउणो सुइर आरामएसु विहरंतो ।

सयमेव पुणो पजरमदीदि जघ णीडतण्हाए ॥१३१४॥

‘पंजरमुक्को सउणो’ पञ्जरान्मुक्त पणो । ‘सुइर आरामएसु विहरंतो’ आरामेयु स्वेच्छया विहरन् ।
‘सयमेव’ स्वयमेव । ‘पुणो’ पुन । ‘पजरमदीदि’ पञ्जरमुपति । ‘जह णीडतण्हाए’ यथा णीडतृण्णया ॥१३१४॥

कलमो गएण पकादुद्धरिदो दुत्तरादु बलिएण ।

सयमेव पुणो पके जलतण्हाए जह अदीदि ॥१३१५॥

‘कलमो’ गजपौत्र महति कर्दमे पतित । ‘गएण पकादुद्धरिदो’ गजेन परेण पक्कादुद्धृतो । ‘दुत्तरादु’
दुस्तरात् पक्वान् बलिष्ठातिशयवता गजेन । ‘सयमेव पुणो पके जह अदीदि’ स्वयमेव कलमो यथा पक्क-
मुपति । ‘जलतण्हाए’ जलतृण्णया ॥१३१५॥

अग्निपरिक्खितादो मउणो रुम्हादु उप्पडित्ताण ।

सयमेव त दुम सो णीडणिमित्त जघ अदीदि ॥१३१६॥

परिणाम घाले होते हैं । भव्य जीव भी गुरुके उपदेशसे गृहस्थाश्रमका परित्याग करते समय दुःख-
की निवृत्तिका उपाय जानकर इन्द्रिय और कर्माय रूप परिणामोका त्याग करता है किन्तु फिर
भी वह उन्हींके चक्रामे पड़ जाता है ॥१३१२॥

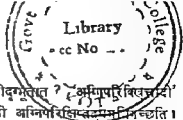
आगे आचार्य अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा इमीको दर्शते हैं—

गा०—जैसे व्याधके भगसे भागा हुआ हिरन अपने झुण्डके जालमे फँसा देखकर झुण्डके
मोहसे स्वय भी जालमे फँस जाता है वैसे ही कोई मुनि गृह त्यागनेके बाद स्वय ही उसमे फँस
जाता है ॥१३१३॥

गा०—जैसे पीजरेसे मुक्त हुआ पक्षी उछानांमे स्वेच्छापूर्वक विहार करते हुए स्वय ही
अपने आवासके प्रेसवश पीजरेमे चला जाता है ॥१३१४॥

गा०—जैसे महती कीचडमे फँसा हाथीका बच्चा बलवान् हाथीके द्वारा निकाला गया ।
किन्तु पानोकी प्यासवश वह स्वय ही कीचडमे फँस जाना है ॥१३१५॥

गा०—जैसे पक्षी आगसे घिरे वृक्षसे उड़कर स्वय ही अपने घोंसलेके कारण उस वृक्षपर
जा पहुँचता है ॥१३१६॥



‘वक्षसादो सज्जो उप्पडित्ताण’ वृक्षादुत्पत्त्य सज्जुन । कीदृग्भूतत ? ‘अग्निपरिक्खित्तदी’ अग्निना समन्ताद्वेष्टितान् । ‘सयमेव त इमं जह् अदीदि’ स्वयमेव वासी पक्षी अग्निपरिक्खित्तमग्निच्छति । ‘गोडणिमित्तं स्वावामनिमित्तं ॥१३१६॥

लघिज्जतो अहिणा पासुत्तो कोड जग्गमाणेण ।

उट्ठविदो त धेत्तुं इच्छदि जघ कोडुगहलेण ॥१३१७॥

‘लघिज्जतो अहिणा’ लघ्यमानोऽहिना, ‘कोड पासुत्तो’ कश्चित्त्वमुत्त, ‘जग्गमाणेण उट्ठविदो’ जाग्रता उत्थापित । ‘जह् त धेत्तुमिच्छति’ यथा सर्पं ग्रहीतुमिच्छति, ‘कोडुगहलेण’ बौद्धहलेन ॥१३१७॥

सयमेव वतमसण णिन्लज्जो णिग्घिणो सय चेव ।

लोलो किविणो भुंजदि सुणहो जघ असणतण्हाए ॥१३१८॥

‘सयमेव वतमसण’ स्वयमेव वान्तमरान । ‘सुणहो णिन्लज्जो णिग्घिणो’ दवा निर्लज्ज निर्गुण । ‘जहा’ यथा । ‘सयमेव भुजदि’ स्वयमेव भूषते । ‘लोलो’ आमक्त । ‘किविणो’ रूप्य । ‘असणतण्हाए’ अशनतृष्णया ॥१३१८॥

एव केई गिहवासदोममुक्का वि दिक्खिदा सता ।

इं दियकसायदोसेहि पुणो ते चेव गिण्हति ॥१३१९॥

‘एव केई’ एव केचिन् । ‘गिहवासदोसमुक्का वि’ गृहवासस्थो ये दोषास्तेष्वपि मुक्ता । ‘दिक्खिदा वि सता’ दीक्षिता अपि सन्त । ‘इं दियकसायदोसे’ इन्द्रियकपायदोषान् । ‘ते चेव’ ताश्च गृहवासगतान् । ‘गिण्हति’ गृह्णाति । कीदृग्गृहवासो येन दुष्ट इति भण्यते । मग्गद भावाधिष्ठान अनुपरतमायाकीनोत्पादन-प्रयोगजीवनोपायप्रवृत्त कपायाणाम्पारं परेषा षोडानुग्रहयोरामदपरिकरं पृथिव्यन्तेजोवायुदनस्पतिष्वनारत-वृत्तव्यापारो, मनोवाक्कायै सचित्ताचित्तानेकाणुस्थूलद्रविणग्रहणवर्द्धनोपजातायास, यव स्थितो जनोऽमारे सारता, अनित्ये नित्यता, अशरणे शरणता, अशुची शुचिता, दुःखे सुखिता, अहिते हितता, असमये मध्यगीयता,

गा०—जैसे किसी सोते हुए मनुष्यपरसे सर्प जा रहा है । उसे कोई जागता हुआ मनुष्य उठाता है और वह उठकर कौतूहलवश उस सर्पको पकड़ना चाहता है ॥१३१७॥

गा०—जैसे कोई निर्लज्ज चिनावना कुत्ता अपने ही वसन किये भोजनको भोजनकी तृष्णावश लोलुपतासे खाता है ॥१३१८॥

गा०—टी०—वैसे ही गृहवासके दोषोंसे मुक्त कोई दीक्षा स्वीकार करके भी गृहवासके उन्ही इन्द्रिय और कपायरूप दोषोंको स्वीकार करता है । गृहवासको बुरा क्यों कहा यह बतलाते हैं—

गृहस्थाश्रम ‘यह मेरा है’ इस भावका अधिष्ठान है, निरन्तर माया और लोभको उत्पन्न करनेमें दक्ष जीवनके उपायोंमें लगानेवाला है, कपायोंकी खान है, दूसरोंको पीटा देने और अनुग्रह करनेमें तत्पर रहता है, पृथिवी जल आग वायु और वनस्पतिमें उसका व्यापार सदा चला करना है, मन वचन कायसे मचित्त अचित्त अनेक सूक्ष्म और स्थूल द्रव्योंके ग्रहण और वढ़ानेके लिए उसमें प्रयास करना होता है । उसमें रहकर मनुष्य अमरमें मारता, अनित्यमें नित्यता, अशरणमें शरणता, अशुचिमें शुचिता, दुःखमें सुखपना, अहितमें हितपना,

शत्रुभूते मित्रता च मन्यमान परितः परिधावति । समयमशङ्कोऽपि पदमधिगच्छति । दुष्टतरवाल्लोहपञ्जरो-
दग्गतो हरिश्चिब, वागुरापतितमृगतुलमिव, अन्यायकदंभोन्मग्नो ज्वरतुञ्ज्वर इव हनाशः, पाशबद्धो विह्व इव,
चारवावरुदस्तस्कर इव, व्याघ्रमप्यमप्यामीनोऽप्यबलो मृग इव, तदन्तिकोपयानजातसङ्घट्ट कूटपाशावृष्ट्यो
जलचर इव, यन्त्रावस्थितो जनः काममहलतमपटलेनाश्रितः । रागमहानाशंरपद्रुत विन्नाडाकिनीभिः कवली-
श्रित्यते शोकवृक्षैरनुगम्यते, गोपपावनेन भ्रमनान् क्रियते, दुरागालतिवार्तिनिश्चल वध्यते, प्रियविप्रयोगा-
निभिरनिशः शकलोऽश्रित्यते, प्राथिनालाभशरसातस्तूषीरता नीयते, मायास्थविरिक्या गाढमालिङ्ग्यते, परिभव-
कठिनवृत्तारविदार्यते, अबशोमलेन लिप्यते, मोहमहावनवारणेन हन्यते, पापघातचरैरवबोधः पान्यते, भयान-
शलादाभिस्तुद्यते, आयासबाधैः प्रतिवासरः अश्रयते, ईर्ष्यामप्या विरूपता परिप्राप्यते, परिग्रहहर्गुह्यते ।
यन्त्रावस्थितोऽमयमभिन्मुखो भवति । असूयाजायायाः प्रियता याति, मानदानवाधिर्यता अनुभवति, विनाश-
घवलचारित्रपत्रत्रयछायासुखं न लभते, समारचारकाशरमान नापनयति, कर्मनिर्मूलनाय न पभवति, मरण-
विषपादपं न दहति, मोहघनमृद्वह्ना न चोटयति, विचित्रयोनिसुखमचरणं न निषेधति । ततः इत्यमूनाद्गृहवास-
'दोषाल्पकता मन्तोऽपि दीक्षिता 'इ दिव्यवसायदोसे हि' इन्द्रियरूपयदोषान् । हि शब्दः समुच्चयार्थः । तेनैव-
मभिसम्बध्यते 'पुणो हि' पुनरपि 'ते चैव' तानेव । 'गिण्हुति' गृह्णन्ति ॥१३१९॥

अनाथयमे आश्रयपना, शत्रुमे मित्रता मानता हुआ सब ओर दौडता है । भय और शकाने दुक
होते हुए भी आश्रय प्राप्त करता है । जिसने निकलना कठिन है ऐसे कालरूपी लोहेके पीजरेके
पेटमे गये सिंहकी तरह, जालमे फंसे हिरणोकी तरह, अन्यायरूपी कौचडमे फंसे दूधे हाथीकी
तरह, पाशसे बद्ध पक्षीकी तरह, जेलमे बन्द चोरकी तरह, व्याघ्रोंके मध्यमें बैठे हुए दुर्बल
हिरणकी तरह, जिसके पासमे जानेमे सकट बाया है ऐसे जालमें फंसे मगरमच्छकी तरह, जिस
गृहस्थाश्रममे रहनेवाला मनुष्य कालरूपी अत्यन्त गाढे अन्धकारके पटलसे आच्छादित हो जाता
है । रागरूपी महानाग उसे मताते हैं । विन्तारूपी डाकिनी उसे खा जाती है । शोकरूपी भेड़िये
उसके पीछे लगे रहते हैं । कोपरूप आग उसे जलाकर राख कर देती है । दुरागारूपी लताओंमें
वह ऐसा बँध जाता है कि हाथ पैर भी नहीं हिला पाता । प्रियका वियोगरूपी वज्रपात उसके
टुकड़े कर डालता है । प्रार्थना करनेपर न मिलनेरूपी सैकड़ों बाणोंका वह तरक्स बन जाता है
अर्थात् जैसे तरकममें बाण रहते हैं वैसे ही गृहस्थाश्रममें वाछित वस्तुका लाभ न होनेरूपी बाण
भरे हैं । मायरूपी बुद्धिया उसे ज़ोरमे चिपकाये रहती है । तिरस्काररूपी कठोर कुठार उसे
काटते रहते हैं । अपयशरूपी मलसे धूँल्लिप्त होता है । महामोहरूपी जगली हाथीके द्वारा वह
भारा जाता है । पापरूपी पातकोंके द्वारा वह ज्ञानशून्य कर दिया जाता है । भयरूपी लोहेकी
सुइयोंसे कोचा जाता है । प्रतिदिन थमरूपी कौवोंके द्वारा खाया जाता है । ईर्ष्यारूपी काजलसे
विरूप किया जाता है । परिग्रहरूपी मगरमच्छोंके द्वारा पकड़ा जाता है । जिन गृहस्थाश्रममें
रहकर जसयमकी जोर जाता है । असूयारूपी पत्नीका प्यारा होता है । अर्थात् दूसरोंके गुणोंमें
भी दोष देखता है अपनेको मानरूपी दानवका स्वामी मानने लगता है । विशाल घवल चारित्र-
रूपी तीन छत्रोंकी छायाका सुख उसे नहीं मिलता । वह अपनेको समाररूपी जेलमे नहीं छुड़ा
पाता । कर्मोंका जडमूलमे विनाश नहीं कर पाता । मृत्युरूपी विषवृक्षको नहीं जला पाता ।
मोहरूपी मजबूत साबलको नहीं तोड़ता । विचित्र योनियोंमें जानेको नहीं रोक पाता । दीक्षा

बंधणमुक्को पुनरेव बंधण सो अचेयणोदीदि ।

इन्द्रियकमायबंधणमुवेदि जो दिक्खिदो सतो ॥१३२०॥

‘बंधणमुक्को’ बन्धनमुक्त । ‘पुनरेव बंधण’ पुनर्बन्धन । ‘अदीदि’ प्रतिपत्तते । ‘सो अचेयणो’ मोक्ष ।
क ? ‘जो दिक्खिदो सतो इन्द्रियकमायबंधणमुवेदि’ यो दीक्षित इन्द्रियकपायबन्धमुपनि । इन्द्रियकपायपरि-
णामा कर्मबन्धनत्रिधाया साधकतमत्तया इह बन्धनसाधेनाच्यन्ते ॥१३२०॥

मुक्को वि णरो कलिणा पुणो वि तं चेव मग्गदि कलिं मो ।

जो दिक्खिदो वि इन्द्रियकमायमइय कलिमुवेदि ॥१३२१॥

प्रतिद्वार्यो ॥१३२१॥

उत्तरगाथा—

मो णिच्छदि मोत्तुं जे हत्थगय उम्मुय सुपज्जलिय ।

मो अक्कमदि कण्हसप्प छाद वग्ग च परिममदि ॥१३२२॥

‘सो णिच्छदि’ स नेच्छति । ‘मोत्तुं’ मोक्षतु । कि ? ‘हत्थगय’ हस्तन्वित हस्तगत वा । ‘उम्मुय’
सुपज्जलिय’ उन्मुक्त सुप्तु प्रज्जलित । ‘सो कण्हसप्पमवक्कमदि’ स कृष्णमपमात्राप्रति । ‘छाद वग्ग च परिममदि’
क्षुधोपद्रुत व्याघ्र व स्पृशति ॥१३२२॥

मो कठोन्नगिदमिलो दहमत्थाहं अदीदि अण्णाणी ।

जो दिक्खिदो वि इन्द्रियकमायवमिगो हवे साधु ॥१३२३॥

‘सो कठोन्नगिदमिलो’ स कृष्ठावकम्बितमिल । ‘दहमत्थाहं’ दूधमगाव । ‘अदीदि’ प्रवृत्तनि ।
‘अण्णाणी’ अन्न । ‘जो दिक्खिदो वि इ’ यो दीक्षितोऽपि ‘इन्द्रियकमायवमिगो’ इन्द्रियकपायवराजर्तो मादृस्याद-
भेदव्यवहार ॥१३२३॥

धारण करके इस प्रकारके गृहवाम सम्बन्धी दोषोमे मुक्त होकर भी पुन उन्ही दोषोको स्वीकार करता है ॥१३१९॥

गा०—जो दीक्षित होकर इन्द्रिय और कपायोके बन्धनमे पटना है वह अज्ञानी बन्धनमे मुक्त होकर पुन बन्धनको प्राप्त होता है ॥१३२०॥

गा०—जो दीक्षित होकर भी इन्द्रिय कपायमयी कलिको स्वीकार करता है वह मनुष्य कलिकालमे मुक्त होकर भी पुन उसी कलिको स्वीकृत है ॥१३२१॥

गा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कपायोके बन्धनमे पडता है वह हाथमे म्यिन जल्ते हुए अलातको छोड़ना नहीं चाहता, वह काले साँपको लाँघता है और भूमे व्याघ्र-
का स्पर्श करता है ॥१३२२॥

गा०—जो साधु दीक्षित होकर भी इन्द्रिय और कपायके बन्धनमे पडता है वह अज्ञानी अपने गलेमे पत्थर बांधकर अगान तालाबमे प्रवेश करता है ॥१३२३॥

इ दियगहोवसिट्ठो उवसिट्ठो ण दु गहेण उवसिट्ठो ।

कुणदि गहो एयमवे दोम इदरो भवसदेसु ॥१३२४॥

‘इ दियगहोवसिट्ठो’ इन्द्रियग्रहगृहीत । ‘उवसिट्ठो’ गृहीत । ‘ण दु गहेण उवसिट्ठो’ नैव ग्रहेणोप-
सृष्ट । कुत ? यस्मान् । ‘कुणदि गहो एयमवे दोस’ एकस्मिन्नेव भवे ग्रहो बुद्धिद्वयामोहलक्षण दोष करोति ।
‘इदरो भवसदेसु’ इन्द्रियकपायग्रहो भवन्तिषु दोष करोति ॥१३२४॥

होदि कमाउम्मत्तो उम्मत्तो तथ ण पित्तउम्मत्तो ।

ण कुणदि पित्तुम्मत्तो पाव इदरो जघुम्मत्तो ॥१३२५॥

‘होदि कमाउम्मत्तो’ अर्थात् पदघटना । ‘उम्मत्तो होदि’ उन्मत्तो भवति यथा । क ? ‘कमाउम्मत्तो’
कपायोन्मत्त । यथा ‘उम्मत्तो ण होवित्ति’ पदघटना तथा उन्मत्तो न भवति । क ? ‘पित्तउम्मत्तो’ पित्तो-
न्मत्त । एतेन पित्तद्वतादुन्मादात् कपायद्वतन्मोन्मादस्य जघन्यता क्ख्याता । कथ ? ‘न कुणदि पित्तुम्मत्तो’
पाप न करोति पित्तोन्मत्त । ‘पाव इदरो जघुम्मत्तो’ कपायोन्मत्तो यथा पाप करोति, तथाभूत न करोति ।
यत एकैकोऽपि क्रोधादि हिंसादिषु प्रवर्तयति । कर्मणा स्थितिवन्ध दोषोऽकरोति । विवेकज्ञानमेव तिरस्करोति
पित्तोन्माद । ततोऽनयोर्महदन्तर इति भाव ॥१३२५॥

इ दियकसायमइओ णर पिसाय करति हु पिसाया ।

पावकरणवेल्लव पेच्छणयकरं सुयणमज्जे ॥१३२६॥

‘इ दियकसायमइओ’ इन्द्रियकपायमय पिशाच । ‘णर पिसाय करेदि’ नर पिशाच करोति । कीदृ-
श्रूत पिशाच करोति ? ‘सुयणमज्जे पेच्छणयकर’ सुजनमध्ये प्रेक्षानिकवारण । ‘पावकरणवेल्लव’ हिंसादिपाप-
क्रियाविलम्बना प्रेक्षणीयत्वेन सपादयन्त पिशाच करोतीति यावन् ॥१३२६॥

कुलजरम जसमिच्छत्तगस्स णिघर्णं वर सु पुरिसस्स ।

ण य दिक्खिदेण इ दियकसायवसिएण जेदुंजे ॥१३२७॥

गा०—जो इन्द्रियरूपी ग्रहसे पकड़ा हुआ है वही ग्रह पोहित है । जो ग्रहमें पकड़ा हुआ है वह ग्रहपीडित नहीं है । क्योंकि ग्रह तो एक ही भवमें कष्ट देता है किन्तु इन्द्रियरूपी ग्रह सैकड़ों भवोंमें कष्ट देता है ॥१३२४॥

गा०—टी०—जो कपायसे उन्मत्त (पागल) है वही उन्मत्त है । जो पित्तसे उन्मत्त है वह उन्मत्त नहीं है । इससे पित्तके द्वारा हुए उन्मादमें कपायके द्वारा हुए उन्मादको निवृष्ट बतलाया है । क्योंकि कपायसे उन्मत्त पुरुष जैसा पाप करता है पित्तसे उन्मत्त वैसा पाप नहीं करता । एक-एक भी क्रोधादि कपाय हिंसा आदिमें प्रवृत्त करता है । कर्मों के स्थितिवन्धको बटाता है । किन्तु पित्तसे हुआ उन्माद केवल विवेकमूलक ज्ञानका ही तिरस्कार करता है । इसलिए इन दोनोंमें बहुत अन्तर है ॥१३२५॥

गा०—इन्द्रिय और कपायमय पिशाच मनुष्यको सुजनोके मध्यमें देखने योग्य पापक्रिया-
को विडम्बनाओंको करनेवाला पिशाच बना देता है ॥१३२६॥

‘कुलजस्त पुरिसस्त जसमिच्छत्तमस्य’ कुलप्रभूतस्य पुत्र यशोऽभिलाषिण । ‘निषण वर’ मृति शोभना । न तु जीविदुःखे नैव वर जीवन । ‘दिक्पिण्डेण इ दियक्सायवसिण्ण’ दीक्षितस्येन्द्रियक्पायवश-
वन्तिन जीवन न शोभनमित्यर्थ ॥१३२७॥

जध सण्णद्धो पग्गहिदचावकडो रधी पलायतो ।

णिदिज्जदि तध इ दियक्सायवसिणो वि पव्वज्जिदो ॥१३२८॥

‘यथा रधी पलायतो’ णिदिज्जदि’ यथा रधी पलायन्निन्दते । कीदृक् ? ‘सण्णद्धो पग्गहिदचावकडो’ सण्णद्ध उपगृहीतचानकाण्ड । तथा ‘इ दियक्सायवसिणो वि पव्वज्जिदो’ तथा इन्द्रियक्पायवशवत्येति प्रव्रजितो निन्दते ॥१३२८॥

जध भिक्ख हिदतो मज्झादि अलंकिदो गहिदसत्थो ।

णिदिज्जइ तध इ दियक्सायवमिणो वि पव्वज्जिदो ॥१३२९॥

‘जध भिक्ख हिदतो’ मुकुटादिभिर्गलङ्कृतो गृहीतचान्ना भिक्षा भ्रमन् निन्दते । तथा निन्दते इन्द्रिय-
क्पायवशवर्ती प्रव्रजित ॥१३२९॥

इ दियक्सायवसिणो मुण्डो णग्गो य जो मलिणयत्तो ।

सो चित्तक्कम्ममणोव्व ममणरूवो असमणो हु ॥१३३०॥

‘इ दियक्सायवसिणो’ इन्द्रियक्पायवशीकृत, मुण्डो तन्मन्त्र यो मलिनगात्र मन् । ‘सो समणरूवो न समणो’ स भ्रमणरूपो न भ्रमण ‘स चित्तक्कम्ममणो व्व’ स चित्तकर्म्मभ्रमण इव । परमार्थभ्रमणमदृशरूपो-
ऽपि यथा चित्तभ्रमणो न भ्रमणमन्त्रदशुभपरिणामप्रवण ॥१३३०॥

ज्ञान नरन्त्य दोषानपहरन् इन्द्रियक्पायत्रयमुन्नेन यथा मत्त्ववत् प्रहरणमावरण च शत्रु नाशयन्ती-

गा०—कुलीन और यशके अभिलाषी पुरुषका मरना थोष्ट है किन्तु दीक्षित होकर इन्द्रिय और कपायके वशमें रहकर जीना श्रेष्ठ नहीं है ॥१३२७॥

गा०—जैसे धनुष बाण लेकर युद्धके लिए तैयार रथारोही यदि युद्धमें भागता है तो निन्दाका पात्र होता है। उसी प्रकार दीक्षित साधु यदि इन्द्रिय और कपायके वशमें होता है तो निन्दाका पात्र होता है ॥१३२८॥

गा०—जैसे मुकुट आदिसे सुशोभित और हाथमें शस्त्र लिये हुए कोई भिक्षाके लिए धूमता है तो निन्दाका पात्र होता है। वैसे ही दीक्षित होकर इन्द्रिय और कपायके वशमें होने-
वाला भी निन्दाका पात्र होता है ॥१३२९॥

गा०—टी०—जो मुण्डित नग्न और मलिन शरीरवाला होकर भी इन्द्रिय और कपायके वशमें होता है वह चित्रमें अकिञ्चन भ्रमणके समान भ्रमणरूपका घागी होनेपर भी भ्रमण नहीं है। अर्थात् जैसे चित्रमें अकिञ्चन भ्रमण बान्धविक भ्रमणके समान रूपवाला होनेपर भी भ्रमण नहीं है उसी प्रकार भ्रमणका वेध धारण करने भी जिसके परिणाम अशुभ है वह भ्रमण नहीं है ॥१३३०॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय और कपायको जीतनेके द्वारा ज्ञान मनुष्यके दोषोंको दूर करता

त्युत्तरगाथार्य इन्द्रियकपायाजये ज्ञान दोषापहारित्वात् अतिगमन न लभते यथा सत्त्वहीनस्यावरगसन्ना-
हाम्य प्रहरण च खड्गचक्रादिक दात्रुजयत्वमतिताय नासादयति—

पाण दोसे नासिदि णरस्स इ दियकमायविजयेण ।

आउहरण पहरण जह नासेदि अरि समत्तस्म ॥१३३१॥

‘पाण’ ज्ञान ‘दोसे’ दोषान् । ‘नासिदि’ नाशयति । ‘णरस्स’ नरस्य । ‘इ दियकसायविजयेण’
‘जह’ यथा । ‘आउहरण पहरण’ आयुषो हरण प्रहरण दात्र । सह सत्त्वेन वसते इति सत्त्वस्तस्य । ‘अरि-
रिपु । ‘नासेदि’ नाशयति ॥१३३१॥

पाणां पि कुणदि दोसे णरस्स इ दियकसायदोसेण ।

आहारो वि ह पाणो णरस्स विसमजुदो हरदि ॥१३३२॥

‘पाणपि कुणदि दोसे णरस्स’ ज्ञान दोषानपि करोति नरस्य । ‘इ दियकसायदोसेण’ इन्द्रियकपायपरि-
णामदोषेण । उपकार्यपि अनुपकारितामुदहति परससर्गेण । यथा प्राणधारणनिमित्ताऽप्याहारो विषमिध प्राण-
न्विनासायति ॥१३३२॥

पाण करेदि पुरिसस्म गुणे इ दियकमायविजयेण ।

घलरूववणमाऊ करेहि जुत्तो जघाहारो ॥१३३३॥

पाण करेदि’ ज्ञान करोति । ‘पुरिसस्म गुणे’ पुरुषस्य गुणान् । कथं ? ‘इ दियकसायविजयेण’ इन्द्रिय-
कपायविजयेण । ‘घलरूववणमाऊ करेदि’ घल, टप, तेज, आयुश्च करोति । ‘जुत्तो जघाहारो’ युक्त
शोभनो यथाहार विषेणामिश्रित ॥१३३३॥

पाणां पि गुणे नासेदि णरस्स इदियकमायदोसेण ।

अप्पवघाए मत्थ होदि हु कापुरिसइत्थगय ॥१३३४॥

है । जैसे मत्त्वमम्पत्त मनुष्यका दात्र और कवच शत्रुका नाश करता है । तथा इन्द्रिय और
कपायको न जीतनेपर ज्ञान दोषोक्तो दूर करनेरूप अतिगमनको प्राप्त नहीं करता । जैसे सत्त्वहीन
पुरुषका कवच और तलवार चक्र आदि दात्र शत्रुको जीतनेरूप अतिगमनको नहीं प्राप्त
करता ॥१३३०॥

गा०—इन्द्रिय और कपायको जीतनेसे ज्ञान मनुष्यके दोषोक्तो नष्ट करता है । जैसे सत्त्व-
शालीका आयुको हरनेवाला दात्र शत्रुको नष्ट करता है ॥१३३१॥

गा० इन्द्रिय और कपायरूप परिणामोके दोषमे ज्ञान भी मनुष्योमे दोष उत्पन्न करता
है । दूसरेके समर्गमे उपकारी भी अनुपकारी हो जाता है । जैसे आहार प्राण धारणमे निमित्त
है किन्तु विषमे मिला आहार प्राणोका घातक होता है ॥१३३२॥

गा०—और इन्द्रिय तथा कपायोको जीतनेमे ज्ञान पुरुषमे गुण उत्पन्न करता है । जैसे
विषमे रहित उत्तम आहार वल, रूप, तेज और आयुको बढ़ाता है ॥१३३३॥

गा०—इन्द्रिय और कपायरूप परिणामोके दोषमे ज्ञान भी पुरुषके गुणोको नष्ट करता
है । जैसे कायर पुरुषके हाथमे बया शस्त्र उमके ही वधमे निमित्त होता है ॥१३३४॥

ज्ञानमपि गुणानाशयति नरस्य इन्द्रियकपायपरिणामदोषेण । आत्मवशाय भवति शस्य कानुरूपहस्तगत
इति ॥१३३४॥

उत्तरगाथाय —

मबहुस्सुदो वि अवभाणिज्जदि इदियकमाय'दोसेण ।

णरमाउधहत्थपि हु मदय गिद्धा परिभवति ॥१३३५॥

'मबहुस्सुदोवि मुष्टुबहुभुतोऽप्यवमन्यते इन्द्रियकपायदोषेण । गृहीतास्त्वमपि नर मृग गृद्धा परि-
भवन्ति यथा ॥१३३५॥

इदियकमायवमगो बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि ।

पक्खीव डिण्णपक्खो ण उप्पड्ढदि इच्छमाणो वि ॥१३३६॥

'इदियकसायवमगो' इन्द्रियकपायवसाय बहुभुतोऽपि चारित्र्ये नोद्यम करोति । यथा छिन्नपक्ष पक्षी
नान्यतति इच्छन्ति ॥१३३६॥

णस्मदि मग बहुगं पि णाणमिदियकसायमम्मिस्मं ।

विममम्मिमिददुद्धं णस्मदि जध मकराकदिद ॥१३३७॥

'णस्मदि सय बहुपि णाण' नश्यति स्वयं बहुपि ज्ञान इन्द्रियकपायसमिध । मकराकवपिन दुग्ध
विपमिधमिध । मानुर्यात्पातिमयता दुग्धस्य मकराकवपित्वान्नेन कप्यते ॥१३३७॥

इंदियकमायदोसमलिणं णाणं वड्ढदि हिदे से ।

वड्ढदि अण्णम्स हिदे खरेण जह चदणं ऊढ ॥१३३८॥

ज्ञान यदोय तस्मै उपकारितया प्रमिद्धमपि सन्तोषकारि भवति इन्द्रियकपायमलिन, परोपकारि तु
भवति खरोणोद चन्दनादिकमिवेति सूत्रार्थ ॥१३३८॥

गा०—इन्द्रिय और कपायोंके दोषमें अच्छे प्रकारमें बहुतसे शान्त्रोका जाता भी विद्वान्
अपमानका पात्र होना है । जैसे हाथमें अम्बरे होने हुए भी मरे मनुष्यको गृद्ध खा जाने
है ॥१३३५॥

गा०—इन्द्रिय और कपायोंके वशमें हुआ बहुभुत भी विद्वान् चारित्र्यमें उद्योग नहीं
करता । जैसे जिमका पंर कट गया है ऐसा पक्षी इच्छा करने हुए भी नहीं उड़ सकता ॥१३३६॥

गा०—इन्द्रिय और कपायके योगमें बहुत भी ज्ञान स्वयं नष्ट हो जाता है । जैसे शक्करके
साथ कटा हुआ दूध विपके मिलनेमें नष्ट हो जाता है अर्थात् अपने स्वभावको छोड़ देना है ।
यहाँ शक्करके साथ कटाया हुआ कटनेमें मिठानके कारण दूधकी सानिशयता बतलाई है । ऐसा
दूध भी विपके मेंलमें हानिकर होता है ॥१३३७॥

गा०—जिमका ज्ञान होना है उसीका उपकारी होना है यह वान प्रमिद्ध है किन्तु इन्द्रिय
और कपायमें मलिन ज्ञान जिमका होता है उसका उपकार नहीं करता, दूसरोका उपकार

ज्ञान प्रकाशकत्वमपि जहाति इन्द्रियकपायपरिणामव्यतिरिक्तं नियति—

इ दियकसायणिगहणिमीलितस्स ह पुयासदि ण णाणं ।

रत्तिं चक्खुणिमीलस्स जघा दीवो सुप्पज्जलितो ॥१३३९॥

इदियकसायणिगहणिमीलितस्स' इन्द्रियकपाय'निग्रहे निमीलितस्यात्मनो ज्ञान न प्रकाशः । 'रत्तिप' रात्राविष । 'चक्खुणिमिलितस्स' निमीलितचक्षुष पुंस । 'जह दीवो सुप्पज्जलितो' यथा सुप्पज्जलित प्रदीप ॥१३३९॥

इ दियकसायमइलो बाहिरकरणिहुदेण वेसेण ।

आवहदि को वि विसए सउणो वादसगेणेव ॥१३४०॥

इदियकसायमइलो' इन्द्रियकपायपरिणाममलिन । 'बाहिरकरणिहुदेण वेसेण' बाह्याया गमनागम-
नादिकाया क्रियाया निभूतेन वेसेण । 'कोई विसए आवहदि' कदिषडिपमानावहति आत्मनो भोगाय ॥१३४०॥

घोडगालिंडसमाणस्स तस्स अब्भतरम्मि कुधिदस्स ।

बाहिरकरणं किं से काहिदि वगणिहुदकरणस्म ॥१३४१॥

घोडगालिंडसमाणस्स' घोटकालिंडसमाणस्य यथा बहिर्ममृणता न नददन्तममृणता । तद्वत्स्म्यचिदाह्य
चरण समीचीन नाम्यन्तरा परिणामा युद्धा । अ एवमुच्यते । 'बाहिरकरण किं काहिदि' बाह्यक्रिया अन-
शानादिका किं करिष्यति । 'अब्भतरम्मि कुधिदस्स' बन्त कुपितस्म । इन्द्रियकपायसज्ञानुभपरिणामेन
नष्टाभ्यन्तरतपोवृत्तेरिति यावत् । 'वगणिहुदकरणस्स' वक्वन्निभूतक्रियस्य ॥१३४१॥

करता है । जैसे गधेपर लदा चन्दन दूतरोका उपकार करता है ॥१३३८॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय कपायरूप परिणामोंके दोषसे ज्ञान अपने प्रकाशकत्व धर्मको भी छोड़ देता है—

गा०—टी०—इन्द्रिय और कपायोका निग्रह करनेमें जो अपना उपयोग नहीं लगाता
अर्थात् जो इन्द्रिय और कपायोंसे प्रभावित है, उसका ज्ञान वस्तुस्वरूपका प्रकाशक नहीं होता ।
जैसे, जिनमें आँखें मूँदी हैं उनके लिए तीव्रतासे जलता हुआ दीपक पदार्थोंका प्रकाश नहीं
करता ॥१३३९॥

गा०—जिसका परिणाम इन्द्रिय और कपायसे मलिन होता है ऐसा कोई साधु बाह्य
गमन आगमन आदि क्रियाओंके द्वारा अपने वेशको छिपाकर अपने भोगके लिये विषयोंको
ग्रहण करता है जैसे निश्चल बैठा फली अपनी चोखमें अपने मित्रारको ग्रहण करता है ॥१३४०॥

गा०—टी०—जैसे घोड़ेकी लोद ऊपरमें चिकनी और भीतरमें खुरदरी होती है वैसे ही
किसीका बाह्य आचरण तो समीचीन होता है किन्तु अभ्यन्तर परिणाम युद्ध नहीं होते । उसे
घोड़ेकी लोदके समान कहा है । जिसके अभ्यन्तर परिणाम युद्ध नहीं हैं उसकी बाह्यक्रिया अनशन
आदि क्या करेगी ? अर्थात् इन्द्रिय और कपायरूप अणुभ परिणामके द्वारा अभ्यन्तर तपोवृत्ति
जिसकी नष्ट हो चुकी है वह बाह्य अनशन आदि तप करे भी तो क्या लाभ है । वह तो नदीके
तटपर निश्चल बैठे हुए बगुलेकी तरह है ॥१३४१॥

बाह्य तप करणीयतयोपदिष्ट तत्स्वफलं सम्पादयत्येव किमुच्यते बाह्यक्रिया किं करोतीत्याशङ्क्य
सूरिराचष्टे—

बाहिरकरणविसुद्धी अभ्यन्तरकरणसोधणत्याए ।

ण हु कुडयस्स सोधी सका भत्तसस्स काहु जे ॥१३४२॥

‘बाहिरकरणविसुद्धी’ बाह्यक्रियाविसुद्धि । ‘अभ्यन्तरकरणसोधणत्याए’ अभ्यन्तरक्रियाणां विनयादीनां
शुद्धये, अभ्यन्तरतपसा लब्ध्वैव बहुतरकमनिजरासमाणां परिवृद्धये ध्रुयन्ते बाह्यान्वयनशानादितपासि । ततोऽ-
न्वयतया बाह्यान्वुपदिष्टानि । यदि यद्यथ तत्प्रधान इति प्रधाननाभ्यन्तरतपस तच्च शुभशुद्धपरिणामात्मक ।
तेन विना न निर्जरार्यं बाह्यमल । उक्त्वा च—बाह्य तप परमदुश्चरमाचरस्त्वभाष्यात्मिकस्य तपस परिवृह-
णार्थ । इति । ‘ण लु ॥ इयस्स सोधी सका काहु जे’ नैवान्तर्मलस्य शुद्धिं त्वया कर्तुं । कस्य ? ‘सत्तुतस्स’
सत्तुपण्यं ध्यानस्य ॥१३४२॥

अभ्यन्तरसोधीए सुद्ध गियमेण बाहिर करणं ।

अभ्यन्तरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरं दोस ॥१३४३॥

‘अभ्यन्तरसोधीए’ अभ्यन्तरशुद्धया । ‘सुद्ध गियमेण बाहिर करणं’ शुद्ध निश्चयेन बाह्य करण ।
‘अभ्यन्तरदोसेण लु’ अन्तःपरिणामदोषैर्वा इन्द्रियकषायपरिणामादिना । ‘कुणदि णरो बाहिर दोस’ करोति
नरो बाह्यान्वोपान्वाककायाश्रयान् ॥१३४३॥

लिंम च होदि अभ्यन्तरस्स सोधीए बाहिरा सोधी ।

भिउडीकरण लिंम जह अतोजादकोधस्स ॥१३४४॥

‘लिंम च होदि’ चित्तं च भवति । ‘अभ्यन्तरस्स परिणामसोधीए’ अभ्यन्तरस्य परिणामस्य शुद्धे ।
‘बाहिरा सोधी’ बाह्य शुद्धिरशानादितपोविषया । ‘भिउडीकरण लिंम’ भृकुटीकरण लिङ्ग । ‘जह’ यथा ।

यहाँ कोई शङ्का करता है कि ऊपर बाह्यतप करनेका उपदेश किया है वह अपना फल
अवश्य देता है । तब आप कैसे कहने है कि बाह्यक्रिया क्या करेगी ? इसका उत्तर आचार्य
देते हैं—

गा०-टी०—अभ्यन्तर क्रिया विनय आदिकी शुद्धिके लिये बाह्यक्रियाकी विसुद्धि कही
है । शीघ्र ही वृद्धतमे कर्मोंकी निर्जरामे समर्थ अभ्यन्तर तपोंकी वृद्धिके लिए बाह्य अनशन आदि
तप सुते जाते हैं । इसीलिए उनका बाह्य नाम सार्थक है । जो जिसके लिये होता है वह प्रधान
होता है । इसलिए अभ्यन्तर तपकी प्रधानता है । वह अभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणामरूप
होता है । उसके विना बाह्यतप निर्जरामे समर्थ नहीं होता । कहा भी है—‘भगवन् । आपने
आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिए अत्यन्त कठोर बाह्यतप किया ।’ ठीक ही है, क्योंकि छिलकेके
रहते हुए धान्यकी अन्त शुद्धि सम्भव नहीं है ॥१३४२॥

गा०—नियमसे अभ्यन्तर शुद्धिके होनेमें ही बाह्यशुद्धि होती है । इन्द्रियकषाय परिणाम
आदि अन्तरंग परिणाम दोषमें ही मनुष्य वचन और कायसम्बन्धी बाह्य दोषोंको करता
है ॥१३४३॥

गा०-टी०—अनशन आदि तपविषयक बाह्यशुद्धि अभ्यन्तर परिणामोंकी विसुद्धिका

‘अतोऽग्निः कोपस्त’ अन्तर्जातस्य कोपस्य लिङ्गं लिङ्गभावः । बाह्यानामभ्यन्तराणां चैव भवति यदि परस्पर-
विनाभावितौ स्यादन्विधूमयोरिव । प्रसिद्धश्च लिङ्गलिङ्गभावः कार्येण बाह्येन वारणस्याभ्यन्तरस्येति
भावार्थः ॥१३४४॥

ते चेव इदियाणं दोषा सन्वे हवति णाट्ठ्वा ।

कामस्म य भोगाण य जे दोसा पुव्वणिदिट्ठा ॥१३४५॥

‘ते चेव इदियाणं दोषा’ त एवेन्द्रियाणां सर्वेषां दोषा भवन्ति इति ज्ञातव्या । ३ ? ‘ये दोषा पुञ्च
गिहिट्ठा’ ये दोषा पूर्वनिदिष्टाः । ‘कामस्म य भोगाण य’ कामस्य भोगानां च भवन्निमित्तया निदिष्टा
दोषा ॥१३४५॥

महुल्लिच असिधार तिक्ख लेहिज्ज जघ णरो कोई ।

तघ विसयसुह सेवदि दुहावह इहहि परलोणे ॥१३४६॥

‘मधुल्लिच’ मधुना लिप्ता । ‘असिधार’ अश्वघोरा । ‘तिक्ख’ तीक्ष्णा । ‘जघ णरो कोई लेहिज्ज’ यथा
नरः कश्चिदास्वादयति जिह्वाया । ‘तघ विसयसुह सेवदि’ तथा विषयमुखः सेवते । ‘दुहावह इह य परलोणं’
दुग्धावहमन्नं जन्मनि परत्र च, स्वल्पमुखयया बहुदुःखतया च साम्यं दृष्टान्तदोषार्थितयोः ॥१३४६॥

एकैरेन्द्रियविषयवशादतिभिर्भूमादिभिरुपद्रवां प्राप्य, किं पुनरपेन्द्रियविषयलम्पटजं प्राप्यैज्यं
वाच्यमिति मत्वाघट्टे—

सदेण मओ रूवेण पदगो वणमओ वि फरिसेण ।

मच्छो रसेण भमरो गधेण य पाविदो दोस ॥१३४७॥

चित्तं है । जैमे क्रोध उत्पन्न होनेका चित्तं भुक्रुटी चटाना होता है । इस प्रकार बाह्य और
अभ्यन्तरको अग्नि और धूमकी तरह परस्परमे अविनाभावित है । अर्थात् जैमे आगके होनेपर
ही धूम होता है अतः जहाँ धूम होता है वहाँ आग अवश्य होती है । इसीको अविनाभावित
कहते हैं । धूम लिंग है आग लिंगी है । इसी प्रकार बाह्य कार्यके साथ अभ्यन्तर कारणका लिंग-
लिंगी भाव सम्बन्ध जानना ॥१३४४॥

गा०—जो दोष पहले काम और भोगके सम्बन्धमे कहे हैं वे ही सब दोष इन्द्रियोंके
सम्बन्धमे जानना ॥१३४५॥

गा०—टी०—जैसे कोई मनुष्य जिह्वाके द्वारा मधुसे लिप्त तलवारको तीक्ष्ण धारको
चाटता है वैसे ही मनुष्य विषय सुखका सेवन करता है जो इस जन्ममे और परजन्ममे दुःखदाया
है । जैसे मधुलिप्त तलवारकी धारको जिह्वासे चाटनेमे प्रारम्भमे मधुके कारण थोड़ा सुख
होता है किन्तु जोष कट जानेपर बहुत दुःख होता है उसी प्रकार बाह्य कार्यके साथ अभ्यन्तर कारणका लिंग-
लिंगी भाव बहुत है ॥१३४६॥

आगे कहते हैं कि एक एक इन्द्रियके विषयमे आसक्त हिरन आदि कष्ट भोगते हैं तब समस्त
इन्द्रियोंके विषयोंमे आसक्त जनोके द्वारा प्राप्य अनर्थका क्या कहना है—

‘सहेण मओ’ शब्देन मृग वाष्पच्छेदहरसमुत्पन्नभूषणप्रधानेन, मृदुपवनानीनसौत्यस्फटिकमकाशपानीय-
पानेन च पृष्ठमूर्तिरन्तःकरणमिव लघुतरप्रयाणो हरिणो व्याघ्रकलगीतश्रवणेन सुवासकणितलोचन दुष्टयमदन्त्रा-
समाननिशितविशिखावलीभिन्नतनुर्जहाति प्रियतमान्प्राणान् । ‘स्वेण पदगो च’ एककलिकाकारप्रदीपप्रमाणेन जनि-
तानुराग पतंगो दीपाचिवि भस्ममाद्भावमुपपाति । ‘वणजगो वि परितेण’ वनगजश्च विलासिनो हृदयमिव
दुष्प्रवेशामु ममूर्तिरिव महानोषु अरण्यानीषु विपद् इव दुरतिक्रमणीयामु मल्लकीतस्फुटतटशावाहार, रम्य-
गिरिनीदीविपुलहृदेष्टु, स्वेच्छापाननरूपनिमज्जनोन्मज्जनैरुपगतप्रीति, अनुकूलानेकरिणीकदम्बवैतानुगम्यमानो
वासिनाविशालजघनस्पर्शनोपनीतप्रीतिमदकरो विचैनो रागवहुरतिमिरपटलावगुण्डितलोचनो महति गर्ते निप-
तिन पर व्यसनमवगाहने । ‘मच्छो’ मत्स्य युवजनमन ‘सरोनपायिविलामिनो विलोचनविभ्रमविलम्बनोद्यत
स्वल्पाहारसलोलुपो विपदमाश्रयवश प्रयानि । विचित्रमुरभिप्रसूनप्रकररजोऽङ्गगगो भ्रमर विपपादपकुसुम-
गन्धेनापहृतप्रियतमप्राणो भवति । एवमेते दापन्प्राप्तिता ॥१३४॥

तिरश्चा दु ख प्रतिपाद्य विषयरागजनित मनुजगती दर्शयति—

‘इदि पचहि पच हदा सहरसफरिसगधरुवेहिं ।

इक्को कह ण हम्मदि जो सेवदि पच पचेहिं ॥१३४॥

गा०—टी०—वनमे हिरण मुखके वाष्पसे टूटनेवाले सरस सुगन्धित तृणोके अग्रभागोको
खाकर और कोमल वायुके द्वारा गीतल किये गये स्फटिकके समान स्वच्छ जलको पीकर पुष्ट
होता है । उसकी गति मनमे भी तीव्र होनी है । वह व्याघ्रके मनोहर गीतको सुनकर मुखमे
अपनी आँखें मूँद लेता है । और दुष्ट यमराजकी दाढके समान तीक्ष्ण विशाल बाणोंके द्वारा
छेदा जाकर अत्यन्त प्रिय प्राणोको त्याग देता है । एक कलिकाके आकार दीपकके रूपसे अनुराग
करनेवाला पतंगा दीपकको लौमे जलकर भस्म ही जाता है । वनका हाथी स्त्रीके हृदयकी तरह
जिसमे प्रवेश करना कठिन है, जो समारकी तरह महान् है और विपत्तिकी तरह जिससे लाघना
अशक्य है ऐसे महान् वनमे सल्लकीके तरुण वृक्षोकी शाखा खाता है, रमणीक पहाड़ी नदी और
वडे-वडे तालाबोंमे स्वेच्छापूर्वक जल पीता है, अवगाहन करता है, डुबकी लगाता है, अनेक
अनुकूल हृथिनयोका समूह उमके पीछे चलता है, हृथिनोके विशाल जघन भागके स्पर्शनमे
अनुरक्त होकर मदमत्त हो, रागकी अधिकतारूपी अङ्कारके पटलमे आँवे बन्द कर रेंता है और
महान् गर्तमे गिरकर कष्ट भोगता है । युवा पुरुषोके मनरूपी सरोवरमे विरास करनेवाली स्त्रियो-
के लोचनके हावभावका अनुकरण करनेवाला मच्छ घोडेमे भोजनकी लोलुपनावश शोघ ही
विपत्तिमे पड़ जाता है । अनेक प्रकारके सुगन्धित फूलोके समूहकी रजमे आवेष्टित भोग विष-
वृक्षके फूलकी गन्धमे प्राण खो देता है । इस प्रकार एक एक इन्द्रियके बग होकर ये बण्ट उठाने
हैं ॥१३४॥

तिर्यञ्चोवर विषयरागमे उत्पन्न दु ख कहकर मनुष्य गतिमे कहते हैं—

गा०—इस प्रकार शब्द, रस, स्पर्श, गन्ध, रूप इन पाँच विषयोके द्वारा पाँच जीव अपने
प्राण गँवाते हैं । तब जो एक ही पुरुष पाँचो इन्द्रियोके द्वारा पाँचो विषयोका भोग करता है वह
प्राण क्यों न गँवावेगा ॥१३४॥

सरजूए गधमित्तो घाणिदियवसगदो विणीदाए ।

विसपुप्फगंधमग्घाय मदो गिरयं च संपत्तो ॥१३४९॥

‘सरजूए’ सरय्या नद्या । ‘गधमित्तो’ गधमित्रो नाम भूपाल । ‘मदो’ मृत । ‘विणीदाए’ विनीतापुरो-
पति । ‘घाणिदियवसगदो’ घ्राणेन्द्रियवशागत । ‘विसपुप्फगंधमग्घाय’ विपचूर्णवामितपुष्पमाघाय । ‘मदो’
मृत । गिरय च संपत्तो नरक च संप्राप्त तीव्रविषयरोगाज्जातेन कर्मभारेण ॥१३४९॥

पाटलिपुत्ते पंचालगोदसहेण मुच्छिडा सती ।

पासादादो पडिदा णट्ठा गधव्वदत्ता वि ॥१३५०॥

पाटलिपुत्रे पांचालस्य गौतमशब्देन मूर्छिता सती प्रासादात्पतिता नष्टा गन्धवदत्ता नामधेया
गणिका ॥१३५०॥

मानुसमसपसत्तो कपिल्लवदी तथेव भीमो वि ।

रज्जव्वभट्ठो णट्ठो मदो य पच्छा गदो गिरय ॥१३५१॥

‘मानुसमसपसत्तो’ मानुषमामप्रमत्त काम्पित्यपुराषिपो भीमो राज्यभ्रष्टो नष्टो मृत पश्चान्नरक-
मुपयात ॥१३५१॥

चोरो वि तह सुवेगो महिलारूवम्मि रचदिट्ठीओ ।

विट्ठो सरेण अच्छीसु मदो गिरय च संपत्तो ॥१३५२॥

‘चोरो वि तह सुवेगो’ सुवेगनामधेयचोरोऽपि युवतिरुपावृष्टदृष्टि शरविद्धेसणे मृतो नरकमुप-
गत ॥१३५२॥

फासिदिण्ण गोवे सत्ता गिहवदिपिया वि णासक्के ।

मारेदूण सपुत्त धूयाए मारिदा पच्छा ॥१३५३॥

‘फासिदिण्ण’ स्पशनिन्द्रियेण हेतुना । ‘गोवे सत्ता’ आत्मीये शोपाले आसन्न । ‘गिहवदिपिया’

गा०—अयोध्यापुरीका राजा गन्धमित्र घ्राणेन्द्रियके वशमे होकर सरयू नदीमे विपैले फूल-
की गन्धको सूँघकर मरा और नरकमे गया ॥१३४९॥

विशेषार्थ—उसके बड़े भाईने भयकर विपसे फूलको सुवासित करके दिया था । इसकी
कथा बृहत्कथाकोशमे ११३ नम्बर पर है ।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमे गधवदत्ता नामक गणिका पंचालके गौतके शब्द सुनकर मूर्छित
हो महलसे नीचे गिरकर मर गई ॥१३५०॥

विशेषार्थ—इसकी कथा बृहत्कथाकोशमे ११४ नम्बर पर है ।

गा०—कपिला नगरीका राजा भीम मनुष्यके मासका प्रेमी था । वह राज्यसे निकाला
जाकर मरकर नरकमे गया ॥१३५१॥

विशेषार्थ—बृहत्कथाकोशमे ११५ नम्बर पर इसकी कथा है ।

राष्ट्रकूटभार्या । 'शासकके' नास्तिक्ये नगरे । 'मारैदूख सपुत्र' स्वपुत्र हत्वा । 'भूदाए' दुहिना । 'पच्छा' पश्चान् । 'मरिदा' मृति नीता ॥१३५३॥ इदिया ।

एवमिन्द्रियदोषानुपदश्यं दोषदायप्रकटनार्थं प्रक्रम्यते—

रोसाइटो णीलो हृदप्पमो अरदिअग्गिससत्तो ।

सीदे वि णिवाइज्जदि वेवदि य गहोवसिट्ठो व ॥१३५४॥

'रोसाइटो' रोषाविष्ट । नीलवर्णो भवति 'हृदप्पमो' विनष्टदीप्ति । 'अरदिअग्गिससत्तो' अरत्य-
ग्निसत्तत् । 'सीदे वि णिवाइज्जइ' मोक्षेऽपि तृपितो भवति । 'वेवदि' वेपते च । 'गहोवसिट्ठोव' ग्रहेणोपसृष्ट
इव ॥१३५४॥

भिउडीतिवलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खल्लो ।

कोवेण रक्खमो वा णराण भीमो णरो भवदि ॥१३५५॥

'भिउडीतिवलियवयणो' भूकुटीतिवलिप्तवदनो । 'उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खल्लो' उद्गगननिश्चलसुरत्त-
ल्लक्षेण । 'रोसेण' रोषेण हेतुना । 'रक्खलो' राक्षस इव । 'णराण भीमो' नराणां भीमो भयावहो
भवति नर ॥१३५५॥

जह कोइ तत्तलोह गहाय रुद्धो पर हणामिचि ।

पुव्वदं सो डज्झदि डहिज्ज व ण वा परो पुरिमो ॥१३५६॥

'जह कोइ' यथा कश्चिन् 'तत्तलोह गहाय' तत्तलोह गृहीत्वा । 'किमर्थं ?' 'रुद्धो पर हणामिति'

गा०—सुवेग नामक चोर युवती स्त्रियोके रूपको देखनेका अनुरागी था । उसकी आँखमें
बाण लगा और वह मरकर नरक गया ॥१३५२॥

विशेषार्थ—दृ० क० को० में इसकी कथा ११६ वी है । उसमें सुवेगकी म्लेच्छराज
कहा है ॥१३५२॥

गा०—नामिक नगरमें गृहपति सागरदत्तकी भार्या नागदत्ता स्पर्शन इन्द्रियके कारण अपने
गाले पर आमच्यो । उसने अपने पुत्रको मारा तो उसकी लड़कीने अपनी माको मार
दिया ॥१५१॥

विशेषार्थ—इसकी कथा उसी कथाकोशमें ११७ नम्बर पर है ॥१३५३॥

इस प्रकार इन्द्रियके दोष बतलाकर क्रोधके दोष बतलाते हैं—

गा०—टी०—जो क्रोधसे ग्रस्त होना है उसका रग नीला पड़ जाता है, कान्ति नष्ट हो
जाती है, अरतिरूपी आगमें मत्त होना है । ठठमें भी उसे व्यास सनाती है और पिशाचसे गृहीत
की तरह क्रोधसे कांपता है ॥१३५४॥ भूकुटी चटनेमें मस्तक पर तीन रेखाएँ पड़ जाती है, लाल
लाल निश्चल आँखें बाहर निकल आती हैं । इन तरह क्रोधसे मनुष्य दूसरे मनुष्योंके लिए राक्षस-
की तरह भयानक हो जाता है ॥१३५५॥

गा०—जैसे कोई पुश्य रष्ट होकर दूसरेका घात करनेके लिए तपा लोहा उठाता है ।
ऐसा करनेसे दूसरा उससे जले या न जले, पहले वह स्वयं जलना है ॥१३५६॥

रष्ट पर ह्यमीति । 'पुष्पदर सो हज्जदि' पूर्वतर स एव दहते तेन तप्तेन लोहेन गृहीतेन । 'दज्जिज्ज परो ण वा पुरिसो' दहते पर पुरयो न वा दहते ॥१३५६॥

तथ रोसेण सय पुच्चमेव डज्जदि हु कलकलेणेव ।

अणस्स पुणो दुवस करिज्ज रुद्धो ण य करिज्ज ॥१३५७॥

'तथ रोसेण' तथा रोपेण स्वय पूर्वं दहते द्रवीकृतलोहस्थानीयेन । अन्यस्य पुनर्दु त कुर्यान्ति वा रष्ट ॥१३५७॥

णासेदूण कसाय अग्गी णसदि सय जधा पच्छा ।

णासेदूण तथ णर णिरासवो णस्सटं कोधो ॥१३५८॥

कोधो सत्तुगुणकरो णीयाण अप्पणो य मण्णुको ।

परिभवको सवासे रोसो णासेदि णरमवस ॥१३५९॥

'रोसो सत्तुगुणकरो' राप शत्रोर्घो गुणो धर्मोऽपकारिस्त्व नाम त करोति । अथवा शत्रूणा गुणभूषका करोति राप । यतोऽयं हि रापदहनेन दह्यमान त दृष्ट्वा तं तुष्यन्ति । क्यमस्य रोपमुत्पादयाम दृष्ट्वेवमादृतास्ते सदापीति । 'णीयाण अप्पणो वा' वाग्यवाना आत्मनश्च शक करोति । 'परिभवको सवासे' स्वनिवासस्थाने परिभवमानयति । 'रोसो णासेदि णरमवस' रोपो नरमवस नाशयति ॥१३५९॥

ण गुणे पेच्छदि अववटदि गुणे जंपदि अजपिद्वं च ।

रोसेण रुद्धिदो णारगसीलो णरो होदि ॥१३६०॥

'ण गुणे पेच्छदि' गुण न पश्यति, यस्मै कुप्यति । 'अववटदि' निन्दति । 'गुणे' गुणानपि तदीयान् । 'जंपदि अजपिद्वं च' वदत्यवाच्यमपि । 'रोसेण रुद्धिदो' रोपेण रोद्विचिः । 'णारगसीलो णरो ह्वदि' नारकसीलो भवति नर ॥१३६०॥

गा०—उसी प्रकार पिघले हुए लोहेकी तरह क्रोधसे पहले वह स्वयं जलता है । दूसरेको वह दुखी करे या न करे ॥१३५७॥

गा०—जैसे आग ई धनको नष्ट करके पीछे स्वयं बुझ जाती है उसी प्रकार क्रोध पहले क्रोधी मनुष्यको नष्ट करके पीछे निराशर होनेसे स्वयं नष्ट हो जाता है ॥१३५८॥

गा०—टी०—क्रोध शत्रुका जो धर्म है अपकार करना, उसे करता है अथवा क्रोध शत्रुका उपकार करता है क्योंकि उसे क्रोधकी आगमें जलते हुए देखकर शत्रु प्रमत्त होते हैं । वे सदा इस प्रयत्नमें रहते हैं कि कैसे इसे क्रोध उत्पन्न करे । क्रोध अपने और वन्धु वान्धवोंको शोकमें डालता है । अपने ही धर्म अपना तिरस्कार करता है । परवश मनुष्यका नाश करता है ॥१३५९॥

गा०—क्रोधो जिनपर क्रोध करता है उसके गुणोंको नहीं देखता । उसके गुणोंकी भी निन्दा करता है । जो कहने योग्य नहीं है वह भी कहता है इस प्रकार क्रोधसे रौद्र हृदय मनुष्यका स्वभाव नारकी जंसा होता है ॥१३६०॥

जघ करिसयस्स धण्ण वरिसेण ममज्जिद खल पत्त ।

डहदि फुलिङ्गो दिच्चो तध कोहग्गी ममणमार ॥१३६१॥

‘जह करिसयस्स’ यथा वर्षकस्य धान्य वर्षेण समाजित खलप्राप्तं दहति विस्फुल्लङ्गो दीप्तस्तथा क्रोधाग्निर्दहति श्रमणस्य मार पुण्यपण्य ॥१३६१॥

जघ उग्गाविसो उरगो दब्भतणं कुहदो पकुप्पतो ।

अचिरेण होदि अविमो तध होदि जदी वि निस्सारो ॥१३६२॥

‘जह उग्गाविसो उरगो’ यद्योषविष उरगो । दम्भतृणाङ्कुरहृत उत्प्लष्टरोपवशमुपनयन् स्पष्ट तृणादिक भक्षयित्वा मृदिति निर्विषो भवति । तथा यतिरपि निस्सारो भवत्यचिरेण रत्नत्रयविनाशान् ॥१३६२॥

पुरिमो मक्कडसरिमो होदि सरूवो वि रोमहंहरूवो ।

होदि य रोमणिमिच्च जम्मसहस्सेसु य दुग्घो ॥१३६३॥

‘पुरिमो मक्कडसरिमो’ पुरुषो मक्कटमृगो भवति मुरुषोऽपि सन् गोपाशपहतस्य । इह जन्मनि दीपानुपदश्यं पारमविक्रमावष्टे—‘होदि’ भवति । जन्मसहस्रेषु कुस्य एकभवकुटाक्षोपान् ॥१३६३॥

मुट्ठु वि पिओ मुट्ठेण होदि वेसो जणस्म कोथेण ।

पघिदो वि जसो णस्सटि कुट्ठस्म अरुज्जकरणेण ॥१३६४॥

‘मुट्ठुवि’ नितरासपि । अतस्म प्रियो मुहूर्तमात्रेणैव द्वेष्या भवति रापेण प्रयित्तमपि यमो नश्यति । कस्य ? ‘कुट्ठस्य अरुज्जकरणेण’ कुट्ठस्य अकार्यकरणेण ॥१३६४॥

णीयल्लगो वि रुट्ठो कुणदि अणीयल्ल एव मच्च वा ।

मारेदि तेहिं मारिज्जदि वा मारेदि अप्पाण ॥१३६५॥

गा०—जैसे चिनगारी एक वर्षके श्रममें प्राप्त वलिहानमें आये किमानके धान्यको जला देती है उसी प्रकार क्रोधरूपी आग श्रमणके जीवन भरमें उपार्जित पुण्य धनको जला देती है ॥१३६१॥

गा०—जैसे उग्र त्रिपवाले सर्पको घासके एक तिनकेमें मारने पर वह अत्यन्त रोपमें आकर उस तिनके पर अपना विष वमन करके तत्काल विष रहित हो जाता है उसी प्रकार यति भी क्रोध करके अपने रत्नत्रयका विनाश करता है और शीघ्र ही निस्सार हो जाता है ॥१३६२॥

गा०—मुन्दर सुस्य पुरुष भी क्रोधमें ध्यके नष्ट हो जाने पर अन्दरके समान लाल मुखवाला विरूप हो जाता है । इस जन्ममें क्रोधके दोष दिख आकर परलोकमें दिखलाने हैं एक भवमें क्रोध करनेसे हजारों जन्मोंमें कुरुष होना है ॥१३६३॥

गा०—क्रोध करनेमें अत्यन्त प्रिय व्यक्ति भी मुहूर्त-मात्रमें ही द्वेषका मात्र हो जाता है । तथा क्रोधी मनुष्यके अनुचित काम करनेसे उमका फला हुआ यदा भी नष्ट हो जाता है ॥१३६४॥

‘गोयल्लगो वि ‘रुद्धो’ बन्धुरपि बन्धुन्करोति शत्रुवत् । हन्ति बान्धवान् । मायंते वा स्वय तैरात्मान
वा हन्मात् ॥१३६५॥

पुञ्जो वि णरो अवमाणिज्जदि कोवेण तक्खणे चैव ।

जगविस्सुद वि णस्सदि माहप्पं कोहवसियस्स ॥१३६६॥

‘पुञ्जो वि’ पूज्योऽपि नरो अवमन्यते रोषेण । तत्क्षण एव ज्वति विधुतमपि माहात्म्य नश्यति
रोषेण ॥१३६६॥

हिंस अलिय चोञ्ज आचरदि जणस्स रोसदोसेण ।

तो ते सज्जे हिंसालिया दि दोसा भवे तस्स ॥१३६७॥

‘हिंस अलिय चोञ्ज’ हिंसात्मकस्य चोर्म वाचरति जनस्य रोषदोषेण । तस्मात्तस्य हिंसादिप्रभवा दोषा
भवे भविष्यन्ति ॥१३६७॥

वारवदीप असेसा दङ्का दीवायणेण रोसेण ।

वद्ध च तेण पाव दुग्गदिभयवघणं घोर ॥१३६८॥

‘वारवती’ द्वारवती । निरसोपा दण्डा रष्ट्रेण द्वीपायनेन । घोर च पाप वद्ध दुर्गतिभयप्रवृत्तिनिमित्त ।
‘कोमुत्ति गव’ ॥१३६८॥

मानदोषप्रवृत्तनार्थं प्रबन्ध उत्तर —

कुलरूपाणावलसुदलाभस्सरयत्त्वमदितवादीहि ।

अप्पाणमुष्णमतो नीचागोदं कुणदि कम्मं ॥१३६९॥

‘कुलरूपाणा’ कुलेन रूपेण आज्ञया, बलेन, श्रुतेन, लाभेन, ऐश्वर्येण भव्या तपसाऽर्च्यैश्च आत्मानमुत्क-
र्यन्तीर्वागौन कर्म बध्नाति ॥१३६९॥

गा०—क्रोधी मनुष्य अपने निकट सम्बन्धियोंको भी असम्बन्धी अथवा शत्रु बना लेता है ।
उनको मारता है या उनके द्वारा मारा जाता है अथवा स्वयं मर जाता है ॥१३६५॥

गा०—पूजनीय मनुष्य भी क्रोध करनेसे तत्काल अपमानित होता है । क्रोधीका जगद्मे
प्रसिद्ध भी माहात्म्य नष्ट हो जाता है ॥१३६६॥

गा०—क्रोधके कारण मनुष्य लोगोंकी हिंसा करता है, उनके सम्बन्धमे झूठ बोलता है,
चोरी करता है । अतः उसमे हिंसा झूठ आदि सब दोष होते हैं ॥१३६७॥

गा०—दीपायन मुनिने क्रोधसे समस्त द्वारका नगरी भस्म कर दी । और दुर्गतिमे ले
जाने वाले घोर पापका बन्ध किया ॥१३६८॥

क्रोध का कथन समाप्त हुआ ।

आगे मानके दोष कहते हैं—

गा०—गुल, रूप, आज्ञा, बल, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य, तप तथा अन्य बातोंमे अपनेको बड़ा

१. विदुडो आ० । २ लियचोञ्ज समुन्भवा दोसा—गु० ।

ददृष्ट्वा अप्यणादो हीणे मुक्त्वाउ विंति माणकलि ।

ददृष्ट्वा अप्यणादो अधिए माणं णयति बुधा ॥१३७०॥

‘ददृष्ट्वा अप्यणादो’ आत्मनो हीणान् दृष्ट्वा मूर्खा मानकलि उद्वहन्ति । बुधा पुनरात्मनोऽधिकान्बुद्ध्या-
बलोक्य मान निरस्यन्ति ॥१३७०॥

माणी विस्सो सब्बस्स होदि कलहमयवेरदुक्खाणि ।

पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं ॥१३७१॥

‘माणो विस्सो सब्बस्स’ मानी सर्वस्य द्वेष्यो भवति । कलह, मय, वैर, जन्मान्तरानुग दुःख च
प्राप्नोति । नियोगत इह परत्र चावमान ॥१३७१॥

सब्बे वि कोहदोसा माणकसायस्स होदि णादव्वा ।

माणेण चैव मेघुणहिमालियचोज्जमाचरदि ॥१३७२॥

‘सब्बे वि कोहदोसा’ क्रोधस्य वर्णिता दोषा । ‘न मुघे पिच्छदि’ इत्येवमादिमूत्रेण ते सर्वे मानकपाय-
स्यापि ज्ञातव्या । मानेन मेघुने चोर्ध्वं हितायामसत्प्राप्तिघाते च प्रयतते ॥१३७२॥

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा इवदि लोए ।

णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि ॥१३७३॥

‘सयणस्स’ मानरहित स्वजनस्य परजनस्य च सदा प्रियो जनो भवति । ‘लोए’ लोके । ‘णाणं’ ज्ञान ।
‘जसं’ यशः, ‘अत्थं’ इत्यत्र लभते स्व कार्यमन्यदपि साधयति ॥१३७३॥

ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि ।

इह य परत्त य लभदि विणएण हु सब्बकल्लाण ॥१३७४॥

‘ण य परिहायदि’ मार्दवे प्रयुक्ते नैव कश्चिदर्थो हीयते येनायमर्थहानिमयात् मान कुर्यात् । मार्दवे तु
प्रयुक्ते इह जन्मान्तरे च लभ्यते विनयेनैव सर्वकल्याण ॥१३७४॥

मानने वाला, उनका अहंकार करनेवाला नीच योत्र नामक कर्मका बन्ध करता है ॥१३६९॥

गा०—अपनेने हीन व्यक्तियोंको देखकर मूर्ख लोग मान करते हैं । किन्तु विद्वान् अपनेने
बड़ोको देखकर मान दूर करते हैं ॥१३७०॥

गा०—मानसे सब द्वेष करते हैं । वह कलह, मय, वैर और दुःखका पात्र होता है तथा
इम लोक और परलोकमें नियमसे अपमानका पात्र होता है ॥१३७१॥

गा०—पहले जो क्रोधके दोष कहे हैं वे सब दोष मानकपायके भी जानना । मानसे मनुष्य
हिंसा, असत्य बोलना, चोरी और मेघुनमे प्रवृत्ति करता है ॥१३७२॥

गा०—मान रहित व्यक्ति जगन्ममे स्वजन और परजन सदा सबका प्रिय होता है । धृ
ज्ञान, यश और धन प्राप्त करता है तथा अन्य भी अपने कार्यको सिद्ध करता है ॥१३७३॥

गा०—मार्दव युक्त व्यवहार करने पर कोई घनहानि नहीं होती जिसमे घनहानिके भय-
मे मनुष्य मान करे । विनयेने इस जन्ममे और जन्मान्तरमे सर्व कल्याण प्राप्त होते हैं ॥१३७४॥

सद्धिं साहस्मीओ पुत्ता सगग्गस्स रायमीहस्स ।

अदिबलवेग्गा मंता णट्ठा माणस्स दोसेण ॥१३७५॥

‘सद्धिं साहस्मीओ’ मगरस्स राजमिहस्स चकिण पठिमहस्सनरत्ता पुत्ता महादत्ता दिनप्ता मान-
दोपेण ॥१३७५॥ मायान्तिगद ।

मायादोपनिष्पण्णोत्तराया—

जघ कोडिममिद्धो वि समल्लो ण लमदि सरीरणिव्वाणं ।

मायामल्लेण तहा ण णिवुट्ठिं तवसमिद्धो वि ॥१३७६॥

‘जघ कोडिममिद्धो वि’ यथा वाटिनमूढोऽपि शरीरानुप्रविष्टान्धो न शरीरानुख लभते । तथा माया-
शब्देन न निर्बल लभते तप समुद्धोऽपि ॥१३७६॥

होदि य वेस्सो अप्पच्चइदो तघ अवमदो य सुजणस्स ।

होदि अचिरेण मत्तू णीयाणवि णियडिदोसेण ॥१३७८॥

‘होदि य वेस्सो’ हे प्यो भवत्यप्रत्ययित तथा सुजनस्यावमत । बाध्यवानामपि शत्रुपरिचरेण भवति
मायादोपेण ॥१३७८॥

पावड दोसं मायाए महल्लं लहु सगावराधेवि ।

मच्चाण महस्साणि वि माया एक्का वि णासेदि ॥१३७८॥

‘पावड दोस’ प्राप्नोति दोषं महान्तं अत्यापराधोऽपि मायया । एकापि माया मत्सहस्राणि नाश-
यति । महादोषप्रापणं सन्यमहल्लविनाशनं च मायादोषो ॥१३७८॥

मायाए मित्तभेदे कटम्मि इधलेगिगच्छपरिहाणी ।

पांमदि मायादोसा विसज्जुदुद्धव मामण्णं ॥१३७९॥

गा०—मगर चक्रवर्तीके साठ हजार पुत्र महाबलशाली हाते हुए भी मान दोषके कारण
मृत्युको प्राप्त हुए ॥१३७९॥

‘मानके दोषोका वर्णन पूर्ण हुआ ।

‘आगे मायाके दोष कहते हैं—

गा०—जैसे एक कोटी धनका स्वामी होने पर भी यदि शरीरमें बीलकाँटा घुसा हो तो
शारीरिक सुख नहीं मिलता । उसी प्रकार तपमें समुद्ध होने पर भी यदि अन्तरमें मायारूपी
दुष्ट घुसा है तो मोक्ष लाभ नहीं हो सकता ॥१३७९॥

गा०—भाषण दोषमें मनुष्य मगधे द्वेषका पात्र होता है उसका कोई विद्वान नहीं करता ।
सुजन भी उसका उपमान करते हैं । वह शत्रु ही अपने बन्धु-बान्धवोंका भी शत्रु बन जाता
है ॥१३७९॥

गा०—अग्नि द्वारा थोड़ा भा अपराध होने पर भी मायाचारी महान् दोषका भागी बनता
है । एक धारका भी मायाचार हजारों सन्तोंको नष्ट कर देता है इस प्रकार महादोषका भागी
होना और हजार मृत्युका विनाश ये मायाके दोष हैं ॥१३७८॥

'मायाए' मायया । 'मित्तभेदे' मैत्र्या विनाशे कृते । 'इह लोमिगच्छपरिहाणी' ऐहलौकिकायविनाशः ।
'नामदि सामण्य' नदन्ति सामण्य । 'मायादोषा' मायास्य दोषाद्वेत्तो । 'विमनुदुग्धव' विषयुतदुग्धमिव ।
मित्रकार्यविनाशः सामान्यहानिरत्र मायाजनितदोषो ॥१३७॥

माया करेदि णीचागोद इत्थी णवुंसय तिरिय ।

मायादोसेण य भवमएस्स डभिज्जदे बहुसो ॥१३८०॥

'माया करेदि णीचागोद' माया करोति नीचैर्वात्र कर्म । नीचैर्वा गोत्रमस्य जन्मान्तरे । 'इत्थी णवुंसय-
तिरिय' स्त्रीवेद, नपुंसकवेद निर्यग्गतिं च नामकम् करोति । अथवा स्त्रीन्व, नपुंसकत्वं, तिर्यक्त्वं वा ।
'मायादोसेण' 'मायासंज्ञितेन दोषेण' । 'भवसदेसु' जन्मगतेषु । 'डभिज्जदि' वक्ष्यते । 'बहुसो' बहुशः ॥१३८०॥

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा ।

कोहमदलोहदोसा मच्चे मायाए ते होति ॥१३८१॥

'कोहो माणो' क्रोधमानलोभास्तत्र जीवे सन्निहिता यत्र स्थिता माया । क्रोधमानलोभजन्म्या दोषा
सर्वेऽपि मायावन्तो भवन्ति ॥१३८१॥

मस्सो य मग्घगामस्स मत्तसव्वच्छराणि णिस्सेमो ।

दड्ढो डमणदोमेण कुम्भकारेण रुट्ठेण ॥१३८२॥

'सस्सो' मस्य । 'भरघगामस्स' भरतनामधेयग्रामस्य । 'सत्तसव्वच्छराणि' वर्षसप्तक । 'णिस्सेमो दड्ढो'
निर्वर्ण्य वस्त्र । 'डमणदोमेण' मायादोषेण हेतुना । 'रुट्ठेण' 'भकारेण' शब्देन कुम्भकारेण ॥१३८२॥
मायासंज्ञिता ।

लोभदोषानाचष्टे—

लोभेणासाधत्तो पावड् दोमे बहुं कुणदि पाव ।

णीए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि ॥१३८३॥

गा०—मायाचारमे मित्रता नष्ट हो जाती है और उसमे इस लोक सम्बन्धी कार्योंका
विनाश होता है । तथा मायादोषमे विष मिश्रित दूधकी तरह मुनि धर्म नष्ट हो जाता है । इस
प्रकार मित्रता और कार्यका नाश तथा मुनि धर्मकी हानि ये मायाके दोष हैं ॥१३७॥

गा०—टी०—मायामे नीच गोत्र नामक कर्मका बन्ध होता है, जिससे दूसरे जन्ममे नीच
कुलमे जन्म होता है । तथा स्त्रीवेद, नपुंसकवेद और निर्यग्गति नाम कर्मका बन्ध करती है ।
अथवा मायासे स्त्रीपना, नपुंसकपना और निर्यग्गति प्राप्त होता है । मायामे उत्पन्न हुए दोषमे
सकड़ो जन्मोमे बहुत बार ठाया जाता है अर्थात् किसीको एक बार ठानेमे बार-बार ठगा जाता
है ॥१३८०॥

गा०—जहाँ मायाचार है वहाँ क्रोध, मान लोभ भी रहते हैं । क्रोध मान और लोभमे
उत्पन्न होने वाले सब दोष मायाचारमे होने हैं ॥१३८१॥

गा०—मायाचारके दोषमे नष्ट हुए कुम्भकारने भग्न नामक गांवका धान्य मान वर्ष तक
पूर्ण रूपसे जलाया था ॥१३८२॥

‘लोभेण’ लोभेन हेतुना । ‘आत्ताधत्तो’ ममेदमविध्यनीत्याशया ग्रस्त । ‘पावदि दोसे’ प्राप्नोति दोषान् । बहु कुणदि पाव’ पाप च बहु करोत्याशवान् । ‘णौए’ बान्धवान् । ‘अप्पण चा’ आत्मान वा । ‘लोभेण’ लोभेन । णरो ण विगणेदि’ न विगणयति । बान्धवानपि बाधते स्वशरीरधमं च नापेक्षते इति यावन् ॥१३८३॥

वस्तुन सारासारतया न कश्चित् कर्मबन्धातिशयं येन वेनचिद्द्रव्येण जनिता मूर्च्छा कर्मबन्धे निमित्त आत्मा शुभपरिणामनिमित्तत्वादिति मत्वा मूरिराचष्टे—

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरत्थ किं वच्च ।

‘लगिदमउड्ढादिसगम्म वि हु ण पाव अलोहस्स ॥१३८४॥

‘लोभो तणो वि जादो’ लोभस्तूणेऽपि जातो । ‘जणेदि पाप’ जनयति पाप । ‘इदरत्थ’ इतरत्न सारवति वस्तुनि । ‘किं वच्च’ किं वाच्य । ‘लगिदमगुडादिसगम्म वि’ स्वशरीरविलम्बमुकुटादिपरिग्रहस्यापि न पाप भवति । ‘अलोहस्स’ लोभकपायवर्जितस्य मुकुटादे मारद्रव्यस्याति प्रत्यासत्तिर्न बन्धायेति मन्यते ॥१३८४॥

साकेदपुरे सीमघस्स पुत्तो मियद्धओ नाम ।

भइयमहिसनिमित्त जुवराय्या केवली जादो ॥१३८५॥

तृप्तिमापादयति द्रव्यमिति योऽत्रास्यानुरागं स नास्ति द्रव्यत इत्याचष्टे—

विशेषार्थ—इसकी कथा वृ० क० को० मे १२० नम्बर पर है उसमें गाँवका नाम भरणा दिया है ॥१३८२॥

लोभके दोष कहते हैं—

गा०—लोभसे मनुष्य ‘यह वस्तु मेरी होगी’ इस आशासे ग्रस्त होकर बहुत दोष करता है, बहुत पाप करता है । लोभसे अपने कुटुम्बियोंकी और अपनी भी चिन्ता नहीं करता । उन्हें भी कष्ट देता है और अपने शरीरको भी कष्ट देता है ॥१३८३॥

वस्तुके सारवान या अमार होनेसे कर्मबन्धमें कोई विशेषता नहीं होती । जिसमें किसी द्रव्यमें उत्पन्न हुआ भ्रमत्व भाव कर्मबन्धमें निमित्त होता है क्योंकि वह भ्रमत्व भाव आत्माके अशुभ परिणाममें निमित्त होता है, ऐसा मानकर आचार्य कहते हैं—

गा०—तृणमें भी हुआ लोभ पापको उत्पन्न करता है तब मारवान् वस्तुमें हुए लोभका तो कहना ही क्या है ? जो लोभकपायसे रहित है उसके शरीरपर मुकुट आदि परिग्रह होनेपर भी पाप नहीं होता । अर्थात् सारवान् द्रव्यका सम्बन्ध भी लोभके अभावमें बन्धका कारण नहीं है ॥१३८४॥

गा०—साकेत नगरीमें सीमन्तरका पुत्र मृगध्वज नामक था । वह भद्रक नामक भैंसेके निमित्तसे केवली हुआ ॥१३८५॥

विशेषार्थ—वृ क को मे मृगध्वजकी कथा १२१ नम्बर पर है ।

‘द्रव्य तृप्ति देता है’ इस भावनामें मनुष्यका द्रव्यमें जो अनुराग है वह नहीं होनेसे बन्ध नहीं होता, यह कहते हैं—

तेलोककेण वि चित्तस्स णिन्नुदी णत्थि लोभघत्थस्स ।
संतुट्ठो हु अलोभो लभदि दरिदो वि णिव्वाण ॥१३८६॥

‘तेलोककेण वि’ त्रैलोक्येनापि । ‘चित्तस्स णिन्नुदी णत्थि’ चित्तस्य निवृत्तिर्नास्ति । ‘लोभघत्थस्स’ लोभघट्टस्य । ‘संतुट्ठो’ सन्तुष्ट लब्धेन केनचिद्वस्तुना शरीरस्थितिहेतुभूतेन । ‘अलोभो’ द्रव्यगतमूर्च्छारहित । ‘लभदि’ लभते । ‘दरिदो वि’ दरिद्रोऽपि । ‘णिव्वाण’ निर्वाण । सन्तोषपायता चित्तनिवृत्तिर्न द्रव्यायता, सत्यपि द्रव्ये महति असन्तुष्टस्य हृदये महति दुःखमिका ॥१३८६॥

सखे वि गयदोसा लोभकमायस्स ह्मुति णादव्वा ।
लोभेण चैव मेहुणहिंमालियचोज्जमाचरदि ॥१३८७॥

‘सखे वि गयदोसा’ सर्वेऽपि परिग्रहस्य ये दोषा पूर्वमाख्यानास्ते सर्वेऽपि । ‘लोभकसायस्स’ लोभ-
कपायवत् लोभ कपायोऽप्येति लोभकपाय इति गृहीतत्वात् । अथवा लोभसंज्ञितस्य कपायस्य दोषा इति
मन्वन्वर्नाय । ‘लोभेण चैव’ लोभेन च । मैथुन, हिंसा, अलोक, चौर्य वाचरति । तत् सख्यक्रियाया सर्वस्या
आदिमान् लोभ ॥१३८७॥

रामम्म जामदग्गिम्म वच्छ धित्तूण कत्तविरिओ वि ।
णिघणं पत्तो मकुलो मसाहणो लोभदोमेण ॥१३८८॥

‘रामस्स’ रामस्य । ‘जामदग्गिस्स’ जामदग्न्यस्य । ‘वच्छ’ द्रव्य । ‘धित्तूण’ गृहीत्वा । ‘कत्तविरिओ वि’
कार्त्तवीर्येऽपि । ‘णिघण पत्तो’ निघन प्राप्त । ‘मकुलो’ सबन्धुवर्ग । ‘मसाहणो’ सबल । ‘लोभदोमेण’ लोभ-
दोषेण ॥१३८८॥ लोभ ।

ण हि त कुणिज्ज मचू अग्गी वग्घो व कण्हसप्पो वा ।
जं कुणइ महादोस णिन्नुदिविग्घ कसायवि ॥१३८९॥

स्पष्टा ॥१३८९॥

गा०—टी०—जो लोभमे ग्रस्त हैं उसके चित्तको तीनो लोक प्राप्त करके भी मन्तोष नहीं
होना । और जो शरीरकी स्थितिमें कारण किमी भी वस्तुको पाकर सन्तुष्ट रहता है जिसे
वस्तुमें ममत्वभाव नहीं है वह दरिद्र होने हुए भी सुख प्राप्त करता है । अतः चित्तकी शान्ति
सन्तोषके अधीन है, द्रव्यके अधीन नहीं है । महान् द्रव्य होने हुए भी जो असन्तुष्ट है उसके
हृदयमें महान् दुःख रहता है ॥१३८६॥

गा०—पूर्वमें परिग्रहके जो दोष बहे हैं वे सब दोष लोभकपायवालेके अथवा लोभ नामक
कपायके जातना । लोभमें ही मनुष्य हिंसा, झूठ, चोरी और मैथुन करता है । अतः समस्त पाप-
क्रियाओंका प्रथम कारण लोभ है ॥१३८७॥

गा०—जमदग्निके पुत्र परशुरामकी गायोंको ग्रहणकर स्नेहके कारण राजा कार्तवीर्य
लोभदोषने ममस्त परिवार और मेनाके माय मृत्युको प्राप्त हुआ । परशुरामने मयको मार
डाला ॥१३८८॥

विशेषार्थ—वृ क को में कार्तवीर्यकी कथा १०२ नम्बर पर है ।

उत्तरगाथा—

इदियकमायदुद्द तस्मा पाडोति दोसविममेसु ।

दु खावहेसु पुरिसे पसदिलणिव्वेदखलिया हु ॥१३९०॥

‘इदियकसायदुद्दतस्मा’ इन्द्रियकपायदुर्दान्तादवा । ‘पाडोति’ पातयन्ति । ‘दोसविममेसु’ पापविषय-
स्यानेषु । ‘दुखावहेसु’ दुःखावहेषु । ‘पुरिसे’ पुरषान् । ‘पसदिलणिव्वेदखलिआ’ प्रसिद्धिलिखित-
खलिना ॥१३९०॥

इदियकसायदुद्द तस्मा णिव्वेदखणिलिदा सता ।

ज्झाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडोति ॥१३९१॥

‘इदियकसायदुद्दतस्मा’ इन्द्रियकपायदुर्दान्तनुरज्जा वैराग्यखलौननिवमिता सन्त ध्यानकथामुनीना
न दोषविषयेषु पातयन्ति ॥१३९१॥

इदियकसायपण्णगदट्ठा बहुवेदणुद्धिदा पुरिमा ।

पम्भट्टझाणमुक्खा मजमजीय पविजहति ॥१३९२॥

इन्द्रियकपायपण्णगदट्ठा, बहुवेदनावष्टव्या पुमांस भ्रष्टध्यानमुक्ता मयमजीव परित्य-
जन्ति ॥१३९२॥

ज्झाणागदोहि इदियकसायभुजगा विराममंतेहि ।

णियमिज्जंता मजमजीयं साहुस्स ण हरंति ॥१३९३॥

ध्यानागदौहिन्द्रियकपायभुजगा वैराग्यमन्त्रनियम्यमाणा साधो मयमजीवित न हरन्ति ॥१३९३॥

सुमरणपुक्खा चित्तवेगा विसयविमलिचरडधारा ।

मणघणुमुक्खा इ दियकडा विंघेति पुरिसमयं ॥१३९४॥

गा०—शत्रु, आग, व्याघ्र और कृष्ण सर्प भी वह बुगई नहीं करता जो बुगई कपाय-
रूपी शत्रु करता है । वह कपायरूप शत्रु मोक्षमें बाधाएँ महादोषका कारण है ॥१३९४॥

गा०—इन्द्रिय कपायरूपी घोड़े दुर्दमनीय हैं इनको वशमें करना बहुत कठिन है । वैराग्य-
रूपी लगामसे ही ये वशमें होते हैं । किन्तु उम लगामके ढोले होनेपर वे पुरुषको दुःखदायी पाप-
रूपी विषम स्थानोंमें गिरा देते हैं ॥१३९५॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय कपायरूपी दुर्दमनीय घोड़े जब वैराग्यरूपी लगामसे नियमित होते
हैं और ध्यानरूपी कौड़ेमें भयभीत रहते हैं तो विषम पापस्थानमें नहीं गिराते ॥१३९६॥

गा०—इन्द्रिय और कपायरूपी मर्षोंमें डमे हुए मनुष्य बहुत कष्टमें पड़ित होकर, उत्तम-
ध्यानरूपी सुखमें भ्रष्ट हो, मयमरूपी जीवनको त्याग देते हैं ॥१३९७॥

गा०—किन्तु इन्द्रिय और कपायरूपी मर्ष मयमध्यानरूपी मिद्ध औषधि और वैराग्यरूपी
मन्त्रोंसे वशमें होनेपर साधुके मयमरूपी जीवनको नहीं हरते ॥१३९८॥

‘सुमरणपुष्पा’ स्मरणपुष्पा चित्तावेगा विषयविषेणालिप्ता रतिबोरा येपर ते मृतोमनुष्य इन्द्रिय-
वाणा पुरुषमृग घातयन्ति ॥१३९४॥

तान्वाणान्पुरुषमृगहनवोद्यतान्यतय एव वारयन्तीति कथयति—

धिदिखेडएहिं इ दिवकडे ज्झाणवरसत्तिमंजुचा ।

‘वारति ममणजोहा सुणाणदिहीहिं दट्ठण ॥१३९५॥

‘पिदिखेडएहिं’ धृतिखंडे इन्द्रियशरान्धारयन्ति ध्यानसत्त्वसमन्विता । ‘समणजोहा’ श्रमणयोधा
सम्यग्ज्ञानदुष्टया दृष्ट्वा ॥१३९५॥

गथाडवीचरत कसायविसकंटया पमायमुहा ।

विद्वति विमयतिक्खा अधिदिदहोवाणह पुरिस ॥१३९६॥

‘गथाडवीचरत’ परित्वहवने चरन्त कपायविपकटका प्रमादमुखा विध्यन्ति विषपैस्तीक्ष्णा धृतिदुष्टोपान-
द्रहित पुरुष ॥१३९६॥

मयतस्य पुनरेवपरिकरस्य कपायविपकटका किञ्चिदपि न कुर्वन्ति इत्याद्यष्टे श्रुति—

आडद्धधिदिदहोवाणहस्म उवओगदिड्डिजुत्तस्स । ५५६९६.

ण करिंति किंचि दुक्ख कमायविमकंटया मुणिणो ॥१३९७॥

‘आडद्धधिदिदहोवाणहस्स’ आबद्धधृतिदुष्टोपानत्वस्य ज्ञानोपयोगसहितदृष्टेर्मुने स्वल्पमपि दुःख न
कुर्वन्ति कपायविपकटका ॥१३९७॥

गा०—इन्द्रियां वाणके समान पुरुषरूपी हिंनको वीधती है । वाणमे पुख होने हैं । भोगे
हुए भोगोका स्मरण इनका पुख है । भोगोकी चिन्ता इनका वेग है । रति इनको धारान्ति है जो
विषयरूपी विपसे लिप्त है । ये इन्द्रियरूप वाण मनरूपी धनुषके द्वारा छोडे जाते हैं ॥१३९४॥

आगे कहते हैं कि पुरुषरूप मृगोका घात करनेमें तत्पर उन वाणोंको समयोजन ही निवारण
करते हैं—

गा०—ध्यानरूपी श्रेष्ठ शक्तिसे युक्त श्रमण योद्धा सम्यग्ज्ञानरूप दृष्टिसे देखकर धैर्यरूप
फलकके द्वारा इन्द्रियरूप वाणोका वारण करते हैं ॥१३९५॥

गा०—परिग्रहरूपी घोर वनमे कपायरूपी विपले कांटे फंसे हैं । प्रमाद उनका भुस है
और विषयोकी चाहमें वे तीक्ष्ण हैं । धैर्यरूपी दृढ जूतेको धारण किये बिना जो उस वनमे विचरण
करता है, उसे वे कांटे वीध देते हैं ॥१३९६॥

आगे कहते हैं इस प्रकारके धैर्यरूपी जूता धारण करनेवाले समयोका वे कपायरूप विपले
कांटे कुछ भी नहीं करते—

गा०—जिम मुनिने धैर्यरूपी दृढ जूता धारण किया है और जो सम्यग्ज्ञानोपयोग दृष्टिसे
सम्पन्न है उसको वे कपायरूपी विपले कांटे कुछ भी दुःख नहीं देने ॥१३९७॥

उड्डहणा अदिचपला अणिग्गहिदकसायमक्कडा पावा ।

गंथफल्लोलहिदया णासति हु सजमाराम ॥१३९८॥

‘उड्डहणा’ अगम्यता अतिचपला अनिगृहीता कपायमकंटा , परिग्रहपलासकहृदया नाशयन्ति सयम-
राम ॥१३९८॥

णिच्च पि अमज्झत्थे तिकालदोसाणुसरणपरिहत्थे ।

सजमरज्जुहिं जदी वधति कसायमक्कडए ॥१३९९॥

णिच्च पि’ नित्यमपि अमाध्यम्यान् त्रिकालविषयदोषानुसरणपटा, कपायमनर्तान्यतय सयमरज्जु-
भिवध्यन्ति ॥१३९९॥

धिदिवम्मिण्हि उवसमसरेहि साधुहिं णाणसत्थेहिं ।

इदियकसायसत्तू सक्का जुत्ते हि जेदु जे ॥१४००॥

धिदिवम्मिण्हि’ धृतिमन्नदं , उपशमसारं साधुभिर्ज्ञानशस्त्रैरुपयुक्तैरिन्द्रियकपायगत्रदो जेतु
शक्या ॥१४००॥

इदियकसायचोरा सुभावणासंकलाहि वज्झति ।

ता ते ण विक्कुवति चोरा जड मक्कलायद्धा ॥१४०१॥

‘इदियकसायचोरा’ इन्द्रियकपायचोरा शुभम्यानभावश्रुतलानिवध्यन्ते । वन्धस्पास्ते न विचार
कुर्वन्ति शृङ्खलाबद्धचोरा इव ॥१४०१॥

इंदियकसायवग्धा सजमणरघादणे अदिपसत्ता ।

वेरग्गलोहदडपजरेहि सक्का हु णियमेदु ॥१४०२॥

‘इदियकसायवग्धा’ इन्द्रियकपायव्याघ्रा सयमनरभक्षणे अत्यासक्ता वैराग्यलोहदडपञ्जरं नियन्तु
शक्या ॥१४०२॥

गा०—ये कपायरूपी वन्दर अगम्यत हैं अतिचपल हैं, पापी हैं, इनका हृदय परिग्रहरूपी
फलमे धामक है । इनका यदि निग्रह नहीं किया तो ये सयमरूपी उद्यानका विनाश कर देते
हैं ॥१३९८॥

गा०—ये कपायरूपी वन्दर, निरन्तर चपल हैं, त्रिकालवर्ती दोषोंका अनुसरण करनेमें
चतुर हैं । इन्हें समी सयमरूपी रस्तीसे बाँधता है ॥१३९९॥

गा०—सन्तोषरूपी कवच, उपशमरूपी बाण और ज्ञानरूपी शस्त्रोंसे सहित साधुओंके
द्वारा वे इन्द्रिय और कपायरूप शत्रु जीते जा सकते हैं ॥१४००॥

गा०—इन्द्रिय और कपायरूपी चोर शुभम्यानरूप भावोंकी साकलसे बाधे जाते हैं । बांधे
जानेपर वे साकलसे बाँधे चोरोंकी तरह विकार नहीं करते ॥१४०१॥

गा०—इन्द्रिय और कपायरूपी व्याघ्र सयमरूपी मनुष्यको सानेके बड़े प्रेमी होते हैं । इन्हें
वैराग्यरूपी लोहके भज्रवूत पीजरेंमें रोका जा सकता है ॥१४०२॥

इन्द्रियकसायहृत्थी वयवारिमर्हीणिदा उवायेण ।

विणयवर्त्तायद्धा सकका अवसा वसे कादु ॥१४०३॥

‘इन्द्रियकसायहृत्थी’ इन्द्रियकपायहृत्स्तिन उपायेन व्रतवारीमुपनीता विनयवर्त्तायद्धा अवसा अपि वरो
शक्या वसे नेतु ॥१४०३॥

इन्द्रियकसायहृत्थी वोलेदु सीलफलियमिच्छता ।

धीरेहि रुभिदव्वा विदिजमलारुप्पहारेहि ॥१४०४॥

इन्द्रियकसायहृत्स्तिन सीलपरिधानवर्त्तायद्धा रोद्धव्या धीरेपूतितर्कतोऽप्रहरं ॥१४०४॥

इन्द्रियकसायहृत्थी दुस्मीलवण जदा अहिलसेज्ज ।

णाणकुमेण तडया सकका अवसा वम कादुं ॥१४०५॥

‘इन्द्रियकसायहृत्थी’ इन्द्रियकपायहृत्स्तिन दुस्मीलवन प्रवेष्टुं यदाभिन्यन्ति तदा अवसा अपि वरो
कर्तुं शक्यन्ते जानाकुमेण ॥१४०५॥

जदि विसयगघहृत्थी अदिणिज्जदि गगदोसमयमचा ।

विण्णाणज्झाणजोहस्स वमे णाणकुमेण विणा ॥१४०६॥

‘जदि विमयगघहृत्थी’ यद्यपि विषयगन्धहृत्स्तिन स्वय गन्धादवी प्रविसन्ति गगदोपमत्ता न तिष्ठेदुवि-
ज्ञान-यानयोऽस्य वरो ज्ञानाकुमेण विना ॥१४०६॥

विमयवणरमणलोला बाला इन्द्रियकसायहृत्थी ते ।

पममे गमेदव्वा तो ते दोमं ण काहिंति ॥१४०७॥

‘विमयवणरमणलोला’ विषयवनरमणलोला बाला इन्द्रियकपायहृत्स्तिन ते रतिमुपनेया प्रसमेन
तत्तन्मे दोमं न कुर्वन्ति ॥१४०७॥

गा०—इन्द्रिय कपायरूपी हाथी यद्यपि स्वच्छन्द है तथापि व्रतरूपी बाडेमे लं जाकर
विततरूपी रस्मीमे उपायपूर्वक बांधे जानेपर वगमे लाये जा सकने हैं ॥१४०३॥

गा०—इन्द्रिय और कपायरूप हाथी सीलरूपी अर्गलाको लाधना पसन्द करते हैं । अतः
धीर पुष्टोको उनके दोनों कानोंके पाम घेरकर प्रहार करके रोचना चाहिए ॥१४०४॥

गा०—इन्द्रिय और कपायरूप हाथी जब दुस्मीलरूपी वनमे प्रवेश करना चाहे तो उसे
ज्ञानरूपी अकुमे वगमे करना शक्य है ॥१४०५॥

गा०—यदि गगदोषरूपी भद्रमे मस्त विषयरूपी गन्धहृत्ती ज्ञानाकुमेके विना विज्ञान
ध्यानरूपी योगाके वगमे नहीं रहता और परिग्रहरूपी वनमे प्रवेश करना है ॥१४०६॥

गा०—तो इन्द्रिय और कपायरूप बालरस्ती विषयरूपी वनमे क्रीडा करनेके प्रेमी होते
हैं । उन्हें प्रणयरूपी वनमे बर्षात् आत्मा और शरीरके भेदज्ञानमे प्रकट हुए स्वाभाविक वैराग्यमे
रमण करना चाहिए तब वे दोष नहीं करेंगे ॥१४०७॥

सदे रूवे गधे रसे य फासे सुमे य असुमे य ।

तम्हा रागदोस परिहर त इ दिंयजएण ॥१४०८॥

‘सदे रूवे गधे रसे य’ गुमागुमेपु शब्दादिपु रागदोष च निराकुछ त्व इन्द्रियजयेत्युत्तरमूत्र-
स्यत्य ॥१४०८॥

जह नीरस पि कडुय ओसह जीविदत्थिओ पिबदि ।

कडुय पि इ दिंयजय णिव्वुइहेदु तह पिबिज्ज ॥१४०९॥

‘जह नीरस पि’ यथा स्वादुरहित कटुनमपीपथ जीवितार्थं पिबति । सया इन्द्रियजय भजते बहुक-
मपि निर्वृतिहेतुम् ॥१४०९॥

इन्द्रियजये क उपाय इत्यानाङ्क्याया इन्द्रियवपायविषयाणां शुभाशुभत्वं अन्वयिते । ये शुभास्त एवै-
दानी अशुभा, अशुभा ये ते एव शुभा । ये तु अनुमत्तया दोषा इदानी हरि ? ये शुभा इति गृहीता न त्वशुभा
जातान्त एवामी इति नथ नानुरागमन्त्र ये बाशुभास्तेषु कथ द्वेप शुभता प्रतिपत्स्यमानेषु इति निवेदयति—

जे आसि सुभा एण्हि असुभा ते चेव पुग्गला जादा ।

जे आसि तदा असुभा ते चेव सुभा इमा इण्हि ॥१४१०॥

‘जे आसि सुभा एण्हि’ ये पुद्गला शुभा आसन्नितानी त एवाशुभा जाता । ये चामन्तदा अशुभा
ते चेव शुभा इदानी इति तौ न युक्ती रागद्वेषो इति सिक्षयति ॥१४१०॥

सव्वे वि य ते श्रुचा च्छा वि य तह अणतखुत्तो मे ।

सव्वेसु एत्थ को मज्झ विंभओ श्रुतविजडेसु ॥१४११॥

गा०—इसलिए हे क्षपक ! इन्द्रियको जीतकर तू शुभ और अशुभ मन्द, रूप, गन्ध, रस
और स्पर्शमे रागद्वेष मत कर ॥१४०८॥

गा०—जैसे जीवनका इच्छुक रोगी स्वादरहित कड़ुवी औषधी पीता है वैसे ही तू मोक्षके
लिए कटुक भी इन्द्रियजयका सेवन कर ॥१४०९॥

इन्द्रिय जयका क्या उपाय है ऐसी शका करनेपर कहते हैं—

गा०—टी०—इन्द्रिय और वपायके विषयोमे अच्छा और बुरापना स्थिर नहीं है । जो
विषय आज अच्छे लगते हैं कल वे ही बुरे लगते हैं । जो आज बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे
लगते हैं । जिन्हे अच्छा मानकर स्वीकार किया वे ही बुरा लगनेपर द्वेषके पात्र होते हैं तो उनमे
अनुराग कैसा ? और जो बुरे लगते हैं कल वे ही अच्छे लगनेवाले हैं अतः उनमे द्वेष कैसा ?
जो पुद्गल इस समय अच्छे प्रतीत होते हैं वे ही बुरे लगने लगते हैं । जो पहले बुरे प्रतीत होते थे
वे ही अब अच्छे प्रतीत होते हैं इसलिए उनमे रागद्वेष करना उचित नहीं है ॥१४१०॥

गा०—वे अच्छे बुरे सभी पुद्गल मेरे अनन्तवार भोगे हैं और अनन्तवार त्यागे हैं । उन
भोगे और त्यागे हुए सब पुद्गलोमे मुझे अचरज कैसा ? इस प्रकार हे क्षपक ! तुम्हे विचारना
चाहिए ॥१४११॥

‘सर्वे वि ते मुता’ सर्वेऽपि च ते पुद्गला शुभाशुभरूपा अनुभूतास्त्यक्ता अनन्तवार मया । तेषु द्रव्येषु भुक्तदयत्कार्येषु को विस्मयो ममेति स्वया चिन्ता कार्या ॥१४११॥

मुखसाधनतया यदि तबानुरागो, दुःखसाधनतया च रोप संबं मुखदुःखसाधनता शुभाशुभादीना रूपाणा नैवास्ति सङ्कल्पमन्त्रेणात्मन इति वदति—

रूढ सुभ च असुभं किंचि वि दुःख सुह च ण य कुणदि ।

मकप्पविसेसेण हु सुह च दुःख च होइ जए ॥१४१२॥

‘रूढ सुभ च असुभ’ रूप शुभमशुभ या किञ्चिदुःख सुख च नैव करोति । सङ्कल्पवशेनैव सुख वा दुःख भवति जगति ॥१४१२॥

इह य परत्त य लोए दोमे बहुगे य आवहइ चक्खु ।

इदि अप्पणो गणिता णिज्जेदब्बो हवदि चक्खु ॥१४१३॥

‘इह य परत्त य’ जन्मद्वयेऽपि बह्वन्दोषानावहति चक्षुरित्यात्मनावगणय्य निर्जेतव्य चक्षु ॥१४१३॥

एव सम्म सद्वसगंधपासे विचारयित्ताण ।

मेमाणि इदियाणि वि णिज्जेदब्बाणि बुद्धिमदा ॥१४१४॥

‘एव सम्म’ उभयजन्मयोचरानेकदोषावहत्वं विचार्य स्वबुद्ध्या दोषाप्यपीन्द्रियाणि शब्दरसगन्धस्पर्श विषयाणि निर्जेतव्यानि बुद्धिमता । ‘सद्वसगंधपासे’ इति वैषयिकी सत्पत्नी ॥१४१४॥

क्रोधजयोपायमाचष्टे—

जदिदा मवदि असतेण परो त णत्थि मेत्ति खमिदब्ब ।

अणुकंपा वा कुज्जा पावइ पाव वरावोचि ॥१४१५॥

‘जदिदा सर्वदि असतेण’ यदि तावदसता दोषेण गपति पर स दोषो न ममास्तीति क्षमा कार्या । अमहोपख्यापनेनाम्य मम किं नष्ट इति । अथवानुकम्पा आक्रोशके कुर्याद्विराकोऽन्धमिधानेन ममार्जयति पाप-

आगे कहते हैं यदि मुखका मायन होनेमें इनमें तेष अनुगम है और दुःख साधन होनेमें द्वेष है तो अच्छे दुरे पुद्गलोंमें वही मुख-दुःख साधनता तरे सकल्पके मित्राय ययार्थमें नहीं है—

गा०—कोई अच्छा या बुरा रूप मुख या दुःख नहीं करता । जगत्में सकल्पवश ही मुख-दुःख होता है ॥१४१२॥

गा०—इस लोक और परलोकमें ये आँखें बहुत बुराई उत्पन्न करती हैं ऐसा जानकर चक्षु इन्द्रियको जीतना चाहिए ॥१४१३॥

गा०—इस प्रकार दोनों लोकोंमें अनेक दोष उत्पन्न करने वाली जान अपनी बुद्धिसे विचारकर शब्द रस, गन्ध और स्पर्शको विषय करने वाली शेष इन्द्रियोंको भी बुद्धिमान् पुरुषको जीतना चाहिए ॥१४१४॥

क्रोधको जीतनेका उपाय कहते हैं—

गा०—टी०—यदि दूसरा व्यक्ति मेरेमें अविद्यमान दोषको कहता है तो वह दोष मुझमें नहीं है अतः उसे क्षमा करना चाहिए, क्योंकि असन् दोषको कहनेसे मेरी क्या हानि हुई ? अथवा

भार अनेक दुःखावह । मर्त्योर्दोषैरस्य किञ्चिन्न्यायाति दोषजात । गुणैर्वा किमस्मि किञ्चिद्भवति ? प्राणिना प्रतिनियता गुणदोषास्तत्तमेव प्रति मुग्धदुःखोन्नतास्ततो पुरस्तो (?) मुषानेन कर्मबन्ध सम्पाद्यते इति ॥१४१५॥

चिन्ता कर्मात्मिका रोप परपम्पसारयति—

जदि वा सवेज्ज संतेण परो तह वि पुरिसेण खमिदच्च ।

सो अत्थि मज्झ दोमो ण अलीयं तेण भणिदत्ति ॥१४१६॥

‘जदि वा सवेज्ज’ यदि वा दोषेच्च सता दोषेण तथापि क्षमा कार्या । मोक्षेन बन्धमानो दोषो ममास्ति न व्यलोक तेनोक्तमिति मङ्गलरूपतया न हि सन्तो दोषा परे चेद न वृचन्ति इति विनिरयन्ति ॥१४१६॥

यो यस्य नमुपकार महान् चेतसि करोति स तस्यापराध अपि सहते इति प्रतिशब्देन लोके इति वचयति—

सत्तो वि ण चेव हदो हदो वि ण य मारिदो चि य खमेज्ज ।

मारिज्जतो चि सहेज्ज चेव धम्मो ण णट्ठोत्ति ॥१४१७॥

‘सत्तो वि चेव’ सत्त एवास्मि न हत इत्यहनन गुण पुण्य चेतसि सस्याप्य विप्रनेन शपनेन मे नष्टमिति शक्तव्य । एवमितरत्रापि योग्य । हत एव न मृत्यु पापित । मार्यमाणोऽपि सहते विपन्निमूर्त्तन-क्षमोऽभिलषितसुखसम्पादनोद्यतो धर्मो न विनाशित इति ॥१४१७॥

उपायान्तरमपि रोपविजये निरूपयति—

निन्दा करने वाले पर दया करना चाहिए—बेचारा झूठ बोलकर अनेक दुःख देने वाला पाप भार एकत्र करता है । मेरे दोषोंसे उसमें दोष उत्पन्न नहीं होते और न मेरे गुणोंसे ही उसका कोई लाभ होता है । प्राणियोंके अपने-अपने गुण दोष नियत हैं । उनसे होने वाला सुख-दुःख भी उन्हें ही होता है । अतः यह व्यर्थ ही कर्मबन्ध करता है ॥१४१५॥

आगे कहते हैं दया रूप चिन्तनसे कठोर क्रोध दूर होता है—

गा०—यदि दूसरा मेरेमें विद्यमान दोषको कहता है तब भी क्षमा करना चाहिए क्योंकि वह जिस दोषको कहता है वह मेरेमें है । वह झूठ नहीं कहता । विद्यमान दोषोंको दूसरे यदि न बहे तो वे नष्ट हो जाते हैं, ऐसी बात भी नहीं है ऐसा विचार करना चाहिए ॥१४१६॥

आगे कहते हैं कि जो जिसका महान् उपकार करता है वह उसके छोटेसे अपराधको सहता है यह बात लोकमें प्रसिद्ध ही है—

गा०—इसने मुझे अपराध ही कहे हैं मारा तो नहीं है, इस प्रकार उसके न मारनेके गुणको चित्तमें स्थापित करके ‘अपराध कहनेसे मेरा क्या नष्ट हुआ’ अतः क्षमा करना चाहिए । मारे तो भी सहन करना चाहिए कि इसने विपत्तिको जडसे दूर करनेमें समय और इष्ट सुखको देने वाले मेरे धर्मका नाश नहीं किया ॥१४१७॥

क्रोधको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

१ ना पर नृतो-अ० । ना पुर सूतो-आ० । ना परो सूतो-ज० ।

२ सकल्पतयता-मु० ।

३ मतो दोषान्-आ० । ४ वि खमेज्ज-अ० आ० ।

रोसेण महाधम्मो णामिज्ज तणं च अग्निणा सव्वो ।

पाव च करिज्ज महं बहुगपि णरेण खमिदव्व ॥१४१८॥

‘रोसेण महाधम्मो’ दुरर्जनो दुर्लभो दुश्चरा धर्मोऽन्यायी रोपेण ‘मदीयो नश्यति । अग्निना तृणमिव ।
तथा चाभ्यधापि—

अज्ञानकाष्ठजनितस्त्ववमानवार्त्त- सधुक्षित परपवाग्गुहविस्फुलिग ।

हिंसाशिक्षोर्ध्व भूशमुत्थितवेरधूम क्रोधान्निवृद्धति धर्मवन मराणाम् ॥ इति । [] ॥१४१८॥

उपायान्तर्गमपि वदनि—

पुव्वकदमज्झपाव पत्त परदुःखकरणाजाद मे ।

रिणमोक्खो मे जादो अज्जत्ति य होदि खमिदव्व ॥१४१९॥

‘पुव्वकदमज्झपाव’ पापागमद्वारमभानता ‘अनेनापि प्रमादिना पूव कृत मत्कर्म पाप परेपा दु खकारण
तदव निवर्तित । ऋणमोक्षोऽय मम जात इति विन्त्यताशसारयितव्यो रोप ॥१४१९॥

पुव्व सयमुवभुत्त काले णाएण तेत्ति य दव्व ।

को धारणीओ धणियस्म दित्तओ दुक्खिओ होज्ज ॥१४२०॥

‘पुव्व सयमुवभुत्त’ पूर्व स्वयमेव भुक्त, अवधिकाले प्राप्ते । ‘णापेण’ नीरया । द्वय अधमर्ण उत्तमर्णयि
प्रयच्छन् को दु ख करोति ॥१४२०॥

गा०—टी०—आगसे तृणको तद्ग क्रोधमे दु खसे उपार्जन किया गया दुर्लभ और दुश्चर
मेरा धर्म नष्ट होता है । कहा भी है—यह क्रौरूपी आग मनुष्योंके धर्मवनको जलाती ह । यह
क्रोधरूपी आग अज्ञानरूपी काष्ठमे उत्पन्न होती है, अपमानरूपी वायु उसे भडवाती है । कठोर
वचनरूपी उसके वडे स्फुलिग है । हिंसा उसकी शिक्षा है और अत्यन्त उठा वीर उसका धूम है ।

तथा यह क्रोध मुझे पापका वन्ध कराता है जो अनेक भवोमे दु खका बीज है । इसलिये
चित्तमे क्षमा धारण करना चाहिए ॥१४१८॥

अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—पापके आश्रयके द्वारको न जानते हुए मैंने प्रमादवश जो पूर्वमे पापकर्म किया था,
जो दूसरोंके दु खका कारण था, वह आज चला गया । आज मैं उस ऋणमे मुक्त हो गया । ऐसा
विचारकर क्रोधको दूर करना चाहिए ॥१४१९॥

गा०—टी०—पूर्व जन्ममे मैंने जिसका अपराध किया था उसके द्वारा इस जन्मम उम अप-
राधमे उर्जाजित पापकर्मकी उद्दोरणा किये जाने पर उमको भोगते हुए मुझे दु ख कैसा ? माह्वार
से पहले कर्ज लेकर जिस धनको मैंने स्वय भोगा है, उतना ही धन उम ऋणका अवधिकाल आने
पर देते हुए कौन कर्जदार दु खी होता है ॥१४२०॥

इह य परत्त य लोए दोसे बहुए य आवहदि कोधो ।

इदि अप्पणो गणित्ता परिहरिद्व्वो हवइ कोधो ॥१४२१॥

स्पष्टा उत्तरगाथा ॥१४२१॥

क्रोधजोपायभूतान्परिणामानुपदर्श्य मानप्रतिपक्षपरिणाम नित्यपवति—

को इत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तस्म ।

उच्चत्ते य अणिच्चे उवट्ठिदे चावि णीचत्ते ॥१४२२॥

‘को इत्थ मज्झ माणो’ कोऽवाचकृत्वाप्ये ‘ज्ञानादिकैरन्वयत्वे गर्वो मम बहुसो ज्ञानकुत्तरूपतपोऽद्विज-’

प्रभुत्वैरुन्नतता प्राप्तस्य प्राप्तेऽप्युन्नतत्वे अववस्थापिनि सति उपस्थिते चोत्तरकारुण्यत्वे ॥१४२२॥

अधिगेसु बहुसु सतेसु ममादो एत्थ को महं माणो ।

को विम्मओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते ॥१४२३॥

स्पष्टा ॥१४२३॥

उत्तरगाथा—

जो अवमाणणकरण दोस परिहरइ णिच्चमाउत्तो ।

सो णाम होदि माणी ण दु गुणवत्तेण माणेण ॥१४२४॥

‘जो अवमाणणकरण’ योऽवमानकरण दोष परिहरति नित्यमप्युक्तः ॥ मानी भवति । न तु भवति

मानी गुणरिक्तेन मानेन ॥१४२४॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुगे य आवहदि माणो ।

इदि अप्पणो गणित्ता माणस्स विणिग्गह कुज्जा ॥१४२५॥

गा०—क्रोध इस लोक और परलोकमें बहुत दोषकारक है ऐसा जानकर क्रोधका त्याग करना चाहिए ॥१४२१॥

क्रोधको जीतनेके उपायभूत परिणामोको बतलाकर मानके प्रतिपक्षी परिणामोको कहते हैं—

गा०—टो०—ज्ञान, कुल, रूप, तप, धन, प्रभुत्व आदिमें मैं ऊँचा भी होऊँ, तो उमका गर्व कैसा, क्योंकि अनेक बार मैं इनमें नीचा भी हो चुका हूँ । उच्चता और नीचता ये दोनों अनित्य हैं ॥१४२२॥

गा०—इस लोकमें बहुतमें मुझमें भी ज्ञानादिमें अधिक है इनका मुझे अभिमान कैसा ? तथा पूर्व जन्मोंमें मैं यह उच्चता अनेक बार प्राप्त कर चुका हूँ तब इनके प्राप्ति होने पर आश्चर्य कैसा ? ॥१४२३॥

जो सदा मन लगाकर अपमान करने रूप दोषका त्याग करता है वर्ध्यान् किस्तीका अपमान नहीं करता वह मानी होता है । गुण रहित मानमें मानी नहीं होता ॥१४२४॥

इह य परतय अन्मद्वये दोषान् बहुनावहति मानमिति विगणय्य माननिग्रहं कुर्यात्ताधुजन ॥१४२५॥

मायाप्रतिपक्षपरिणामस्वरूपं निगदति—

अदिगूहिदा वि दोसा जणेण कालतरेण णज्जति ।

मायाए पउत्ताए को इत्थ गुणो हवदि लद्धो ॥१४२६॥

‘अदिगूहिदा वि दोसा’ अतीव सवृता अपि दोषा जनेन जायन्ते कालान्तरे मायया प्रयुक्तया को गुणो लब्ध इति चिन्तया निहन्ति ॥१४२६॥

‘परिभागम्मि असते णियडिसहस्सेहिं गूहमाणस्स ।

चदग्गहोन्व दोसो खणेण सो पायडो होइ ॥१४२७॥

जणपायडो वि दोमो दोसोत्ति ण वेप्पए सभागस्स ।

जह ममलत्ति ण धिप्पदि समल पि जए तलायजल ॥१४२८॥

‘जणपायडो वि दोमो’ लोकप्रकटोऽपि दोषो दोष इति न गृह्यते भाग्यवत् । यथा समलमिति न गृह्यते लोके तटाक्जल समलमिति सदृश । एतदुक्तं भवति पुण्यवतोऽपि मायया न विकृष्टत्वाच्च । प्रकटोऽपि दापे यतोऽप्यौ जगति मान्य । दोषनिग्रहं हि भाग्यताविनाशभयादिति भावः ॥१४२८॥

अथ माया करोन्ययाय तथापि सानयिजेति वदति—

डंभमएहिं बहुगेहिं सुपउत्तेहिं अपडिभोगस्स ।

इत्थ ण एदि अत्थो अण्णादो मपडिभोगादो ॥१४२९॥

गा०—इस लोक और परलोकमें मान बहुत दोषकारी है । ऐसा जानकर अपने मानका निग्रह करना चाहिए ॥१४२५॥

अब मायाके विरोधी परिणामोका स्वरूप कहते हैं—

गा०—अत्यन्त छिपाकर भी की गई बुराई कालान्तरमें मनुष्यको ज्ञात हो जाती है । तब मायाचार करनेमें क्या लाभ है । इस प्रकारके चिन्तनमें मायाको दूर करना चाहिए ॥१४२६॥

गा०—भाग्य प्रतिकूल हो तो हजार छलसे छिपाया हुआ भी काम चन्द्रमाके ग्रहणकी तरह क्षणमात्रमें प्रकट हो जाता है ॥१४२७॥

गा०—ही०—और भाग्यशालीका लोकमें प्रकट भी दोष दोष नहीं माना जाता । जैसे सालावका जल मैला ही तब भी लोग उसे मैला नहीं मानते । वास्तव यह है कि पुण्यशालीको मायासे कोई लाभ नहीं है क्योंकि दोष प्रकट होनेपर भी वह जगत्में मान्य रहता है । मान्यताके विनाशके भयमें ही मनुष्य दोषको छिपाता है ॥१४२८॥

भाग्य कहते हैं कि मनुष्य धनके लिए मायाचार करता है किन्तु वह व्यर्थ है—

गा०—बन्धी तरह नैकहो छलकपट करनेपर भी पुण्यहीनके हाथमें पुण्यशालीका धन नहीं आता ॥१४२९॥

१ परिभोगम्मि—अ० । एता टीकाकारो नेच्छति ।

‘डभतदेहि बहुगेहं’ दम्भरातर्वह्निं सुप्रयुक्तरपि अपुण्यस्य हृतं नायात्यर्थं । अन्धस्मान्-
पुष्पात् ॥१४३१॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहड माया ।

इदि अप्पणो गणिता परिहरिदव्वा हवइ माया ॥१४३०॥

इह य परत्त य’ इहपरलोकयोर्वहन्दोपानावहति माया । इति आत्मनि निष्पद्य परिहृतव्या भवति
माया ॥१४३०॥

लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्म अपडिभोगस्स ।

अरुएवि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवत्तस्स ॥१४३१॥

‘लोभे कहे’ लोभे कृतैर्गुण्यो न भवति पुरपम्य अपुण्यस्य । अकृतैर्गुण्यो भवति पुण्यवत् । तत
अर्थात्किर्यलोभे मम न निमित्तमपि तु पुण्यमित्यनया चिन्तया लोभो निराकार्यं ॥१४३१॥

अपि च ‘अर्थद्रष्टव्ये जन प्रयत्नते अर्था पुनरसहृत्प्राप्तास्त्यक्ताश्च तेषु को विस्मय इति मन प्रपि-
धानं कुरु लोभविजयायेति वदति—

सखे वि जए अत्था परिगहिदा ते अणंतखुत्तो मे ।

अत्थेसु इत्थ को मज्झ विंभओ गहिदविजडेसु ॥१४३२॥

‘सखे वि जये आशा’ सर्वैर्गुण्यो जयत्यर्था परिगृहीता मयानन्तवार ममाप्येवमीषु को विस्मयो गृहीत-
त्यक्तेषु ॥१४३२॥

इह य परत्तय लोए दोसे बहुए य आवहइ लोभो ।

इदि अप्पणो गणिता णिज्जेदव्वो हवदि लोभो ॥१४३३॥

इदिपक्कायत्तिगद ॥१४३३॥

गा०—माया इम लोक और परलोकमे बहुतसे दोष लाती है ऐसा जानकर भायाका त्याग
करना चाहिए ॥१४३०॥

गा०—लोभ करनेपर भी पुण्यहीन पुरुषके पाम धन नहीं होता, और लोभ नहीं करनेपर
भी पुण्यशालीके पाम धन होता है । अत धनका लोभ धनलाभमे निमित्त नहीं है किन्तु पुण्य
निमित्त है ऐसा विचारकर लोभका त्यागना चाहिए ॥१४३१॥

अर्थकी प्राप्तिके लिए मनुष्य प्रयत्न करता है । किन्तु अर्थ अनेक बार प्राप्त हुआ और
छोटा है । उसमे आश्चर्य कैसा ? इस तरह लोभको जीतनेके लिए मनमे चिन्तन करो, यह
कहते हैं—

गा०—जगत्मे जितने पदार्थ हैं वे सब मेरे अनन्तवार प्राप्त किये । उन ग्रहण किये और
त्यागे हुए पदार्थोंमे आश्चर्य कैसा ? ॥१४३२॥

गा०—लोभ इस भव और परभवमे बहुतसे दोष पैदा करता है ऐसा जानकर लोभको
त्यागना चाहिए ॥१४३३॥

इस प्रकार इन्द्रिय और कर्मायाका कथन किया ।

एतमिन्द्रियकषायपरिणामनिरोधोपायभूतान्परिणामानुपदिश्य निद्राजयग्रम निरुपयति सूरि —

णिद्दं जिणाहि णिच्च णिद्दा ह्नु णर अचेयण कुण्ड ।

वट्टिज्ज ह्नु पासुचो खवओ मव्वेसु दोसेसु ॥१४३४॥

‘णिद्दं जिणाहि’ निद्रा जय नित्य । अजिना मा विमपकार करोति इत्याशङ्क्य आह ‘णिद्दा ह्नु णर अचे-
यण कुण्ड’ निद्रा नर जवेनन कराति । चैतन्यरहितावस्थाभावात्किमुच्यते करोतीति । अत्रोच्यते—विवेकज्ञान-
रहितत्वमेवात्राचेतनशब्देनोच्यते । यत एव योग्याद्यायविवेकज्ञानरहित अत एव । ‘वट्टिज्ज ह्नु’ वसते एव ।
‘पासुतो’ प्रक्षयेण सुप्त ‘खवओ’ क्षपक । ‘मव्वेसु दोसेसु’ हिसामयुनपरिग्रहादिवेपु ॥१४३४॥

निद्रा कर्मोपयवसाद्भवति कथं मयापाकर्तव्या इत्यत्राह—

जदि अधिवाधिज्ज तुम णिद्दा तो त करेहि सज्झाय ।

सुहुमत्थे वा चित्तेहि सुणसु सवेगणिज्जेगं ॥१४३५॥

‘जदि अधिवाधिज्ज तुम’ यथाधिवाधेत भवन्न निद्रा । तनस्त्व कुरु स्वाध्याय । ‘सुहुमत्थे वा चित्तेहि’
सूक्ष्मान्वाप्यान् चिन्तय । ‘सुणसु सवेगणिज्जेगं’ मृगुण्व सवेजनी निर्वेजनी वा कथा ॥१४३५॥

प्रकारान्तर निद्राविजयहेतु निगदति—

पोदी भए य भोगे य तथा णिद्दा ण होइ मणुयाण ।

एदाणि तुमं तिण्णिवि जागरणत्थं णिसेवेहिं ॥१४३६॥

‘पोदी भए य भोगे’ प्रीत्या भये शोके च सति निद्रा मनुष्याणां न भवति । तेन प्रीत्यादिमेवा कुरु एव
निद्राविजितये ॥१४३६॥

इम प्रकार इन्द्रिय और कषायरूप परिणामोको रोकनेके उपायरूप परिणामोको कहकर
निद्राको जीतनेका क्रम कहते हैं—

गा०—टी०—मदा निद्रापर विजय प्राप्त करो । नही जीतनेपर वह क्या बुराई करती है
यह कहते हैं—निद्रा मनुष्यको अचेतन करती है ।

शका—चेतन मनुष्यकी चैतन्यरहित अवस्था नहीं होती । तब कैसे कहते हैं कि निद्रा
अचेतन करती है ?

समाधान—यहाँ अचेतन शब्दमे विवेकज्ञानमे रहित होना ही कहा है ।

इमलिए जो गहरी नीदमे सोया है वह क्षपक योग्य अयोग्यके विवेकज्ञानसे रहित होनेसे
हिमा मेयुन पग्निह आदि सत्र दोषोमे प्रवृत्ति करता है ॥१४३४॥

निद्रा कर्मके उदयसे होनी है । उसे मैं कैसे दूर करूँ ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं—

गा०—यदि तुम्हे निद्रा सताती है तो स्वाध्याय करो । या सूक्ष्म अर्थोका विचार करो ।
अथवा सवेग और निर्वेदको करनेवाली क्या सुनो ॥१४३५॥

निद्राको जीतनेका अन्य उपाय कहते हैं—

गा०—प्रीति, भय अथवा शोक होनेपर मनुष्योंको निद्रा नहीं आती । अतः तुम निद्राको
जीतनेके लिए प्रीति आदिवा सेवन करो ॥१४३६॥

प्रीतिप्रयत्नोक्ता अशुभपरिणामत्वात्कर्मनिमित्तता । निद्राया वा अविशिष्टत्वान् वयं सवरायिनो निरूप्यते प्रीत्यादिक इत्याद्यङ्गायां सवरहेतुमूलतया तद्व्यपदेश प्रति नियतविषयमुपदर्शयति—

भयमागच्छसु ससारादो पीदि च उत्तमदृष्टिम् ।

सोग च पुरादुच्चरिदादो णिद्दाविजयहेदुं ॥१४३७॥

‘भयमागच्छसु’ भय प्रतिपद्यस्व । ‘ससारादो’ ससारान् पञ्चविधपरावर्तनरूपात् । प्रीति रत्नत्रयापराधनाया । शोक उर्ध्वहि पूर्ववृत्ताद्दुःखरितात् निद्रा विजेतु । नरकादिप्रतिप्लवसङ्घारिवर्तमानेन शारीरमागन्तुक, मानस, स्वाभाविक च दुःख विचित्रमनुभूत तत्पुनरप्यायास्यति इति मन प्राणिधेहि । सकलामापत्तमहति-मुन्मूलयितु, अमृतदपनिधेयसमुत्पत्ति च प्रापयितु, असारशरीरभारमपनेतु, अनन्तावबोधदशनसाम्राज्यश्रिय-भारहट्ट, कर्मविपविटपानुत्पादयितु क्षमामिमां, अनन्तेषु भवेषु अनवाप्तपूर्वा रत्नत्रयापराधना कर्तुं उद्यतोऽस्मीति प्रीतिर्भावनीया । हिमान्तस्तैयारावृत्तपरिग्रहेषु मिथ्यात्वकषायेष्वशुभमनोवाक्याययोगेषु विचित्रकर्मार्जनमूलेषु चतुर्विधव्यपरीयनिमित्तेषु अनागत मन्दभाग्य प्रवृत्तोऽस्मि हितअहितविचारणाविमुग्धाबुद्धितया मन्मार्ग-स्योपदेष्टृदूषामनुपलम्भाप्रवरजाना वरणोदयात्तदुदीरितार्थतत्त्वानवबोधान् । अवगमे सत्यव्यग्रहायां, चारित्र-मोहोदयान्मन्मार्गोद्भवतश्च दुःखान्मोघो निमन्मोऽस्मोऽस्मिचित्ततया च निद्रा प्रवर्ति ॥१४३७॥

यहाँ शका होती है कि प्रीति भय और शोक तो अशुभ परिणामरूप होनेसे कर्मिके आस्रवसे निमित्त होते हैं । अतः उनमें और निद्रामें कोई अन्तर नहीं है । तब जो सवरका इच्छुक है उसके लिए प्रीति आदि करनेको क्यों कहते हैं ? इसके उत्तरमें सवरके हेतु जो प्रीति आदि हैं उनके प्रतिनियत विषयको बतलाते हैं—

गा०-टी०—निद्राको जीतनेके लिये पाँच प्रकारके परावर्तन रूप ससारसे भय करो । रत्न-त्रयकी आराधनामें प्रीति करो और पूर्वमें किये दुराचरणके लिये शोक करो । नरकादि गतियोंमें बार-बार आने जानेसे मैंने शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक प्रकारका दुःख भोगा । वही दुःख आगे भी भोगनेमें आवेंगे, ऐसा मनमें विचार करो । समस्त आपत्तियोंके समूहका विनाश करनेके लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको प्राप्त करनेके लिये, असार शरीरका भार उतारनेके लिये, अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन रूप साम्राज्य लक्ष्मीको आकर्षित करने-के लिये, स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको प्राप्त करनेके लिये और कर्मरूपी विषयोंको उखाड़नेमें समर्थ इस रत्नत्रय आराधनाको, जिसे पहले अनन्तभवामें कभी प्राप्त नहीं किया, करनेके लिये मैं तत्पर हूँ । इस प्रकार प्रीतिकी भावना करो । हिमा झूठ चोरी अव्रह्म परिग्रह, मिथ्यात्व कषाय और अशुभ मनोयोग अशुभ वचन योग अशुभ काययोगमें, जो नाना प्रकारके कर्मिके मचयके मूल हैं और चार प्रकारके कर्मोंमें निमित्त हैं, मैं अभागा निरन्तर लगा रहा, क्योंकि हित अहितके विचार में मूढ़ बुद्धि होनेसे तथा मन्मार्गका उपदेश देने वालोंकी प्राप्ति न होनेसे अथवा प्रत्यक्ष ज्ञानावरणका उदय होनेसे उनके द्वारा कहे गये अर्थ तत्त्वको न जान सकनेसे, या जान लेने पर भी थढ़ा न करनेसे और चारित्र मोहके उदयसे मन्मार्गमें प्रवृत्ति न करनेसे मैं दुःखके समुद्रमें डूबा हूँ । इस प्रकार चित्तके उद्विग्न होनेसे निद्रा चली जाती है ॥१४३७॥

जागरणत्वं डच्चेवमादिकं कुण कर्म सदा उच्यते ।

झाणेण विणा वज्झो कालो हु तुमे ण कायव्वो ॥१४३८॥

जागरणार्थं निद्रानिरासार्थं एवमादिकं कुण कर्म मदीपयुक्तं । ध्यानेन विना वज्ज्य कालो न वर्तव्य-
म्वया ॥१४३८॥

संसाराडविणिच्छरणमिच्छदो अणपणीय दोसाहि ।

सोदु ण खमो अहिमणपणीय सोदु च सघरम्मि ॥१४३९॥

संसाराडविणिच्छरणमिच्छदो' संसाराडविनिस्सरणमिच्छन्नपाकृत्य दोषान् न हि स्वप्नु क्षम । अहि
अनपणीय स्वप्नुमिव गृहे ॥१४३९॥

को णाम 'णिरुव्वेगो लोमे मरणादिअग्गिपज्जलिदे ।

पज्जलिदम्मि व णाणी धरम्मि सोदु अभिलसिज्ज ॥१४४०॥

'को णाम णिरुव्वेगो लोमे मरणादि अग्गिपज्जलिदे' जातिजरामरणन्याय्य, शोका भयानि, प्रार्थिता-
'लामो, अभिमनविषयो इत्यादिनाग्निना प्रज्वलिते । 'णाणी सोदुमभिलसेज्ज' शान्ति स्वप्नुमभिलषेत । 'पज्ज-
लिदम्मि धरम्मि व' प्रज्वलिते गृहे इव ॥१४४०॥

को णाम णिरुव्वेगो सुविज्ज दोसेसु अनुवसतेषु ।

गहिदाउहाण बहुयाण मज्झयारेव सत्तूणं ॥१४४१॥

'को णाम णिरुव्वेगो' को नाम निरुद्धेन स्वपेदागाक्षिपु संसारप्रवर्द्धनेषु दोषेषु अनुपशान्तेषु गृहीतायु-
धाना समूहा बहूना मध्ये इव ॥१४४१॥

णिद्दा तमस्म सरिसो अण्णो णत्थि हु तमो मणुस्साण ।

इदि णच्चा जिणमु तुमं णिद्दा ज्झाणस्स विग्घपरी ॥१४४२॥

गा०—निद्राको दूर करनेके लिये इस प्रकारके चिन्तनमे सदा लगे रहो । ध्यानके विना
तुम्हें एक क्षण भी नहीं गैवाना चाहिए ॥१४३८॥

गा०—जैसे घरमे यदि सर्प घुसा हो तो उसे निकाले विना सोना शक्य नहीं है । उसी
प्रकार जो ममार रूपी महावनमे निकलना चाहता है वह दोषोको दूर किये विना सोनेम समर्थ
नहीं होता ॥१४३९॥

गा०—जलते हुए घरकी तरह लोकके जन्म, जरा, मरण, व्याधि, शोक, भय, प्रार्थितकी
अप्राप्ति और इष्ट वियोग इत्यादि आगमे जलते रहने पर कौन ज्ञानो निर्भय होकर सोना
चाहेगा ॥१४४०॥

गा०—जैसे शस्त्रयारी वृद्धमे शत्रुओंने मध्यमे कोई निर्भय होकर नहीं मो सकता, उसी
प्रकार ममारको बढानेवाले रागादि दोषोके उपशान्त हुए विना कौन निर्भय होकर मो सकता
है ॥१४४१॥

‘निद्रा तमस्त सरितो’ तमस्तदृगमन्यतमो नास्ति मनुजाना इति ज्ञात्वा निद्रा ध्यानस्य विघ्नकारिणी जयेति ॥१४४२॥

कुण वा निद्रामोक्षं निद्रामोक्षस्म भणिदवेलाए ।

जह वा होइ समाही खणकिलितस्म तह कुणह ॥१४४३॥

‘कुण वा निद्रामोक्ष’ कुह वा निद्रामोक्ष । निद्रामोक्षस्य कथिताया वेलया रात्रेस्तृतीये यामे इति यावत् । यथा वा समाधिभवति भवत उपवासपरिधान्तस्य तथा वा निद्रामोक्ष कुह ॥१४४३॥ निद्रातिगद ।

उक्तार्थोपहार वक्ष्यमाण वाधिकार दर्शयत्युत्तरभाषा—

एस उवाचो कम्मासवदारणिरोहणो हवे सच्चो ।

पोराणयस्म कम्मस्स पुणो तवसा खओ होइ ॥१४४४॥

‘एस उवाचो’ कर्मणामाश्रयद्वारनिरोधे उपायोऽयं सर्वोऽभिहितः । पोराणस्य कर्मणस्तपसा क्षयो भवति । सवरपूर्विका निर्जरा भुक्तये भवति न मवरहोनेति पूर्वं मवरपेक्षया ॥१४४४॥

अवभतरवाहिरगे तवस्मि सत्ति सगं अगूहतो ।

उज्जमसु सुहे देहे अप्पडिबद्धो अणल्लो स ॥१४४५॥

‘अवभतरवाहिरगे’ अन्यन्तरे बाह्ये च तपस्युद्योग कुह स्वाशक्तिसमूहमानः । मुखे शरीरे ध्यानमक्ति अनालस्य । न हि शरीरे सुखे वा आदरवास्तत्प्रतिपक्षभूते तपसि प्रयत्ने । न शालस्य प्रवर्तते तपसि । तपसः प्रत्युद्भावेन स्थितं मुखे शरीरे च प्रतिवृद्धवमलसत्त्वमावेदितमनेन ॥१४४५॥

गा०—निद्रा रूपो अन्धकारके समान मनुष्योका कोई दूसरा अन्धकार नहीं है । ऐसा जानकर हे क्षपक । तुम ध्यानमें विघ्न करने वाली निद्राको जीतो ॥१४४२॥

गा०—अथवा यदि निद्राको नहीं जीत सक्ते हो तो आगममें निद्रा त्यागनेका उो समय रात्रिका सोसरा पहर कहा है उस समय निद्रा त्यागो । अथवा उपवाससे यकें हुए आपकी समाधि जिस प्रकार हो उस प्रकार करो ॥१४४३॥

आगे उक्त कथनका उपमहार और आगेका अधिकार कहते हैं—

गा०—नवीन कर्मके आनेके द्वारको रोकनेका यह सब उपाय कहा है । पूर्व संचित कर्मोंका क्षय तपने होता है । मवर पूर्वक निर्जरा मोक्षका कारण होती है, मवरके बिना निर्जरा मोक्षका कारण नहीं है । इसलिये पहले सवरका कथन किया है ॥१४४४॥

गा०—टी०—हे क्षपक । अपनी शक्तिको न छिपाकर अन्यन्तर और बाह्य तपमें उद्योग करो । मुखमें और शरीरमें आसक्त मत होजो और न आलस्य करो । जो शरीर और सुखमें आदरभाव रखता है वह उनके विरोधी तपमें प्रयत्न नहीं करता । तथा बालसो भी तपमें प्रवृत्ति नहीं करता । इसने मुख और शरीरमें आसक्ति तथा आलस्यको तपके लिये विघ्नकारी कहा है ॥१४४५॥

सुहसीलदाए अलसत्तणेण देहपडिवद्धदाए य ।

जो सची मतीए ण करिज्ज तव स सत्तिसम ॥१४४६॥

‘सुहसीलदाए’ सुवासक्तया, बलसतया, देहप्रतिबद्धतया वा य शक्ती सत्यामपि तपो न करोति शक्तिमम् ॥१४४६॥

तस्स ण भावो सुद्धो तेण पउचा तदो हवदि माया ।

ण य होइ धम्मसद्धा तिन्वा सुहदेहपिक्खाए ॥१४४७॥

‘तस्स ण भावो’ तस्य परिणामो न शुद्धस्तरमात्तेन शक्तिममे तपस्यवत्तमानेन माया प्रयुक्ता भवति । यतस्ततो न भाव शुद्ध, धर्मे सीमा च श्रद्धा न भवति । केन ? ‘सुहदेहपिक्खाए’ सुखे देहे च प्रेसया तत्र आसक्त्या बुद्ध्या हेतुभूतया ॥१४४७॥

अप्पा य वचिओ तेण होइ विरिय च गूढिय भवदि ।

सुहसीलदाए जीवो वघदि हु असादवेदणिय ॥१४४८॥

‘अप्पा ॥ वचिओ’ जा-मा वचित्तमेन । शक्यनुम्पे तपस्यनम्पुत्तमेन शक्तिवच्च प्रवृत्तादिना भवति । सुवासक्ततया जीवो वचान्यमानवेदनीय चानेकभवेषु दुःखावह ॥१४४८॥

आलस्यदोषमाचष्टे—

विरियतरायमलसत्तणेण वघदि चरित्तमोह च ।

देहपडिवद्धदाए साधू सपरिग्रहो होइ ॥१४४९॥

विरियतराय वीर्यान्तरायमलसतया वध्नाति चारित्रमोहनीय च । शरीरासक्त्या साधु सपरग्रहा भवति ॥१४४९॥

मायादोसा मायाए हृति मन्वे वि पुव्वणिदिदुहा ।

धम्मम्मि णिप्पिवासस्स होइ सो दुल्लहो धम्मो ॥१४५०॥

गा०—सुखमे आसक्त होनेसे, आलस्यसे और शरीरमे प्रतिबद्ध होनेसे जो शक्ति होने हुए भी शक्तिके अनुसार तप नहीं करता ॥१४४६॥ उसका परिणाम सुद्ध नहीं है । अतः शक्तिके अनुसार तपमे प्रवृत्ति न करने वाला मायाचारी है । तथा सुख और शरीरमे आसक्ति होनेसे उसको धर्ममे तीव्र श्रद्धा नहीं है ॥१४४७॥

गा०—जो शक्तिके अनुसार तपमे तत्पर नहीं है वह आत्माको ठगता है और अपनी शक्ति-को छिपाता है । तथा सुखमे आसक्त होनेसे असातवेदनीयको बांधता है जो अनेक भवोमे दुःख-दायी है ॥१४४८॥

आलस्यके दोष कहते हैं—

गा०—आलसी होनेसे वह वीर्यान्तराय और चारित्र मोहनीय कर्मका धन्य करता है । तथा शरीरमे आसक्ति रखनेसे वह साधु परिग्रही होता है ॥१४४९॥

‘मायादोसा’ मायादोषा सर्वेऽपि पूर्वनिदिष्टा । मायाया तपसि स्वशक्तिनिगूहनलक्षणाया भवन्ति
किं च धम्ममि धर्मे तपोलक्षणे । निष्पिदासस्स अनादरस्य जन्मान्तरे दुर्लभो भवति धर्मे ॥१४५०॥

दोषान्तरमपि निगदति—

पुञ्चत्तवगुणाण चुको ज तेण वचिओ होइ ।

विरियणिगूही वधदि माय विरियतराय च ॥१४५१॥

पुञ्चत्तवगुणाण पूर्वोक्तमवरनिर्जरा चेत्येवमादिभिस्तप माध्यंरपकारैः । ‘वुरस्सो’ न्यून । ‘ज’
यस्मान् । ‘तेण’ तेन तप साध्यापकाराच्युतत्वेन । ‘वचिदो होइ’ वञ्चितो भवति । विरियणिगूही वधदि
माय’ वीर्यमवरणपरा वध्नाति मायाकर्म ‘विरियतराय च’ वीर्यान्तराय च ॥१४५१॥

तवमकरितस्मेदे दोसा अण्णे य होति सतस्स ।

होति य गुणा अणेया सत्तोए तव कुणतस्स ॥१४५२॥

‘तवमकरितस्स’ तपस्यनुद्यतन्येमे दोषा अन्ये च भवन्तीति ज्ञातव्या । भवन्ति चानेकगुणा शक्या
तपसि वनमानस्य ॥१४५२॥

तपोगुणप्रख्यापनायोगप्रबन्ध —

इह य परत्त य लोए अदिमयपूयाओ लहइ मुतवेण ।

आवज्जिज्जति तहा देवा वि मइदिया तवमा ॥१४५३॥

इह जन्मनि परत्र च तपसा सम्यक् कृतेन अतिसवपूजा लभ्यते । आवर्ज्यन्ते च तपसा देवा
सन्ध्या ॥१४५३॥

अप्पो वि तवो बहुग कल्लाण फलइ सुप्पओगकदो ।

जह अप्प वडयीअं फलइ वडमणैयपागेह ॥१४५४॥

गा०—तपमें अपनी शक्तिको छिपाने रूप मायाचारमें वे मग्न दोष होते हैं जो पूर्वमें माया-
के दोष कहे हैं । जो धर्ममें अनादर भाव रखता है उसको दूसरे जन्ममें धर्मको प्राप्ति दुर्लभ होती
है ॥१४५०॥

अन्य दोष भी कहते हैं—

गा०—पूर्वमें जो तपके द्वारा साध्य सबर निर्जरा इत्यादि उपकार कहे हैं उनमें च्युत होने
में वह उनमें वचिन होता है । और अपनी शक्तिको छिपानेसे मायाकर्म और वीर्यान्तराय कर्मका
बन्ध करता है ॥१४५१॥

गा०—जो तपमें तत्पर नहीं होता उसको ये दोष तथा अन्य दोष होते हैं और जो शक्तिके
अनुसार तप करता है उसमें अनेक गुण होते हैं ॥१४५२॥

आगे तपके गुण कहते हैं—

गा०—सम्यग्दर्शने तप करनेमें इस जन्ममें और परजन्ममें मानिष्य पूजा प्राप्त होती
है । तथा तपमें इन्द्रमहिम मग्न देव भी विनय करते हैं ॥१४५३॥

‘अप्योवि तथो अल्पमपि तप मटाकन्याण फलति सुसयमनिष्पन्न । मुष्टु प्रमुज्यते प्रवत्यतेजनेति च विग्रहे सयम सुप्रयोगाब्देनोच्यते । यथा अल्पमपि बटबीज फलति बटमनेत्रप्ररोह अप्यमपि पृथुल फल-
दायित्व इत्येतदाख्यातमनया ॥१४५४॥

मुट्ठु कदाण वि मस्सादीण विग्घा हवति अदिवहुगा ।

सुट्ठु कदस्स तवस्स पुण णत्थि कोड वि जए विग्घो ॥१४५५॥

‘मुट्ठु क्वाण वि’ सम्यक् कृतानामपि कस्यादीना अतीव विघ्ना भवन्ति । तपस पुं सम्यक् कृतस्य जगति न कश्चिद् विघ्न फलदाने । निविघ्नफलदायिक् तपसो महात्म्य न्यतितम् अनया ॥१४५५॥

जणमरणादिरोगादुरस्म सुतवो वरोसध होटि ।

रोगादुरस्म अदिविरियमोसधं मुप्पउत्त वा ॥१४५६॥

‘जणमरणादिरोगादुरस्म’ जन्ममरणाद्यापीडितस्य सुतपो वरोपध भवति । रोगपीडितस्य सुप्रयुक्त-
मतिवीर्यमौषधमिव । जन्ममरणादीना विनाशकत्वं सत्कारणकर्मविनाशादनेनाख्यायने ॥१४५६॥

सत्तारमहाडाहेण डज्झमाणस्म होड सीयधरं ।

सुतवोदाहेण जहा सीयधर डज्झमाणस्म ॥१४५७॥

‘सत्तारमहाडाहेण’ सत्तारमहादाहेन दह्यमानस्म तपो भवति जलगृह । यथा दह्यमानस्य सूर्यागु-
भिर्धारागृहम् । सामारिकदु स्त्रिमू लवकारिता तपसोऽनेन सूच्यते ॥१४५७॥

णीयल्लओ व सुतवेण होड लोगस्म सुप्पिओ पुरिसो ।

मायाव होड विस्समणिज्जो सुतवेण लोगस्स ॥१४५८॥

गा०—टी०—सम्यक् सयमपूर्वक किया गया थोडा भी तप बहुत करवाणकारी होता है ।
गाथामे सुप्रयोग शब्दमे ‘जिसके द्वारा मुष्टुरूप प्रवर्तित होता है’ इस विग्रहके अनुसार सयम
लिया गया है । जैसे छोटान्हा भी बटबीज अनेक शाखा प्रशाखासि पूर्ण बटवृक्षरूपसे फलता है
उसी प्रकार थोडा भी तप बहुत फल देता है । यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५४॥

गा०—धान्य आदिकी खेती बहुत सावधानतासे परिश्रमपूर्वक करनेपर भी उममें बहुत
विघ्न आते हैं । किन्तु सम्यक् रूपसे किये गये तपके फल देनेमे कोई विघ्न नहीं आता । निविघ्न
फल देना तपका महात्म्य है यह इस गाथाके द्वारा कहा है ॥१४५५॥

गा०—टी०—जैसे रोगमे पीडित पुरुषके लिए यत्नपूर्वक दी गई अति शक्तिशाली औषध
होती है । उसी प्रकार जन्ममरण आदि रोगमे पीडितकी श्रेष्ठ औषध तप है । तप करनेसे
जन्ममरणके कारण कर्मोंका विनाश होता है । इसमे तपको जन्ममरण आदिवा विनाशक कहा
है ॥१४५६॥

गा०—समारम्भी महादाहेमे जलने हुए प्राणीके लिए तप जलधर है, जैसे सूर्यकी किरणोंने
जलते हुए मनुष्यके लिए धाराधर होना है । तप सामारिक दुर्गोंको निमूल करता है, यह इससे
सूचित किया है ॥१४५७॥

‘गोपलओ व’ दन्धुरिव लोकेस्य नितरा प्रियो भवति पुरुष । गोभनेन तपसा सर्वजगत्प्रियता करोति तप इत्यनेन आस्थानम् । ‘मादाव होइ विससणिज्जो’ मातेव विश्वसनीयो भवति लोकेस्य । सर्वजगद्विदास्यत्वं तप सम्पादयनेन कथ्यते ॥१४५८॥

कल्लाणिडिडसुहाइ जावदियाइं हवे सुरणराणं ।

ज परमणिव्वुदिसुह व ताणि सुतवेण लब्धवति ॥१४५९॥

‘कल्लाणिडिडसुहाइ’ कल्याणानि स्वर्गावतरणादीनि श्रद्धयो विभूतपद्मचक्रलाञ्छनाना अर्द्धचक्रवर्तिना सुखानि च यानि देवाना मनुष्याणा च, यच्च परमनिर्वृत्तिसुखं तानि गोभनेन तपसा लभ्यन्ते ॥१४५९॥

कामदुहा वरघेणू णरस्स चिन्तामणिव्व होइ तओ ।

तिलओव्व णरस्स तओ माणस्स विहूसणं सुतओ ॥१४६०॥

‘कामदुहा’ कामदुघा वरघेणु, चिन्तामणिरुच तप यदभिलषितं तस्य दानात् । तिलनाल्यालङ्कारो नरस्य गोभन तप, मानस्य विभूषणं च । तपसा हि सर्वेण जगता मान्यस्य मानं गोभते इति ॥१४६०॥

होइ सुतओ य दीओ अण्णाणतमघयागचारिस्स ।

सन्वावत्थासु तओ वट्ठादि य पिदा व पुरिमस्स ॥१४६१॥

होइ सुतओ य दीओ’ सम्भवत्तप प्रदीपो भवति अज्ञाननमसि महति सचरत । एतेन जगतोऽज्ञानास्य तमो विनाशयति तप इति सूचित । सर्वावस्थाम् हिते तपो वन्ते पितेव पुत्र ॥१४६१॥

विसयमहापकाउलगड्डाए सकमो तवो होइ ।

होइ य णावा तरिदु तवो कसायातिचवलणदिं ॥१४६२॥

गा०—सम्यक् तप करनेमें पुरुष दन्धुकी तरह लोगोंको प्रिय होता है । इससे यह कहा है कि सम्यक् तपसे मनुष्य सब जगत्का प्रिय होता है । तथा सम्यक् तपसे मनुष्य माताकी तरह लोकका विश्वासभाजन होता है । इसमें तपसे सर्वजगत्का विश्वासपान होना कहा है ॥१४५८॥

गा०—स्वर्गसं अवतरित होना आदि पाच कल्याणक, चक्रवर्ती और अर्धचक्रियोंकी विभूतिर्था तथा देवों और मनुष्योंके जितने सुख हैं, तथा जो मोक्षवा परम सुख है वह सब सम्यक् तपसे प्राप्त होने हैं ॥१४५९॥

गा०—टी०—जो चाहो वह तपसे मिलता है इसलिए सम्यक् तप मनुष्यके लिए कामधेनु और चिन्तामणि रत्नके समान है । तथा मनुष्यके मन्तकपर शोभित होनेवाले तिलक नामक अलंकारके समान है और मानका विशिष्ट भूषण है अर्थात् तपसे सर्वजगत्के द्वारा मान्य पुरुषका मान शोभित होता है ॥१४६०॥

गा०—अज्ञानरूपी घोर अन्धकारमें विचरण करनेवालेके लिए सम्यक् तप दीपकके समान है । इसमें सूचित किया है कि तप जगत्के अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करता है । तथा सम्यक् तप सब अवस्थाओंमें पिताकी तरह पुरुषको हितमें लगाता है ॥१४६१॥

गा०—यह विषय महान् कोचहने भरे गर्नेक समान हैं क्योंकि उसमें निकलना बहुत कठिन

‘विस्रममहापकाउल्लङ्घाए’ विषयो महापकाकुलगतं इव दुस्तरत्वान् । तस्मिन् मन्त्रो भवति । तदुत्तरणहेतुर्भवति तप । तपो नौरुल्लघयितुं कपायान्निचपलनदी ॥१४६२॥

फलिहो व दुग्गदीण अणोयदुक्खावहाण होइ तवो ।

आमिसतण्हाछेदणममत्थमुट्ठकं व होइ तवो ॥१४६३॥

‘फलिहो व दुग्गदीण’ दुर्गतीना परिष इव । कीदृगा दुर्गतीना ? अनेकदुःखावहामा । किं च विषय-
तृष्णाच्छेदनमर्थं च तप उदरुमिव तृष्णाच्छेदने ॥१४६३॥

मणदेहदुक्खवित्तामिदाण सरणं गदी य होइ तवो ।

होइ य तवो सुतित्थ सच्चासुहटोसमलहरण ॥१४६४॥

‘मणदेहदुक्खवित्तामिदाण’ मानमाना शरीराणा दुग्धाना ये विनस्ताम्येता शरण गतिश्च तप ।
भवति च तपस्तीर्थं सर्वाङ्गभदोयमलनिरामकारि ॥१४६४॥

मसारविममदुग्गे तवो पण्डुस्स देमओ होइ ।

होइ तवो पच्छयणं भवक्ताग्गि दिग्घग्गि ॥१४६५॥

‘मसारविममदुग्गे’ मसारो विषमदुर्गं इव दुष्प्राप्यधीयन्वान् । तस्मिन्प्राप्यष्टस्य दिद्दुट्ठस्य । ‘तवो देमओ होइ’ तप उपदेष्टा भवति । मसारविषमदुर्गमुत्तारयतीति । ‘होइ तवो पच्छयणं’ भवति तप पश्यवन ‘भव-
क्ताग्गि’ भवादव्या । ‘दिग्घग्गि’ दीर्घे ॥१४६५॥

रक्खा भएनु सुतवो अब्भुदयार्णं च आगरो सुतवो ।

णिस्सेणी होइ तवो अक्खयमोक्खस्स मोक्खस्स ॥१४६६॥

‘रक्खा भएनु सुतवो’ भयेषु रक्षा सुतप । अभ्युदयाना वाक् सुतप मोक्षस्य अक्षयसुखस्य निध-
मो भवति तप ॥१४६६॥

है । तप उसमें निकलनेमें कारण है । तथा तप कपायरूप अति चपल नदीको पार करनेके लिए नौका है ॥१४६२॥

गा०—अनेक दुःखदायी दुर्गतियोंके लिए तप अर्गलके समान है । तथा विषयोंकी तृष्णाको नष्ट करनेके लिए जलके समान है । जैसे जलमें प्यास बुझ जाती है वैसे ही तपमें विषयोंकी प्यास बुझ जाती है ॥१४६३॥

गा०—जो मानसिक और शारीरिक दुःखोंमें पीड़ित है उनके लिए तप शरण और गति है । तप सर्व अङ्गुभ दोषरूप मलको दूर करनेवाला तीर्थ है ॥१४६४॥

गा०—यह मसार विषम दुर्गके समान है क्योंकि उसमें निवलना कठिन है । उस मसार-
रूपी दुर्गमें जो दिशा भूल गये हैं उनके लिए तप उपदेगक है अर्थात् मसाररूपी विषम दुर्गसे निवलनेका मार्ग बतलाकर उसमें निकालना है । तथा मुदीर्घ भवरूपी भयानक वनमें कलेवाके समान सहायक है ॥१४६५॥

गा०—अभ्युदय तप भयमें रक्षा करता है, अभ्युदयोकी शान है और अविनाशी सुख-
स्वरूप मोक्षमें जानेके लिए नौका है ॥१४६६॥

त णत्थि ज ण लब्भइ तवमा मम्म कएण पुरिसस्स ।

अग्गीव त्थणं जल्लिओ कम्मत्तणं दहदि य तवग्गी ॥१४६७॥

‘तण्णसिं’ सन्नास्ति यन्न लभ्यते तपसा मम्यकृत्येन । तपोऽग्निं कर्मतृष दहति तृषमिवानि प्रज्वलित ॥१४६७॥

सम्म रुद्धम्म अपरिस्मवस्स ण फलं तवस्स वण्णेदु ।

कोइ अत्थि समत्थो जस्स वि जिन्मासयमहस्स ॥१४६८॥

‘सम्म कवस्स सम्यक् कृतस्य निराभयस्य तपस फलं वर्णयितुं न कश्चित्पमर्षोऽस्ति जिह्वाशतसहस्रं यक्षयन्ति ॥१४६८॥

एव णादूण तव महागुणं सजमम्मि ठिच्चाणं ।

तवसा भावेदव्वा अप्पा णिच्च पि जुत्तेण ॥१४६९॥

‘एव णादूण एव ज्ञात्वा तपो महोपकारि सयमे स्थित्वा तपसा भावयितव्य आत्मा नित्यमपि उपयुज्यते ॥१४६९॥

जह गहिदवेयणो वि य अदयाकज्जे णिउज्जदे भिच्चो ।

तह चेव दमेयव्वो देहो म्मुणिणा तवगुणेसु ॥१४७०॥

‘जह गहिदवेयणो वि य’ यथा गृहीतवेतनोऽपि न दयाकायं नियुज्यते भूतक । तथैव दमित्तव्यो देहो मुनिना तपोगुणेषु । उत्तरगुण ॥१४७०॥

इच्चेव समणघम्मो फहिदो मे दसविहो मगुणदोसो ।

एत्थ तुममप्पमत्तो होहि ममण्णागदमग्धीओ ॥१४७१॥

गा०—ससारमे ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो सम्यक्-रूपसे किये गये तपके द्वारा न प्राप्त होता हो । जैसे प्रज्वलित आग तृणको जलाती है वैसे ही तपटपी आग कर्मटपी तृणोंको जलाती है ॥१४६७॥

गा०—सम्यक्-रूपसे किये गये और कर्मान्वयसे रहित तपके फलका वर्णन करनेमें जिसके एक हजार जिह्वा हो वह भी समर्थ नहीं है ॥१४६८॥

गा०—इस प्रकार तपको महान् उपकारी जानकर सयममे स्थित सयमीजनोंको नित्य ही उपयोग लगाकर आत्मामे तपकी भावना करनी चाहिए ॥१४६९॥

गा०—जैसे वेतन लेनेवाले सेवकको कार्यमें नियुक्त करते समय उसपर दया नहीं की जाती । उन्ही प्रकार मुनिको अपने शरीरको तप-रूप गुणमें लगाना चाहिए । अर्थात् जब शरीर को भोजन-रूपी वेतन दिया जाना है उसपर दया न करके उसको तपकी माघनामें लगाना चाहिए ॥१४७०॥

‘इच्छेव समणधम्मो’ इत्येव श्रमणधर्मं दशविधं मनुष्यदोषं कथितो भया । ‘एत्थं तुममपमत्तो होहि’
अत्र दशविधे धर्मे त्वमप्रमत्तो भव, समागतस्मृतिक इति गणिना स्वशिक्षापरिममत्तिरावसिता ॥१४७१॥

तो खवगवयणकमलं गणिरविणो तेहिं वयणरस्सीहि ।

चित्तप्पमायविमलं पफुल्लिद पीदिमयरदं ॥१४७२॥

‘तो खवगवयणकमल’ तत्र शिक्षानन्तरं तस्य क्षपकस्य वदनकमलं प्रफुल्लितं मृगधर्मरश्मेन्तैर्ब-
चनरदिभिः विलसन्नादविमलं प्रीतिमकरद ॥१४७२॥

वयणकमलेहिं गणिअभिमुहेहिं सा विमियच्छिपत्तेहिं ।

सोभइ इह सरोदयस्मि फुल्लं व णलिणिवणं ॥१४७३॥

‘वयणकमलेहिं’ वदनकमलं यतीनां गणिनोऽभिमुखे विस्मिताक्षिपत् सा सभा शोभा बहदि स्म ।
मूर्योदये पुष्पितनलिनवनमिव ॥१४७३॥

गणिउवएमामयपाणएण पन्हादिदम्मि चित्तम्मि ।

जाओ य णिव्वुदो सो पादूणय पाणय तिसिओ ॥१४७४॥

गणिउवएमामयपाणएण’ गणिन उपदेशामृतपानकेन प्रह्लादिते चित्ते जातोऽग्रे क्षपकं मुमुक्षुं निर्वृतं
तुयितं पानकं पीत्वेव ॥१४७४॥

तो सो खवओ त अणुसद्धिं मोऊण जादसवेगो ॥

उट्ठित्ता आयरिय वदइ विणएण पणदगो ॥१४७५॥

गा०—इम प्रकार हे क्षपक । मैंने गुणदोषोंके विवेचनपूर्वकं दस प्रकारके श्रमण धर्मका
कथन किया । उसको स्मरण करके तुम दस प्रकारके धर्ममें अप्रमादी होओ । इस प्रकार निर्पा-
पकाचार्यने अपनी शिक्षाकी समाप्ति सूचित की है ॥१४७१॥

गा०—इस शिक्षाके अनन्तर उस क्षपकका मुखरूपी कमल आचार्यरूपी मूर्त्यके वचनरूपी
किरणोंसे प्रफुल्लित हो जाता है, चित्तके प्रसन्न होनेसे उस मुख कमलकी विरूपता चली जाती
है और उसमें प्रीतिरूपी पुष्परस झरने लगता है ॥१४७२॥

गा०—जैसे सूर्यके उदय होनेपर सिला हुआ कमलोका वन शोभित होता है उसी प्रकार
आचार्यके अभिमुख हुए मनुष्योंके मुख कमलोंसे, जो आश्चर्ययुक्त नेत्ररूपी पत्रोंमें मयुक्त होते हैं,
वह मुनिमत्ता शोभित होती है ॥१४७३॥

गा०—आचार्यके उपदेशरूपी अमृतका पान करके चित्तके आह्लादयुक्त होनेपर क्षपक
वैसा ही सुखी होता है जैसा प्यासा अमृतमय पानक पीकर होता है ॥१४७४॥

गा०—उनके पदचान् वह क्षपक आचार्यका उपदेश सुनकर वैराग्यमें भर जाना है और
उठकर अगोको नम्र करके विनयपूर्वक आचार्यको वन्दना करता है ॥१४७५॥

१ हि विमि-आ० । आचर्य्यदत्त्यपत्तेहिं-मु० । २ सोमदि मममा म्-मु० । ३ विस्नु-
माणि-मु० ।

‘तो सो ह्वगो’ ततोऽगो दायव सदनुदासन श्रुत्वा जातसवेग उत्थाय आचार्यं वदते विनयेन प्रणवाङ्ग ॥१४७५॥

भते सम्म णाण सिरसा य पडिच्छिदं मए एदं ।

ज जह उच्च त तह^१ करेमि विणओ तदो भणइ ॥१४७६॥

‘भते सम्म णाण’ भगवन् सम्यग्ज्ञानं पतच्छिरसा मया परिगृहीत । दद्यपोक्तं भवद्भिस्तथा करिष्यामि इति वदति ॥१४७६॥

अप्पा निच्छरदि जहा परमा तुट्ठी य हवदि जह तुज्झ ।

जह तुज्झ य सघस्स य मफलो य परिस्समो होइ ॥१४७७॥

‘अप्पा निच्छरदि जहा’ अहं यथा निस्तीर्णो भवामि समाप्तात् । यथा युष्मान् परमा तुष्टिर्भवेति । भवता सघस्य चास्मदनुग्रहे प्रवृत्तानां धर्मस्य फलं भवति ॥१४७७॥

जह अप्पणो गणस्स य सघस्स य विस्सुदा हवदि कित्ती ।

मघस्स पसायेण य तदह आराहइस्सामि ॥१४७८॥

‘जह अप्पणो गणस्स य’ यथा मम गणस्य सघस्य च कीर्तिविश्रुता भवति तथाहमागधयिष्यामि सघस्य प्रसादेन ॥१४७८॥

वीरपुरिसेहिं ज आयरियं ज च ण तरति कापुरिसा ।

मणसा वि विचिंतेदु तमह आराहण काह ॥१४७९॥

‘वीरपुरिसेहिं वीरं पुरंपर्यां आचरिता, या च न शक्नुवन्ति वापुरया मनसापि विगतयितुं तादृशीमाराधनामहं करिष्यामि ॥१४७९॥

गा०—और कहता है—भगवन् । मैंने आपके द्वारा दिया सम्यग्ज्ञान सिर नवाकर स्वीकार किया । आपने जो-जो जिस प्रकार कहा है मैं वैसा ही करूँगा ॥१४७६॥

गा०—जिस प्रकारसे मैं ससारमें पाग़ उनहूँ, जिस प्रकारसे आपको परम सन्तोष हो, मेरे कल्याणमें मलग्न आपका और मधका परिश्रम जिस प्रकारसे मफ़्त हो ॥१४७७॥

गा०—जिस प्रकार मेरी और सधकी कीर्ति फैले, मैं मधकी वृषामें उस प्रकार रत्नधनकी आराधना करूँगा ॥१४७८॥

गा०—वीर पुरषोंने जिसका आचरण किया है, कायग पूरप जिसकी मनमें कल्पना भी नहीं कर सकते, मैं ऐसी आराधना करूँगा ॥१४७९॥

एव तुज्ज उवएमाभिदमामाडदत्तु को णाम ।

वीहेज्ज छुहादीणं मरणम्स वि ञायमे वि णरो ॥१४८०॥

‘एव तुज्ज’ एव भवतामुपदेयामृतमास्वाद्य को नाम विमेनि कातरोग्गणि नर क्षुधादीना मृत्यो-
र्वा ॥१४८०॥

किं जंपिएण ब्रह्मणा देवा वि सडदिया मह विग्घ ।

तुम्हं पादोवग्गहगुणेण काटु ण अग्हंति ॥१४८१॥

‘किं जंपिएण ब्रह्मणा’ किं ब्रह्मणा जन्मितेन देवा अपि शतमलप्रमुखा मम विघ्न क्तु असमर्था भव-
त्पादोपग्रहणगुणेन ॥१४८१॥

किं पुण छुहा व तण्हा परिस्समो वादियादि रोगो वा ।

काहंति ज्ञाणाविग्घ इदियविसया कसाया वा ॥१४८२॥

‘किं पुण किं पुन कुवन्ति ध्यानम्य विघ्न क्षुधा, तृषा वा, परिश्रमो वा, वातिकादिगता वा
इन्द्रियाणा विषया, कषाय वा ॥१४८२॥

ठाणा चलेज्ज मेरू भूमी ओमच्छिया भविस्सिहिदि ।

ण य ह मच्छमि विगदि तुज्ज पायप्पमाएण ॥१४८३॥

‘ठाणा चलिज्ज’ स्वप्नारस्यान्नाच्चलिष्यति मेरु । भूमि परावृतमस्तका भविष्यति । नाह विवृति
गमिष्यामि भवता पादप्रसादेन ॥१४८३॥

एव खवओ मथारगओ खवइ विरिय अगूइतो ।

देदि गणी वि सदा से तह अणुसट्ठि अपरिदतो ॥१४८४॥

समाप्तमनुशासनम् ॥१४८४॥

गा०—आपके इस प्रकारके उपदेयामृतको पीकर कौन कायर भी मनुष्य भूमि प्यास और
मृत्युसे डरेगा ॥१४८०॥

गा०—अधिक मैं क्या कहूँ, आपके चरणोंके अनुग्रहमे इन्द्रादि प्रमुख देव भी मेरी
आगधनामें विघ्न नहीं कर सकते ॥१४८१॥

गा०—तब भूख, प्यास, परिश्रम, वातादि जन्य रोग, अथवा इन्द्रियोंके विषय और
कषाय ध्यानमे विघ्न कैसे कर सकते हैं ॥१४८२॥

गा०—सुमेरु अपने स्थानमे विचलित हो जाये और पृथ्वी उलट जाये किन्तु आपके
अनुग्रहमे मैं विकारमे विचलित नहीं होऊँगा ॥१४८३॥

गा०—इस प्रकार क्षणक मन्तर पर आसुट होकर अपनी शक्तिको न छिपाकर पूर्वाभाजिन
अनुम कर्म को निर्जरा करता है और आचार्य भी बिना विरक्त हुए उसे सदा सन् शिक्षा देना
है ॥१४८४॥

सारणेत्येतत्पदव्याख्यानमुत्तरम्—

अकडुगमतिचयमणविलच अकसायमलवणममधुरं ।

अविरस'मदुरभिगघ अच्छमणुण्ह अणदिसीद ॥१४८५॥

‘अकडुग’ अकटुव, अतिवक्त, अनाम्ल, अकपाय, अलवण, अमधुर, अविरस, अदुरभिगघ, स्वच्छ-
मणुण्मणीत ॥१४८५॥

पाणगमसिभल परिपूय खीणस्स तस्स दादन्वं ।

जह वा पच्छ खवयस्स तस्म तह होड दायन्व ॥१४८६॥

‘पाणगमसिभल’ पानकमद्वेष्मकारि परिपूत क्षीणाय सपकाय दातव्य । यद्याभूत वा सपकस्य तस्य
पथ्य तथाभूत दातव्यम् ॥१४८६॥

सथारत्थो खवओ जडया खीणो हवेज्ज तो तडया ।

वोसरिदब्बो पुव्वविधिणेव सोपाणगाहारो ॥१४८७॥

‘सथारत्थो’ गस्तरस्य क्षपको यदा क्षीणो भवेत्तदा व्युत्पुष्टव्योऽसौ पानकविकल्प पूर्वविधि-
नैव ॥१४८७॥

एव सथारगदस्स तस्म कम्मोदएण खवयस्स ।

अये कत्थइ उट्ठिज्ज वेयणा ज्झाणविग्घपरि ॥१४८८॥

‘एव सथारगदस्स’ एव सस्तरगतस्य क्षपकस्य कर्मोदयेन स्वविदुष्टेनोपगम्यते ध्यानविघ्न-
कारिणी ॥१४८८॥

अब पूर्व गाथामे आगत ‘सारण’ पदका व्याख्यान करते हैं—

गा०—टी०—क्षपको दिया जानेवाला पानक कटुक, चरपरा, खट्टा, कसैला, नमकवाला, मीठा, स्वादयुक्त और दुर्गन्ध युक्त नहीं होना चाहिये अर्थात् वह न कटुक हो, न चरपरा हो, न खट्टा हो, न कसैला हो, न नमकसे युक्त हो, न मीठा हो, तथा स्वादहीन और दुर्गन्धयुक्त भी न हो । स्वच्छ हो, न गर्भ हो और न ठंडा हो ॥१४८५॥

गा०—कफ पैदा करने वाला न हो । कफसे छान लिया गया हो । इस प्रकार कमजोर क्षपको ऐसा पेय देना चाहिये जो उसके लिये पथ्य हो, अर्थात् समाधिमें विघ्न डालने वाला न हो ॥१४८६॥

गा०—जब मस्तरारूढ क्षपक अतिक्षीण हो जाये तब पूर्वविधिमें पानकका त्याग करा देना चाहिये ॥१४८७॥

गा०—इस प्रकार मस्तरारूढ क्षपकके कर्मके उदयसे किसी अगमे ध्यानमें विघ्न डालने वाली वेदना यदि उत्पन्न हो जाये ॥१४८८॥

बहुगुणसहस्रभरिया जदि णावा जम्ममायरे भीमे ।

भिज्जदि हु रयणभरियाणावा व समुदमज्झमि ॥१४८९॥

‘बहुगुणसहस्रभरिदा’ बहुभिर्गुणसहस्रं, सम्पूर्णा यतिनीजन्मसागरे भीमे यदि भेदमुपेयान रत्नपूर्णा नीरिव समुद्रमध्ये ॥१४८९॥

गुणभरिद जदिणाव दट्ठण भवोदधिम्मि भिज्जत ।

कुणमाणो हु उवेक्ख को अण्णो हुज्ज णिद्धम्भो ॥१४९०॥

‘गुणभरिद जदि णाव’ गुणै पूर्णै यतिनाव भवसमुद्रमध्ये भिद्यमाना दृष्ट्वा य करात्पूरका तस्मात्कोज्यो भवेद्धर्मनि क्रान्त ॥१४९०॥

विज्जावच्चस्स गुणा जे पुव्व वित्थरेण अक्खादा ।

तेमि फिडिओ सो होड जो उक्किस्सज्ज त खवय ॥१४९१॥

वेदभावच्चस्स गुणा वैवावृतस्य गुणा ये पूव विस्तरेण व्याख्यातास्तेभ्य प्रच्युतो भवति य उपेक्षणे क्षपक ॥१४९१॥

तो तस्स तिग्गिछाज्जाणएण खवयस्स सव्वमचीए ।

विज्जादेसेण व से पडिक्कम्म होड कायव्व ॥१४९२॥

‘तो तस्स’ ततस्तस्य क्षपकस्य चिकित्सा जानता सर्वशक्त्या प्रतिकर्म कर्तव्य वैद्यस्य बोधेन ॥१४९२॥

णाऊण विकार वेदणाए तिम्ले करेज्ज पडियार ।

फासुगद्व्वेहिं करेज्ज वायकफपित्तपडिघाद ॥१४९३॥

‘णाऊण विकार’ शाखा विकार तस्या वेदनाया तत प्रतिकार कुर्यात् । योर्व्यद्व्यैर्वातिकरूपित-प्रतिपात ॥१४९३॥

गा०—समुद्रके मध्यमे रत्नांमे भरी नावकी तरह हजारो गुणोसे भरी यतिरूपी नौका यदि भयकर समारम्भागरमे डूबने लगे ॥१४८९॥

गा०—गुणोसे भरी नावको ससार-समुद्रमे डूबते हुए देखकर यदि कोई उपेक्षा करता है तो उसमे बड़ा अधार्मिक दूसरा कौन होगा ॥१४९०॥

गा०—जो क्षपककी उपेक्षा करता है वह पूर्वमे जो वैवावृतके गुण विस्तारमे कहे हैं उनमे च्युत होता है ॥१४९१॥

गा०—अत उम क्षपकके रोगकी चिकित्सा जाननेवाले निर्यापकाचार्यको स्वयं अथवा वैद्यके पद्ममार्गमे सर्वशक्तिके साथ इलाज करना चाहिये ॥१४९२॥

गा०—उम क्षपककी वेदनावे प्रिवारको जानकर प्रासुक द्रव्योसे वान, पित्त और कफको रोकनेवाला प्रतिकार करना चाहिये ॥१४९३॥

वच्छेदीहि अवह्वणतावणेहि आलेवमीदकिरियाहि ।

अभगणपरिमहण आदीहि तिगिछटे खवयं ॥१४९४॥

‘वच्छेदीहि’ वस्तिवर्मभिः अवह्वणतावणेहि’ ऊष्मकरणतापने, आलेपनेन, शीतत्रिपदा, जम्बूज-परिमर्दनादिभिश्च चिकित्सते क्षपक ॥१४९४॥

एव पि कीरमाणो परियम्मे वेदणा उवममो सो ।

खवयस्स पावकम्पोदएण तिव्वेण हु ण होज्ज ॥१४९५॥

एव पि कीरमाणो ‘तीक्ष्णारे क्षपकस्य वेदनोपशम’ तीक्ष्णेण पापकर्मोदयेन’ तापि भवेदपि, नहि बहिर्द्रव्य-माहात्म्येनैव कर्मणि स्वफल न प्रयच्छन्ति । तदेव हि बहिर्द्रव्य एकस्य वेदना प्रणमयति नापरस्यैति प्रतीत-तरमेतद् ॥१४९५॥

अहवा तण्हादिपरीमहेहि खवओ हविज्ज अभिभूदो ।

उवमग्गेहि व खवओ अचेदणो होज्ज अभिभूदो ॥१४९६॥

अहवा तण्हादिपरीमहेहि’ अथवा तृडादिभिः परीपहेरभिभूतो भवेत्क्षपक, उपमर्गैर्भिभूतो निश्चेतन स्यात् ॥१४९६॥

तो वेदभावसङ्को वाउलिदो वा परीमहादीहि ।

खवओ अणप्पवमिओ सो विप्पलवेज्ज ज किं पि ॥१४९७॥

तो वेदभावसङ्को’ ततो वेदनावशातो व्याकुलित परीपहेरसर्वे क्षपकोज्जावनात्मवशो विप्रलयेष्वपि किञ्चित् ॥१४९७॥

गा०—वस्तिवर्म (एनिमा) गर्भ लोहेमे दागना, पसीना लाना, लेप लगाना, प्रासुक जलका सेवन कराना, मास्त्रि, अगमर्दन आदिके द्वारा क्षपककी वेदना दूर करना चाहिये ॥१४९४॥

गा०—इस प्रकार प्रतीकार करने पर भी तीव्र पाप कर्मके उदयमे यदि क्षपककी वेदना शान्त न हो । क्योंकि केवल ‘बाह्य’ द्रव्यके प्रभावमे ही कर्म अपना फल न दे, ऐसी बात नहीं है । वही बाह्य द्रव्य एककी वेदना शान्त करता है दूसरेकी नहीं करता । यह तो अनुभवसिद्ध है ॥१४९५॥

गा०—अथवा क्षपक प्यास आदिकी वेदनासे अभिभूत हो जाय या उपसर्गोंसे पीड़ित होकर मूर्छित हो जाय ॥१४९६॥

गा०—या वेदनासे पीड़ित और परीपह उपसर्गोंने व्याकुल होकर क्षपक अपने चगमे न रहे और जो कुछ भी बचने लगे ॥१४९७॥

उन्मासेज्ज व गुणसेहीदो उदरणवुद्धिओ खवओ ।

छट्ठ दोच्च पढम व सिया कुटिलिदपदमिछतो ॥१४९८॥

‘उन्मासेज्ज’ वदेद्वायोग्य, मयमगुणश्रेणिन इत्तावतरणवुद्धि ‘छट्ठ’ रात्रिभोजन, ‘दोच्च’ पाण, दिवमे ‘पढम व’ अग्रन वा । ‘सिया’ कदाचिन् । ‘कुटिलिदपदमिछतो’ स्वलापद इच्छन् ॥१४९८॥

तह मुज्झतो खवगो सारेदब्बो य सो तओ गणिणा ।

जह भो विसुद्धलेस्सो पच्चागदच्चेदणो होज्ज ॥१४९९॥

‘तह मुज्झतो खवगो’ मोहमपगच्छन् क्षपवस्तथा सारयितव्योऽग्रे तेन गणिता । कथं ? यथा विमुद्ध-
लेश्यो भवति प्रत्यागतचेतनश्च ॥१४९९॥

सारणोपाय कथयति—

कोसि तुम किं णामो कत्थ वससि को व सपही कालो ।

किं कुणसि तुम कह वा अत्थसि किं णामगो बाहं ॥१५००॥

‘कोसि तुम’ कस्य ? किं नामधेय ? ‘कत्थ वससि’ स्व वसति ? ‘को व सपही कालो’ को वेदानी
काल ? किमय दिवा रात्रिर्वा ? ‘किं कुणसि तुम’ किं करोषि भवान् ? ‘कथं वा अत्थसि’ कथं वा तिष्ठसि ?
‘किं णामगो बाहं’ अहं वा किं नामधेय ? ॥१५००॥

एव आउच्छित्ता परिकस्सेदु गणी तय खवय ।

सारइ वच्छलयाए तस्स य कवय करिस्संति ॥१५०१॥

‘एव आउच्छित्ता’ एवमनुपूरत सारयति गणी त क्षपक । किं सचेतनो निश्चेतन इति परीक्षितुकाम
वत्फलनया । यद्यन्ति चेतना कवचं करिष्यामीति मत्वा ॥१५०१॥

गा०—अयोग्य वचन कहे, या समयगुणकी सीढीसे नीचे उतरना चाहे, या निचले स्थानको
चाहते हुए रात्रि भोजन या रात्रिमे पानक लेना चाहे या दिनमे असमयमे भोजन करना
चाहे ॥१४९८॥

गा०—इस प्रकार जब क्षपक मोहमे पड़ जाये तो आचार्यको उसे सब पिछली बातोंका
स्मरण कराना चाहिये । जिसमे उसके परिणाम विशुद्ध हो और उसका यथार्थ ज्ञान लौट
आवे ॥१४९९॥

उसके उपाय कहते हैं—

गा०—तुम कौन हो ? तुम्हारा क्या नाम है ? कहाँ रहते हो ? इस समय दिन है या रात
है ? तुम क्या करते हो ? कहाँ बैठे हो ? मेरा क्या नाम है ॥१५००॥

गा०—इस प्रकार आचार्य उसकी परीक्षाके लिये कि यह मचेत अवस्थामे है या अचेत
अवस्थामे है, वात्सरय भावसे बार-बार उसे स्मरण कराते हैं । उनकी यह भावना रहती है कि
यदि यह सचेत है तो उसके समयकी रक्षा की जाये ॥१५०१॥

जो पुण एवं ण करिज्ज मारण तस्म विगलचक्खुस्स ।

सो तेण होड णिद्धघसेण खवओ पग्गित्तो ॥१५०२॥

‘जो पुण एव ण करिज्ज’ य पुनरेव न कुर्यात् मारण । स्थलितचित्तवृत्ते स क्षपकस्तेन परित्यक्तो भवति मूरिणा ॥१५०२॥

एव मारिज्जतो कोई कम्भुवसमेण लभदि सदि ।

तह य ण लब्धिज्ज मदि कोई कम्मे उदिण्णम्मि ॥१५०३॥

‘एव मारिज्जतो’ एव सार्यमाण करित् चारित्रमोहोपशमन असद्वेद्योपशमन वा स्मृति योग्या-
योग्यविषया लभते । अयुक्तेषु इच्छा सम अकाले भोक्तु पातु वा प्रत्याख्यात कथ कालेऽपि प्रार्थयामाति
माद्यमाणोऽपि । लभते स्मृति करित्कर्मण्युदीर्ण नो इन्द्रियमतिज्ञानावरण । सारणा ॥१५०३॥

सदिमलभतस्म वि कादच्च पडिक्कम्ममट्ठिय गणिणा ।

उवदेसो वि मया से अणुलोभो होदि कायव्वो ॥१५०४॥

‘सदिमलभतस्स वि’ स्मृतिमलभमानस्यापि गणिनाऽस्थित कर्तव्य । प्रतिवार, उपदेशोऽपि अनुकूल
मदा तस्य वर्तव्य ॥१५०४॥

चैयतो पि य कम्मोदयेण कोई परीसहपरद्धो ।

उब्भासेज्ज व उक्कावेज्ज व भिदेज्ज आउरो पदिण्ण ॥१५०५॥

‘चैयतो पि’ चेतयमानोऽपि कर्मोदयेन करित्परीषहपराजितो यत्किञ्चिद्वदेन् आरुहेत्, भिद्याद्वा स्वा
प्रत्याख्यानप्रतिज्ञा ॥१५०५॥

गा०—यदि आचार्य उम चलायमान चित्तवाले क्षपकको इस प्रकारसे स्मरण तही करावे
तो समझना चाहिये उम निर्दयीने उस क्षपकको त्याग दिया है ॥१५०२॥

गा०—इस प्रकार स्मरण दिलाने पर कोई-कोई क्षपक चारित्र मोह अथवा अमातावेदनीय
का उपशम होनेसे योग्य अयोग्यके विचारविषयक स्मृतिको प्राप्त होते हैं कि अकालमे खाने
पीनेकी इच्छा करना मेरे लिये योग्य नहीं है । जो मैं त्याग कर चुका उमे कालमे भी कैसे ग्रहण
करूँ ? आदि । किन्तु कोई नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण कर्मकी उदीरणा होनेपर स्मृति प्राप्त
नहीं करते ॥१५०३॥

गा०—स्मृतिको जो प्राप्त नहीं होता, उसके प्रति भी आचार्यको निरन्तर प्रतिकार
करते रहना चाहिये । तथा उसके अनुकूल उपदेश भी करते रहना चाहिये ॥१५०४॥

गा०—कोई क्षपक चेतनाको प्राप्त करके भी कर्मके उदयमे परीषहेमे हाकर यदि अयोग्य
वचन बोले, या रदन करे या अपनी व्रत प्रतिज्ञाको भंग करे तो भी उसके प्रति कटु वचन

ण ह्र सो कडुव फलसं व मणिदन्वो ण खीसिदन्वो य ।

ण य विचासेदन्वो ण य वड्ढि हीलणं कादु ॥१५०६॥

‘ण ह्र सो कडुव’ स एव कुर्वन्दापक न कर्तव्य कटुक पर्य वा, न भर्त्सनोय, न च शास नेतव्य,
न च युक्त परिभव ननु तस्य ॥१५०६॥

पर्यवचनादिभि को दोषो जायते इत्यत्रोच्यते—

फरुसवयणादिगेहिं दु माणी विप्फुरिओ तओ सतो ।

उद्धाणमवकरुमण कुज्जा असमाधिकरणं वा ॥१५०७॥

‘पर्यवचनादिगेहिं’ पर्यवचनादिभिर्मनी विराधित सन् ॥१५०७॥

तस्स पदिण्णाभे म भित्तुं इच्छतयस्स णिज्जवओ ।

सव्वापरेण कवय परीसहणिवारण कुज्जा ॥१५०८॥

‘तस्स पदिण्णाभे’ तस्य स्वप्रतिज्ञाभ्यवस्था भेतु वाञ्छतो निर्वाह सूरि कवच कुपति परीसहनि-
वारणक्षम ॥१५०८॥

णिद्ध मधुरं पन्हादणिज्ज हिदयंगम अतुरिद वा ।

तो सीहावेदन्वो सो खवओ पणवतेण ॥१५०९॥

‘णिद्ध’ स्नेहसहित, ‘मधुर’ श्रोत्रप्रिय, हृदयसुखविधायि, हृदयप्रवेगि, अस्वरित अतो सिद्धमित्य
क्षपक प्रज्ञापयता ॥१५०९॥

रोमादंके सुविहिद विउल वा वेदण धिदियलेण ।

तमदीणममूढो जिण पच्वूहे चरिचस्स ॥१५१०॥

बोलना उचित नहीं है, न उसका तिरस्कार करना चाहिये, न उसका हास्य करना चाहिये, न
उने शास देना चाहिये और न उसका अनादर करना चाहिये ॥१५०५-१५०६॥

उसके प्रति कठोर वचन बोलने आदिसे क्या हानि होती है यह कहते हैं—

गा०—कठोर वचन आदिसे भडककर वह अभिमानी क्षपक मयमसे च्युत हो सकता है
या दुर्ध्यानमे लग सकता है अथवा सम्पत्त्वको त्याग सकता है ॥१५०७॥

गा०—यदि वह अपनी प्रतिज्ञारूपी भर्थादाको तोड़ना चाहे तो नियमिकाचार्य उसको
रक्षाके लिये ऐसा कवच आदरपूर्वक करे जो परोषर्हका निवारण कर सके ॥१५०८॥

गा०—आचार्यको स्नेहसहित, कानोको प्रिय, हृदयमे सुख देनेवाले तथा हृदयमे प्रवेश
करने वाले वचनोंसे क्षपकको धीरे-धीरे सम्बोधना चाहिये ॥१५०९॥

गा०—हे सुन्दर आचार वाले ! तुम दीनता और मूढताको त्यागकर चारित्र्यमे बाधा
डालनेवाली छोटी या बड़ी व्याधियोंको, महती वेदनाको धैर्यरूपी बलमे जीतो । राग और कोपका

रोगातङ्गे महतोऽप्याश्च व्याधीन् । विपुला वा वेदना धृतिवलेन जय त्वमदीनोऽमूढश्च प्रत्यूहान्
चारित्रस्य । बीतरागकोपतादि चारित्र । तद्व्याधिप्रतीकारार्थं वस्तुषु आदरवतो व्याधिषु वेदनासु च
द्वेषवतो नश्यति । ततश्चारित्रविघ्नास्तव्या जेतव्या इति भावः ॥१५१०॥

सन्ने वि य उपसर्गो परिमहे य तिविहेण णिज्जिणहि तुम ।

णिज्जिणिय सम्ममेदे होहिस्स आराहओ मरणे ॥१५११॥

'सन्ने वि य उपसर्गो' सर्वोऽर्थापसर्गान् परीपहाश्च मनोवाक्कार्यैर्जय । उपसर्गंपरीपहजयदु क्षा-
भीक्ष्णा मनसा जय । भोतोऽयमिति वययां न दु खानि हरन्ति । सन्निहितप्रव्यादिसहकारिकारणमसङ्गमुदया-
गन अनिवार्यवीर्यं बल प्रयच्छत्येवेति धृतिवलेन भावना मनसा जय । श्रान्तोऽस्मि वेदनादु महात्मता पश्यत
मदीयामिमा अतिकष्टामवस्था । दग्धोऽस्मि ताडितोऽस्मि इत्येवमादिदीनवचनानुच्चारण । असङ्कटनुभूतार्था
परीपहा दुःखादय, उपसर्गाश्च पूर्व । प्रत्यूहान्तमपि नामो मुञ्चन्ति । केवल धृतिरहिनीय वराको रारदोति
निन्द्यते । न सन्मार्गास्त्रिव्यावयितु इमे क्षमा इति उदारवचनता वचनेन जय । अदीनेक्षणमुखरागवत्ता
अचलता च कायेन जय । 'णिज्जिणिय सम्ममेदे' निजित्वं सम्पत्तानुपसर्गंपरीपहान्मरण मृतिकाले ।
आराहओ होहिस्स' रत्नत्रयपरिणतो भविष्यामि । उपसर्गंपरीपहन्त्याहुलितचेतसो नैवाराधकता ॥१५११॥

मभर सुविहिय ज ते मज्झमि चटुन्विघस्स सघस्स ।

वूढा महापदिण्णा अहय आराहडस्सामि ॥१५१२॥

'मभर' स्मृति निधेहि । 'सुविह' सुचारित्र । किं स्मरामि इति चेत् 'त' ता प्रतिज्ञा या वृत्तवानिति ।

त्याग ही चरित्र है । व्याधिको दूर करनेके उपायोमें आदर करनेवाले तथा व्याधि और वेदनासे
द्वेष करनेवालेका चारित्र नष्ट होता है । अतः तुम्हें चारित्रके विघ्नोको जीतना चाहिये ॥१५१०॥

गा०-डी०—हे क्षपक । तुम सब उपसर्गों और परीपहोंको मन वचन कायमे जीतो । उपसर्ग
और परीपहोंके जीतनेमें जो दु ख होता है उससे न डरना मनसे जीतना है । यह डरपोक है अतः
दया करके उपसर्ग परीपह उसे दु ख नहीं देंगे ऐसी बात नहीं है । द्रव्यादि सहकारी कारणोंके
रहने पर असातावेदनीय कर्म उदयमे आता है और उसकी शक्तिको रोकना शक्य नहीं होता
तब यह कष्ट देता ही है । धैर्यरूपी बलपूर्वक ऐसी भावना होना मनसे जीतना है । मैं थक गया
हूँ, मेरी इस अतिकष्टकर और दु सह वेदना रूप अवस्थाको देखो, मैं दु खमें जल रहा हूँ, कष्ट
ने मुझे भार डाला इत्यादि दीन वचनोंका उच्चारण न करना । मैंने पूर्वमें अनेक धार भूख आदि
परीपहों और उपसर्गोंको मचा है । चिरालने पर भी ये छोड़ते नहीं हैं । केवल यह वेचारा धैर्य
खीकर रोता है ऐसी निन्दा करते हैं । ये मुझे सन्मागसे डिगानेमें समर्थ नहीं हैं । इस प्रकारके
उदार वचन बोलना वचनमे जीतना है । आत्मोंमें और मुखपर दीनताका भाव न होना, मुखपर
प्रमन्नताका रहना, विचलित न होना कायमे जीतना है । इस प्रकार इन परीपहों और उपसर्गोंको
सम्यक् रूपमे जीतनेपर मग्नते समय तुम रत्नत्रयरूपसे परिणत हो सकोगे । जिसका चित्त उपसर्ग
और परीपहमें व्याकुल रहता है वह आगधक नहीं हो सकता ॥१५११॥

गा०—हे सुचारित्रमे सम्पन्न क्षपक । तुमने चतुर्विध सपके मध्यमे जो महती प्रतिज्ञा की
थी कि मैं आगधना करूँगा उसे स्मरण करो ॥१५१२॥

मज्झिम्म' मध्ये । कस्य ? 'चतुर्विधस्त' चतुर्विधस्य भगस्य । 'बुद्धा' घृता । 'महापदिण्णा' महती प्रतिज्ञा । 'अहय' अह 'आराधइस्सामि' आराधयिष्यामि इति ॥१५१२॥

को णाम भडो कुलजो माणो थोलाइदूण जणमज्जे ।

जुज्जे पलाइ आवडिदमेत्तओ चेव अरिभीदो ॥१५१३॥

'को णाम भडो' क पलायते युद्धे भट दूर । 'कुलजो' मानी । 'थोलाइदूण' भुजास्फालन कृत्वा । जणमध्ये । एव युद्धे शत्रुपराजय करिष्यामीति उद्द्युष्य 'आवडिमेत्तओ' अभिमुत्तायातशत्रुं च अरिभीत । क पलायन करोति ॥१५१३॥

दार्ष्टान्तिके योजयति—

थोलाइदूण पुव्व माणी सतो परीमहादीहिं ।

आवडिदमेत्तओ चेव को विसण्णो हवे साहू ॥१५१४॥

'थोलाइदूण पुव्व' भुजास्फालन कृत्वा पुव्व । 'परीमहादीहिं' आवडिदमेत्तयो चेव' परीपहारातिभिर-भिमुत्तायात एव । 'को विसण्णो हवे साहू माणो सतो' का विपण्णो भद्रंभावुवर्गो मानी सन् ॥१५१४॥

आवडिया पडिकूला पुरओ चेव कमति रणभूमिं ।

अवि य मरिज्ज रणे ते ण य पसरमरीण वड्डन्ति ॥१५१५॥

'आवडिया पडिकूला' अभिमुत्तायाता शत्रव । पुरतो चेव कमति रणभूमिं' पुरस्तादेवोपसर्पन्ति रणभूमिं । 'अवि य मरिज्ज रणे' यद्यपि रणे भ्रियन्ते । 'ण य पसरमरीण वड्डन्ति' नैव प्रसरमरीणा वर्धयन्ति ॥१५१५॥

तह आवइपडिकूलदाए साहवो माणिणो सुग ।

अडितिव्ववेयणाओ सहंति ण य विगडिमुवयति ॥१५१६॥

'तह आवइपडिकूलदाए' तथा आपत्तिकूलतया । 'सापवो' मानिन दूरा । 'अडितिव्ववेयणाओ' अनीय तीव्रवेदना 'सहंति' सहन्ते । 'ण य विगडिमुवयति' नैव विकृतिमुपयाति ॥१५१६॥

गा०—कौन कुलीन स्वाभिमानी शूरवीर मनुष्योंके बीचमें अपनी भुजाओंको ठोककर 'मैं युद्धमें इस प्रकार शत्रुओंको हराऊंगा' ऐसी घोषणा करके सामने आये शत्रुमें ही छरकर भागना पसन्द करेगा ॥१५१३॥

गा०—उसी प्रकार पूर्वमें भुजाओंको ठोककर कौन स्वाभिमानी साधु परीपह आदिके सन्मुख आते ही खेदखिन्न होगा ॥१५१४॥

गा०—जिन सुभटोंके शत्रु उनके सन्मुख आते हैं वे सुभट शत्रुओंके आनेसे पूर्व ही युद्ध भूमिमें पहुँच जाते हैं । वे युद्धमें मर जायें भले ही किन्तु शत्रुओंका उत्साह नहीं बढने देते ॥१५१५॥

गा०—उसी प्रकार स्वाभिमानी शूरवीर साधु आपत्तियोंकी प्रतिकूलतामें अति तीव्र कष्ट भोगते हैं किन्तु विकारको प्राप्त नहीं होते । अर्थात् दुर्भाग्यवश उपगम परीपहोंके उपस्थित होनेपर रत्नत्रयकी विराधना नहीं करते ॥१५१६॥

‘धोलाइयस्स कुलजस्स माणिणो रणमुहे वर मरणं ।

ण य लज्जणय काठ जावज्जीवं सुजणमज्झे ॥१५१७॥

‘धोलाइयस्स’ वृत्तमुज्ज्वालनस्य । ‘माणिणो’ मानिनः । ‘रणमुहे वर मरण’ युद्धमुखे मरण शोभन । ‘ण य वर’ नैव शोभन । ‘लज्जणय काठु जावज्जीवं च सुजणमज्जे’ मुज्जतमध्ये यावज्जीव निदा-
हरण ॥१५१७॥

समणस्स माणिणो मंजदस्स णिहणममणं पि होइ वर ।

ण य लज्जणय काठु कायरदादीणकिविणत्त ॥१५१८॥

‘समणस्स’ सम्मानस्य श्रवणस्य वा । ‘माणिणो’ मानिनः, ‘सज्जदस्स’ संयतस्य । ‘णिघणममणं पि होइ वर’ निघनममनमपि भवति वर । ‘ण य लज्जणय काठु’ नैव लज्जनीयकरण शोभन । काष्ठरता न वर । ‘दीणकिविणत्त’ दीनत्व कृपणत्व च न वर ॥१५१८॥

एयस्स अप्पणो को जीविदहेदु करिज्ज जपणय ।

पुत्तपउत्तादीण रणे पलादो सुजणलछ ॥१५१९॥

‘एयस्स अप्पणो’ एकस्यात्मनः । ‘जीविदहेदु’ जीवितनिमित्त । ‘को करिज्ज जपणय’ कं कुर्यादप-
वाद । पुत्तपउत्तादीण पुत्रपौत्रादीनां । ‘रणे पलादो’ रणास्पलायमान । सुजणलछ स्वजनलाछन ॥१५१९॥

तह अप्पणो कुलस्स य सघस्स य मा हु जीवदरथी त ।

कुणमु जणे जपणय किविण कुब्ब सुगणलछ ॥१५२०॥

‘तह तया । ‘अप्पणो जीवितरथ’ भवतो जीवितार्थ । ‘कुलस्स सघस्स य मा हु जीवदरथी त’ कुलस्य सघस्य च दूषण जने मा कार्षी । ‘किविण कुब्ब’ कृपणत्व बुध्न् । ‘सुगणलछ’ स्वगण-
लाछन ॥१५२०॥

गा०—भुजा स्फालन करनेवाले कुलीन अभिमानीके लिये युद्धमे मनुष्य मरना श्रेष्ठ है किन्तु मुजनोंके मध्यमे जीवनपर्यन्त लज्जा उठाना श्रेष्ठ नहीं है ॥१५१७॥

गा०—उम्मी प्रवार स्वाभिमानी समी धमणका मर जाना श्रेष्ठ है किन्तु लज्जाजनक कार्य करना श्रेष्ठ नहीं है, कातरता-विपत्तियोंसे धवराना, दीनता कृपणता—कि मे कुछ भी नहीं कर सकना आदि श्रेष्ठ नहीं है ॥१५१८॥

गा०—एक अपने जीवनके लिये युद्धभूमिसे भागकर कौन अपने पुत्र पौत्र आदिके लिये अपवादका कारण बनेगा और अपने परिवारको लाछन लगावेगा ॥१५१९॥

गा०—उम्मी प्रकार हे क्षपक ! अपने जीवनके लिये परीयहू आदि अपनेपर अपनी निर्बलता का परिचय देते हुए अपने कुल और सघको लोकापवादका पात्र मत बनाओ और अपने गणपर लाछन मन लगाओ ॥१५२०॥

गाढप्पहागस्तविदा वि घृरा रणे अरिसमक्खं ।

ण सुह भजंति सय मरति 'भिउडीमुहा चेव' ॥१५२१॥

‘गाढप्पहारस्तविदा वि’ गाढप्रहारमतापिता अपि घृरा ‘रणे’ युद्धे । ‘सय सुह अरिसमक्खं न भजति’ स्वमुन्मत्त अरोणा पुरतो न कुर्वन्ति । ‘मरति’ म्रियते । भिमुदीए सह चेव’ अकुटया सह चव ॥१५२१॥

सुट्ठु वि आवडपत्ता ण कायरत्त करिंति सप्पुरिसा ।

क्त्तो पुण दीणत्त किंविणत्त वा वि काहिति ॥१५२२॥

‘सुट्ठु वि आवडपत्ता’ निरन्तरमापद प्राप्ता अपि । ‘सप्पुरिसा ण कायरत्त करिंति’ सत्पुरुषा न कातरता कुर्वन्ति । ‘क्त्तो पुण काहिति’ कुत पुन करिष्यन्ति । ‘दीणत्त किंविणत्त चावि’ दीनता कृपणता च ॥१५२२॥

केई अग्गिमदिग्गदा समत्तओ अग्गिणा वि उज्झता ।

जलमज्झगदा व णरा अत्यति अचेदणा चेव ॥१५२३॥

केई अत्यति अवैदण्य चेव’ केचिदामने अपेक्षना इव । ‘अग्गिमदिग्गदा’ अग्निं प्रविष्टा ‘समत्तओ अग्गिणा वि उज्झता’ समन्तान् अग्निना दह्यमाना अपि । ‘जलमज्झगदा व णरा’ जलमध्यगतता नरा इव ॥१५२३॥

तत्थ वि साहुक्काग सगअगुलिचालणेण कुब्बति ।

केई करंति धीग उक्किट्ठिं अग्गिमज्झमि ॥१५२४॥

‘तत्थ वि’ तत्राप्यग्निमये । ‘साहुक्काग सगअगुलिचालणेण कुब्बति’ साधुकार स्वानुलिचालनया कुर्वते । ‘केई अग्गिमज्झगदा धीरा’ केचिदग्निमध्यगता धीरा । ‘उक्किट्ठिं करंति’ उत्कृष्टं उत्क्रोशनं कुर्वन्ति ॥१५२४॥

गा०—युद्धमे शूरवीर पुरुष जोरदार प्रहारमे पीडित होनेपर भी शत्रुके सामनेसे अपना मुख नहीं मोड़ते और मुखपर भी टेढ़ी किये हुए ही मरते हैं ॥१५२१॥

गा०—उसी प्रकार सत्पुरुष अत्यन्त अपेक्षित होनेपर भी कातर नहीं होते । तब वे दीनता या कायरता क्यों दिखायेंगे ? ॥१५२२॥

गा०—कितने ही सत्पुरुष आगमे प्रवेश करके सब ओरसे आगसे जलनेपर भी जलके मध्यमे प्रविष्ट हुए मनुष्यकी तरह अथवा अचेतनकी तरह रहते हैं ॥१५२३॥

गा०—तथा आगके मध्यमे भी रहते हुए अपने अगुलि मचालनके द्वारा साधुकार करते हैं कि कितना अच्छा हुआ कि मेरे अशुभ कर्म क्षय हुए । कितने ही धीर वीर पुरुष आगके मध्यमे रहकर अपना आनन्द प्रकट करते हैं ॥१५२४॥

जदिदा तह अण्णाणी संसारपवड्डणाए लेस्ताए ।

तिव्वाए वेदणाए सुहसाउलया करिति धिदिं ॥१५२५॥

‘जदिदा’ यदि तावत् । ‘तह’ तथा । ‘अण्णाणी धिदिं करिति’ तथा अज्ञानिनो घृति कुर्वन्ति ‘संसार-
पवड्डणाए लेस्ताए’ संसारप्रवर्द्धनकारिण्या लेख्यया । ‘तिव्वाए वेदणाए’ तीव्राया वेदनाया सत्या ।
‘सुहसाउलया’ सुखास्वादनलम्पटा ॥१५२५॥

किं पुण जदिणा संसारसव्वदुक्खक्खयं करतेण ।

बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण ण धिदी हवदि कुज्जा ॥१५२६॥

किं पुण जदिणा च करिज्जा हवदि ‘धिदि’ किं पुनर्न कार्या भवति घृति यतिना । कीदृता ?
संसारसव्वदुक्खरसय संसारसव्वं दुःखाय कुर्वता । ‘बहुतिव्वदुक्खरसजाणएण’ बहूना चतुर्गतिगताना तीव्राणा
दुःखाना रस जानता ॥१५२६॥

असिखे दुग्भिक्खे वा कंतारे भएव आगाढे ।

रोगेहिं व अभिभूदा कुलजा माणं ण विजहति ॥१५२७॥

‘असिखे मायां । ‘दुग्भिक्खे वा’ दुग्भिखे वा । ‘कंतारे’ अटव्या वा । गाढे भये च । उपर्युपरि निपतित-
भये वा । ‘रोगेहिं व अभिभूदा’ व्याधिभिर्वा अभिभूता । ‘ण विजहति कुलजा माणं’ न जहति कुलप्रभूता
मान ॥१५२७॥

ण पियति सुर ण य सति गोमर्यं ण य पलड्डुमादीय ।

ण य कुव्वति विकम्म तहेव अण्णवि लज्जणय ॥१५२८॥

‘ण पियति सुर’ न पिबन्ति सुरा । ‘ण सति’ न च भक्षयन्ति गोमास । ‘ण य पलड्डुमादीय’ न पलाण्डु
प्रभृतिक भक्षयन्ति । ‘ण य कुव्वति विकम्म’ नैव कुत्सित कर्म परोच्छिष्टभोजनादिक कुर्वन्ति । ‘तहेव अण्णवि
लज्जणय’ तथैव नान्यदपि लज्जणीय कुर्वन्ति ॥१५२८॥

गा०—यदि संसारको बढानेवाली अशुभ लेश्यासे युक्त अज्ञानी पुरुष सासारिक सुखकी
लालसासे तीव्र वेदना होते हुए भी धैर्य धारण करते हैं ॥१५२५॥

विशेषार्थ—आगमे जलकर मरनेका कथन उन धर्मवालोंके लिये किया है जो आगमे
जलकर मरनेमे धर्म मानते हैं ।

गा०—तो जो क्षपक साधु संसारके सब दुःखोका क्षय करना चाहता है और चारो गतियो-
के तीव्र दुःखोका स्वाद जानता है वह धैर्य धारण क्यों न करेगा ॥१५२६॥

गा० -- भारी रोगमे, दुग्भिक्षमे, भयानक वनमे अत्यन्त प्रगाढ भयमे तथा रोगोसे ग्रस्त
भो बुलीन पुरुष स्वामिमानको नहीं छोडते ॥१५२७॥

गा०—वे मदिरा पान नहीं करते । गोमास नहीं खाते । लहसुन प्याज आदि नहीं खाते ।
दूसरेका जूठा खाना आदि बुरे काम नहीं करते । इसी प्रकार अन्य भी लज्जास्पद काम नहीं
करते ॥१५२८॥

किं पुण कुलगणसघस्त जसमाणिणो लोयपूजिदा माधू ।
माणं पि जहिय काहति विकम्म सुजणलज्जणय ॥१५२९॥

‘किं पुण साहू वि कम्म काहति’ किं पुन माघव कुत्सित कर्म करिष्यन्ति । ‘कुलगणसघस्त जसमा-
णिणो’ ‘कुलस्य गणस्य सघस्य च यस्य संपादनाद्कारवन्त्य’ । ‘लोयपूजिदा साधू’ लोके कृतपूजा । ‘माण
विजहिय’ मान त्यक्त्वा ‘सुजणलज्जणय’ साधुजननेन विलज्जनीय कर्म ॥१५२९॥

जो गच्छिज्ज विसाद महल्लमप्प व आवदि पत्तो ।
त पुरिसकादरं विंति धीरपुरिसा इ सुटुत्ति ॥१५३०॥

‘जो गच्छिज्ज विसाद’ यो गच्छेद्विपाद । ‘महल्ल मप्प व आवड पत्तो’ महती बल्पा वा आपद
प्राप्त । ‘तं पुरिसकादरं’ पुरुषेण कानर । ‘धीरपुरिसा सडुत्ति विंति’ धीरा सुपुरुषा पण्ड इति
ब्रुवन्ति ॥१५३०॥

मेरुव्व णिप्पकपा अक्खोमा सागरव्व गभीरा ।
विदिचंतो सप्पुरिमा इ ति महल्लावई वि ॥१५३१॥

‘मेरुव्व णिप्पकपा’ मेरुरिव निरचना । ‘अक्खोमा’ अकम्पा । ‘सागरव्व’ सागर इव ‘विदिचंतो
सप्पुरिमा’ धृतिमन्त सतोपवन सत्पुरुषा । ‘महल्लावई वि’ महत्प्यामापदि ॥१५३१॥

कई विमुत्तसंगा आदारोविदमरा अपडिकम्मा ।
गिरिपन्नारमभिगदा बहुसावदसंकड भीम ॥१५३२॥

‘कई उत्तमहु साधेति’ इति वक्ष्यमाणेन सवन्ध । केचिदुत्तम वस्तु रत्नवय साधयन्ति । कीदृशूता ?
‘विमुत्तसंगा’ निरपरिग्रहा । ‘आदारोविदमरा’ आन्धारोपितमरा । ‘अपडिकम्मा’ निःप्रतीकारा । ‘गिरि-
पन्नारमभिगदा’ गिरिप्राग्भारमभिगता । कीदृश ? ‘बहुसावदसंकड’ बहुव्याल्मृगाकुल । ‘भीम’
महाबल ॥१५३२॥

विदिधणियवद्धकच्छा अणुत्तरविहारिणो सुदमहाया ।
साहिति उत्तमहु मावददाढंतरगदा वि ॥१५३३॥

गा०—ननु कुल गण और मघके मग सम्पादनका अहकार करनेवाले लोकपूजित साधु
स्वामिमान त्यागकर साधुजनके लिये लज्जाके योग्य बुरा कर्म करेंगे क्या ? कभी नहीं
करेंगे ॥१५२९॥

गा०—जो छोटी या बड़ी विपत्ति आने पर खिन्न होना है उस कायर पुरुषको धीर
पुरुष नपुस्तक कहते हैं ॥१५३०॥

गा०—मज्जन पुरुष महती विपत्तिमें भी सुमेरुकी तरह अकम्प, मारकी तरह गम्भीर
और घेयंगील रहते हैं ॥१५३१॥

गा०—कितने ही साधु समस्त परिग्रहको त्यागकर, अपने आत्माने आत्माको आरोपित
काके, प्रतीकार रहित होकर, बहुतेमें व्याधि आदि हिंस्र जन्तुओंमें भरे भयकर पर्वतोंके शिखरोंपर

‘विदिष्यगियबद्धकच्छा’ धृत्या नितरा बद्धकक्ष्या । ‘अणुत्तरविहारिणो प्रकृष्टचारिणा । ‘मुदसहाया’ श्रुतज्ञानसहाया । ‘साधिति उत्तमदृढ’ साधयन्त्युत्तमार्थ रत्नत्रय । ‘सावददाढतरमदा वि’ द्वापददष्टामध्यगता सपि ॥१५३३॥

भल्लक्किण तिरत्तं सज्जतो घोरेवेदण्हो वि ।

आराधणं पवण्णो ज्झाणेणावतिसुकुमालो ॥१५३४॥

‘भल्लक्किण तिरत्तं सज्जतो’ शृगालेन तिसृषु रात्रिषु भक्ष्यमाण । ‘घोरवेदण्हो वि’ घोरवेदना-वाधितोऽपि । ‘आराधणं पवण्णो ज्झाणेण’ गुभध्यानेनाराधना प्रपन्न । व ? ‘अवतिसुकुमालो’ अवति-सुकुमार ॥१५३४॥

‘पोगिलगिरिम्मि य सुकोसलो वि सिद्धत्थदइय भयवतो ।

वग्घीए वि सज्जतो पडिवण्णो उत्तम अट्ठ ॥१५३५॥

‘पुद्गलगिरौ सुकोसलोऽपि सिद्धार्थस्य पुत्रो भगवान् व्याख्या जननीचर्चा भक्षित सन् प्रतिपन्न उत्तमार्थम् ॥१५३५॥

भूमीए सम कीलाकोडिदेहे वि अल्लचम्म व ।

भयव पि गयकुमारो पडिवण्णो उत्तम अट्ठ ॥१५३६॥

‘भूमीए सम भूमी सम । ‘कीलाकोडिदेहे’ कीलोऽकृतदेह । ‘अल्लचम्म व’ आर्द्रचर्मवत् । ‘भयव वि’ भगवान् गजकुमारोऽपि । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५३६॥

कच्छुजरखाससोसो मत्तेच्छअच्छिक्खिदुक्खाणि ।

अधियासयाणि सम्म सणक्कुमारेण वाससय ॥१५३७॥

जाकर दृढ धैर्यको अपनाकर, उत्कृष्ट चारित्रपूर्वक श्रुतज्ञानकी सहायतामे मिहादिके मुँहमे जाकर भी उत्तमार्थ रत्नत्रयकी साधना करते हैं ॥१५३२-३३॥

गा०—अवन्ती अर्थात् उज्जैनी नगरीमे सुकुमार मुनि तीन रात तक शृगालीके द्वारा खाये जानेपर घोर वेदनासे पीडित होते हुए भी शुभध्यानके द्वारा रत्नत्रयकी आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५३४॥

गा०—पुद्गल या मुद्गल नामक पर्वतपर सिद्धार्थ राजाके प्रिय पुत्र भगवान् सुकोशल मुनि अपनी पूर्ण जन्मकी माता व्याघ्रीके द्वारा खाये जानेपर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३५॥

गा०—पृथ्वीके साथ गीले चमड़ेकी तरह शरीरमे कीलें ठोककर एकमेक कर देनेपर भी भगवान् गजकुमार मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३६॥

गा०—सनत्कुमार मुनि ने सौ वर्षों तक खाज, ज्वर, घासी, सूखापन, तीव्र उदररोग, नेत्रपीडा, उदरपीडा आदिके दुःख विना सकलेशके धैर्यपूर्वक सहन किये ॥१५३७॥

‘कच्छज्वरसासतो’ कच्छज्वरकामशोषा । ‘मत्तेच्छग्रन्थिकुच्छिदुस्त्वग्नि’ तीव्रो जठराग्नि अधि-
दुस्त्व । कुच्छिदुस्त्व च । ‘अधिपासपाणि’ असक्लेशेन घृतानि ‘सगन्धुमारेण’ सनत्कुमारेण । ‘वातसद’
वर्णेत ॥१५३७॥

णावाए णिव्हुडाए गगामज्जे अमुज्झमाणमदी ।

आराधणं पवण्णो कालमओ एणियापुत्तो ॥१५३८॥

‘णावाए णिव्हुडाए’ नावि निमग्नाया च । ‘गगामज्जे’ गगाया मध्ये । ‘अमुज्झमाणमदी’ अमुह्य-
मानमति । ‘आराधण पवण्णो’ आराधना प्रतिपद्य सन् । ‘कालमओ’ काल गत् । ‘एणियापुत्तो’ एणिकपुत्र-
नामधेयो यदि ॥१५३८॥

ओमोदरिए घोराए भद्वाहु असकिलिडुमदी ।

घोराए विगिच्छाए पडिवण्णो उत्तम ठाण ॥१५३९॥

‘ओमोदरिए घोराए’ घोरेणावमोदयेण तपसा समन्वित । भद्वाहु असकिलिडुमदी’ भद्रबाहुस-
किल्बिषित । ‘घोराए विगिच्छाए’ घोरया दुष्ठा बाधितोऽपि । ‘पडिवण्णो उत्तम ठाण’ प्रतिपन्न
उत्तमार्थ ॥१५३९॥

‘कोसंघीललियघडा वूढा णइपरएण जलमज्जे ।

आराधण पवण्णा पावोवगदा अमूढमदी ॥१५४०॥

चपाए मामखमणं करित्तु गंगातडम्मि तण्हाए ।

घोराए धम्मघोमो पडिवण्णो उत्तम ठाण ॥१५४१॥

‘चपाए’ चम्पानमर्या । ‘मासखण करित्तु’ मासेपवास कृत्वा । ‘गंगातडम्मि’ गंगापास्तटे । ‘तण्हाए’
घोराए’ तुण्णया तीव्रया बाधितोऽपि । ‘धम्मघोमो धर्मघोष । उत्तमार्थ प्रतिपन्न ॥१५४०-१५४१॥

गा०—गगाके मध्यमे नाव हूवनेपर एणिक पुत्र नामके मुनि मोहरहित होकर मरणको
प्राप्त हुए और आराधनाके धारक हुए ॥१५३८॥

गा०—घोर अवमोदय तपके धारी भद्रबाहु मुनि घोर भूलसे पीडित होनेपर भी सक्लेश
रूप परिणाम न करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५३९॥

गा०—कौशाम्बी नगरीमें सुखपूर्वक पाये गये इन्द्रदत्त आदि वत्तीम श्रेष्ठि पुत्र जलके
मध्यमे यमुना नदीके प्रवाहके द्वारा प्रायोपगमन मन्यास पूर्वक मरणको प्राप्त हुए । उन्होंने मोह
रहित होकर आराधनाको प्राप्त किया ॥१५४०॥

गा०—चम्पा नगरीमें एक मामका उपवास करते हुए धर्मघोष नामक मुनि गगाके तटपर
तीव्र प्यासमें पीडित होकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४१॥

सीदेण पुव्ववइरियदेवेण विकुव्विएण घोरेण ।

सतत्तो सिरिदत्तो पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४२॥

‘सीदेण’ शीतेन । ‘सतत्तो’ सतप्त । ‘पुव्ववइरियदेवेण विकुव्विएण’ पूर्वजन्मशत्रुणा देवेनोत्पादितेन ‘सिरिदत्त’ धीदत्त । उत्तमार्थमुपगत ॥१५४२॥

उण्हं वाद उण्हं सिलादल आदव च अदिउण्ह ।

सहिदूण उसइसेणो पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४३॥

‘उण्हं वाद’ उष्ण वात, ‘उण्हं सिलादल’ उष्ण शिलातल । ‘आदव च अदिउण्ह’ आताप वात्सुष्ण ‘सहिदूण’ प्रसह्य वृषभसेन उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४३॥

रोहेडयम्मि सत्तीए हओ कौचेण अग्गिदइदो वि ।

त वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४४॥

‘रोहेडयम्मि’ रोहेड्ये नगरे । ‘सत्तीए हओ’ राक्षसा हत । ‘कौचेण’ क्रोधनामधेयेन । ‘अग्गिदइदो वि’ अग्निराजमुतोऽपि । ‘त वेयणमधियासिय’ ता वेदना प्रसह्य । उत्तमार्थं प्रतिपन्न ॥१५४४॥

काइदि अभयघोसो वि चडवेगेण छिण्णसव्वगो ।

त वेयणमधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४५॥

‘काइदि अभयघोसो वि’ काकन्द्या नगर्या अभयघोषोऽपि । ‘चडवेगेण छिण्णसव्वगो’ चडवेगेन छिन्नसर्वाङ्ग ॥१५४५॥

दसेहिं य मसएहिं य खज्जतो वेदण पर घोर ।

विज्जुच्चरोगधियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ठं ॥१५४६॥

‘दसेहिं य’ दशमसर्वस्व अक्षयमाण विज्जुच्चरस्ता वेदना अवगणय्य आराधना प्रपन्न ॥ १५४६॥

गा०—पूर्वभवके वैरी देवके द्वारा विक्रिया पूर्वक किये गये शीत से पीडित होकर श्रौदत्त मुनि उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४२॥

गा०—गर्म वायु, गर्म शिलातल और अत्यन्त गर्म आतापको सहन करके वृषभसेन उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४३॥

गा०—रोहतक नगरमें क्रोध नामक राजाके द्वारा शक्ति नामक शस्त्र विशेषसे मारा गया अग्नि राजाका पुत्र उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुआ ॥१५४४॥

गा०—काकन्दी नगरीमें चण्डवेगके द्वारा सब अंगोंके छेद डालनेपर अभयघोष मुनि उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४५॥

गा०—डाम मञ्जरीके द्वारा खाये जानेपर विज्जुच्चर मुनि अत्यन्त घोर वेदनाको सहन करके उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५४६॥

हृत्थिणपुरगुरुदत्तो सबलियाली व दोणिमतम्मि

उज्झतो अधियामिय पडिवण्णो उत्तम अट्ट ॥१५४७॥

‘हृत्थिणपुरगुरुदत्तो’ हास्तिनापुरवास्तव्यो गुरुदत्त । ‘सबलियालीव’ हरितमकोश निरामास (?) पूर्णभाजन अक्षपत्रपिहितमिद मुख अबोधमुख मस्याप्य उपरिभाजनम्य अग्निप्रक्षेप सबलीत्युच्यते । तद्वच्चिरसि निक्षिप्तानि । ‘दोणिमतम्मि’ द्रोणोमत्पर्वते दह्यमान प्रपन्न उत्तमाय ॥१५४७॥

गाढप्पहारविद्धो पूइंगलियाहिं चालणीव कदो ।

तथ वि य चिलादपुत्तो पडिवण्णो उत्तम अट्ट ॥१५४८॥

‘गाढप्पहारविद्धो’ नितरामायुर्ध्वविद्ध । ‘पूइंगलियाहिं’ कृष्णं स्थूलोत्तमाङ्गं पिपीलिकाभि । ‘चालणीव कदो’ चालनीव कृतचिचलातपुत्रस्तथाप्युत्तमायमुपगत ॥१५४८॥

दडो जउणावकेण तिक्खकडेहिं पूरिदगो वि ।

तं वेयणमग्घियासिय पडिवण्णो उत्तम अट्ट ॥१५४९॥

‘दडो’ दडनामको यति । ‘जमुणावकेण’ यमुनावक्रमजितेन । ‘तिक्खकडेहिं’ तीक्ष्णं शरं ‘पूरिता- गोऽपि’ रत्नत्रय समाराधयति स्म ॥१५४९॥

अभिणदणादिया पचसया णयरम्मि कुम्भकारकडे ।

आराधण पवण्णा पीलिज्जता वि यंतेण ॥१५५०॥

‘अभिणदणादिणा’ अभिनन्दनप्रभृतय पञ्चशतमस्या, कुम्भकारकटे नगरे यत्रेण पीडयमाना अप्या- राधना प्राप्ता ॥१५५०॥

गा०—हस्तिनापुर नगरके वासी गुरुदत्त मुनि द्रोणगिरि पर्वतपर सबलियालीकी तरह जलते हुए उसकी वेदनाको सहकर उत्तमार्यको प्राप्त हुए ॥१५४७॥

विशेषार्थ—एक पात्रमे उटदकी फलिया भरकर उमे आकके पत्रोमे ढाककर, उस पात्रका मुख नीचेको करके चारो ओर आगमे घेर देनेपर सबलियाली कहते हैं । द्रोणगिरि पर्वतपर गुरुदत्त मुनिके गिरपर आग जला दी गई थी । वृ० क० कोपमे १३२ नम्बर पर इनकी कथा विस्तारसे दी है ।

गा०—चिलातपुत्र नामक मुनिका शरीर काली चीटियोंके तीव्र डक प्रहारमे चलनीकी तरह दीघ दिया गया था । फिर भी उन्होने उत्तमार्यको प्राप्त किया ॥१५४८॥

गा०—दण्ड नामक मुनिके शरीरको यमुनावक्र नामके राजाने तीक्ष्ण वाणोमे छेदकर भर दिया था । फिर भी वे उसकी वेदनाको सहन करके उत्तमार्यको प्राप्त हुए ॥१५४९॥

विशेषार्थ—द० क० कोपमे मुनिका नाम धान्यकुमार दिया है उनकी कथाका क्रमांक १४१ है ।

गा०—कुम्भकारकट नामक नगरमे अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनि कोलूमे पेल दिये जानेपर भी आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५०॥

‘गोद्वे पाओवगदो सुवंघुणा गोच्चरे पलिवदम्मि ।
 उज्झंतो चाणक्को पडिवण्णो उत्तमं अट्ठ ॥१५५१॥
 वसदीए पलविदाए रिट्ठामच्चेण उसहसेणो वि ।
 असाधण पवण्णो सह परिसाए कुणालम्मि ॥१५५२॥

‘घसदीए पलविदाए’ वसदी दग्धाया । रिट्ठामच्चनामधेयेन वृषभमेन सह मुनिपरिपदा प्रतिपन्न
 आराधनाम् ॥१५५१-१५५२॥

जदिदा एव एदे अणगारा तिव्ववेदणट्ठा वि ।
 एयागी अपडियम्मा पडिवण्णा उत्तम अट्ठ ॥१५५३॥

‘जदिदा’ एव यदि एदे तावदेवमेते ‘अणगारा’ यतयन्तीववेदनापीडिता अपि एकाकिनोऽप्रतीकारा
 उत्तमार्थं पतिपन्ना ॥१५५३॥

किं पुण अणयारमहायगेण कीरयंत पडिकम्मो ।
 सधे ओलग्गते आगधेदु ण मक्केज्ज ॥१५५४॥

‘किं पुण अणयारसहायगेण’ किं पुनर्न दास्यते आराधयितु अणयारमहायेन भवता क्रियमाणे प्रतिकारे
 सधे बोधासना कुवति सति ॥१५५४॥

जिणवयणममिदभूद मधुर कण्णाहुटिं सुणतेण ।
 सका हु सधमज्जे साहेदु उत्तम अट्ठ ॥१५५५॥

‘जिणवयण’ जिज्ञाना वचन । अमृतभूत, मधुर कर्णाहुति शृण्वता त्वया मधमज्जे वाक्यमाराध-
 यितु ॥१५५५॥

गा०—चाणक्य मुनि शोकुलमे प्रायोपगमन मन्यासमे स्थित थे । मुग्धु नामक मन्त्रीने
 कण्डोके टेरमे आग लगा दी । उसमे जलकर चाणक्य मुनि उत्तम अर्थको प्राप्त हुए ॥१५५१॥

गा०—कुणालपुरीमे रिट्ट नामक मन्त्रीके द्वारा बमतिकामे आग लगानेपर वृषभमेन मुनि
 अपने शिष्य परिवारके साथ आराधनाको प्राप्त हुए ॥१५५२॥

गा०—इस प्रकार यदि ये मुनि अकेले प्रतीकार किये बिना तीव्र वेदनामे पीडित होकर
 उत्तमार्थको प्राप्त हुए ॥१५५३॥

गा०—तो तुम्हारी महायनाके लिये तो मुनि समुदाय है वह तुम्हारे कष्टका इलाज
 करता है, तुम्हारे साथ उपासना करता है तब तुम आराधना क्यों नहीं कर मरते ॥१५५४॥

गा०—अमृतके समान मधुर जिन-वचन तुम्हारे कानोमे जाता है । उसे सुनते हुए मधके
 मध्यमे तुम्हारे लिये आराधना करना सरल है ॥१५५५॥

गिरपतिरिक्खगदीसु य माणुसदेवत्तणे य सत्तेण ।

ज पत्त इह दुक्ख त अणुचितेहि तच्चित्तो ॥१५५६॥

‘गिरपतिरिक्खगदीसु य’ नरकतिर्यग्मतिषु च । ‘माणुसदेवत्तणे य सत्तेण’ मानुषत्वदेवत्वयोश्च सता यत्प्राप्त इह सुखानन्तर दुःख ‘त अणुचितेहि’ तद्गतचित्तस्तदनुचिन्तय ॥१५५६॥

गिरएसु वेदणाओ अणोवमाओ असादवहुलाओ ।

कायणिमित्त पत्तो अणंतसुत्तो व बहुविधाओ ॥१५५७॥

‘गिरएसु’ नरकेषु । ‘वेदणाओ’ वेदना । ‘अणोवमाओ’ अनुपमा । तादृश्या वेदनाया जगत्पुण्यस्या अभावान् । ‘असादवहुलाओ’ अमदेयकर्मबहुला । कारणबहुलत्वेन कार्यानुपतिराख्याता । ‘कायणिमित्त पत्तो’ शरीरमित्तसामयमात्रितकर्मनिमित्तत्वान्मूलकारण निदिष्ट कायनिमित्तमिति । ‘अणतसो’ अणतवार । ‘त’ भवान् ‘बहुविधाओ’ बहुविधा ॥१५५७॥

उष्णनरकेषु उष्णमहतामूचनापौत्तरा गाथा—

जदि कोइ मेरुमत्त लोहण्डं पक्खिविज्ज गिरयम्मि ।

उण्हे भूमिमपत्तो णिमिसेण विलिज्ज मो तत्थ ॥१५५८॥

‘गिरयम्मि’ उण्ह ‘लोहण्ड’ मेरुमत्त जदि कोइ पक्खिवेज्ज’ उष्णनरके लोहपिण्ड मेरुसमान यदि कश्चिद्देवो दानवो वा प्रशिषेत् । ‘सो तत्थ भूमिमपत्तो चैव विलिज्ज’^१ लोहपिण्डा भूमिमप्राप्त एव द्रवतामुप-
याति । ‘उण्हेण’ उष्णेन नरकविलाना ॥१५५८॥

गा०—नरकगति, नियञ्जगतिमे और मनुष्य पर्याय तथा देवपर्यायमे रहते हुए तुमने जो दुःख सुख भोगा, उसमे मन लगाकर उसका विचार करो ॥१५५६॥

गा०-टी०—इस शरीरके निमित्त किये गये असमयमे उपाजित कर्मके निमित्तमे तुमने नरकोमे अनन्तवार नाना प्रकारकी तीव्र वेदना जमानावेदनीय कर्मके तीव्र उदयमे भोगी हैं । इस प्रकारकी वेदना जगन्मे दूसरी नहीं है । उसका मूल कारण यह शरीर है । उसीके निमित्तमे होनेवाले असमयके कारण असातावेदनीयका तीव्रबन्ध होकर वह नरकमे प्रचुरतामे उदयमे आता रहता है । अतः कारणकी बहुलता होनेसे वेदना रूप कार्य निरन्तर हुआ करता है ॥१५५७॥

आगेकी गाथामे उष्ण नरकोमे उष्णताकी महता बतलाते हैं—

गा०—यदि कोई देव या दानव मेरुके समान लोहेके पिण्डको उष्ण नरकमे फेंके तो वह लोहपिण्ड वहाँकी भूमिको प्राप्त होनेमे ही पहले मार्गमे ही नरकविलोकी उष्णतामे पिघल जाये ॥१५५८॥

तह चेव 'य तद्देहो पञ्जलिदो सीयणिरयपक्खित्तो ।

सीदे भूमिमपत्तो णिमित्तेण सट्ठिज्ज लोहण्डं ॥१५५९॥

'तह चेव' तथैव । 'तद्देहो' मेरुमात्रदेह । 'लोहण्डो' लोहपिण्ड । 'पञ्जलिदो' प्रज्वलित । 'सीदिणिर-
यम्मि' शीतनरमे । 'पक्खित्तो' प्रक्षिप्तो भूमिमप्राप्त एव । 'सीदेण सट्ठिज्ज शीतेन विशीर्यते ॥१५५९॥

शीतोष्णजनितवेदनातिशयमुद्दिश्य शारीरवेदनामाचष्टे—

होदि य णरये तिच्चा सभावदो चेव वेदणा देहे ।

सुण्णीकदस्स वा मुच्छिदस्स खारेण सिच्चस्स ॥१५६०॥

'होदि य णरये तिच्चा' भवति च नरके तीव्रं वेदना । 'वेहे' शरीरे । 'सभावदो चं' स्वभावन एव ।
'सुण्णीकदस्सेव' क्षणीकृतस्येव । 'खारेण सिच्चस्स' खारेण मित्तस्य । 'अमुच्छिदस्स' अमूर्छितस्य । यादृशी
वेदना तादृश्येव शरीरे वेदनेति यावत् ॥१५६०॥

णिरयकडयम्मि पत्तो ज दुक्ख लोहकटएहिं तुम ।

णेरइहिं यं तत्तो पडिओ ज पाविओ दुक्ख ॥१५६१॥

'णिरयकडयम्मि' नरकविलसमूहे-नरकस्वन्धावारे इति केचिद्वदन्ति । अन्ये तु निरयगतं इति । 'पत्तो
ज दुक्ख' यददुःख प्राप्त । 'लोहकटएहिं' निश्चिततरलोहकटैर्वा तुल्यमानस्य ॥१५६१॥

ज कूटसामलीए दुक्ख पत्तोसि ज च सूलम्मि ।

असिपत्तवणम्मि य ज ज च कय गिद्धककेहि ॥१५६२॥

'ज कूटसामलीए य' यददुःख प्राप्तोऽसि विक्रियाजनितनिगातपात्मलीभि । ऊर्ध्वमुखैरधोमुखैश्च-
तीक्ष्णकटैर्वाकीर्णा कूटशास्त्रमलीरारोहन् नारकमयात । 'ज च सूलम्मि' यच्च दुःखमवाप्नोमि सूलाप्रपीत ।

गा०—उसी प्रकार उस पिघले हुए मेरु प्रमाण लोहपिण्डको यदि शीत नरकमें फेंका जाये
तो भूमिको प्राप्त होनेमें पहले ही वह वहाँके शीतले जमकर खण्ड-खण्ड हो जाय ॥१५५९॥

शीत और उष्णसे होनेवाली वेदनाकी महत्ता बतलाकर शारीरिक वेदना कहते हैं—

गा०—जैसे किसी मूर्छारहित मनुष्यके शरीरको बुचलकर उसे खारे तप्त तेलसे सींचनेपर
जैसी वेदना होती है वैसी ही तीव्र वेदना नरकमें नारकीके शरीरमें स्वभावसे ही होती है ॥१५६०॥

गा०—नरकरूपी स्वन्धावारमें अथवा गढेमें नारकियोंके द्वारा लोहेके अत्यन्त नुकीले
काटोपर घसीटे जानेसे तुमने जो दुःख भोगा उसका विचार करो ॥१५६१॥

गा०—टी०—विक्रियामें रचे गये तीक्ष्ण शास्त्रमली वृक्षोपर, जो ऐसे काटोसे घिरे होते हैं
जिनमेंसे कुछ काटोका मुख ऊपरकी ओर और कुछका नीचेकी ओर होता है, नारकियोंके भयमें
डरकर चढ़ते हुए तुमने जो दुःख भोगा । सूलीके अग्र भागपर चढ़ाये जानेपर तुमने जो दुःख

१ यदा तद्देहो ज्विय ५-ज० । २ य सतो पहिदो तिक्खेहिं तुहत्तो'—इति अन्येषा पाठ ।

—मूलारा० ।

'असिपत्रवर्णमि य ॥ अस्य एव पत्राणि यस्मिन्वने तदमिपत्रवन । उष्णार्द्रिताना प्रकृर्वता नारकाणा असिपत्रवनेऽनेकामुरविक्रियाविनिर्मितविचित्रासुधपत्राणि वनानि । 'अ च कय' यच्च कृत । 'गिद्धककेहि' गृद्धं कङ्कुरं च वज्रमयस्तुण्डं^१ ते लुञ्चनं स्नुदन्ति । तीक्ष्णीकृतक्रकचमद्वयं पथं प्रहरन्ति^२ नितान्तसरपथंश्च-
रणाङ्कुरैस्ताडयन्ति ॥१५६२॥

सामसत्रलेहिं दोस बडतरणीए य पाविओ ज सि ।

पत्तो कयववालुयमडगम्मममायमतितिव्व ॥१५६३॥

'सामसत्रलेहिं' श्यामशबलसजितरसुरं । 'दोस' दोष दण्डाना । 'बडतरणीए य पाविओ ज सि' वैतरण्या नद्या प्रापितो यदसि । तृडभिभूताना जल मृगयता दिक्षु विन्यस्तदीनलोचनाना शुष्कतालुगलाना वैतरणीनदीमुपदर्शयन्ति । रङ्गतरङ्गाकुला, अगाधनीलनीरभरितन्दरा, विषयसुखमेवैव दुरन्ततृष्णानुवधनो-
धता, समुतिरिव दुरन्तरा, आशेव विशाला, कर्मपुद्गलस्कषसहतिरिव विचित्रविपद्भिर्धायिनी, तद्दर्शनाद्दूरादेवो-
पजातोन्वठा लब्धजीविताससृक्ता स्म इति मन्यमाना दुस्ततरगतयस्तामवगाहन्ते । तदवगाहनानन्तरमेव कृता-
जलय पिबन्ति ताम्रश्वमन्त्रिभूतदम्भ । परपवचनमिव हृदयदाहविधापि, हा विप्रलब्धा स्मति करुण रसता शिरासि परपतमसमीरणप्रेरणोरित्यततरङ्गासिधारा निवृन्तन्ति करचरणानि च । तेनातिशारेणोष्णेन, कालकूट-
विपायमानेन जलेन, द्रष्टान्तरप्रवेशिना दृष्टमाना मरिचि घटितकरचरणास्तदमेव रटन्त समारोहन्ति । तेषा च

भोगा । जिस वनमें तलवारकी धारके समान पत्ते होते हैं उसे असिपत्र वन कहते हैं । गर्मसि पीडित नारकी अमिपत्र वनमें जाते हैं जो अनेक असुर कुमार देवोंकी विक्रियाके द्वारा निर्मित विचित्र आयुध रूप पत्रोंसे युक्त होते हैं और उन आयुध रूप पत्रोंके गिरनेपर उनका सर्वांग छिद जाता है । तथा गृद्ध और कङ्क पक्षि अपनी वज्रमय चोंचोंसे उन्हें नोचते हैं तीक्ष्ण आरेके समान पत्रोंसे प्रहार करते हैं । अत्यन्त तीक्ष्ण कठोर चरणरूपी अकुशोंसे मारते हैं । इन सबका जो दुःख तुमने भोगा ॥१५६२॥

गा०-टी०-श्याम शबल नामक असुर कुमारोंके द्वारा वैतरणी नदीमें तुमने जो दण्ड भोगा । जब नारकी प्याससे व्याकुल होकर जलकी खोजमें होते हैं और उनकी आँखें दीन तथा कण्ठ और तालू सूख जाता है तो उन्हें वैतरणी नदी दिखलाई जाती है । वह रगीन तरंगोंसे व्याप्त और अगाध नीले जलसे भरी होती है, विषय सुख मेवनकी तरह तृष्णाकी परम्पराको बढ़ाने वाली होती है, समारकी तरह उसे पार करना कठिन होता है, आशकी तरह विशाल होती है, कर्मपुद्गलोंके स्कन्धोंके समूहकी तरह अनेक विपत्तियाँ लानेवाली होती है । इसको देखकर दूरसे ही उनकी उत्कण्ठा बढ़ जाती है । अब हम जी गये, ऐसा मानते हुए दौडकर नदीमें प्रवेश करते हैं । प्रवेश करते ही हाथोंकी अजलि वनाकर्म पिघरते हुए तामेके समान उसके जलको पीते हैं । वह जल कठोर वचनकी तरह हृदयको जलानेवाला होता है । 'अरे हम ठगाये गये' ऐसी करुण चीतकार करते हुए उनके सिर और हाथ पैरोंको अत्यन्त कठोर वायुमें प्रेरित लहरें, जो तलवारकी धारके समान होती हैं, काट देती हैं । तब कालकूट विषके समान अत्यन्त खारा गर्म जल उनके पावोंमें जाता है । उससे जलते हुए वे तत्काल तटकी ओर जाते हैं । उनके कटे हाथ

१ तुण्डं तरललोचने-आ० मू० । ने हि वज्रमयस्तुण्डंनत्राणि मुदन्ति ।

२ रन्ति नित्य नमर

ग्रीवासु श्यामशबला महती शिलावच्चशृङ्खलाप्रोता वध्न्ति दुविमांशु । यद्ध्वा च तस्यामेव पातयन्ति ।
पातिनास्तत्र कृतोन्मज्जननिमज्जनानामुत्तमाङ्गानि अमुरविक्रयानिमित्तमहामकरकरप्रहारेण नर्जरीभूय
निपतन्ति । पुनश्च तटमाच्छादयन्त्युत्तमाङ्गानि निश्चल वध्न्ति । तानपरिस्पन्दमवस्थितान्क्षीकृत्य
विध्यन्तीति निशातसारशतसहस्रं । 'पत्तो कथववालुगमदियम्भ' प्राप्त कदवप्रसूनाकारावालिवा चित्तदु-
प्रवेशा, दलाल्लवृत्तखदिराङ्गारकणप्रकरोपमाना परिप्राप्य तत्र बलात्प्रचार्यमाण यत्प्राप्तवानसि दु ख तच्चित्तं
वञ्चकुर ॥१५६३॥

ज नीलमण्डवे तत्तलोहपडिमाउले तुमे पत्त ।

ज पाइओसि सार कडुय तत्त कलयल च ॥१५६४॥

'ज पत्त त चित्तेहि' यत्प्राप्तो दु ख तच्चित्तय । क्व ? 'नीलमण्डवे' काललोहपटिते मण्डपे । 'तत्तलोह-
पडिमाउले' तत्तलोहप्रतिमाकुले । बलात्कारतपाद्यमानस्तत्तलोहप्रतिमायुक्त्यालिङ्गितो यद्धु ख प्राप्तवानसि
तन्मर्नाम निवेदि । 'ज पाइओसि सार' यत्प्राप्तोऽसि क्षार । 'कडुय' कटुक । 'तत्त' तत्त ॥१५६४॥

ज खाविओमि अवसो लोहगारे य पज्जलत्ते त ।

कडुसु ज सि रट्ठो ज सि कवल्लीए तलिओ सि ॥१५६५॥

'ज खाविओमि' यत्खादितोऽसि । 'अवसो' अवस । बलाच्चन्द्रविदारितानन । 'लोहगारे य पज्जलत्ते'
त लोहाङ्गारान्प्रज्वलत स्तव । 'कडुसु ज सि रट्ठो' कटुकासु यन्मण्डका इव पक्व ॥१५६५॥

पैर तत्काल जुड जाते है । उनकी गर्दनोमें भारी शिलाएँ बज्रमयी साकलसे बांध देते हैं जिनको
खोलना अति कठिन होता है और उन्हें पुन उसी वेत्रणीमें डाल देते हैं । उसमें गिराये जानेपर
वे डूबते उतराते हैं । अमुर कुमागोकी विक्रियासे बनाये गये महामच्छोके प्रहारसे उनके मस्तक
छिन्न-भिन्न होकर गिर जाते हैं । पुन वे तट पर जाते हैं और उन्हें पुन निश्चल बाध देते हैं ।
तब उन निश्चल स्थित नारीकियोंको लक्ष करके लाखों तीक्ष्ण वाणोंसे बांध देते हैं । पुन कदम्यके
फूलोंक आकार वाली बालूमें, जिसमें बालिकाके चित्तकी तरह प्रवेश करना कठिन है और जो
बज्रमयदासोंसे घेरित है तथा खैरकी लकड़ोंके अगारोंके कण समूहकी तरह गर्म है, उसमें बल-
पूर्वक चलाये जानेपर तुमने जो दु ख पाया है उसका विचार करो ॥१५६३॥

गा०—काललोहमे निमित्त मण्डपमे तपाये हुए लोहेसे बनी प्रतिमाहूयी युवतियोंसे बल-
पूर्वक आलिंगन कराये जानेपर तुमने जो दु ख पाया उसका विचार करो । तथा खारा कडुआ
तपा हुआ बलकल पिलाये जानेपर जो दु ख पाया उसका चिन्तन करो ॥१५६४॥

विशेषार्थ—ताम्या, मीसा, मज्जी, गूगल आदिको पकाकर जो काढ़ा तैयार होता है उसे
कलकल कहते हैं ।

गा०—बलपूर्वक यत्रके द्वारा तुम्हारा मुह फटकर जो तुम्हें जलते हुए लोहेके अगार
खिलाये गये और भट्टीमें माडकी तरह पकाया गया तथा कड़ाहीमें तला गया ॥१५६५॥

१ दानुगच्छत तस्मिन् भय-अ० । दान्तात नकुभय-ज० । २ वारावलिनावालिवावि-ज० । ग
तेपा ता शिला पुनि-मूलाश० । ३ तच्चित्तव-मु० ।

कुडाकुट्टिं चुण्णाचुण्णिं मुग्गरमुसुडिहत्थेहि ।

जं वि सखडारुडिं कओ तुम जणसमूहेण ॥१५६६॥

‘कुट्टाकुट्टिं बहुसो’ यत्कुट्टितश्चूर्णितं मुद्गरमुसुडिहस्तं, यच्च जनसमूहेन भवान् असत्वरुडित-
स्तदन्तं करणे कुर ॥१५६६॥

अनुवृत्तिक्रिया भाषा सप्रति सुखशीलता ।

अथा कृपा दमो दानं प्रसादो मार्दव क्षमा ॥१॥

इत्येवमाद्या सुगुणा प्रशस्ता ये शरीरेणा ।

तेषु ते दुर्लभा नित्य कान्तारेष्वेव मानुषा ॥२॥

शत्रुमित्रमुदासीनं हृत्यप्यत्र त्रिधा जनः ।

शत्रुश्च हि सर्वोऽत्र जनः सर्वस्य नारकः ॥३॥

कल्पने कण्येदं चर्चनं रात्रौ ब्रह्मचर्येणैव ।

गदाभिर्मुशलैः शूले प्राज्ञैः पाषाणपाट्टिभ्यो ॥४॥

मुष्टिभिर्यष्टिभिर्लोष्टैः शङ्खैश्चिन्तितैश्च ।

अस्तिभिः क्षुरिक्काभिश्च कुतैर्दण्डैः सतोपरैः ॥५॥

तथा प्रकारैरन्यैश्च निशितैर्नैकसंस्थितैः ।

भूखड्भावास्त्रैश्च जातैर्वैक्रियैरपि चापुष्पैः ॥६॥

नारकास्तत्र तेऽप्योप्य रोपवेगेन पूरिताः ।

पूर्ववैराग्यनुत्पन्ना ये भगवान्नाम भवात् ॥७॥

घ्नन्ति छिदन्ति चिदन्ति खादन्ति च तुदन्ति च ।

विष्यन्ति चापैर्मन्यन्ति प्रहरन्ति हरन्ति च ॥८॥

इव शृगालवृकश्याम्रगुद्वृक्षरूपाणि चापरे ।

विहृत्य विदध पापा बाधतेऽत्र परस्पर ॥९॥

गा०-टी०-अनेक बार हाथमे मुद्गर लेकर तुम्हे कूटा गया, मूसलोंसे जनसमूहने तुम्हे
चूर्ण कर डाला । उसका मनमे विचार करो ।

अनुकूल क्रिया, भाषा, सज्जनता, नम्रता, सुखशीलता, लज्जा, दया, इन्द्रिय दमन, दान,
प्रसन्नता, मार्दव, क्षमा आदि जो प्रशस्त सुगुण प्राणियोमे होते हैं वे गुण नरकमे वैसे ही दुर्लभ
हैं जैसे घोर वनमे मनुष्यका मिलना दुर्लभ है । अन्यत्र शत्रु, मित्र और उदासीन तीन प्रकारके
लोग होते हैं । किन्तु नारकी सब सत्रके शत्रु ही होते हैं । नरकमे नारकी अपने विभगजानमे
पूर्व जन्मके वैरोको स्मरण करके और क्रोधमे भगवर वक, वाण, करोन, नख, गदा, भूमल,
शूल, भाला, पाषाणमे निर्मित अस्त्र विशेष, मुट्ठी, लन्डी, लोष्ट, शङ्ख, शक्ति, तलवार, छुरी
भाला, दण्डा, गुर्ज तथा इमो प्रकारके अन्य तोरण अस्त्र शस्त्रोंसे जो वहाँकी पृथिवीते स्वभावमे
स्वय उत्पन्न हो जाते हैं तथा विक्रियासे निर्मित आयुधमे परस्परमे मारते हैं, छेदने भेदने हैं,
खाते हैं कोचते हैं, प्रहार करते हैं, बीधते हैं । अन्य नारकी बुत्ता, मियार, मडिया, व्याघ्र, गुद

काष्ठशैलशिलारूपे निपतति च केचुचित् ।
 पततस्तान्प्रतीच्छति ते च क्षुलाग्रस्तस्थिता ॥१०॥
 मज्जयति जलीभूय वायुभूय नृदति च ।
 दहति दहनोभूय न दपति परस्पर ॥११॥
 तिष्ठ दातेव हन्ति स्वा त्व कृतस्त्य पलायसे ।
 निगूहसे महामोहाभृत्यस्त्वा समुपस्थित ॥१२॥
 छिद्रिद्वि भिद्रिद्वि तुवाकर्ष्य रुद्रि इधि वधन त ।
 बधानेन मृदानां बह च्छादय मारय ॥१३॥
 प्रबधे पातयाप्येन तुव पिडो प्रवीपय ।
 धिगसेति च सरम्य त मु चति गिरोऽगुभा ॥१४॥

जनेनेदृशा नारकेण प्रापितवेदना कुट्टि निरूपयति—

ज 'अवदधो उप्पाडिदाणि अच्छीणि निरयवासम्मि ।

अवमस्स उक्खया ज सत्तलमूलाय ते जिब्भा ॥१५६७॥

'ज अवदधो उप्पाडिदाणि' निर पृष्ठदेनादुत्पाटिते । 'अच्छीणि' लोचने । 'निरयवासे य' नरकवासे च । 'अवमस्स' अवशम्य । 'उत्खाता' उत्पाटितः । 'ज' यत् । 'सत्तलमूलाय ते जिब्भा' निरवदोपा ते जिह्वा ॥१५६७॥

कुम्भीपाएसु तुम उक्कटिओ ज चिर पि व सोल्ल ।

ज सुट्ठिउव्व निरयम्मि पउलिदो पावकम्महि ॥१५६८॥

'कुम्भीपाएसु तुम' कुम्भीपाकेषु त्व । 'उक्कटिओ' उत्खनित । 'ज सुट्ठिउव्व' क्षूलप्रोतमामवत् । 'निरयम्मि' नरके । 'पौगिओ' अगारप्रकरे पक्व । 'पावकम्महि' पापकर्मभि ॥१५६८॥

आदिका रूप अपनी विक्रियासे वनाकर विस्तारपूर्वक परस्परमे कष्ट देते हैं । कुछ काष्ठ, पर्वत और शिलारूप वनकर उनपर बरसते हैं । उनको अपने ऊपर गिरते देखकर दूसरे नारकी जो सूलीके अप्र भागपर टंगे होते हैं उन्हें ग्रहण करते हैं । वे नारकी जल वनकर दूसरे नारकियोंको डुवाते हैं, वायु वनकर उड़ते हैं । आग वनकर जलाते हैं । परस्परमे दया नहीं करते । अरे दासीपुत्र ! ठहर, वहाँ भागा जाता है । मैं तुझे मारूँगा । तेरी मृत्यु आ गई है । इसका छेदन करो, भेदन करो, पकाड़ लो, खींच लो, मार डालो, जला डालो, चीर दो इत्यादि अशुभ वचन बोलते हैं ॥१५६६॥

नारकी जीवने इस प्रकार जो वेदना भोगी उसे कहते हैं—

गा०—नरकमे सिखे पिछले भागसे तेरी आँखें निकालो गई । और पराधीनतावश तेरी पूरी जिह्वा जड़मूलमे उग्राडी गई ॥१५६७॥

गा०—पापी नारकियोंके द्वारा नरकमे तुम चिरकाल तक कुम्भीपाकमे ओटाये गये । तब सूलमे गिरोये मामकी तरह अगारोपर पकामे गये ॥१५६८॥

१ जावट्टा मु० । अवदधो मूलार० । २ पिगोहगे ज० ज० । मोल्ल धृतमिश्रित तैल वखलेंप इत्यय—मूलार० ।

ज भज्जिदोमि भज्जिदगपि च ज गालिओमि रमय च ।

ज कप्पिओमि वल्लूरय च चुण्णं व चुण्णकदो ॥१५६९॥

‘ज भज्जिदोसि’ यद्भूषटोऽग्निं ‘भज्जिदवपि’ भज्जिदगनामधेयशास्त्रवत् । ‘ज गालिओसि रसगोच’ यद्गालितोऽग्निं रमयत् । ‘ज कप्पिदोसि’ यत्कृत्तित् । ‘ज छिन्नो सि’ यत् छिन्न । ‘वल्लूरय पि व’ वल्लूरवत् । ‘चुण्णय’ चूर्णयत् । ‘चुण्णकदो’ चूर्णाकृत ॥१५६९॥

चक्केहिं करकचेहि य ज सि णिकत्तो विकत्तिओ ज च ।

परसूहिं फाडिओ ताडिओ य ज त मुसुंदीहि ॥१५७०॥

‘चक्केहिं करकचेहि’ चक्रे चक्रचक्ष । ‘ज सि णिकत्तो’ यदसि निवृत्त । ‘विकत्तिओ’ विविध कृत । ‘परसूहिं फाडिओ’ परगुप्ति पाटित । ‘ताडिओ’ ताडित । ‘ज’ यत् त्व ‘मुसुंदीहि’ मुपुडोमि ॥१५७०॥

पासेहिं ज च गाढ वद्धो भिण्णो य ज सि दुघणेहि ।

ज खारकदमे खुप्पिओ मि ओमच्छिओ अवसो ॥१५७१॥

‘पासेहिं’ पासां । ‘ज’ यत् । ‘गाढ वद्धो’ दृढ वद्ध । ‘भिण्णो य भिन्नश्च । ‘ज सि’ यदसि । ‘दुघणेहिं’ घनं । ‘ज’ यत् । ‘खारकदमे’ क्षारकर्दमे । ‘खुप्पिओसि’ निष्ठातोऽग्निं । ‘ओमच्छिओ’ अधोमन्त्रक । ‘अवसो’ परवस ॥१५७१॥

ज छोडिओमि ज मोडिओमि ज फाडिओसि मलिदो स ।

जं लोडिदोसि सिंघाडएसु तिक्वेसु वेण्ण ॥१५७२॥

पद्मन्, पानिन्, मदिन्, लोडितश्च तीक्ष्णेषु शृगाटकेषु वेगेन ॥१५७२॥

विच्छिण्णगोवगो खार सिच्चित्तु बीजिदो ज मि ।

सचीहि विंशुक्कीहि य अद्याए सुंचिओ ज मि ॥१५७३॥

‘विच्छिण्णगोवगो’ विच्छिन्नागोपाय । ‘खार सिच्चित्तु’ क्षार मिक्त्वा । ‘बीजिदो ज सि यद्बीजित् ।

गा०—तुम भाजीकी तरह भंजे गये हो । मुडके रसकी तरह छाने गये हो । माम्बे टुकड़ोंकी तरह काटे गये हो और चूर्णकी तरह चूर्ण किये गये हो ॥१५६९॥

गा०—चक्रके द्वारा छेदे गये हो । भारेके द्वारा चीरे गये हो । परमुके द्वारा फाडे गये हो । और मुसुटी अस्त्र बिंदोपसे पीटे गये हो ॥१५७०॥

गा०—पाशके द्वारा मजबूतीमे बाधे गये हो । घनोके द्वारा छिन्न-भिन्न किये गये हो । पराधीन होकर ग्यारी कीचडमे नीचेको मस्तक करके गाडे गये हो ॥१५७१॥

गा०—जो बिदारे गये हो । मोडे गये हो, फाडे गये हो, पैरोंमे मले गये हो, तथा वेगमे तीक्ष्ण लोहमयी सिंघाड़ोंपर घसीटे गये हो ॥१५७२॥

गा०—अग उपागके विच्छिन्न होनेपर खारे जल बादिसे भींचे गये । फिर पखाने

‘सत्तोहि’ शक्तिभि । ‘विमुक्तीहि य’ अयोमयकण्ठकाग्रंदण्डे । ‘अदयाए’ दयामन्तरेण । ‘सुचिदो’ परा-
वर्तिन ॥१५७३॥

पगलतरुधिरधारो पलत्रचम्भो पभिन्नपोट्टिसरो ।

पउलिदहिदओ ज फुडिदच्छो पडिचूरियगो य ॥१५७४॥

‘पगलतरुधिरधारो’ प्रगलद्रुधिरधार । ‘पलत्रचम्भो’ प्रलम्बत्वञ् । ‘पभिन्नपोट्टिसरो’ प्रभिन्नोदर-
शिखा । ‘पउलिदहिदओ’ प्रपल्लितहृदय । ‘जं’ यत् । ‘फुडिदच्छो’ स्फुटितलोलन । ‘पडिचूरिदंगो य’ परिचूर्ण-
ताङ्ग ॥१५७४॥

जं ‘चडवडितकरचरणंगो पत्तो मि वेदणं तिच्चं ।

जिरए अणंतमुत्तो त अणुचितेहि जिस्सेस ॥१५७५॥

‘जं’ यत् । ‘चडवडितकरचरणंगो’ वेपमानकरचरणान्ग । ‘पत्तो मि वेदणं तिच्चं’ प्राप्ताञ्जलि वेदना-
तीव्रा । ‘जिरए’ नरवे । ‘अणंतमुत्तो’ अनन्तवार तत् अणुचितेहि’ अनुक्रमेण चिन्तय । ‘जिस्सेस’ निरवरोध ॥
नरकगतिदु ख वर्णितम् ॥१५७५॥

तिरियगदि अणुपत्तो भीममहावेदणाउलमपार ।

जम्मणमरणरहट्ट अणतमुत्तो परिगदो जं ॥१५७६॥

‘तिरियगदि अणुपत्तो’ तिर्यग्गतिसमुप्राप्त । ‘भीममहावेदनाउलमपार’ । भीममहावेदनातुलमपार
‘जम्मणमरणरहट्ट’ जन्ममरणघटीयत्र । ‘अणतमुत्तो’ अनन्तवार । ‘परिगदो’ परिप्राप्ताञ्जलि । यत् चितेहि त
इति वक्ष्यमाणेन संबन्ध । निर्यंचो हि नानाविधा पृथिव्यन्तेजोवायुवनस्पतित्रयभेदेन ॥१५७६॥

ह्वा कौ गई जिमने वेदना वडे । फिर शक्ति नामक अम्त्रमे और लोहेके दण्डसे जिमने अग्नि काटे
ग्यो हो, निर्दयतापूर्वक खोचे गये ॥१५७७॥

गा०—रधिगकी धार बह रही है, चमड़ा लटक रहा है, उदर और फिर फट गया है,
हृदय दुःखमे मतलब है, आँखें फूट गई हैं । समस्त शरीर छिन्न-भिन्न है ॥१५७८॥

गा०—हाथ पैर कापते हैं । ऐसी दशामे तुमने नरकमे जो अनन्त धार नौबत कष्ट भोगा
उम सबका क्रमसे चिन्तन करो ॥१५७९॥

नरकगतिके दुःखका वर्णन समाप्त हुआ ।

गा०—टी०—नरकमे निबलकर तुम निर्यञ्चगतिमे आये । यह जन्म मरणरूपी घटीयत्र
(रहट्ट) भयानक महावेदनाआमे भगा है, इसका पार नहीं है । इने तुमने अनन्तवार प्राप्त किया है ।
निर्यञ्च पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रयमे भेदने अनेक प्रवाग्के हैं ॥१५७९॥

आत्मानुभूतान्यपि न स्मरन्ति दुःखानि केचिद्धि नरा प्रमत्ता ।
दुष्टभूतान्यन्यसमुद्भूतानि ते विस्मरन्तीति न विस्मयोऽत्र ॥१॥
प्रमादलोपार्यमतो नरेभ्यो ज्ञानोऽपि तोऽयं परित्यज्य एव ।
सस्मार्यमाणे प्रभवन्ति यस्मिन्गुणा न दोषाश्च समुद्भवन्ति ॥२॥
शोते निदात सलिलादि चोष्णे क्षेम भये सश्रयितु समर्था ।
ये जंगमास्ते न तु सास्ति अकिरेकेन्द्रियाणा बत जीवकानर ॥३॥
सर्वोपसर्गानिह मोक्षकामा यथा विरागा मनुजः सृहन्ते ।
सर्वोपसर्गनिवशा बराका एकेन्द्रिया ये च सदा सृहन्ते ॥४॥
जात्यधमका बधिराश्च बाला रम्यासु रत्नाधारणप्रहीणा ।
प्रमद्यमाना गजवाज्रिपानैर्यथा श्लेषेन् विवशा बराका ॥५॥
तथा प्रकरो विकलेन्द्रियाणा प्रवर्तते नारकसुखतुल्यः ।
मृत्यु समतात् सतत सुषोरो ग्रामेऽवरप्येयु च नि शरण्यः ॥६॥
गोत्राविकाशे परिपद्यमाना यानादिष्वर्के परिपिद्यमानाः ।
अपोन्मदवत्रे परिमुष्यमाणा दुःख च मृत्यु च हि ते समन्ते ॥७॥
छिन्ने शिरोभिश्चरणैश्च भग्नैश्चावित्तैश्चावपवैस्तनूना ।
चिर स्फुरन्त प्रतिकारहीना कृच्छ्रेण केचिज्जहति स्वमायुः ॥८॥
निमज्जमाना उदबिबुनापि निश्वासवातैरपि चोद्यमाना ।
प्रचोद्यमाना लघुनोष्मणापि नश्यन्ति ये तेऽपु कथा भवन्तु का ॥९॥

कितने ही प्रमादी मनुष्य अपने द्वारा अनुभूत दुःखोंको भी भूल जाते हैं । तब देखे हुए, सुने हुए और दूसरोंके भोगे हुए दुःखोंकी भूल जायें तो इसमें क्या आश्चर्य है । अतः मनुष्योंके द्वारा जाना हुआ भी यथार्थ प्रमाद दूर करनेके लिये कहा जाता है । जिसका स्मरण होनेपर गुण प्रकट होते हैं और दोष प्रकट नहीं होते । जो जगम प्राणी होते हैं वे गीतमें वायु रहित स्थानमें, गर्मीमें जलादिमें, भय उपस्थित होनेपर निरापद स्थानमें आश्रय ले सकते हैं । किन्तु खेद है कि एकेन्द्रिय जीवोंमें ऐसी शक्ति नहीं होती । जैसे मोक्षके इच्छुक विरागी मुनि सब उपसर्गोंको सृहन्ते हैं । पराधीन बेचारे एकेन्द्रिय भी सब उपसर्गोंको सदा सृहन्ते हैं । जैसे जन्मसे बन्धे गूँगे बहरे बालक रक्षा और शरणमें विहीन हुए बेचारे विवश होकर मागोंमें हाथी घोड़े सवारी आदिमें कुचलकर मर जाते हैं । विकलेन्द्रिय जीवोंकी भी ऐसी ही दशा है । उनका दुःख भी मार्गवियोग समान है । ग्रामों और वनोंमें भी उनको शरण नहीं है । उनकी घोर मृत्यु सदा होनी रहती है । गाय बैल, बकरा भेडा आदिके द्वारा वे कुचले जाते हैं । गाड़ी आदिके चकोके नीचे पिन जाते हैं । परम्परमें एक दूसरेके मुँहोंके द्वारा पीड़ित होकर वे दुःख और मृत्युको प्राप्त होते हैं । निरोंके भग्न हो जानेपर, पैरोंके टूट जानेपर तथा शरीरके अवयवोंके रोगमें ग्रस्त होनेपर वे चिरबाल तब तडफडाते रहते हैं, उनका कोई इलाज नहीं करना । बड़े कष्टसे वे वायु पूरी करते हैं । जो जलकी एक बूदमें भी डूब जाते हैं, प्राणियोंके श्वासकी वायुसे भी पीड़ित होते हैं । जरा सी भी गर्मीसे पीड़ित होनेपर मर जाते हैं उनकी क्या क्या कहों जायें ?

सत् प्रविश्येह यथा तत् सन्नुन्मज्जनं चैव निमज्जनं च ।
 क्रीडाप्रसक्तो बहुशोऽपि कुर्यादनन्यकार्यं स्ववशो वयस्य ॥१०॥
 प्रविश्य जन्मोदयिमध्यमेव शरीरिणस्ते बहु जन्ममृत्यून ।
 अन्तर्मुहूर्तेऽपि समाप्नुवन्ति पेपीयमानाः कटुदुःखतोयम् ॥११॥
 सूक्ष्मे शरीरेऽपि ते महान्ति दुःखानि नित्यं सममाप्नुवन्ति ।
 'स्वल्पे' देहेषु समोहितेषु दुःखोदयो देहिगुणैश्च दृष्टः ॥१२॥
 येषां न माता न पिता न बन्धुर्न चापि मित्रं न गुरुं नाथ ।
 न भेषजं नाभिजनो न भक्ष्यं न ज्ञानमस्त्येव कुलं सुखं स्यात् ? ॥१३॥
 मात्रा विद्योऽपि सतोह तावत् दुःखान्मु तत्तुं न जनो लभेत ।
 मात्रा विद्योऽस्तु भवेन्न येषां स्थानं कथं ते न हि दुःखराशे ॥१४॥
 मा भैष्ट मा भूतव दुःखजालं मा बिष्ट मा वेति वरावकाणां ।
 आश्वासको वाप्यनुकम्पिता वा तेषां जनः कोऽस्ति यथा मरणा ॥१५॥
 तैस्तैः प्रकारैः सततं समन्ताच्छब्दद्वयानां अपि मृत्युमुग्र ।
 करोति वा को ग्रहणं निरोक्ष्य विमुच्य सर्वं यद्विदो मनुष्यान् ॥१६॥
 अन्योन्यतो मार्यजनाच्च पापात् क्षुधादितरचापि महाभयानि ।
 पञ्चवेन्द्रिया यानि समाप्नुवन्ति दुःखानि तेषामिह कोपमा स्यात् ॥१७॥
 स्तनययान्त्वानपि भक्षयन्तः श्रुतास्तिरश्चोऽपि न निष्कृपाकाः ।
 निहत्य खादन्तु परान्परेषु तिर्यक्षुः किं विस्मयनीयमस्ति ॥१८॥

जैसे कोई स्वाधीन वयस्क पुरुष क्रीडाप्रसक्त हो, सरोवरमें प्रवेश करके बहुत धार जलमें डूबता और उतराता है। वैसे ही शरीरधारी प्राणी जन्मरूपी समुद्रके मध्यमें प्रवेश करके कटुक दुःखरूपी जलको पीते हुए एक अन्तर्मुहूर्तमें भी बहुत बार जन्म लेते और मरते हैं। यद्यपि उनके शरीर सूक्ष्म होते हैं फिर भी वे महान् दुःख भोगते हैं। स्थूल शरीर मिलने पर उनका दुःख अन्य प्राणी भी देख सकते हैं। जिनका न पिता है, न माता है, न बन्धु है, न मित्र है, न गुरु है, न स्वामी है, न शीपथ है, न वश है, न भोजन है और न ज्ञान है उन्हें सुख कैसे हो सकता है। माताका वियोग भी होनेपर इतना दुःख होता है जिसे मनुष्य सह नहीं पाता। जिनके माता ही नहीं है उनकी दुःख राशिका तो कहना ही क्या है। तुम मत डरो, तुम्हें दुःख न हो, इस प्रकार उन बेचारोंको मनुष्योंकी तरह न कोई सान्त्वना देनेवाला है और न कोई उनपर दया करनेवाला है। विभिन्न प्रकारोंमें निरन्तर सदा चहुँ ओरसे उग्र मृत्युको प्राप्त उन प्राणियोंको देखकर उनके सम्बन्धमें जानने वाले मनुष्योंके सिवाय अन्य कौन उनकी सुख लेता है। पञ्चवेन्द्रिय तिर्यञ्च परस्परमें एक दूसरेसे, पापी मनुष्योंमें भूख प्यास आदिसे जिन महाभयकारी दुःखोंको प्राप्त होते हैं उनकी कोई उपमा नहीं है। वे अपने बच्चोंको भी खा जाते हैं। तिर्यञ्च भी दयाहीन नहीं मुने गये हैं। किन्तु जो अपने ही बच्चोंको खाते हैं वे यदि दूसरीको खा जायें तो इसमें आश्चर्य ही क्या। वे परस्परमें एक दूसरेका घात करनेके लिये प्रहार करते हैं। उनको मारनेके लिये

१ स्थूलानुदेहेषु समोहितेषु सुसोदयो देहिगुणैश्च दृष्टः ।—अ० । २ दुःखं च स्यादविष्ट—अ० ।

अन्योन्यघातार्थमनुप्रयाति हन्तु तमन्यं कृपणोऽनुयाति ।
 त कश्चिदन्य सहसा निहता ही धिक्वततो भीमतर किमन्यत् ॥१९॥
 अन्योन्यरग्नेक्षणनष्टनिद्रा अन्योन्यमहृत्य जिजीविषन्त ।
 स्वस्या न येऽन्योन्यभयात्स्वपन्ति किं ते भवेयु सुशिन वदाचित् ॥२०॥
 वने मृगास्तोयतृणप्रपुष्टा मृगौसहाया रतिमाप्नुवन्ति ।
 व्याधादिभिर्भयं द्रुयमाप्नुवन्ति निरेनस कारणमत्र कर्म ॥२१॥
 वियोजिता आत्मसुतेऽश्च बालैर्मृग्यो मृगैश्चात्ममनोऽनुकूलै ।
 दिशस्तु दीनाक्षिभिरौष्यमाणा सुदरुण मारणमाप्नुवन्ति ॥२२॥
 स्वभावपापा कुक्कीरिताभि प्रोत्साहिता दुःश्रुतिभि पुनश्च ।
 अक्षिप्सतो दुर्घसितो यथेष्ट धनन्तोऽभ्यस्तश्च हितानुमन्यते ? ॥२३॥
 वने मृगेभ्य पिशिताशनेभ्यो प्राप्तेषु नृभ्यश्च तथाविधेभ्य ।
 ते विभ्यते न वचचिदाश्चसगतो यदुच्छया विभ्रति जीवितानि ॥२४॥
 यदङ्कुशादिग्रहसैर्गजाश्च कशादिघातेऽश्च ह्या हुताशा ।
 गावश्च तोत्रादिबधै परेषा कुवन्ति कर्माभिरपावकामा ॥२५॥
 भृत्यापुतानामलयेतदेव विरागभावप्रभवे निमित्तम् ।
 तादृग्विधाना बहवो हि कोदध न्य प्रकुर्वन्त्यभितेतरस्य ॥२६॥
 बह्वृत्मानाश्च बवाग्निवेगैर्महाजलोपैश्च समूहमानाः ।
 मृगा खगा सर्पसरीसृपाश्च सार्धं क्रियन्ते बहवो बतान्ये ॥२७॥

दूसरा पशु उमके पीछे लग जाता है । उसको भी कोई तीसरा मार देता है । धिक्कार है इसे, इससे भयानक और क्या हो सकता है । परस्परमें एक दूसरेके छिद्रोको देखनेसे जिनकी नीव भाग जाती है, जो एक दूसरेको मारकर जीना चाहते हैं, जो परस्परमें एक दूसरेके भयसे स्वल्प होकर सो नहीं सकते वे कभी सुखी कैसे हो सकते हैं ? वनमें मृग जल और तृण खाकर पुष्ट होते हैं । हिंणी उनकी सहचरी होती है । परस्परमें प्रेमसे रहते हैं । बिना किसी अपराधके भी व्याध आदिसे उन्हें भय रहता है । इसमें कारण उनका पूर्व कर्म है । उन्हें अपने वच्चोंसे वियोगका दुःख उठाना पड़ता है । अपने मनके अनुकूल मृगांकी खोजमें दीन दृष्टिसे दिशाओंको देखा करते हैं और इस तरह भयकर मृत्युको प्राप्त होते हैं । जो स्वभावसे ही पापी है, और कुकदियोंके द्वारा कही गई न सुनने योग्य कविताओंमें उत्साहित होकर, दुर्गतिसे भी नहीं डरते वे उन पशुओंको यथेच्छ मारते हैं और इसे हित मानते हैं । वनमें मासाहारी पशुओंसे, ग्रामोंमें मासाहारी मनुष्योंसे डरते हैं । वे कही भी अपनी इच्छानुसार निर्भय जीवन नहीं बिताते । हाथी अनुश आदिके प्रहारासे, घोड़े काँडे आदिकी मारसे और बेल पैनी आदिके घातमें मरणपर्यन्त दूसरोंका काम करते हैं । जो बुद्धिमान् हैं उनके बेराग्य उत्पन्न होनेमें यह सब ही निमित्त है । उनकी बहृतसो कोटियां हैं वे एक दूसरेको कष्ट कैसे दे सकते हैं । जगलकी आगके वेगमें जलते हुए महाजलसमूहके प्रवाहमें बहाये जाते हुए मृग, पक्षी, सर्प, सरीसृप तथा अन्य भी बहृतसे जीव एक साथ मर जाते हैं ॥१५७६॥

१ ही धिक्क लोभान्निवरा किमन्य'—आ० । २ मर्द्यायुनामाल—आ० । ३ न्यमिने नारम्य

ताडणतासणवंधणवाहणलंछणविहेडणं' दमणं ।

कण्णच्छेदणणामावेहणंणिल्लछणं चैव ॥१५७७॥

'ताडणतासण' ताडननामनवन्धनलाञ्छनवाहनविहेडनकण्छेदननासिकावेधनबीजविनाशनानि ॥१५७७॥

छेदणभेदणइहण णिपीलण गालण छुहातण्हा ।

भक्खणमइणमलणं विकत्तण सीदउण्हं च ॥१५७८॥

छेदनभेदनइहणनिपीलणगालणानि क्षुत्तुवाधामक्षणमर्दनमलनविकर्तनानि । सीतमुष्ण च ॥१५७८॥

ज अत्ताणो णिप्पडियम्मो बहुवेदणुदिओ पडिओ ।

बहुएहि मदो दिवसेहिं चडयइतो अणाहो त ॥१५७९॥

'ज अत्ताणो' यदत्राणा । 'णिप्पडियम्मो' निम्प्रतीवार । 'बहुवेदणुदिओ' बहुवेदनादित । 'पडिओ' पतित । 'बहुएहिं' मदो दिवसेहिं' बहुभिमृशो दिवस । 'चडयइतो' स्फुरदेह । 'अणाहो' अनाय । 'त' एव ॥१५७९॥

गेगा विविहा वाधाओ तह य णिच्च भय च मच्चत्तो ।

तिव्वाओ वेदणाओ धाडणपादाभिधादाओ १५८०॥

'गेगा विविहा' व्याधयो नानाप्रकारा । 'वाधाओ' बाधारथ । 'तया निच्च भय च मच्चत्तो' नित्यं भय च धर्षत । 'तिव्वाओ वेदणाओ' तीव्रा वेदना घाटनपादाभिधाताश्च ॥१५८०॥

सुविहिय अदीदकाले अणंतकाय तुमे अदिगदेण ।

जम्मणमरणेमणंतं अणतसुत्तो ममणुभूद ॥१५८१॥

'सुविहिय' सुचारिण । 'अदीदकाले' अतीतकाले । 'अणतकाय तुमे अदिगदेण' अनन्तकाय स्वया प्रविष्टेन । 'जम्मणमरणेमणंतं' जन्ममरण नानन्त । 'अणतसुत्तो' अनन्तवार क्षिप्त । 'ममणुभूद' सम्पन्नमूढ ॥१५८१॥

गा०—लाठी आदिसे मारना, डराना, रस्मी आदिसे वाधना, बोसा लादकर देशान्तरसे सँ जाना, गर्म लोहसे दागना, पीडा देना, दमन करना, अण्डकोषको दबा देना । अणको छेदना, भेदना, जलाना, दमाना, रोग आदि होनेपर रक्त निकालना, भूख प्यासको बाधा, भक्षण, मर्दन, मलना, कान आदिको काटना, शीत उष्ण इत्यादि दुःख तिर्यञ्च गतिसे तुमने महे हैं ॥१५७७-७८॥

गा०—जहाँ कोई रक्षक नहीं, कोई प्रतीकार नहीं, बहुत बलसे पीछित होकर गिरे और अनाय दसामें तटफडाते हुए तुम बहुत दिनोंमें मरे ॥१५७९॥

गा०—तिर्यञ्चगतिसे नाना प्रकारके रोग, नाना प्रकारकी बाधाएँ, मदा मव ओरसे भय, तीव्र वेदनाएँ, गैरसे मारना आदि कष्ट हैं ॥१५८०॥

गा०—हे चारित्रसे सम्पन्न शपक ! अतीतकालसे तुमने अनन्तकायसे जन्म लेकर अनन्त बार अनन्त जन्म मरणोंको भोगा ॥१५८१॥

इच्छेवमादिदुःख अणंतसुखो तिरिक्खजोणीए ।

जं पत्तोसि अदीदे काले चित्तेहि त मव्व ॥१५८२॥

‘इच्छेवमादिदुःख’ इत्येवमादिदुःख । ‘अणंतसुखो’ अनन्तवार । ‘तिरिक्खजोणीए’ तिर्यग्योनी । ‘जं’ यत् । ‘पत्तोसि’ प्राप्तोऽसि । ‘अदीदेकाले’ अतीतकाले । ‘चित्तेहि त मव्व’ तत्सर्वं चिन्तय । तिरियवदी ॥१५८२॥

देवत्तमाणुमत्ते जं ते जाएण सकयकम्मवसा ।

दुक्खाणि किलेसा वि य अणतसुखो समणुभूदं ॥१५८३॥

‘देवत्तमाणुसत्ते’ देवत्वमानुपत्ययो । ‘जाएण’ जातेन । ‘सकयकम्मवसा’ स्वकृतकर्मवशात् । ‘दुक्खाणि किलेसा वि य’ दुःखानि क्लेशाश्च । ‘अणतसुखो’ अनन्तवारं समनुभूता ॥१५८३॥

पियविप्पओगदुक्ख अप्पियसवासजाददुक्ख च ।

‘ज वेमणस्सदुक्खं जं दुक्ख पच्छिदालामे ॥१५८४॥

‘पियविप्पओगदुक्ख’ प्रियविप्रयोगज्जात दुःख । ‘अप्पियसवासजाददुक्ख च’ अप्रियं महवामेन जात च दुःख । येषां नामश्रवणेऽपि शिर झूठो जायते, येषां दर्शनादङ्गने धूपायने । ‘ज वेमणस्सदुक्खं’ यद्वैमनस्यदुःखं ‘पच्छिदालामे ज दुःखं यदुःखं प्रापितालामे ॥१५८४॥

परमिच्चदाए जंते अमव्वमयणेहि कडुगफरुसेहि ।

पिणभत्थणावमाणणतज्जणदुक्खाइ पत्ताइ ॥१५८५॥

‘परमिच्चदाए’ परमृच्यताया सत्या ‘ते’ तव ‘जं’ यज्जात । ‘अमव्वमयणेहि’ अक्षिप्तवचने । ‘कडुगफरुसेहि’ कटुकं पर्यैद्व । ‘पिणभत्थणावमाणणतज्जणदुक्खाइ पत्ताइ’ निर्भर्त्सनभावमानतर्जनदुःखानि प्राप्तानि ॥१५८५॥

दीणत्तगेमचिंतामोगामरिमग्गिपउल्लिमणो ज ।

पत्तो घोर दुक्ख माणुसजोणीए मतेण ॥१५८६॥

गा०—तिर्यङ्ग्योनिमे तुमने अतीतकालमे अनन्तवार जो इम प्रकारके दुःख भोगे हैं उन सबका विचार करो ॥१५८२॥

गा०—अपने किये हुए कर्मके वशीभूत होकर तुमने देवपर्याय और मनुष्य पर्यायमे जन्म लिया और वहाँ भी अनन्तवार दुःख और क्लेशोको भोगा ॥१५८३॥

गा०—टी०—प्रिय जनके वियोगका दुःख, अप्रियजनोके मायमे रहनेका दुःख, जिनका नाम मृतकर भी मिरमे दर्द होता है, जिनके देखने मात्रसे आँखें लाल हो जाती हैं उन्हें अप्रिय कहते हैं । उनके मायमे रहनेका दुःख, वैमनस्यका दुःख और इच्छित वस्तुके न मिलनेका दुःख, राजा आदिकी नौकरने करनेपर अक्षिप्त और कटुक वचनाका दुःख, निक्कार, तिरस्कार, अपमान और डाटनेका दुःख तुमने मगा है ॥१५८४-८५॥

‘दीनतरोषचित्तसोपाभरितगिण्णुल्लिखमणो ज’ दीनत्वरोषचित्तसोकाभरितगिण्णुल्लिखमणो मत्तप्तमना यन् ।
‘पत्तो घोर द्रुक्ता’ प्राप्त घोर दुःख । ‘माणुसन्नोणे सतेण’ मनुष्ययोनी सत्या भवता ॥१५८६॥

दडणमुण्डणताडणघरिसणपरिमोससकिलेसा य ।

घणहरणदारधरिसणघरदाहजलादिघणणाम ॥१५८७॥

दडणमुण्डण—दण्डनमुण्डनताडणद्रूपणपरिमोषणसकलेसा घनापहरणदारद्रूपणानि गृहदाहजलादिभिर्द-
विणनासात् ॥१५८७॥

दडकसालद्धिसदाणि डंगुराकटमद्दण घोर ।

कुंभीपाको मच्छपपलीवणं मत्तवुच्छेदो ॥१५८८॥

‘दण्डकसालद्धिसदाणि’ दण्डकशायपट्टिदातैस्ताडनानि दण्डादिकार्यत्वाद्दण्डादिसाब्देनोच्यन्ते । डंगुरा मुष्टि-
प्रहारा । ‘कटमद्दण’ कण्टकानामुपरि प्रक्षिप्य मर्दनं घोर । ‘कुंभीपाक’ । ‘मच्छपपलीवण’ मत्तवै अग्नि-
प्रज्वलन । ‘मत्तवुच्छेदो’ आहारनिरोध ॥१५८८॥

दमणं च हस्तिपादस्स णिगलअद्वरत्तरज्जुहिं ।

यघणमाकोडणय ओलवणणिहणण चेव ॥१५८९॥

‘दमण’ च हस्तिपादस्स’ हस्तिपादेनोन्मर्दन । ‘णिगलअद्वरत्तरज्जुहिं’ निगलेन, अन्दुकाभि, वरत्राभि,
रज्जुभिश्च बन्धन । ‘माकोडणय’ हस्तौ पुण्ड्रौ नीत्वा बन्धन । ‘ओलवण’ ग्रीवावद्धपादास्य तस्यास्त्रा-
सम्बन्ध । ‘णिहणण’ चेव गते निक्षिप्य पूरण ॥१५८९॥

कण्णोड्ढसीसणासाछेदणदंताण भजण चेव ।

उप्पाडणं च अच्चीणं तथा जिन्मायणीहरणं ॥१५९०॥

‘कण्णोड्ढसीसणासाछेदण’ वर्णयोरुपेक्षयो, घिरसो, नामिकायाश्च छेद । ‘दंताण भजण चेव’ दंताना
भञ्जन । ‘उप्पाडण’ च अच्चीण’ अक्ष्णांस्त्पाटन, तथा ‘जिन्मायणीहरण’ जिह्वानिर्हरण ॥१५९०॥

गा०—दीनता, रोष, चिन्ता, शोक और क्रोधरूप आगने मनके मत्तप्त होनेपर तुमने
मनुष्ययोनिमें रहते हुए घोर दुःख पाया है ॥१५८६॥

गा०—राजा आदिसे दण्डित होना, सिर मुण्डा करा देना, पीटा जाना, तिरस्कारपूर्वक
दोष लगाया जाना, चोरी होना, राजा आदिके द्वारा धनका हरण, स्त्रियोंको दोष लगाना, धरमे
आग लगाना, बाढ़ वर्गरहसे सपत्निका नष्ट होना, डण्डे कोड़े लाठी आदिसे पीटा जाना, मुट्टीका
प्रहार होना, काटोके ऊपर लिटाकर घोर मर्दन करना, कडाहीमें डालकर पकाना, मस्तकपर
आग जलाना, आहारका रोक देना इत्यादि दुःख तुमने मनुष्यगतिमें सहे हैं ॥१५८७-८८॥

गा०—हाथीके पैरसे दबाया जाना, साकल, चमड़ेकी रस्मी या माधारण रस्मीमें बांधा
जाना, दोनों हाथ पीछे करके बाधना, गर्दनमें रस्मी डालकर वृक्षमें लटकाना, गड्ढेमें डालकर
उमें पूर देना । कान, ओष्ठ और नाक काटना, दात तोड़ना, आँखें निकाल लेना, जीभ उखाड़
लेना, इत्यादि दुःख तुमने भोगे हैं ॥१५८९-९०॥

अग्निविससक्तुमप्पादिवालसन्ध्याभिघादघादेहि ।

सीदुण्हरोगदसमसएहिं तण्हाछुहादीहिं ॥१५९१॥

‘अग्निविससक्तुमप्पादिवालसन्ध्याभिघादघादेहिं’ अग्नेर्विपश्य, शत्रूणां, मर्षादेर्व्यालमृगाणां, शस्त्रप्रहारस्य च धाते । ‘सीदुण्हरोगदसमसएहिं’ शीतोष्णं, दशमशतं, ‘तण्हाछुहादीहिं’ तृट्टुधादिभि ॥१५९१॥

जं दुक्ख सपत्तो अणंतस्सुत्तो मणे सरीरे य ।

माणुमभवे वि तं सव्वमेव चित्तेहि त धीर । ॥१५९२॥

‘जं दुक्ख सपत्तो’ यद्दुःखं संप्राप्तं । ‘अणंतस्सुत्तो’ अनन्तवारं । ‘मणे सरीरे य’ मांसि शरीरे च । मानस शरीरं च दुःखं प्राप्तं । ‘माणुमभव वि’ अनुप्यभवऽपि । ‘तं सव्वमेव चित्तेहि’ तत्सर्वमेव चिन्तय । ‘त धीर’ त्वं धीर । ॥१५९२॥

सारीरादो दुक्खादु होड देवेमु माणस तिव्व ।

दुक्ख दुस्सहमवसस्स परेण अभिजुज्जमाणसस् ॥१५९३॥

‘सारीरादो दुक्खादु’ शारीराददुःखान् । ‘होडि’ भवति । ‘देवेसु’ देवेषु । ‘माणस तिव्व’ मानसं तीव्रं दुःखं । ‘दुस्सह’ तोहमशानय । ‘अवसस्स’ अवशस्य । ‘परेण’ अन्येन अभिजुज्जमाणसस्’ अमियुज्यमानस्य वाहनता नीयमानस्य ॥१५९३॥

देवो माणी सत्तो पासिय देवे महद्धिए अण्णे ।

ज दुक्ख सपत्तो घोरं भग्गेण माणेण ॥१५९४॥

‘देवो माणी सत्तो’ देवो मानी नन् । ‘पासिय देवे’ देवान् वृद्ध्वा । ‘महद्धिए’ महर्क्षिकान् । ‘अण्णे’ अग्न्यान् । ‘जं दुक्ख सपत्तो घोरं’ यद्घोरं दुःखं प्राप्तं । ‘भग्गेण माणेण’ भग्नं मानं ॥१५९४॥

दिव्वे भोगे अच्छरमाओ अवसस्स सग्गवास च ।

पजहतगम्म ज ते दुक्ख जाद चयणकाले ॥१५९५॥

शा०—आग, विप, शत्रु, मर्ष आदि तथा सिंह, शस्त्रके प्रहारसे घात, शीत, उष्ण, डास मच्छर, भूख प्यास, इनसे तुमने अनुप्यभवसे जो शारीरिक और मानसिक दुःख पाया है, हे धीर । उम सबका विचार करो ॥१५९१-१५९२॥

शा०—जय देवगतिसे अभियोग्य जातिवा देव होकर वह परवश होकर इन्द्रादिके द्वारा वाहन बनाया जाता है तब उम शारीरिक दुःखसे तीव्र मानसिक दुःख होता है जो असह्य होता है ॥१५९३॥

शा०—अभिमानि देव हुआ तो अन्य महर्क्षिक देवानो देखकर मानस भग होनेसे जो घोर दुःख हुआ उसका विचार करो ॥१५९४॥

शा०—परवश होकर दिव्य भोग, देवांगनाएँ और स्वर्गवाम त्यागनेपर स्वर्गमें च्युत होते समय जो दुःख हुआ उसको स्मरण करो ॥१५९५॥

‘दिधे भोगे’ दिव्यान्भोगान् । ‘अच्छरसाओ’ देवकन्यदा । ‘सगवाम च’ स्वगवाम च । ‘पजहूत-
गस्त’ परित्यजत । ‘अवसस्त’ परवसस्त । ‘ज ते दुख जाद’ यत्तव दुःख जात । चयणकाले’
च्यवनकाले ॥१५९५॥

ज गन्धवासकुणिम कुणिमाहार छुहादिदुख च ।

चित्ततगस्त य सुचिसुहिदस्त दुख चयणकाले ॥१५९६॥

‘ज गन्धवासकुणिम’ यद्गन्धवासकुणित । ‘कुणिमाहार’ कुणितहार । ‘छुहादिदु ख च’ । ‘चित्ततगस्त’
चित्ततगत । ‘सुचिसुहिदस्त’ सुचे सुखितस्य । ‘ज दुख चयणकाले’ स्वर्गाच्यवनकाले ॥१५९६॥

एव एद सव्व दुख चदुगदिगदं च जं पत्तो ।

तत्तो अणतभागो होज्ज ण वा दुखमिमग ते ॥१५९७॥

‘एव एद सव्व’ एवमेतत्सर्वं । ‘दुख चदुगदिगद’ दुःख चतुर्गतिगत । ‘ज पत्तो’ यत्प्राप्तवान् ।
‘तत्तो’ तत । ‘अणतभागो’ अनन्तभाग । ‘होज्ज ण वा’ भवेद्वा न वा । ‘दुखमिमग ते’ दुःखमिदं तव
मनुजजन्मनि ॥१५९७॥

सखेज्जमसंखेज्ज काल ताड अविस्समंतेण ।

दुख्खाइ सोढाइ किं पुण अदिअपकालमिम ॥१५९८॥

‘सखिज्जमसखिज्ज काल’ सख्यातमसख्यात वा काल । ‘ताड दुख्खाइ सोढाइ’ तानि दुःखानि
सोढानि । ‘अविस्समंतेण’ विश्रामरहितेन । ‘किं पुण’ किं पुन सहते । ‘अदिअपकालमिम’ अत्यल्पकालमिदं
दुःख ॥१५९८॥

जदि तारिमाओ तुम्हे सोढाओ वेदणाओ अवसेण ।

घम्मोत्ति इमा मवसेण कह सोढुं ण तीरेज्ज ॥१५९९॥

‘जदि तारिमाओ’ यदि तादृश्य । ‘तुम्हे सोढाओ वेदणाओ’ त्वया सोढा वेदना । ‘परवसेण’

गा०—पवित्र और सुखी देव स्वर्गसे च्युत होते समय विचारता है कि मुझे अब दुर्गन्धयुक्त
शरीरमें जाना होगा । वहाँ दुर्गन्धित भोजन होगा । भूख प्यासकी बाधा होगी । ऐसा विचार करते
समय जो दुःख होता है उसका चिन्तन करो ॥१५९९॥

गा०—इस प्रकार चारों गतियोंमें तुमने जो यह सब दुःख भोगा है उसके अनन्तर्वे भाग
दुःख इस मनुष्य जन्ममें ही न भी हो ॥१५९७॥

गा०—तुमने सम्यात वा असम्यात काल पर्यन्त बिना विश्राम लिये ये दुःख सहते हैं ।
तब अति अल्पकालके लिये यह थोड़ासा दुःख क्यों नहीं सहते हो ॥१५९८॥

गा०—टी०—यदि तुमने परवश होकर उक्त प्रकारकी वेदनाएँ सहती हैं तो इस समय इस
वेदनाको धर्म मानकर स्वयं अपनी इच्छामें क्यों नहीं सहते ।

शका—वेदना धर्म कैसे है ?

परवेशन । 'धम्मोत्ति' धम्म इति । 'इमा' दय वेदना । 'सवसेण' स्ववसेन सता । 'सोढु ण तीरेज्ज' सोढु न शक्यते ? । नय वेदना धम्म ? उत्तमज्ञमामार्जवादवादिभि वक्षप्रकारो धम्म उच्यते । वेदनासहन धम्म इति कृत्वा कथ न शक्यते सोढु सवन्धोऽञ्च ॥१५९९॥

तण्हा अणतखुत्तो ससारे तारिमी तुम आसी ।

ज पसमेदु मच्चोदधीणमुदगं ण तीरेज्ज ॥१६००॥

आमी अणतखुत्तो ससारे ते छुधावि तारिसिया ।

ज पसमेदुं सच्चो पुगलकाओ ण तीरेज्ज ॥१६०१॥

जदि तारिमया तण्हा छुधा य अवसेण ते तदा सोढा ।

धम्मोत्ति इमा सवसेण कथ सोढुं ण तीरेज्ज ॥१६०२॥

सुडपाणएण अणुसट्ठिभोयणेण य णुणोवगाहिएण ।

ज्झाणोमहेण तिब्बा वि वेदणा तीरदे सहिदु ॥१६०३॥

'सुडपाणएण' त्रिविधमर्मकयोधुनिपातेन । 'अणुसट्ठिभोयणेण य' अनुगामनभोजनेन । 'उवगाहिएण' उपगृहीतेन । 'ज्झाणोसधेण' शुभध्यानोपधेन च । 'तिब्बा वि वेदणा' तीव्रापि वेदना । 'तीरदे सहिदु' शक्यते सोढु ॥१६००॥१६०१॥१६०२॥१६०३॥

भीदो व अभीदो वा णिप्पडियम्मो व मपडियम्मो वा ।

मुच्चड ण वेदणाए जीवो कम्मे उदिण्णम्मि ॥१६०४॥

'भीदो व अभीदो वा' भोदोऽभीतो वा । 'णिप्पडियम्मो सप्पडियम्मो वा' निःप्रतिकार सप्रतिकारो वा । 'मुच्चडि ण वेदणाए जीवो' न मुच्यते वेदनाया जीव । 'कम्मे उदिण्णम्मि' कर्मणसद्वेद्ये उदीर्ण ॥१६०४॥

समाधान—उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव आदिके भेदसे दस प्रकारका धर्म कहा है अत वेदनाको सहना भी धर्म है ॥१५९९॥

गा०—हे क्षपक । ससारमे तुम्हें ऐसी प्यासकी वेदना अनन्त बार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये सब समुद्रोका जल भी समर्थ नहीं है ॥१६००॥

गा०—ससारमे तुम्हें ऐसी भूखकी वेदना अनन्त बार हुई है जिसको शान्त करनेके लिये समस्त पुद्गल काय भी समर्थ नहीं है ॥१६०१॥

गा०—यदि तुमने परवश होकर बेंसी भूख प्यासकी घोर वेदनाको सहा है तो अब धर्म मानकर इस वेदनाको स्वेच्छापूर्वक क्यों नहीं सहते ॥१६०२॥

गा०—तोन प्रकारकी धर्मकयाको कानोके द्वारा पीकर, तथा गुर्की मिश्राकपी भोजन करके और शुभध्यानरूपी औषधकी ग्रहण करके तोत्र भी वेदनाको नहा जा सकता है ॥१६०३॥

गा०—अमातावेदनीय कर्मकी उदीरणा होनेपर डरो या न डरो, प्रतीवार करो या न करो, जीव वेदनामे छुटकारा नहीं पाता ॥१६०४॥

पुरिमस्म पावकम्मोदएण ण करति वेदणोवममं ।

सुट्ठु पउत्ताणि वि ओसघाणि अदिवीरियाणी वि ॥१६०५॥

पुरितस्त पावकम्मोदयस्मि' पुरपस्य पापकर्मोदये 'न करति' न कुर्वन्ति । 'वेदणोवमम' वेदनोपमम् । सुट्ठु पउत्ताणि वि' सुट्ठु प्रयुक्तस्यपि । 'ओसघाणि वि' ओषधानि अदिवीरियाणि' अतिवीर्याण्यपि ॥१६०५॥

रायादिकुडुंवीणं अदयाए असंजम करताण ।

घण्णतरी वि कादु ण समत्थो वेदणोवमम ॥१६०६॥

'रायादिकुडुंवीण' राजादीना कुटुम्बीना अनेक द्रव्यसंपत्परिचारकसंपन्नप्रख्याताना । अदयाए असंजम करेताण' दयामन्तरिणासंजम कुर्वता । घण्णतरी वि कादु' धन्वन्तरिरपि क्तु धनमर्थ । 'वेदणोवमम' वेदनाया उपमम् । वेदसंपत्ता धन्वन्तरेणहणेन सूचिता ॥१६०६॥

किं पुण जीवणिकाये दयतया जादणेण लद्धेहि ।

फासुगदब्बेहि रुंति माहुणो वेदणोवमम ॥१६०७॥

'किं पुण' किं पुन । 'जीवणिकाए जीवनिवासान् । दयतया' दयमाना । जादणेण लद्धेहि' याज्यया लभ्ये । फासुगदब्बेहि' प्रासुगद्व्यं । करेज्ज कुर्यान् । 'साहुणो वेदणोवमम' साधोवेदणोपमम् । परिचारकसंपदभावो दयते 'जीवणिकाए दयतया' इत्यनेन । यया व्याघरेपसमी भवति तथा कुर्वति परिचारका । वसी पुनयतय पट्टजीवनिवासबाधापरिहारायता स्वसमयविनाशभीरवो । 'जादणेण लद्धेहि' इत्यनेन द्रव्यसंपदभाव आख्यायते ॥१६०७॥

भोक्खामिलासिणो सजदस्स णिधणगमण पि होदि वर ।

ण य वेदणामित्त अप्पासुगसेवण कादु ॥१६०८॥

गा०—जव पुरपके पापकर्मका उदय होता है तो अच्छी तरहसे प्रयुक्त और अतिशक्तिशाली भी औपधियां वेदनाको शान्त नहीं करनी ॥१६०५॥

गा०—टी०—राजा आदि कुटुम्बी जिनके पास अनेक प्रकारकी धन-सम्पदा और सेवा करनेवाले दास दासियोंकी प्रचुरता होती है, किन्तु जो दयाहीन होकर असमयी जीवन बिताते हैं, उनकी वेदनाको शान्त करनेके लिये धन्वन्तरि भी समर्थ नहीं है । धन्वन्तरिपदसे वेद्यत्पी सम्पदाको सूचित किया है । अर्थात् धन्वन्तरि जैसा बंध भी उनको वेदनाको दूर नहीं कर सकता ॥१६०६॥

गा०—टी०—तब जीवमात्रपर दया करनेवाले याचनासे प्राप्त प्रासुक द्रव्योंसे साधुकी वेदनाका उपशम कहाँ तक कर सकते हैं ? अर्थात् परिचारक साधु जहाँ तक शक्य होता है व्याधिको शान्त करनेका प्रयत्न करते हैं क्योंकि उनके पास परिचारक रूप सम्पदा—दासदासी तो हैं नहीं और यतिगण छट् कायके जीवोंको बाधा न पहुँचे इसके लिये सदा तत्पर रहते हैं तथा अपने मयमके विनाशमें भी भयभीत रहते हैं । साथ 'याचनाने प्राप्त' कहनेसे उनके पास धनसम्पदाका भी अभाव कहा है ॥१६०७॥

‘मोरखाभिलासिणी’ निरवशेषकर्मणिमाभिलासिणि । ‘सञ्जडस्त’ प्राणसमयवत । ‘निघणगमण वि होदि वर’ मरणमपि वर । ‘ग य’ नैव वर युक्त । ‘वदणणिमित्त’ वेदनीयमार्थ । ‘अप्पासुगतेवण काडु’ अयोग्यद्रव्यसेवन कर्तुम् ॥१६०८॥

निघणगमण एयमवे णामो पुणो पुत्तिल्लज्जमेसु ।

णास असज्जमो पुण कुण्ड भवमएसु बहुमेसु ॥१६०९॥

‘निघणगमणे एयमवे’ निघनगमनमेकमवे । ‘णासो’ नाश । ‘ण पुणो’ न पुनर्नाश । ‘पुत्तिल्लज्जमेसु’ भाविष्य जन्मसु । ‘असज्जमो पुण’ असयम पुन । ‘भवमएसु’ जन्मसन्नेषु । ‘बहुएसु’ बहुषु । ‘णास कुण्ड’ नाश कर्णेन । वेदा हि न मयनमनुगानि रत्नत्रयभावनाद्यन । सा हि अनास मन्द करोति । असयम पुन अनदेव प्रकृष्टानुभव करोति । उक्त्वा च—दु ससोकतापाङ्गन्दनवपपरिदेवनात्या मपरोभयस्याप्यसद्वेष्ट-
स्येति [त० सू० ६:११] ॥१६०९॥

ण करेति णिवुड इच्छया वि देवा मडदिया मन्वे ।

पुरिसम्म पावकम्मे अणक्कमग्गे उदिण्णम्मि ॥१६१०॥

‘ण करेति णिवुड’ न कुर्वन्ति निर्वर्ति । ‘पुरिसम्म’ पुरुषस्य । स इदिया देवा सन्वे इच्छया वि’ सैन्द्रका सर्वे देवा इच्छन्तोऽपि । ‘पावकम्मे’ पावकर्मणि । ‘अणक्कमग्गे अनुक्रमके । ‘उदिण्णम्मि’ उदय-
मुपगमे ॥१६१०॥

किह पुण अण्णो काहिदि उदिण्णकम्मस्स णिवुदिं पुरिसो ।

हन्थीहि अतीरंत भंतु भजिहिदि किह मसओ ॥१६११॥

‘किह पुण’ कथ पुन । अण्णो काहिदि पुरिसो’ अन्य करिष्यति पुरष । ‘उदिण्णकम्मस्स’ उदया-

गा०—ममस्त कर्मग्रन्थनके विनागरूप मोक्षके अभिलाषी मयमीका मरण होना भी श्रेष्ठ है । किन्तु वेदनाकी शान्तिके लिये अप्राप्तुक अयोग्य द्रव्यका मेवन करना श्रेष्ठ नहीं है ॥१६०८॥

गा०—टी०—मरण होना तो एक भवका ही विनाश है भावि जन्मोंका नाश नहीं है किन्तु अमयम तो नैक हो जन्मोंको नष्ट कर देता है । जो मयमी रत्नत्रयकी भावनामे तत्पर रहते हैं वेदना उनका पीडा मही करती । क्योंकि रत्नत्रयकी भावना असाताके उदयको मन्द करती है । और अमयम असातावेदनीयके अनुभागको बढाता है । कहा भी है दुःख, शोक, पश्चात्ताप, रुदन, वय और हृदयको व्याकुल करनेवाला रुदन स्वय करनेमे, दूसरोम करनेमे या दोनोमे करनेमे अमानावेदनीयका आस्रव होता है ॥१६०९॥

गा०—पुरुषके पापकर्मके अनुक्रममे उदय आनेपर इन्द्रसहित सप्त देव इच्छा करनेपर भी मुक्तो नहीं कर सकते ॥१६१०॥

गा०—तब असातावेदनीय कर्मका उदय आनेपर अन्य साधारण पुरुष क्या कर सकते हैं ? जिमे महाबलशाली हाथी भी तोहनेमे असमर्थ है क्या उमे बेचारा कमजोर मरणोग तोड सकता है ॥१६११॥

१ अनुक्रम—आ० । अणक्कमग्गे निप्रतीकारे—पुनरा० ।

गतामद्वेष्टकर्मण । 'णिह्वदि' निर्वृति । 'हृषीहि' अतीरत भंतु' हस्तिभिर्महाबले नर्तुमशक्य यद्भुञ्जत । 'किं सप्तमो भजीहि' कथं स्वल्पप्राणो भक्षयति शशक ॥१६११॥

ते अप्पणो वि देवा कम्मोदयपच्चयं मरणदुक्खं ।

वारेदु ण समत्था धणिद पि विकुव्वमाणा वि ॥१६१२॥

'ते देवा अप्पणो वि कम्मोदयपच्चय मरणदुक्ख' ते देवा सेन्द्रका आत्मनोऽपि कर्मोदयहेतुव मरणदु ख 'वारेदु' ण समत्था' निवारयितु न समर्था । 'धणिदवि विकुव्वमाणा' नितरा विक्रिया कुर्वन्तोऽपि ॥१६१२॥

'उज्झति जत्थ हत्थी महावलपरक्कमा महाकाया ।

सुत्ते तम्मि वड्ढते ससया 'ऊढेल्लया चेव ॥१६१३॥

'उज्झति' पस्विन् सोतमि हस्तिन ऊढते महावलपरक्कमा महाकाया । तस्मिन् सोतसि बहन्ति सा'का गता एव ॥१६१३॥

किह पुण अण्णो मुच्चहिदि सगेण उदयागटेण कम्मेण ।

तेलोककेण वि कम्म अवारणिज्ज खु समुवेद ॥१६१४॥

'किह पुण अण्णो मुच्चहिदि' कथं पुनरन्यो भोक्ष्यते, स्वेन कर्मणा उदयागतेन । त्रैलोक्येनापि कर्मा- निवार्यमेव समुपगत ॥१६१४॥

कह ठाह सुक्कपत्त वाएण पडतयम्मि मेरुम्मि ।

देवे वि य विहेडयदो कम्मस्स तुमम्मि का मण्णा ॥१६१५॥

'कह ठाह सुक्कपत्त' कथं तिष्ठेन शुष्कपथ । वातेन पतन्ति मेगे । अणिमाद्यष्टगुणमपन्ना देवानपि कुत्सीकुर्वन्त कर्मणो भवत्यल्पबले का तजा ॥१६१५॥

गा०—वे देव कर्मके उदयके कारण होनेवाले अपने भी मरणके दुःखको दूर करनेमें समर्थ नहीं है यद्यपि वे दिव्यशक्तिसे सम्पन्न होनेसे अनेक प्रकारकी विविधा करनेमें समर्थ होते हैं ॥१६१२॥

गा०—जिस प्रवाहमें महावली, महापराक्रमी और विशाल क्षरोरवाले हाथी बह जाते हैं उस प्रवाहमें बेचारे खरगोश स्वयं ही बह जाते हैं ॥१६१३॥

गा०—जब देव भी अपने उदयागत कर्मको ढालनेमें असमर्थ है तब अन्य साधारण प्राणी अपने उदयागत कर्मों कैसे छूट सकता है ? उदयागत कर्मको तीनो लोक भी नहीं ढाल सकते ॥१६१४॥

गा०—जिस वायुसे भेरपर्वतका पतन हो सकता है उसके सामने सूखा पत्ता कैसे ठहर सकता है ? इसी प्रकार जो कर्म अणिमा आदि आठ गुणोंसे सम्पन्न देवोंको भी दुर्गति कर देता है उसके सामने तुम्हारे जैसे भरणोन्मुख मनुष्यकी क्या गिनती है ॥१६१५॥

कम्माइ वलियाइ वलिओ कम्मादु णत्थि कोवि जगे ।

सच्चवल्लां कम्म भलेदि हत्थीव णलिणिवण ॥१६१६॥

‘कम्माइ’ कर्माणि बलवन्ति, कर्मभ्यो बलवान्नास्ति जगति । कम्माग्रम्मात्मर्वाणि वधुविद्याद्रव्य-
शरीरपरिवारवलानि कर्म मद् यति हन्तीव नलिनवन ॥१६१६॥

इच्चेव कम्मुदओ अवारणिज्जोत्ति सुट्ठु पाऊण ।

मा दुक्खायसु मणमा कम्मम्मि सगे उदिणम्मि ॥१६१७॥

‘इच्चेव कम्मुदओ’ इतिशब्द प्रज्ञानपरिमयाणि सूचयति । एव इत्युक्तपरामर्शः । ‘कम्मुदओ’
कर्मोदयः । ‘अवारणिज्जोत्ति’ अनिवार्य इति । ‘सुट्ठु पाऊण’ सम्पत्तात्वा । ‘मा दुक्खायसु मणसा’ मा
कार्पादुं च मनसा । ‘कम्मम्मि सगे उदिणम्मि’ कर्मणि स्वके उदीर्षे ॥१६१७॥

पडिक्खिदे विमण्णे रडिडे दुक्खाइदे किलिड्डे वा ।

ण य वेदणोवमामदि णेव विसेमो हवादि तिस्से ॥१६१८॥

‘पडिक्खिदे’ परिदेवने कृते शोके । विपादे रटने, दुःखे, मक्खेणे वा न वेदणोपसाम्यति । नापि
कश्चिदतिशयो भवति वेदनाया ॥१६१८॥

अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ सक्खिलेसेण होइ खवयस्म ।

अट्ठ सुमक्खिलेमो ज्ञाण तिरियाउगणिमिच ॥१६१९॥

‘अण्णो वि को वि ण गुणोत्थ’ अण्णोप्यत्र गुणो न कश्चिच्छाकादिना सक्खिलेन । प्रेक्षापूर्वकारिणो हि
तत्कर्तुं प्रारम्भे यत्तु साध्यं फलं भवति । सक्खिलेन न किञ्चित् अपि मुमुक्षो फलं भवति तु मक्खेणपरिणामो
प्राप्तं ध्यानममनोविविप्रयोगाभ्य तत्त्व निर्यगामुषो निमित्त । ततोऽप्यदुःखशीलं भवति त्वदीयं मक्खेणो
दुःखेन निर्यगावर्तं निपातयतीति भयोपद्रव्यं कृतं ॥१६१९॥

गा०—कर्म बड़े बलवान हैं । जगत्में कर्म बलवान कोई नहीं है । जैसे हाथी कमलोक
वनको रौंद डालता है । वैसे ही कर्म बन्धु, ज्ञान, द्रव्य, शरीर और परिवार आदि सब वलोको
नष्ट कर देता है । कर्मके सामने ये सब बल क्षीण हो जाते हैं ॥१६१९॥

गा०—इस प्रकार कर्मका उदय अनिवार्य है उसे रोक नहीं जा सकता इस बातको अच्छी
तरहसे जानकर अपने कर्मका उदय आनेपर मनमें दुःख मन करो ॥१६१७॥

गा०—रोनेपर, विषाद करनेपर, बिल्गनेपर अथवा दुःख और मक्खेण करनेपर वेदना
शान्त नहीं होती और उममें कोई विशेषता भी नहीं आती ॥१६१८॥

गा०-टी०—शोक आदि मक्खेण करनेमें क्षयका कोई अन्य लाभ भी नहीं है । बुद्धिमान
पुरुष उसी कार्यको करना प्रारम्भ करते हैं जिसमें कोई लाभ होता है । मक्खेणमें मुमुक्षुका जरा
भी लाभ नहीं है । बन्कि इष्ट नियोग नामक आनन्दध्यान मक्खेण परिणामरूप होनेमें निर्यगामुके
दम्बका कारण है अतः योडेगे दुःखमें डरनेवाले आपको तुम्हारा मक्खेण एमो निर्यगामुगतिरूपी
भँवरमें डाल देगा जिसमें निरालना बहुत कठिन है ॥१६१९॥

सकलेशस्य निरर्थक्यप्रवृत्तान्तोरणाया—

हृदमाकासं मुट्टीहिं होइ तह कडिया तुसा होति ।

मिगदाओ पीलिदाओ धुमिलिदमुदय च होइ जहा ॥१६२०॥

‘हृदमाकास’ हत मुट्टिभिराकास तादितु । तुषकडन तडुलायं । सिन्नापीडन तिलयत्रे तैलायं । जन्मयन च धृताय यदापार्थक्य तयानर्थक्य सकलेशो वेदनाकुलस्य । वेदनाया अनिराकरणत्वान्निरर्थक्य-
माभ्यादभेदोपन्यासो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो ॥१६२०॥

पुव्व सयमुवभुत्त काले णाएण तेत्तिय ढव्व ।

को धारणिओ धणिदस्स दंतओ दुक्खिओ होज्ज ॥१६२१॥

‘पुव्व सयमुवभुत्त’ पूर्व सयमुपभुक्त । काले ‘णायेण’ ग्यायेन । तेत्तिय ढव्व तावद्द्रव्य । ‘को धारणिओ होज्ज धारणिओ’ को दु खितो भवेदधर्मण । ‘धणिदस्मि’ उत्तमण । ‘हरते’ स्व द्रव्य हरति ॥१६२१॥

तह चेव मय पुव्व कदस्स कम्मस्स पाक्कालस्मि ।

णायागयस्मि को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणंतो ॥१६२२॥

‘तह चेव’ तथा चैव । ‘सय पुव्व कदस्स कम्मस्स’ आत्मना पूर्व कृतस्य कर्मण । ‘पाक्कालस्मि’ फलदानकाले ग्यायेनागते । ‘को णाम दुक्खिओ होज्ज जाणंतो’ को नाम दु खितो भवेज्जानो ॥१६२२॥

इय पुव्वकद इणमज्ज मह कम्माणुगत्ति णाऊण ।

रिणमुक्खण च दुक्ख पेच्छसु मा दुक्खिओ होहि ॥१६२३॥

‘इय पुव्वकद’ ‘इय’ एवमूत । ‘दुक्ख पुव्वकद’ पूर्वकर्मणा कृत । ‘इण’ हृद दु ख । ‘अज्ज’ अत । ‘मह कम्माणुगत्ति’ मम कर्मणामिति । ‘णाऊण’ ज्ञात्वा । ‘रिणमुक्खण वा’ ऋणमोक्षण इव । ‘दुक्ख पिच्छसु’ दु ख प्रेक्षत्वा । ‘मा दुक्खिओ होहि’ दु खितो मा भू ॥१६२३॥

आगे सकलेशकी निरर्थकता बतलाते हैं—

गा०—जैसे मुट्टियोमे आकाशको मारना, चावलके लिये उसके छिलकोको कूटना, तैलके लिये कोल्हूमे रेत पेलना, और घोके लिये जलको मथना निरर्थक है उसी प्रकार वेदनासे पीड़ित व्यक्तिका संश्लेश करना निरर्थक है । सकलेश करनेसे वेदना दूर नहीं होती है अतः निरर्थक होनेसे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमे समानता है ॥१६२०॥

गा०—जैसे कोई कर्जदार साहूकारसे ऋण लेकर स्वयं उसका उपभोग करता है । और ऋण चुकानेका समय आनेपर उतना ही द्रव्य देने हुए उसे दु ख नहीं होता । उसी प्रकार पूर्वमे स्वयं वाधे हुए पापकर्मका फल भोगनेवाले ज्ञानीको दु ख कैसा ? अतः पूर्वमे वाधे गये कर्मका उदयकाल आनेपर कौन ज्ञानी दु खी होता है ॥१६२१—२२॥

गा०—यह दु ख मेरे पूर्वमे किये गये कर्मोंका ही फल है ऐसा जानकर दु खको ऋण भुक्तिके समान देखो । दु खी मत होओ ॥१६२३॥

पुन्यकदमज्झ कम्मं फलिद दोसो ण इत्थ अण्णस्स ।

इदि अप्पणो पओग णच्चा मा दुक्खिदो होहि ॥१६२४॥

‘पुन्यकदमज्झ कम्मं’ पूर्ववृत्त मदीय कर्म, ‘फलिद’ फलित । ‘दोसो ण एत्थ अण्णस्स’ दोषो नैवान्यस्य इति । ‘अप्पणो पओग णच्चा’ ज्ञात्वा । ‘मा दुक्खिदो होहि’ मा कृष्या दुःख ॥१६२४॥

जदिदा अमदपुन्य अण्णेसि दुक्खमप्पणो चेव ।

जाद हविज्ज तो णाय होज्ज दुक्खाइदु जुत्त ॥१६२५॥

‘जदिदा’ यदि तावत् । ‘दुक्खमन्येषा अभूतपूव’ । ‘अप्पणो चेव’ आत्मन एव ‘जाद हविज्ज’ ‘ज्ञात भवेत्’ ‘तो णाय होज्ज दुक्खाइदु जुत्त’ । ततो नाम दुःखं कर्तुं युक्त ॥१६२५॥

सव्वेसि मामण्ण अवस्मदायन्वय कर काले ।

णाएण य को दाऊण णगे दुक्खादि विलवदि वा ॥१६२६॥

‘सव्वेसि सामण्ण’ सर्वेषा भव्यानां ध्यामण्य । ‘काले कर्मविनाशनकाले’ । ‘अवस्स बायस्वय’ अवश्य दातव्य । यस्मात्तस्मान् । ‘कर’ कश्चन्देवाच्य ‘दाऊण’ दत्त्वा । ‘णाएण य’ न्यायेन च ‘को णरो दुक्खदि विलवदि वा’ को नरो दुःखं करोति विलपति वा ॥१६२६॥

सव्वेसिं सामण्ण करभूदमवस्सभाविकम्मफल ।

इण मज्ज मेत्ति णच्चा लभसु सदिं त चिदिं कुणसु ॥१६२७॥

‘सव्वेसिं’ सर्वेषा विनियत्ता । ‘सामण्ण करभूद’ ध्यामण्य करभूत । ‘अवस्सभाविकम्मफल’ अवश्य-भावि कर्मफल । ‘इणमज्जमेत्ति’ इदं ध्यामण्यं अथ करभूत भवेत्ति । ‘णच्चा’ ज्ञात्वा । ‘लभसु सदिं’ स्मृतिं प्रतिपद्यस्व । ‘त’ त्वं ‘चिदिं कुणसु’ धृतिं कुरु ॥१६२७॥

अरहंतसिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वमथसक्खिस्स ।

पच्चक्खाणस्स कदस्स भजणादो वर भरण ॥१६२८॥

गा०—यह मेरे पूर्ववृत्त कर्मों का फल है । इसमें किसी दूसरेका सौंप नहीं है । अतः इसे अपना ही प्रयोग जानकर दुःखी मत होओ ॥१६२४॥

गा०—हे क्षपक । यदि यह दुःख दूसरेको पहिले कभी नहीं हुआ और तुमको ही हुआ होना तो दुःख करना युक्त था ॥१६२५॥

गा०—कर्मों के विनाशका समय आनेपर सभी भव्य जीवोंको मुनिपद अवश्य धारण करना होता है । इसलिये इसे ‘कर’ कहा है । इस करने न्यायपूर्वक देकर बौद्ध मनुष्य दुःखी होता है या विलाप करता है ॥१६२६॥

गा०—सभी मोक्षमार्गियोंके लिये यह ध्यामण्य अवश्य भाविकर्मफल होनेसे बरने समान देय है अर्थात् सभीको मुनिपद धारण करना होना है । आज यह ध्यामण्य मेरे लिये कार्यके समान देय है ऐसा जानकर अपने स्वरूपका स्मरण करो और धर्म धारण करो ॥१६२७॥

‘अरहन्त सिद्धहेति अविज्ज्ञा सत्त्वसप्तविधस्स’ । अहन्त, मिद्वान्, वेचान्ति, तन्मया देवता सर्वं च मय साधित्वेनोपादाय कृतम्य । ‘पञ्चवक्त्राणस्स भजपादो’ प्रत्याख्यानस्य विनागानान् । ‘वर दोभन ‘मरण’ प्राणपरित्याग ॥१६२८॥

मय मरणादोभनता । प्रत्याख्यानभगवत्प्रादायामाचष्टे प्रथमुत्तर प्रत्याख्यानभजने द्रुष्टता निवेदयितुम्—

आमादिदा तओ होंति तेण ते अप्पमाणकरणेण ।

राया विव सक्खिक्खदो विमवदतेण कज्जम्मि ॥१६२९॥

‘आमादिदा’ परिभूता । ‘तओ’ तत् पश्चात् । प्रत्याख्यानग्रहणोत्तरकात् । तेन प्रत्याख्यानभग-
वति । ते जह्वादि । ‘अप्पमाणकरणेण’ अप्रमाणकरणेन । तत्साक्षिक कर्म प्रतिज्ञात विनाशयता ते
अप्रमाणोद्भूता भवन्ति । अप्रमाणकरणेन च ते परिभूता भवन्ति । ‘राया विव सक्खिक्खदो’ राजेव साक्षीकृत ।
‘कज्जम्मि विमवदतेण’ काजं विमवदता । एतदुक्त भवति राजसाक्षिक प्रतिज्ञात कर्म चागम्य कुर्वता राजा
मया परिभूतो भवति एवमहदाय इति ॥१६२९॥

जइ दे कदा पमाण अरहतादी हवेज्ज खवएण ।

तस्मक्खिक्खद कय मो पच्चक्खाण ण भजिज्ज ॥१६३०॥

‘जइ हे कदा पमाण’ यदि ते कृता प्रमाण । ‘अरहतादी’ अहदाय । ‘हवेज्ज’ भवेत् । ‘खवएण’
क्षपणे । ‘तस्मक्खिक्खद कय पच्चक्खाण’ तत्साक्षिक कृत प्रत्याख्यान । सो ऽ भजिज्ज’ क्षपका न
नामयेत् ॥१६३०॥

सक्खिक्खदरायहीलणभावहइ णरस्स जइ महादोम ।

तइ जिणवरादिआसादणा वि दोस मह कुणदि ॥१६३१॥

गा०—अरहन्त, सिद्ध केवली, उस स्थानके वासी देवता और सर्व मयको माझी बनाकर
ग्रहण किये त्यागको तोड़नेसे मरण श्रेष्ठ है ॥१६२८॥

त्यागका भग करना मरनेमें भी बुरा कैसे है ऐसी शका होनेपर त्यागके भगको बुराई
कहते हैं—

गा०—जैसे राजाको माझी बनाकर किये गये कार्यमें विमवाद करनेवाला पुरख राजाकी
अवज्ञा करनेका दोषी होता है । वैसे ही अरहन्त आदि पञ्चपरमेष्ठियों की साक्षीपूर्वक स्वीकार किये
गये त्यागको तोड़नेवाला मुनि अरहन्त आदिको भी प्रमाण न माननेसे उनकी अवज्ञा करनेका
दोषी होता है ॥१६२९॥

गा०—यदि हे क्षपक । तुम अरहन्त आदिको प्रमाण मानते हो सो तुम्हें उनकी नाशपूर्वक
किये गये त्यागको भग नहीं करना चाहिये ॥ ६३०॥

गा०—जैसे राजाको माझी बनाकर उनकी अवज्ञा करना मनुष्यको महादोषका भागी
बनाता है वैसे ही अरहन्त आदिको आनादना भी महादोषको करनेवाली है ॥१६३१॥

‘सविष्वदरायहोत्सव’ माजीवृत्तराजपरिव्रज । ‘आवहृदि परस्स जह महादोस’ जानयति यथा नग्म्य
महान्त दोष । ‘नह जिणवरादि आसादणा’ तथा अहंदाग्रामादनापि । ‘दोस महं कुणदि’ दोष महान्त
करोति ॥१६३१॥

त महान्तं दोषं नययति—

तित्थयरपवयणमुदे आडरिए गणहरे महड्डीए ।

एदे आमादतो पावड पारचियं ठाणं ॥१६३२॥

‘तित्थयरपवयणमुदे’ तीर्थरुग्गन्, रत्नत्रय, आगम । ‘आपरिए’ आचार्यान् । ‘गणहरे’ गणधरान् ।
‘महड्डीए’ महद्विकान् । ‘एदे’ एतान् । ‘आमादतो’ अमादयन् । ‘पावडि’ प्राप्नोति । ‘पारचियं ठाणं’ पारचिय-
नामयेय प्रायश्चित्तस्थान ॥१६३२॥

सक्खीरुपरायामादणे हु दोस करे हु एवभवे ।

भवसोडीम् य दोम जिणादि आसादण कुणड ॥१६३३॥

माजीवृत्तराजवर्मानजानाहोपादददाग्रवर्मानजनिदापो महानिति दर्शयति । स्पष्टार्थां गायाम् ॥१६३३॥

‘मौक्खीरुभिलासिणो सज्जटम्म णिघणगमण पि होड वर ।

पच्चक्खणं भजतम्म ण वरमग्गहादिसक्खिउदा ॥१६३४॥

णिघणगमणमेयभवे णामो ण पुणो पुरिल्लज्जम्मेसु ।

णाम वयभंगो पुण कुणड भवमएस्स चहुएस्स ॥१६३५॥

ण तहा दोम पावड पच्चक्खणमकरित्त्त कालगदो ।

जह भजणा हु पावदि पच्चक्खण महादोसं ॥१६३६॥

उम महान दोषको कहते हैं—

गा०—तीर्थङ्कर, रत्नत्रय, आगम, आचार्य और महान् ऋद्धिधारियोंकी आमादना करने
वाला पारचिक नामक प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥१६३२॥

गा०—माशी बनाये गये राजाकी आसादना करनेपर तो एक ही भवमे दोषका भागी
होना है । किन्तु अरहन्त आदिकी आमादना करनेपर करोडो भवोमे दोषका भागी होता है ।
अतः साशी बनाये गये राजाकी अवज्ञाके दोषमे अहन्त आदिकी अवज्ञामे होनेवाला दोष महान
होता है ॥१६३३॥

मोक्षके अभिलाषी मयमीका मरना भी थोछ होता है किन्तु अरहन्त आदिकी माशी
करके किसे गये त्यागका भाग करना थोछ नहीं है । मरणको प्राप्ति होनेपर तो एक भवका ही
विनाश होता है, आगेके भवोका विनाश नहीं होता । किन्तु व्रतका भग बहूतमे भवोमे विनाश-
कारी होता है ॥१६३४-३५॥

१ एतं द्वे गये दोषाकारो नेच्छति ।

‘न तहा दोष पावदि’ न तथा दोष प्राप्नोति । ‘पञ्चवराणमस्मरितुं’ प्रत्याख्यानमवृत्त्या । बाल-
गदो मृन । ‘जह भजतो पावदि’ यथा प्रत्याख्यानमगन्महादोष प्राप्नोति ॥१६३४॥१६३५॥१६३६॥

प्रत्याख्यातहारमेवा हि प्रत्याख्यानमग स चाहार प्राप्यमानो हिमादिदीपानखिलानानयतीति
निगदति—

आहारस्य हिंसड भणइ असच्च करेइ तेणेक्क ।

रुसड लुम्भइ माय करेइ परिगिण्हदि य मगे ॥१६३७॥

‘आहारस्य हिंसड’ आहारस्य पञ्जीवनिकायान्विनास्ति । असत्य भवति, स्तस्य करोति । रण्डस्य-
लामे, लुम्भयति लामे, माया करोति, परिगृह्णाति सगान् ॥१६३७॥

होइ णरो णिल्लज्जो पयहइ तवणाणदसणचरिचं ।

आमिमकलिणा ठडओ छाय मडलेइ य कुलस्म ॥१६३८॥

‘होइ णरो णिल्लज्जो’ निर्लज्जो भवति नर आहारस्य परयाञ्चाकरणात् । प्रजहाति च तपो, ज्ञान
दर्शन चारित्र्य च । आमिपात्येन कलिनावष्टभ्य छाया कुलस्य मलिनयति वर्गेच्छिद्यभोजनादिना ॥१६३८॥

णासदि बुद्धी जिम्भावमस्स मदा वि होदि तिक्खा वि ।

जो णिगामिलेमलमो व होइ पुग्गिओ अणप्पवमो ॥१६३९॥

‘णासदि बुद्धी’ बुद्धिनश्यति आहारलम्पटतया युक्तायुक्तविदेवाकरणात् । कस्य ? जिह्वावशास्य
सौक्ष्ण्यं पि सती पूव बुद्धिं बुद्धं भवति । रमरागमलोपप्लुता अमयायासस्य न पश्यतीति पारसीककलेदालर्नालिग
द्व भवति पुरपोज्जात्मकदा ॥१६३९॥

गा०—विना त्याग ग्रहण किये मरनेपर इतना दोष नहीं होना जितना महादोष त्याग
लेकर उसका भग करनेपर होता है ॥१६३६॥

त्यागे हुए आहारको ग्रहण करना व्रतभग है । वह जाहार हिमा आदि सब दोषोको
खानेवाला है यह वृत्त है—

गा०—आहारके लिये मनुष्य छहकायके जीवांका घात करता है । असत्य बोलता है,
चोरी करता है । आहार न मिलनेपर क्रोध करता है । मिलनेपर उसका लोभ करता है । माया-
चार करता है । घर पत्नी आदि परिग्रह स्वीकार करता है ॥१६३७॥

गा०—आहारके लिये मनुष्य निर्लज्ज होता है क्योंकि दूसरोंसे मांगता है । अपना तप,
ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य तक त्याग देता है । आहारस्पर्षी बलिके द्वारा ग्रस्त होकर अपने कुल
को छायावो मलिन करता है दूसरेका झूठ भोजन खाता है ॥१६३८॥

गा०—जो जिह्वके वशीभूत है उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है क्योंकि भोजनका लम्पटी
होनेसे वह भक्ष्य अभक्ष्यका विचार नहीं करता । यदि उसकी बुद्धि सौख्य होती है तो वह मन्द
हो जाती है क्योंकि हमारे रागद्वेषी मलसे लिप्त होनेसे बुद्धि भक्ष्य वस्तुके यथायं स्वस्वकी नहीं

धीरत्तणमाहस्य कदण्णद विणयधम्ममद्वाओ ।

पयहड कुण्ड अणत्थ मल्लमो मच्छओ चेव ॥१६४०॥

'धीरत्त' धीरत्व, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय, धर्मश्रद्धा च प्रजहानि । करोत्यनर्थश्रद्धा च । प्रजहानि करोत्यनर्थमात्मन । मल्लमल्लमत्स्य डव ॥१६४०॥

आहारस्थ पुग्गिमो मानी कुलजादि पहियकित्ति वि ।

भुंजति अभोज्जाए कुण्ड कम्म अक्खिच्च मु ॥१६४१॥

'आहारस्थ'—आहारस्थ, भुजने अभोज्यानि पुरो मानी कुलीन, प्रथितकीर्तिरपि लक्षणीय करोति ॥१६४१॥

आहारस्थं भज्जारिसुसुमारी अही मणुस्सी वि ।

दुग्गिभक्खादिसु खायति पुत्तभडाणि दडयाणि ॥१६४२॥

इहपरलोडयदुक्खाणि आवहते णम्स जे दोमा ।

ते दोसे कुण्ड णरो सव्वे आहारगिद्धीए ॥१६४३॥

स्पष्टम् उत्तरगाथात्रयम् ॥१६४२॥१६४३॥

आहारलोष्टपत्या स्वयभूरमणसमुद्रे तिमितिमिगल्लदयो मत्स्या महाकाया योजनमहत्वायामा पम्मास विबूनचवना स्वपति । निद्राविमोक्षानन्तर पिहितानना स्वजठरप्रविष्टमत्स्यादीनाहारीकृत्य अश्विघाटनानामधेय नरक प्रविशति । तत्कर्णविलम्बमन्त्राहारा घालिस्त्रिभुवावतनुवाच्च शालिमित्रयसज्ञका यदीदृशमम्माक शरीर भवैन् किं नि सनु" एकोऽपि जन्तुर्लभते ? सर्वाभिक्षयामीति कृतमन प्रणिधानास्ते तमेवाश्विस्थान प्रविशति । इति कथयति गायपा—

देख पाती । तथा आहारका लम्पटी मनुष्य विषय सेवन करते हुए मनुष्यकी तरह अपने वक्षमे नही रहता ॥१६३९॥

गा०—वह धीरना, माहात्म्य, कृतज्ञता, विनय और धर्मश्रद्धाको भी आहारके पीछे छोड़ देता है और गलेमें फँसी मछलीकी तरह अनर्थ करता है ॥१६४०॥

गा०—मानी, कुलीन और प्रख्यातकीर्ति वाला भी आहारके लिये अभयका भक्षण करता है और न करने योग्य कर्म करता है ॥१६४१॥

गा०—भूखसे पीड़ित होनेपर विल्ली, मच्छ, सर्पिणि और दुग्गिभ आदिमें मनुष्य भी अपने प्रिय पुत्रोको खा जाते हैं ॥१६४२॥

गा०—मनुष्यके जो दोष इस लोक और परलोकमें दुःखदायी हैं वे सब दोष मनुष्य आहारकी लम्पटताके कारण ही करता है ॥१६४३॥

आगे कहते हैं—स्वयभूरमण समुद्रमे तिमितिमिगल आदि महाकाय वाले महामच्छ जो एक हजार योजन लम्बे होते हैं, छह मास तक मुह खोले सोते रहते हैं । जागने पर अपने मुखमें घुमे मच्छो आदिको खाकर मरकर सातवें नरकमें जाते हैं । उसके वानमें एक मालिमित्र नामक मत्स्य रहता है जो उसके वानका मेल खाता है । उसका शरीर चावसे बगबर होना

अवधिद्वान् णिरयं मञ्ज आहारहेतु गच्छति ।

तथेवाहारभिलासेण गदो सालिसिच्छो वि ॥१६४४॥

अवधिद्वान्मित्रादिका गाथा ॥१६४४॥

चक्रधरो वि सुभूमो फलरमगिद्वीए वचिओ सतो ।

णट्ठो ममुदमज्जो सपरिजणो तो गओ णिरय ॥१६४५॥

‘चक्रधरो वि सुभूमो’ नाम चक्रलाछन फलरमगद्वया वचित गमुदमज्जं विनष्ट सपरिजन ।

परवाच नरक गत ॥१६४५॥

आहारत्थ काऊण पावकम्माणि त परिगओ सि ।

समागमणादीय दुक्खमहस्साणि पावतो ॥१६४६॥

आहारत्थ पावानि कर्माणि कृत्वा समागमनादिक प्रविष्टो अवान्तु खमहसाणि वेदयमान ॥१६४६॥

पुणरिव तहेव समाग कि भमिदणमिच्छमि अणत ।

ज णाम ण वोच्छिज्जइ अज्जवि आहारमण्णा ते ॥१६४७॥

‘पुणरिव’ पुनरपि । तथैव समागमनतमदितु विमिच्छमि ? सम्मादद्याप्याहारे तृणा न नश्यति ॥१६४७॥

जीवस्म णत्थि तिच्ची चिगपि भुंजतस्य आहारं ।

तिच्चीए विणा चित्त उव्वूर उद्धुद होइ ॥१६४८॥

‘जीवस्म णत्थि तिस्सो’ जीवस्य नास्ति तृप्ति चिरमप्याहार भुञ्जानस्य । तृप्त्या च विना चित्त नितरामुच्चल भवति ॥१६४८॥

है इसलिये उमे सालिसिवय कहते हैं । वह कानमें वैठा हुआ मनमें, मोचा करता है कि यदि मेरा शरीर ऐसा होता तो क्या एक भी जन्तु बचकर जा सकता मैं मरको खा जाता । इसी मकल्पसे वह भी मरकर सातवें नरक जाता है—

पा०—महामत्स्य आहारके ही कारण सातवें नरकमें मरकर जाता है और उसी महामत्स्य-के कानमें रहनेवाला सालिमिवय मत्स्य भी आहारके मकल्पमें मरकर सातवें नरक जाता है ॥१६४८॥

पा०—सुभीम नामक चक्रवर्ती भी एक देवके द्वारा लाये गये फलके रसको लम्पटताके कारण ठगा जाकर परिवारके साथ समुद्रमें डूब गया और मरकर नरकमें गया ॥१६४९॥

पा०—हे क्षपक ! पूर्वजन्मोंमें आहारके ही लिये पाप कर्म करके तुम हजारों दुःख भोगते हुए अनादि मसारमें प्रविष्ट हुए ॥१६४९॥

अब क्या पुन अनन्त मसारमें भ्रमण करनेकी इच्छा है जो अभी भी तुम्हारी आहार मज्ञा नष्ट नहीं होती ॥१६४९॥

पा०—चिरकाल तक आहार खाकर भी जीवकी तृप्ति नहीं होती । और तृप्तिके विना चित्त अत्यन्त व्याकुल रहता है ॥१६४८॥

जह इधणेहिं अग्गी जह य समुद्रो णदीसहस्सेहिं ।

आहारेण ण मक्को तह तिप्पेदु इमो जीवो ॥१६४९॥

‘जह इधणेहिं अग्गी’ यथेधनैरग्निर्नदीसहस्रं दधित्पर्यायमुपशमयस्तथाहारेण जीव ॥१६४९॥

देविदचक्कवड्डी य त्रासुदेवा य भोगभूमा य ।

आहारेण ण तित्ता तिप्पदी कह भोयण अण्णो ॥१६५०॥

‘देविदचक्कवड्डी य’ देवेन्द्रा लाभान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षान् आत्मीयतनुतेजोनिमित्तेन आहारेण, चक्रवर्तिनोऽपि पट्टचपिकत्रिशतसूचकार्थवर्षमानेणैकदिनाहारं सस्करणेणैव शौकितेन तपार्थचक्रवर्तिनोऽपि । भोगभूमिजा भोगमाङ्गकल्पतरुप्रभवेन न तृप्ता । कथमन्यो जनस्तृप्यति ॥१६५०॥

उद्धुदमणस्स ण रदी विणा रदीए कुदो हवदि पीदी ।

पीदीए विणा ण सुह उद्धुदचित्तस्स घण्णस्स ॥१६५१॥

‘उद्धुदमणस्स’ इतो भद्रमया भद्रमस्मान्चेदमिति परिलब्धमानचेतसो न रति, यव च तथा विना प्रीति । प्रीत्या च विना न सुख चलचित्तस्य ततदाहारलप्पटस्य ॥१६५१॥

सन्वाहारविघाणेहिं तुमे ते मच्चपुगला बहुसो ।

आहारिदा अदीदे काले तित्तिं च मि ण पत्तो ॥१६५२॥

‘सन्वाहारविघाणेहिं’ अशनपानखाद्यलेहाविकल्पैस्त्वया सर्वं पुद्गला बहुधा आहारिता अतीते काले तृप्तिं च न च प्राप्तो भवान् ॥१६५२॥

गा०—जैसे इधनसे आगकी और हजारे नदियोंसे समुद्रकी तृप्ति नहीं होती वैसे ही यह जीव आहारसे तृप्त नहीं हो सकता ॥१६४९॥

गा०—टी०—देवेन्द्रोके लाभान्तरायके क्षयोपशमका प्रकर्ष होनेसे अपने शरीरके तेजके निमित्तमे आहार प्राप्त होना है । भोजनकी इच्छा होते ही कष्टमे अमृत झरता है । चक्रवर्तीके भी तीन सौ साठ रमोड्या होते हैं और वे सब मिलकर एक वर्षका आहार एक दिनमें बनाते हैं । अर्धचक्रवर्तीकी भी ऐसी स्थिति है । भोगभूमिके जीवोंको भोजनाग जातिके कल्पवृक्षोंसे यथेच्छ आहार प्राप्त होता है । फिर भी इन सबकी तृप्ति नहीं होती । तब साधारण मनुष्य भोजन से कैसे तृप्त हो सकता है ॥१६५०॥

गा०—टी०—यह आहार उत्तम है । इससे भी यह आहार उत्तम है इस प्रकारमे जिनका चित्त चंचल रहता है उनके चित्तमे अनुराग नहीं होना । अनुरागके बिना प्रीति नहीं होती । और प्रीतिके बिना सुख नहीं होता । इस प्रकार विभिन्न आहारोंके लप्पटो चंचलचित्त मनुष्यको आहारमे सुख नहीं होना ॥१६५१॥

गा०—हे क्षपक ! अतीतकालमे तुमने अन्न, पान, व्याद्य और लेह्यके भेदमे चार प्रकारका आहार करके सब पुद्गलोंको बहुत बार खाया है फिर भी तुम्हारी तृप्ति नहीं हुई ॥१६५२॥

किं पुण कठप्पाणो आहारेदुण अज्जमाहारं ।

लभिहिसि तित्ति पाऊणुदधि हिमलेहणेणैव ॥१६५३॥

‘किं पुण’ किं पुन कठप्पाणोऽप्यह्णारं गृहीत्वा प्रीतिं लप्स्यमे । पीत्वोदधिं न तृप्तो हि यथा हिमलेहनेन ॥१६५३॥

को एत्थ विभओ दे बहुमो आहारभुत्तपुच्चम्मि ।

जुंजेज्ज हु अभिलासो अभुत्तपुच्चम्मि आहारे ॥१६५४॥

‘को एत्थ विभओ’ कोऽत्र विस्मय । आहारे बहुशो भक्तपूर्वं । युज्यते आहारार्थे अभिलाषो अभुत्तपूर्वं ॥१६५४॥

आवादमेत्तसोक्खो आहारणो हु सुखमत्थ बहु अत्थि ।

दुःख चेवत्थ बहु आहट्टतस्स गिद्धीए ॥१६५५॥

‘आवादमेत्तसोक्खो’ जिह्वाप्रपातमात्रमुख आहार । न सुखमत्र बह्वस्ति । दुःखमेवान्न बहु ‘अभि-
लपिताहारपुद्गला ॥१६५५॥

सुखस्याल्पताया कारणमाचष्टे—

जिम्भामूल षोलेइ वेगदो वरहओच्च आहारो ।

तत्थेव रस जाणइ ण य परदो ण वि य से परदो ॥१६५६॥

जिह्वाया मूल वेगेनातिक्रामत्याहारं जात्यद्वय इव । जिह्यामान एव रस वेत्ति जीवो न आहारानुपरित्ति, न च पुरतोऽग्रतः । अल्पा च जिह्वा ॥१६५६॥

गा०—अब तो तुम्हारे प्राण कण्ठगत है अर्थात् तुम्हागी मृत्यु निकट है । जैसे समुद्रको पीकर जो तृप्त नहीं हुआ वह ओसको चाटनेमें तृप्त नहीं हो सकता । उसी प्रकार जब तुम समस्त पुद्गलोको खाकर भी तृप्त नहीं हुए तब मरते समय आज भोजनमें कैसे तृप्त हो सकते हो ॥१६५३॥

गा०—जो आहार तुमने पहले अनेक बार खाया है उसमें तुम्हागी उत्सुकता कौनो ? जो आहार पहले कभी नहीं खाया है उसमें अभिलाषा होना तो उचित है । जिसे तुम अनेक बार भोग चुके हो उसमें अभिलाषा होना ही आश्चर्यकारो है ॥१६५४॥

गा०—आहारमें बहुत सुख नहीं है केवल जिह्वाके अग्रभागमें रखनेमात्र ही सुख है । विन्तु इच्छितआहारको लिप्सासे जो दुःख होता है वह दुःख ही बहुत है ॥१६५५॥

आहारमें स्वल्पसुख होनेका कारण कहते हैं—

गा०—टी०—जैसे उत्तम घोड़ा बड़ा तेज दोड़ता है वैसे ही आहार भी जिह्वाके मूलको बड़े वेगसे पार करना है अर्थात् जिह्वापर ग्राम आते ही वह झट पेटमें चला जाना है । बस जिह्वापर रहते हुए ही जीवको आहारके स्वादकी प्रतीति होती है, न पहले होती है और न

अच्छिणिमिसेणमेत्तो आहारमुहस्स मो हवइ कालो ।

गिद्धीए गिलड वेगं गिद्धीए विणा ण होइ सुह ॥१६५७॥

‘अच्छिणिमेमणमित्तो’ अक्षिणिमेमणमात्र काल । आहारससेवाजनितसुखस्य । गृधरा वगेन निगिरति । यतो गृधरा च विना नास्त्यन्त्रियसुख ॥१६५७॥

दुस्स गिद्धीघत्थस्माहट्टंतस्म होइ बहुग च ।

चिरमाहट्टियदुग्गायचेहस्स व अण्णगिद्धीए ॥१६५८॥

‘दुस्स गिद्धीघत्थस्स’ दुस्स महद्भूवति लम्पटतया घटतस्यामिलयत । चिरमाहट्टियदुग्गायचेहस्स व अण्णगिद्धीए’ अन्नगृधरा चिर व्याकुलस्य दरिद्रसवधिनी दामरस्येव ॥१६५८॥

को णाम अप्पसुखस्स कारण बहुसुहम्म चुक्केज्ज ।

चुक्कइ ह मकिलिसेण सुणी भग्गापवग्गाणं ॥१६५९॥

‘को णाम अप्पसुखस्स कारण’ को नामान्यसुखनिमित्त महतो निर्वृतिमुक्तात्पच्यवने च मुनि सकलेनैव स्वर्गादवर्गमुवाप्साम् ॥१६५९॥

प्रहलित्तं अमिघार लेहड भुंजड य मो सविसमण्ण ।

जो मरणढेभयाले पच्छेज्ज अरुप्पियाहार ॥१६६०॥

‘प्रहलित्तं’ मधुना लिप्तामतिपारा आत्मादयति । सविषमशन भुङ्क्ते यो मरणदेशकाले अयोग्याहारप्रार्थना करोति ॥१६६०॥

वादमे । अर्थात् जब आहार जीभपर नहीं आया और जब आकर गलेमें उतरा तब स्वादकी अनुभूति नहीं होती ॥१६५६॥

शा०—इस प्रकार आहारमें होनेवाले सुखका बाल एक बार पलकें बन्द करके खोलनेमें जितना समय लगना है उतना ही है अर्थात् क्षणमात्र है । आहारकी गूढ़ि हाँगेमें आहार वेगमें निगला जाता है और गूढ़िके बिना सुख नहीं होता ॥१६५७॥

शा०—जो आहारविषयक लम्पटतके साथ आहारकी आकांक्षा करता है उसे बहुत दुःख उठाना पड़ना है । जैसे अन्नकी गूढ़िमें चिरकालमें व्याकुल दरिद्र दामको कष्ट होता है वैसे ही कष्ट आहारकी लम्पटतावालेको होता है ॥१६५८॥

शा०—टी०—कौन बुद्धिमान पुरुष थोड़ेसे सुखके लिये बहुत सुखसे वंचित होना चाहेंगा । अर्थात् हम अन्तिम अवस्थामें आहारमें आमक्त होनेसे कुछ बहुत सुखमें वंचित हो जायेंगे । मुनि सक्कंश परिणाम करनेमें स्वर्ग और मोक्षके सुखमें वंचित हो जाता है—उमें स्वर्ग या मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥१६५९॥

शा०—टी०—जो क्षणक मरते समय अयोग्य आहारकी प्रार्थना करता है वह मधुमें लिप्त तलवारकी धारको चाटना है और विष मट्टिन अन्नको खाता है । अर्थात् जैसे मधुमें लिप्त तलवारकी धारको चाटनेसे तत्काल सुख होता है किन्तु जीभ कट जानी है वैसे ही मरते समय

असिधार व विस वा दोसं पुरिमस्स कुण्ड एयमवे ।

कुण्ड दु मुणिणो दोस अकप्पसेवा भवसएसु ॥१६६१॥

‘असिधार व’ असिधारा वा विष वा पुरपस्य दोषमेकस्मिन्नेव भवे करोति । अयोग्यसेवा भवगतेषु मृत्योर्न करोति ॥१६६१॥

जावंतं किंचिदुक्खं सारीरं माणम च ससारे ।

पत्तो अणतखुत्त कायस्स ममत्तिदोसेण ॥१६६२॥

‘जावंतं किंचिदुक्खं’ यावत्किंचिद्दुःखं सारीरं मानसं वा ससारे त्वमनन्तवारं प्राप्तवान् । तत्तत्र शरीरममतादोषेणैव ॥१६६२॥

इण्हि पि जटि ममत्तिं कुणसि सरीरे तद्देव ताणि तुम ।

दुयखाणि मसरतो पाविहसि अणतयं कालं ॥१६६३॥

‘इण्हि’ पि इदानीमपि यदि शरीरे करोमि ममता तर्थात् तां दुःखाणि चतुर्गतिषु परावर्तमानोऽनन्तकालं प्राप्स्यसि ॥१६६३॥

णत्थि भय मरणसमं जम्मणसमयं ण विज्जदे दुःखं ।

जम्मणमरणादक छिण्णं ममत्तिं सरीरादो ॥१६६४॥

‘णत्थि भय मरणसमं’ मरणमदूनं भयं नास्ति । कुयोनिषु जन्मममानं दुःखं न विद्यते । जन्ममरणसकं छिन्नं शरीरममता ॥१६६४॥

अण्णं इमं मरीरं अण्णो जीवोत्ति णिच्छिदमदीओ ।

दुक्खं भयं किल्लेसयारी मा हं ममत्तिं कुण सरीरे ॥१६६५॥

यदि अहन्त आदिको साक्षीपूर्वकं त्यागे हुए आहारको अभिलाषा करता है और उसे खाता है तो तत्काल उसे अपनी इच्छापूर्ति होनेसे सुख प्रतीत होगा । किन्तु उसकी सब आराधना गल जायेगी ॥१६६०॥

गा०—सहृदसे लिप्त तलवार और विषमिश्रित अन्न तो पुरपका एक भवमे ही अनर्थ करते हैं । किन्तु मुनिका अयोग्य आहारका सेवन सैकड़ों भवोमे अनर्थकारी होता है ॥१६६१॥

गा०—हे दासक ! इस समारमे तुमने जो कुछ भी शारीरिक और मानसिक दुःख अनन्तवार भोगा है वह सब शरीरमे ममत्तारूप दोषके कारण ही भोगा है । ॥१६६२॥

गा०—इस समय भी यदि तुम शरीरमे ममता करते हो तो उसी प्रकार चारो गतियोंमें भ्रमण करते हुए अनन्त कालतक दुःख भोगोगे ॥१६६३॥

भा०—मरणके समान भय नहीं है और जन्मके समान दुःख नहीं है । तथा जन्म मरण बड़े वेगसे पार कशरीरमे ममत्व है उसको तुम दूर करो ॥१६६४॥

जिह्वापर रहते हुए—

१ लपिनमाहा—

‘अण्ण इमं शरीरं’ अन्यदिदं शरीरं । अन्यो जन्तुरिति निश्चितमतिदुःखसकलेशसंपादनीयता मा वृथा शरीरे ममताम् ॥१६६५॥

सच्च अधियासतो उवमग्गविधिं परीसहविधिं च ।

णिस्सगदाए मल्लिह असक्विलेसेण त मोह ॥१६६६॥

‘सच्च उवमग्गविहिं’ सर्वं उपसर्गविवक्ष्य परीपहविवक्ष्य च सहमानो मोह भवास्तनूवृत्तिः ।
‘णिस्सगदया’ असक्विलेसेण च ॥१६६६॥

ण वि कारणं तणादोसथारो ण वि य सघसमवाओ ।

साधुस्स सक्विलेसतस्स य मरणावसाणम्मि ॥१६६७॥

‘ण वि कारणं तणादी’ नैव कारणं तृणादिमस्तरं सल्लेखनाया, नात्रि सघसमुदायं मरणावसाने सक्विलक्ष्यत साधो ॥१६६७॥

जह वणिगया मागरजलम्मि णावाहिं रयणपुण्णाहिं ।

पट्टणमासण्णा वि हु पमादमूढा वि वज्जति ॥१६६८॥

‘जह वणिगया’ यथा वणिजा रत्नसपूर्णाभिर्नोमि सह विनश्यन्ति । समुद्रजलमध्ये प्रभादेन मूढा पतनाम्लिकमागता अपि ॥१६६८॥

सल्लेहणा विमुद्धा केहं तह चेव विविहमगेहि ।

सथारे विहरता वि सक्विलिद्धा विवज्जति ॥१६६९॥

‘सल्लेहणा विमुद्धा वि’ शरीरसल्लेखनाभावान् । सल्लेखनया विमुद्धा अपि सतः । पूर्वं केचिन् विविध

पा०—यह शरीर भिन्न है और जीव भिन्न है ऐसा निश्चय करके दुःख भय और क्लेशको करनेवाली ममता शरीरमे मत कर अर्थात् शरीरसे ममत्वको त्याग, वही सत्य दुःखाका मूल है ॥१६६५॥

पा०—सब उपसर्गोंके प्रकारोंको और सब परीपहके प्रकारोंको महन करने हुए तुम निःसत्त्वभावनासे सकलेश परिणामोंके बिना मोहको क्लेश करो ॥१६६६॥

पा०—टी०—यदि मरते समय साधुके परिणाम सकलेशरूप होते हैं तो तृण आदिका सथरा या वैयावृत्य करनेवाले साधुका जमघट सल्लेखनाका कारण नहीं हो सकता । अर्थात् तृणादिके सथरा और वैयावृत्य करनेवाले साधु तो सल्लेखनाके बाह्य कारण है अन्तरंग कारण तो क्षयकका आर्त रोद रहित परिणाम ही है । उसके अभावमे केवल बाह्य कारणोंमे सल्लेखना नहीं हो सकती ॥१६६७॥

पा०—जैसे वणिक् रत्नोंमे भरी नावोंमे साय नगरके समीप तक आकर भी प्रमादवश मूढ होकर मागरके जलमे डूब जाते हैं ॥१६६८॥

पा०—टी०—उसी प्रकार पहले विमुद्ध भावमे शरीरकी सल्लेखना करनेवाले भी कुछ क्षयक गगद्वेपादि भावस्वरूप विविध परिग्रहोंके साथ मथरेपर आरुढ़ होने हुए भी सकलेश परिणामों

मर्गेहि विचित्रं रागद्वेषादिभावपरिग्रहं सह । 'सथारे विहरता वि' सस्तरे प्रवर्तमाना अपि । 'सकलितृष्टा विवर्जजनि' सविलष्टपरिणता विनश्यन्ति ॥१६६९॥

सल्लेहणापरिस्सममिम कय दुक्कर च सामण्णं ।

मा अप्पसोक्खहेउ तिलोगसार वि णासेइ ॥१६७०॥

'सल्लेहणापरिस्सममिद' शरीरसल्लेखनाया क्रियमाणाय अनशनादितपमा त्रिविधाहारत्यागेन, यावज्जीव वा पामपरिहारेण जात परिधममिद । 'दुक्कर च कद सामण्ण' दुक्कर कृत च श्रामण्य । चिरकाल त्रिलोकमार अतिरावितस्वर्गापवर्गमुखदानात् । 'अप्पसुक्खहेउ' अल्पाहारसेवाजनितमुखनिमित्त । 'मा विणसेहि' नैव विनाशाय ॥१६७०॥

धीरपुरिसपण्णत्त सप्पुरिमणिसेविय उवणमित्ता ।

धण्णा गिरावयक्खा सथारगया णिसज्जति ॥१६७१॥

'धीरपुरिसपण्णत्त' उपमर्षाणा परिपहाणा चोपनिवाते अविचल्युत्तयो ये धीरास्तैरपदिष्ट तस्मात् । 'सप्पुरिसणिसेविय' सत्पुद्गलनिषेवित माग 'उवणमित्ता' आश्रित्य । 'धण्णा' धन्या पुण्यवत् । 'गिरावयक्खा' निरपेक्षा परित्याक्तादीना । सथारगया' सस्तरारब्धा । 'णिसज्जति' शरीरे ॥१६७१॥

तम्हा कलेवरकुडी पव्वोदव्वत्ति णिम्ममो दुक्ख ।

कम्मफलमुवेक्खंतो विसहसु णिव्वेदणो चेव ॥१६७२॥

'तम्हा' तस्मान् । 'कलेवरकुडी' शरीरकुटी । 'पव्वोदव्वत्ति' परित्याग्येति मत्वा । 'णिम्ममो' शरीरे ममतारहिता । 'दुक्ख विसहसु' दुःख विसहस्व । 'कम्मफलमुवेक्खंतो' कर्मफलमुपेक्षमाणो । 'णिव्वेदणो चेव' निर्वेदनमिव ॥१६७२॥

इय पण्णविज्जभाणो सो पुव्व जायसकिलेमादो ।

विणियत्ततो दुक्ख पस्मइ परदेहदुक्ख वा ॥१६७३॥

के कारण विनाशको प्राप्त होते हैं । अर्थात् प्रथम तो उनकी सल्लेखना ठीक रहती है । पीछे सबलेश परिणाम होनेसे सथरेपर रहते हुए भी सल्लेखनासे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥१६६९॥

गा०-टी०-—हे क्षपक ! अनशन आदि तपके द्वारा तथा तीन प्रकारके आहार और जीवन पर्यन्तके लिये पानका त्याग करके शरीरको वृक्ष करनेमें तुमने जो परिश्रम किया है और यह अत्यन्त कठिन मुनिपद धारण किया है और इन सबसे तुम्हें जो स्वर्ग और मोक्षका सातिशय मुख मिलनेवाला है, इन सबको आहार सेवनसे होनेवाले थोड़ेसे सुखके लिये नष्ट मत करो ॥१६७०॥

गा०—उपसर्ग और परीपहोके आनेपर भी जो विचलित नहीं होते उन धीर पुरुषोंके द्वारा कहे गये और श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा सेवित इस मार्गको अपनाकर पुण्यशाली क्षपक, त्याग और ग्रहणसे निरपेक्षा होकर सस्तरपर आरुढ होकर विशुद्ध होते हैं ॥१६७१॥

गा०—अतः यह शरीररूपी मुटिया त्यागने योग्य है ऐसा मानकर शरीरमें ममत्त्व मत करो । तथा कर्मफलकी उपेक्षा करते हुए दुःखका इस प्रकार महो मानो दुःख है ही नहीं ॥१६७२॥

‘इयं’ एव । ‘पणविज्जमाणो’ प्रज्ञाप्यमान । ‘सो पुच्च जादसक्खित्तादो’ पूर्व आतसक्खेणान् । ‘विणि-
यत्तनो’ विनिवर्त्यमान । ‘दुस्स पस्सदि’ दुस्स पश्यति । किमिदं ? ‘परदेहदुस्स वा’ परमाणोरगतमिव
दुस्स ॥१६७३॥

रायादिमहद्धीयागमणपओणेण चा वि माणिस्स ।

माणजणणेण कवय कायव्व तस्स खवयस्स ॥१६७४॥

‘रायादिमहद्धीयागमणपओणेण’ राजादिमहद्धिकागमनप्रयोगेण ‘चावि माणिस्स’ मानिनोऽपि ।
‘माणजणणेण’ मानजननेन । ‘कवय कायव्व’ कवच कर्तव्य । ‘तस्स खवयस्स’ तस्य क्षपकस्य । मम धीरता
ब्रह्म अमी महद्धिका समायाता । अमीषा पुरस्ताद्यद्यपि प्राणा यान्ति यातु काम तथापि स्वा मनस्विता
नाह त्यजामीति मानयनो दुस्स सहने न कुरुते व्रतमङ्गम् ॥१६७४॥

इच्चेवमाडकवच खणिदं उस्सगिय जिणमदम्मि ।

अववादि य च कवय आगाडे होड कादव्व ॥१६७५॥

‘इच्चेवमाडकवच अणिदं’ इत्येवमादिक कवच कथितो जिनमते । उस्सगियो’ औत्पन्निक सामान्य-
भूत । ‘अववादि य च कवय कादव्व’ विशेषरूपोऽपि कवच कर्तव्यो भवत्यवगाडे मरणे ॥१६७५॥

जह कवचेण अभिज्जेण कवचिओ रणमुहम्मि मत्तूर्णं ।

जायड अलघणिज्जो कम्मममत्थो य जिणदि य ते ॥१६७६॥

‘जह कवचेण’ यया कवचेन । ‘अभिज्जेण’ अभेदेन । ‘कवचिओ’ सन्नद्ध । ‘रणमुहे सत्तुणमलघिज्जो

गा०—इम प्रकार उपदेश द्वारा समझानेपर वह क्षपक पूर्वमे हुए सकलेशरूप परिणामोसि
अपनेको हटाकर अपने दु ख इस प्रकार देखता है, मानो वह दु ख उसके शरीरमे नही है किन्तु
किमी दूसरेके शरीरमे है ॥१६७३॥

गा०—टी०—महान् ऐश्वर्यशाली राजा जादिको उम क्षपकके पास लाकर भी उम अभि-
मानिको मानदान देकर उसका कवच (रक्षाका उपाय) करना चाहिये । उन्हे देव वह विचारता
है कि मेरी महत्तगीमत्ताको देखनेके लिये ये बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली आये हुए हैं । इनके सामने भरे
ही मेरे प्राण जायें तो चले जायें । तथापि मैं अपनी मनस्विताको नही छोडूंगा । इस प्रकार वह
मानप्रेमी दु ख सहता है किन्तु व्रतभग नही करता ॥१६७४॥

गा०—इम प्रकार जिनमतमे कवचका औत्पन्निक अर्थात् सामान्य स्वरूप बहा है । मृत्यु
निकट होनेपर आपवादिक अर्थान् विशेषरूप मो कवच करना चाहिये ॥१६७५॥

विशेषार्थ—जिसका मग्ग अभी दूर है उसके लिये सामान्यरूपसे ऊपर कवचना कथन
किया है । यहाँ निकट मरण बालेके लिये अपवादरूप विशेष कवचका कथन किया है । जिनका
अभिप्राय यह है कि तत्काल उत्पन्न हुए ध्यानमे विघ्न डालने वाले मूख आदिके दु खको दूर
करनेके लिये यथायोग्य प्रयोग करना चाहिये ।

गा०—जेने अमेय कवचके द्वारा मुरझित योद्धा युद्धभूमिमे शत्रुओके वनमे नही थाता ।
तथा शत्रुपर प्रहार करनेमे समर्थ होता है और इस प्रकार शत्रुओको जीत लेता है ॥१६७६॥

होवि' रणमुखे 'गत्रुणामलप्यो भवति । 'हम्मसमत्यो य' प्रहरणादित्रियाममर्थ । 'जिणदि य ते' जयति च तानरीन् ॥१६७६॥

एव खवओ कवचेण कवचिओ तह परीमहरिऊणं ।

जायड अलषणिज्जो ज्ञाणममत्यो य जिणदि य ते ॥१६७७॥

एव खवओ' एव कवक् कवचेनोपगृहीत परीपहारिभिर्न दृष्यते, ध्यानममर्थो जयति च तात्पर्योप-
हारीन् ॥कवचुति ॥१६७७॥

एव अधियामेतो सम्म खवओ परीसहे एदे ।

मन्वत्थ अपडिबद्धो उवेदि सन्वत्थ समभावं ॥१६७८॥

'एव अधियासेतो' एव मद्यान सम्यक्परीपहनेतान् । सबशाप्रतिबद्ध शरीरे, वसती, गणे,
परिवारकेषु च सर्वशोपति समचित्तात् ॥१६७८॥

सन्वेसु दन्वपज्जयविधीसु णिच्च ममचिटो विजडो ।

णिप्पणयदोममोहो उवेदि सन्वत्थ समभावं ॥१६७९॥

'सन्वेसु' सर्वेषु द्रव्यपर्यायविकल्पेषु नित्य परित्यक्तममतादोष ममेद मुखसाधन मदीय इति वा ।
'णिप्पणयदोममोहो' निम्नोहो, निर्दोषो, निर्मोह सर्वत्र ममतामुपनि ॥१६७९॥

सजोगविप्पओगेसु जहदि इट्ठेसु वा अणिट्ठेसु ।

रदि अरदि उस्सुगत्तं हरिम दीणत्तणं च तहा ॥१६८०॥

मयोगे रति, विप्रयोगे अरति, इष्ट वस्तुन्मुक्तञ्छा, इष्टयोगे 'रदि' रति, हर्ष, इष्टविप्रयोगे अरति
दीनता । 'उस्सुगत्त' उत्सुकता च तथा 'जहति' जहाति क्षपक कवचेनोपगृहीत ॥१६८०॥

गा०—उसी प्रकार कवचसे सुरक्षित क्षपक परीपह आदिके बन्धने नहीं आता । तथा
ध्यान करनेमें समर्थ होता है और उन परीपह रूपी यन्त्रोंको जीन लेता है ॥१६७७॥

गा०—इस प्रकार इन तत्काल उपस्थित हुई परीपहोंको मम्यक् रूपसे सहन करता हुआ
क्षपक सर्वत्र शरीर, वसति, सघ और परिचर्या करनेवालोंमें अप्रतिबद्ध होता है—ये मेरे हैं मैं
इनका हूँ ऐसा सकल नहीं करता । तथा सर्वत्र जीवन मरण आदिमें समभावको—रागद्वेषने
रहितताको प्राप्त होता है ॥१६७८॥

गा०—द्रव्य और पर्यायके समस्त भेदोंमें नित्य ममता दोषको त्याग स्नेह रहित, दोष
रहित और मोहरहित होकर सर्वत्र समभावको प्राप्त होता है अर्थात् समस्त द्रव्यों और पर्यायोंमें
'ये मेरे मुखके साधन हैं' इस प्रकारका ममत्व भाव नहीं रखता । किन्तु सर्वत्र समभाव रखता
है । न किमीमें प्रीति करता है और न किमीसे द्वेष करता है ॥१६७९॥

गा०—कवचमें उपगृह्यत हुआ क्षपक सयोगमें रति, वियोगमें अरति, इष्ट वस्तुमें उत्कण्ठा,
इष्ट वस्तुके मयोगमें रति तथा हर्ष और इष्ट वस्तुके वियोगमें अग्नि तथा दीनता नहीं
वर्त्ता ॥१६८०॥

मित्ते सुयणादीसु य सिस्से साधम्मिए कुले चावि ।

राग वा दोस वा पुव्व जायपि मो जहड ॥१६८१॥

‘मित्ते सुयणादीसु य’ मित्रेषु बन्धुषु वा । शिष्येषु च सधर्मणि कुले वा पूर्वं जात रागद्वेष वासी जहाति ॥१६८१॥

भोगेसु देवमाणुस्सगेसु ण करेड पत्थण खवओ ।

मग्गो विराघणाए भणिओ विसथाभिलासोत्ति ॥१६८२॥

‘भोगेसु देवमाणुस्सगेसु’ देवमानवयोचरभोगप्रार्थना न करोति क्षपको व्यावर्जितकवचोपगृहीत । विपयाभिलापो मुक्तिमार्गविराघनाया मूलमिति ज्ञात्वा ॥१६८२॥

इट्ठेसु अणिट्ठेसु य सदफरिसरसरूवगधेसु ।

इहपरलोए जीविदमरणे भाणावमाणे च ॥१६८३॥

सच्चत्थ णिव्विसेसो होदि तदो रागरोसरहदप्पा ।

खवयस्म रागदोसा हु उत्तमड्ड विणासति ॥१६८४॥

स्पष्ट उत्तराष्टादश ॥१६८३॥१६८४॥

विशेषार्थ—इष्ट वस्तुके मिलनेपर या अनिष्ट वस्तुके विच्छेदनेपर चित्तमे प्रमत्तता होना, अनिष्टका संयोग अथवा इष्टका वियोग होनेपर अरति अर्थात् चित्तका दुःखी होना, इष्ट वस्तुमे उत्कण्ठा होना—यदि मुझे अमुक वस्तु मिल जाये तो अच्छा हो इस प्रकार हृदयमे उत्कण्ठा होना, हर्ष अर्थात् इष्टका संयोग होनेपर रोमाच, मुखकी प्रसन्नता आदिसे आनन्द व्यक्त होना, तथा इष्टका वियोग होनेपर मुखकी विरूपतासे विपाद व्यक्त होना, ये सब कवचमे उपगृहीत क्षपक छोड़ देता है ।

गा०—अथवा कवचसे उपगृहीत वह क्षपक मित्रोमे, बन्धुबान्धवोमे, शिष्योमे साधर्मि जनोमे और कुलमे, पूर्वमे उत्पन्न हुए रागद्वेषको छोड़ देता है अर्थात् समाधि स्वीकार करनेसे पूर्वमे या दीक्षा ग्रहण करनेसे पूर्वमे जो रागद्वेष उत्पन्न हुआ है उसे दूर करता है माय ही भागे भी रागद्वेष नहीं करता ॥१६८१॥

गा०—तथा ऊपर कहे गये कवचसे उपगृहीत क्षपक यह जानकर कि विषयोको अभिलाषा मोक्षमार्गको विराघनाका मूल है, देव और मनुष्य सम्बन्धी भोगोकी प्रार्थना नहीं करता ॥१६८२॥

गा०—टी०—कवचमे उपगृहीत होनेमे क्षपक इष्ट अनिष्ट मृद, स्पर्श, रस, रूप और गन्धमे, इम लोक और परलोकमे, जीवन और मरणमे, मान और अपमानमे सर्वत्र इष्ट अनिष्ट विकल्पमे मुक्त और रागद्वेषसे रहित होता है । क्योंकि क्षपकके रागद्वेष उत्तमार्थ अर्थात् रत्नत्रय, सम्यक् ध्यान और समाधिमरणको नष्ट कर देते हैं ॥१६८३-१६८४॥

जदि वि य से चरिमंते समुदीरदि मारणतियमसायं ।

सो तह वि असंमूढो उवेदि सव्वत्थ समभावं ॥१६८५॥

‘जदि वि य से’ यद्यपि तस्य क्षपकस्य चरमकालान्ते मारणान्तिक दुःख भवेत् नो बध्नेनोत्पृहीत क्षपक तद्यापि अतमूढ समभाव सर्वत्रोपैति ॥१६८५॥

एव सुभाविदप्पा विहरड सो जाववीरियं काये ।

उट्टाणे मवेसणे सयणे वा अपरिदतो ॥१६८६॥

‘एव सुभाविदप्पा’ निर्यापकेन स्मृता गतिदोष एवमिन्द्रियते । तेन सम्यग्भावितचित्त सन्निहृति प्रवर्तते अपरिधम्भ । ‘जाववीरियं काये’ जावन्तरीरे बलमस्ति उत्थाने, शयने ध्याने वा ॥१६८६॥

जाहे सरीरचेट्ठा विगदत्थामस्स से यदणुभूदा ।

देहादि वि ओसग्ग सव्वत्तो कुण्ड गिरिवेक्खो ॥१६८७॥

‘जाहे सरीरचेट्ठा’ यदा शरीरचेष्टा विगतबलस्य तस्य स्वत्वा जाता, तदा शरीरादुत्पन्नं करोति सर्वतो मनोवाक्कायनिरपेक्ष ॥१६८७॥

तदेव शरीरादिक त्याग्यमुत्तरगायया दर्शयति—

सेज्जा सधार पाणय च उवधिं तहा सरीर च ।

विज्जावच्चकरा वि य वोमरइ समत्तमारुढो ॥१६८८॥

‘सेज्जा’ वसति । सस्तर तृणादिक, पान पिच्छ, शरीर च वैयावृत्त्यङ्गस्य व्युत्पन्नति । ‘समत्तमारुढो’ समाप्त संपूर्ण रत्नत्रयमारुढ ॥१६८८॥

गा०—यद्यपि उन क्षपकको अन्तिम समयमे मरण प्राप्त होनेतक दुःख होता है तद्यापि वह कवचसे उपगृहीत क्षपक शरीरमे भी मोह न रखना हुआ सर्वत्र समभाव धारण करता है ॥१६८५॥

गा०—इस प्रकार निर्यापकाचार्यके द्वारा कहे गये पदार्थ स्वरूपसे अपने चित्तको सम्यक् रूपसे भावित करके वह क्षपक जबतक शरीरमे शक्ति रहती है तबतक बिना धके उठने बैठने और सोनेमे स्वयं प्रवृत्ति करता है ॥१६८६॥

गा०—जब शक्तिहीन होनेपर उसकी शारीरिक चेष्टा मन्द पड़ जाती है तब वह मन वचन कायसे निरपेक्ष होकर शरीरका भी त्याग करता है ॥१६८७॥

आगेकी गायसे शरीर आदिको त्याग्य बतलाते हैं—

गा०—सम्पूर्ण रत्नत्रयमे आरुढ हुआ वह क्षपक वसति, तृणादि रूप सस्तर, पानक, पिच्छी, शरीर तथा वैयावृत्त्य करनेवालोका भी त्याग कर देता है अर्थात् उन सबसे भी निरपेक्ष हो जाता है ॥१६८८॥

अवहट्ट कायजोगे व विप्पजोगे य तत्थ सो सव्वे ।

सुद्धे मणप्पजोगे होइ णिरुद्धञ्जवसियप्पा ॥१६८९॥

‘अवहट्टकायजोगे’ वाय्गोगान्काययोगाश्च सर्वान्निराकृत्य अमावत्र मनोजोगे शुद्धे स्थितो भवति ।
विषयान्तरसञ्चारान्निवृद्ध अध्यवसित च आत्मीरूप ज्ञानाख्य यस्य न ॥१६८९॥

एवं सव्वत्थेसु वि समभाव उवगओ विसुद्धप्पा ।

मित्ती करुणं मुदिदमुवेक्खु खवओ पुण उवेदि ॥१६९०॥

‘एवं सव्वत्थेसु वि’ एवं सर्ववस्तुषु समतापरिणाममुपभूतो विसुद्धचित्तः, मैत्री, करुणा, मुदितामुपेक्षा च पञ्चादुपैति क्षपक ॥१६९०॥

मैत्रीपभूतीना चिन्ताना विषयमुपदर्शयति—

जीवेसु मिच्चिन्ता मेत्ती करुणा य होइ अणुकपा ।

मुदिता अदिगुणचिन्ता मुहदुक्खधियासणमुवेक्खा ॥१६९१॥

‘जीवेसु मिच्चिन्ता’ अन्तकाल पतसृप गतिषु परिभ्रमतो घटीयग्ववत्स्वर्गे प्राणभूतोऽपि बहुधा कृत-
महोपकारा इति तेषु मित्रताचिन्ता मैत्री । ‘करुणा य होइ अणुकपा’ शारीर, आगन्तुक मानस स्वाभाविक
च दू त्वमसह्यमाप्नुवन्तो दुष्टदा हा वराका मिथ्यादर्शनेनाविरत्या कपायेणानुभूत योगेन च समुपाजितागुमकर्मा-
पर्यपिपुद्गलस्कन्धनद्वयोद्भवा विपरी विवशा प्राप्नुवन्ति इति करुणा अणुकपा । मुदिता नाम यतिगुणचिन्ता
यतयो हि विनीता, विरागा, विमया, विमाना, विरोधा, विलोभा इत्यादिका । मुखे अरागा दु खे वा अद्वेषा
उपेक्षेत्युच्यते ॥१६९१॥ ममता गता ।

गा०—वह सब काययोगी और वचनयोगीको दूरकर शुद्ध मनोयोगमें स्थिर होता है ।
व्योक्ति वह अपने ज्ञानरूप आत्माको युक्ति और तर्क वितर्कसे निश्चित करके उसे अन्य विषयोंमें
जानेसे रोकता है ॥१६८९॥

गा०—इस प्रकार मन्त्र वस्तुओंमें समताभाव धारण करके वह क्षपक निर्मल चित्त हो
जाता है । फिर मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावनाओं अपनाता है ॥१६९०॥

मैत्री आदि भावनाओंको कहते हैं—

गा०—सौ०—अनन्तकाल चारो गतियोंमें भ्रमण करते हुए घटीयत्रकी तरह सभी प्राणियोंमें
मेरा बहुत उपकार किया है अतः उनमें मित्रताकी भावना होना मेरी है । अमह्य शारीरिक,
आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक दुःखोंको भोगते हुए प्राणियोंको देखकर अरे वेचारे मिथ्या-
दर्शन, अविरति, कपाय और अशुभ योगमें उपाजित अशुभ कर्मरूप पुद्गल स्कन्धोंमें उदयमें
उत्पन्न हुई विषदाओंको विवश होकर भोगते हैं । इस प्रकारके भावोंको करुणा या अणुकपा कहते
हैं । यतियोंके गुणोंके चिन्तनको मुदिता कहते हैं । यतिगण विनीत, रागरहित, भयरहित, मान-
रहित, रोपरहित और ओभरहित होते हैं इत्यादि चिन्तन मुदिता है । सुषुप्ते राग और दुःखमें
द्वेष न करना उपेक्षा है ॥१६९१॥

दसणणाणचरित्तं तव च विरियं समाधिजोगं च ।

तिविहेणुवसपज्जिय मन्वुवरित्तु कम कुणइ ॥१६९२॥

‘दसणणाणचरित्तं तव विरियं समाधिजोगं च’ तत्त्वप्रदान, तत्त्वावगम, वीतरागता, असन्त्यग-
जिया स्वशक्त्याऽनिगूह्य चित्तकाप्रयोग । ‘तिविहेणुवसपज्जिय’ मनोवाक्याय प्रतिपद्य । ‘सन्वुवरित्तु’
सर्वेभ्य पूर्वप्रवृत्तदर्शनादिपरिणामेभ्योऽभिज्ञायित कम ‘कुणदि’ कम दर्शनादिपदस्याम करोति ॥१६९२॥

शुभध्यानमाहुरथत पङ्क्तिरमाचष्टे—

जिदरागो जिददोसो जिदिदिओ जिदभओ जिदकमाओ ।

अरदिरदिमोहमहणो ज्ञाणोवगओ सदा होहि ॥१६९३॥

‘जिदरागो’ स्वतो व्यतिरिक्तेषु जीवाजावद्व्येषु तेषा पर्यायेषु अपरमगच्छम्पदोऽगद्व्येषु विचित्रभेदेषु
तत्त्वस्थानादिषु च यो राग स जितो येन सोऽभिधीयते । तथा मनोत्रेषु याऽप्राप्ति स दोष उच्यते स च
जितो देव स जितदोष ।

“जेतुत्तुपिरगतस्स रेणुगो सगादे जहा जने ।

तह रागदोसणेहोस्सिदस्स ‘क्कमासवो होवि ॥’ [मूलचार २३६] इति ।

जिनवचनाधिगमाद्दुःखभीरयति सर्वदुःखाना मूलकारणभूतो रागद्वेषाविति मनसा विनिश्चित्य

गा०—टी०—दर्शनं अर्थान् तत्त्वप्रदान, तत्त्वज्ञान और चारित्र्य अर्थान् वीतरागता, तप
अर्थात् भोजनका त्याग, वीर्यं अर्थान् अपनी शक्तिको न छिपाना, तथा समाधियोग अर्थात् चित्रको
एकाग्रता, इन सबको मन वचन कायसे प्राप्त करके क्षपक पूर्वके दर्शन आदिसे विशिष्ट दर्शन
आदिमे पग धरता है ॥१६९२॥

विशेषार्थ—मन्त्री आदि भावनाके बलसे व्यवहार मोक्षमार्गको प्राप्त करके क्षपक परमार्थ
मुक्तिमार्गपर चलनेका प्रयत्न करता है यह इस गायिकाके द्वारा कहा है । यह शुभतम ध्यानके लिये
प्रयत्नका प्रारम्भ है ॥१६९२॥

आगे शुभध्यानकी सामग्री कहते हैं—

गा०—जो जितराग, जितद्वेष, जितेन्द्रिय, जितभय, जितकषाय और अरति रति तथा
मोहका मयन करता है वह सदा ध्यानमे लीन रहता है ।

टी०—अपनेमे भिन्न जीव अजीव द्रव्योमे, रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द रूप उनकी
पर्यायोमे तथा अनेक भेदवाले उनके वाचारादिमे जो रागको जीतता है उने जितराग कहते हैं ।
तथा अमनोक्त वस्तुओमे प्रीतिका अभाव दोष है । जिमने उसे जीत लिया वह जितदोष है ।
‘जैसे जिमका शरीर तेलसे लिप्त होता है उसके शरीरमे धूल लगती है । उसी प्रकार जो राग
द्वेष और स्नेहमे लिप्त होता है उसके कर्मोका आसव होता है ।’

इस जिनागमको जानकर दुःखसे मोक्ष यति मन्त्र दुःखोका मूल कारण रागद्वेष है ऐसा

यस्तयोर्न विपरिणमते सोऽभिधीयते जितरागद्वेप इति । तस्योपायो जितेन्द्रियते यावच्छेत्—अहं जिदिदिओ इति वाक्यरूपेण कृत्वा सम्बन्धः । 'जिदिदिओ' इन्द्रियशब्देन रूपाद्यालम्बनोपयोगः परिगृह्यते मं जिनो येन स उच्यते जितेन्द्रिय इति । कथमसौ मतिज्ञानाप्रयोगो जेतुं शक्यते इति चेत् श्रुतज्ञानोपयोगे एव वृत्ता मनः सत्या, सुगपदुपयोगद्वयस्यात्मन्येकदा विरोधादप्रवृत्ते । न च बाह्यद्रव्यालम्बनमुपयोगमन्तरेणास्ति सभावो रागद्वेषयोः । सकल्पपुनरागो हि तावति । 'त्रिरक्तस्यो' क्षमाभारदवाजवसतोपपरिणामनिरस्तकपायपरिणामप्रमरो जितकपाय इत्युच्यते । अरते रतेश्च कर्मण उदये उपजातौ रत्यरतिपरिणामौ, मोहो, मिथ्याज्ञानं च सम्प्रज्ञानभावनया मम्यति यं स मयने 'अरतिरतिमोहमयणो' । एव निरस्तध्यानप्रतिपदापरिणामः । 'वृत्ताणोवगदो होदि' ध्यानाध्य परिणाममाश्रितो भवति । न हि रागादिभिर्बन्धुकीकृतस्य अर्थवायात्म्यग्राहि मवति विज्ञान अविचलं च नावतिष्ठते । अविचलमेव वस्तुनिष्ठं ज्ञानं ध्यानमिष्यते ॥१६९३॥

धम्म चदुप्पयां सुक्कं च चदुव्विधं किलेमहर ।

ममारदुक्खभीओ दुण्णिं वि ज्ञाणाणि सो ज्ञादि ॥१६९४॥

'धम्म चदुप्पयार' धर्मध्यानं चतुःप्रकारं । धारयति वस्तुनो वस्तुतामि धर्मं । स्वभावातिशयादेव चैतन्यादिकाज्जीवादिकं वस्तु भवति । स्वभावातिशयभावादेव वस्तु मयने न खरविषाणादि, तेन धर्मगन्धो

मनसे निश्चितं करके राग दोषरूपं परिणमनं नही करता । उस यतिको जितराग द्वेप कहते हैं । उसका उपाय है जितेन्द्रिय होना । यहाँ इन्द्रिय शब्दसे रूपादिका आलम्बन लेकर जो उपयोग होता है उसका ग्रहण किया है । उसे जो जीत रता है वह जितेन्द्रिय है ।

यह जो मतिज्ञानरूप उपयोग है इसको कैसे जीता जा सकता है ? श्रुतज्ञानरूप उपयोगमें ही मनकी प्रवृत्ति होनेपर मतिज्ञानरूप उपयोग जीता जा सकता है । क्योंकि एक साथ एक आत्मामें दो उपयोगोका विरोध होनेसे दो उपयोगोकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । और जबतक उपयोगोका आलम्बन बाह्य द्रव्य न हो तबतक रागद्वेष नहीं हो सकते । क्योंकि रागद्वेष सकल्पपूर्वक होते हैं । तथा जो क्षमा, भारदवा, आर्जव और मन्तोप परिणाममें कपायरूप परिणामोंके प्रसारको निरस्त कर देता है उसे जितकपाय कहते हैं । अरति और रति कर्मका उदय होनेपर उत्पन्न हुए रति और अरतिरूप परिणामोंको और मोह अर्थात् मिथ्याज्ञानको जो मम्यज्ञानरूप भावनासे मयता है उसे 'अरतिरति मोहमयन' कहते हैं । इस प्रकार जो ध्यानमें विरोधी परिणामोंको दूर करता है वह ध्यान नामक परिणामको करता है । जो रागादिमें व्यापुल रहता है उसका ज्ञान न तो अर्थके यथार्थस्वरूपको ही ग्रहण करता है और न निश्चल ही रहता है । और वस्तुनिष्ठ निश्चल ज्ञानको ही ध्यान कहते हैं ॥१६९३॥

गा०—धर्मध्यान चार प्रकारका है और सुक्क ध्यान भी चार प्रकारका है । ये ही ध्यान कष्टको हरनेवाले हैं । चतुर्गति परावर्तनरूप ममारमे जो दुःख होते हैं उनमें भीत मुनि धर्म और सुक्कध्यानोको ध्याता है ॥१६९४॥

टी०—जो वस्तुकी वस्तुताको धारण करता है उस धर्म वस्ते हैं । चेतन्य आदिरूप स्वभावके अतिगममें ही जीवादि वस्तु होती है । स्वभावरूप अतिशयके होनेमें ही वस्तु कहलानी

वस्तुत्वभाववाची । धर्मद्वैतस्तुत्वभावानपेतमिति धर्ममित्युच्यते । यद्येवमातदिरपि धर्मादनपेतत्वमस्ति । सम्प्रयुक्तमनोजवन्नुवियोग, वियुक्तमनोजवन्नुयोग, रोगातद्वादिप्रगमन, अभिप्राप्तप्राप्ति च धर्मेनाश्रित्य प्रवर्तमानत्वादधर्मादनपेतनेति । नैष दोषः विवक्षितधर्मविरोधवृत्तिर्धर्मैशब्दः । अत एव आज्ञापायविपाकमस्यानमित्यादिकैर्धर्मधर्मैर्नपेतत्वाद्यद्वैतध्यानमाज्ञाविचयादिमज्ञाभिरुच्यते । ध्येय ज्ञेयवस्तुस्वरूप तददिगानावि च ज्ञान ध्यानमिति सगताय व्याख्येयः । अन्ये तु ध्याचक्षते—क्षमाभार्दवाज्वादिकादधर्मादनपेतत्वादधर्म्य इति । ननु च क्षमा ध्येयाविनाभावि न च क्षमादयो धर्मा ध्येया येन तदनपेतत्वमुच्यते । अथ क्षमादिभ्यो दणविधौ धर्मो ध्येयस्तस्मादनपेतस्तस्यान्यथाप्रवृत्ते 'आज्ञापायविपाकसस्यानविचयाय धर्म्यमिति सूत्रं न युज्यते' । उत्तम-क्षमादिधर्मपरिणतारामनोजवपेतत्वात् धर्मादनपेतनेति धर्म्यमित्युच्यत इति चेन्न शूकलस्यापि धर्मादनपेतत्वादधर्म्यध्यानता स्यादशेष्यते—रुद्धितद्वेषु क्वचित्समाविनी क्रियामाश्रित्य शब्दव्युत्पत्तिमान् क्रियते । न सा क्रिया सन्न आशुगमनादश्व इति व्युत्पत्तिमान् स्थिते शयिते च प्रवर्तते न चाशुयाग्नियपि ब्रह्मवैद्यादी प्रवर्तते । तद्विहापि शुक्ले न धर्मशब्दो वर्तते । धर्मादग्यत्राप्याज्ञादौ वर्तते । अथ किं ध्यान, 'उत्तममहत्तमस्यैवाप्राप्तिना-

है । इमीसे गणके शीघ्र नामको कोई वस्तु नहीं है । अत धर्म शब्द वस्तुत्वभावका वाचक है । धर्म अर्थान् वस्तु त्वभावसे जो सहित है उसे धर्म्य कहते हैं ।

शका—यदि ऐसा है तो आर्तध्यान आदि भी धर्ममें सहित है । क्योंकि प्राप्त अनिष्ट वस्तुके वियोग, वियुक्त इष्ट वस्तुके संयोग, रोग आदिकी आन्ति और इष्टकी प्राप्ति आदि धर्मको लेकर आर्तध्यान होता है अत वह भी धर्ममें युक्त होनेसे धर्मध्यान कहा जाना चाहिये ?

समाधान—यह दोष ठीक नहीं है । यहाँ धर्म शब्द विवक्षित धर्मविशेषको कहता है । अत आज्ञा, अपाय, विपाक, मस्यान आदि धर्म जिसमें ध्येय होते हैं उन ध्यानको आज्ञाविचय आदि नामसे कहा जाता है । अन्य कुछ आचार्य क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि धर्मों में युक्त होनेसे धर्म्य कहते हैं ।

शका—ध्यान ध्येयका अविनाभावी है । ध्येयके बिना ध्यान नहीं होता । किन्तु क्षमा आदि धर्म ध्येय नहीं है अत उनमें युक्त ध्यानको धर्म्य नहीं कह सकते । यदि क्षमा आदि दस प्रकारका धर्म ध्येय है और उसमें सहित ध्यान धर्म्य है तो वह ध्यान अन्यत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता । तब तत्त्वार्थ सूत्रमें जो कहा है कि आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्यानका चिन्तन धर्म्यध्यान है वह नहीं बनना, क्योंकि आत्मा तो उत्तम क्षमा आदि धर्मरूपमें परिणत होनेसे उनसे सहित ही है । वह उनमें हटकर अन्यमें प्रवृत्त होता नहीं । यदि कहोगे कि धर्ममें युक्तताका नाम धर्म्य है तो शुक्लध्यान भी धर्मसे युक्त होनेसे धर्म्यध्यान कहलायेगा ।

समाधान—रुद्धिशब्दोंमें कहींपर होनेवाली क्रियाको लेकर शब्दकी मात्र व्युत्पत्ति की जाती है किन्तु वह क्रिया मिद्वान्तरूप नहीं होती । जैसे जानु-शीघ्र गमन करनेसे अश्व शब्द निष्पन्न होता है । किन्तु जब वह घोड़ा बंठा होता है या गाँता है तब भी उसे अश्व (घोड़ा) ही कहते हैं । तथा गरुड वगैरह तेज चलते हैं किन्तु उन्हें अश्व नहीं कहते । उसी तरह यहाँ भी धर्म शब्दमें शुक्लध्यान नहीं कहा जाता । तथा उत्तम क्षमा आदि धर्मोंसे भिन्न आज्ञाविचय आदिको धर्म्य कहा जाता है ।

शका—ध्यान किसे कहते हैं ?

समाधान—तत्त्वार्थ सूत्रमें कहा है उत्तम महत्तम वानेके एकाग्रचिन्ता निरोधको ध्यान

निरोधो ध्यानम् [त० सू० १।२७] इति चेत् पदम् सहननेत्याद्य त्रितय सहनन च वज्रग्रिभनाराचसहनन, वज्रनाराचसहनन, नाराचमहननमिति । तेषु त्रिषु एक सहनन यम्य म उत्तममहननमनस्य एकमत्र मुवमस्येत्ये-
काग्रं यस्मिन्तानिराच स ध्यानमित्युच्यते । ननु चिन्तानिरोध चिन्ताया अभावस्तस्य का एकमुत्तता, कथ वा
कर्मणा भावे अभावे च निमित्तता । आर्तरीद्रयोर्मुक्तकर्मनिमित्ततेष्यते । इतरयोस्तु शुभकर्मणा निमित्तता
निर्जरायाश्च हेतुनेष्टा । अत्रोच्यते—न निरोपश दोषाभाववाचो किनु रोधवचनो यथा मूत्रनिरोध इति । ननु
च परिस्पन्दवतो निरोधो भवति । चिन्तायास्तु को निरोध इत्यत्रोच्यते । 'कैचित्प्रवदन्ति' नानार्थावलम्बनेन
चिन्ता परिस्पन्दवती तस्या एकस्मिन्त्र नियमस्मिन्तानिराच इति त इदं द्रष्टव्या । नानार्थाधिया चिन्ता सा
कथमेकैव प्रवर्तते ? एकैव चेन प्रवृत्ता नानार्थावलम्बन परिस्पन्द नामादयतीति निरोधवाचो युक्तिरसंगता,
'तस्मादेवमत्र व्याख्यान अचिन्तागन्धेन चैतन्यमुच्यते तच्च चैतन्यमन्यपय वाधमवगच्छता ज्ञानपर्यायहपेण
वर्तते' इति परिस्पन्दवत्तस्य निरोधो नाम एकैव विषये प्रवृत्तिस्तथा हि य एकैव वर्तते स तत्र निवृद्ध इति
भण्यते । उत्तमसहननप्रयोगादेवार्तरीद्रयोर्मुक्तकर्ममहननेषु तिर्यग्मानवषु प्रवृत्तिर्न स्यात् । तेन तद्व्यानाव-
लम्बनो गतिविभागो न स्यात्तेषामनुभवविरोधश्चेदानीतनानामपि तयोर्वृत्ते सूत्रान्तरविरोधश्च "तद्विपरितेय-"

कहते हैं । यह महननोपमेसे आदिके तीन सहनन वज्रग्रंभ नाराच महनन, वज्रनाराच महनन
और नाराच महनन उत्तम है । इनमेमे एक सहनन जिसके हो उसे उत्तम सहनन कहते हैं । उसके
एक है अग्र अर्थान् मुख जिसका उस एकाग्रमे जो चिन्ताका निरोध है वह ध्यान है ।

शङ्का—चिन्ता निरोधका अर्थ होता है चिन्ताका अभाव । अभाव एक मूल कैसा ?
तथा अभाव कर्मा के भाव या अभावमे निमित्त कैसे हो सकता है ? आगममे आर्तध्यान और
रीद्रध्यानको अशुभ कर्मों के आस्रववन्धमे निमित्त कहा है । तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यानको
शुभ कार्यों मे निमित्त कहा है तथा निर्जराका भी हेतु कहा है ।

समाधान—चिन्ता निरोधमे निरोध शब्दका अर्थ अभाव नहीं है किन्तु उसका अर्थ है
रोकना । जैसे मूत्रनिरोध अर्थान् मूत्रको रोकना ।

शङ्का—जिममे हठन चलन होता है उसका निरोध होता है चिन्ता का निरोध कैसा ?

समाधान—कुछ आचार्य कहते हैं, नाना अर्थों का अवलम्बन करनेमे चिन्ता हलन चलन
रूप होती है । उसको एक विषयमे नियमित करना चिन्ता निरोध है । उनसे यह पूछना है कि
जब चिन्ता नाना अर्थों का आश्रय लेनेवाली है तो वह एक ही स्थानमे कैसे रक सकती है ? यदि
वह एक ही स्थानमे रक सकती है तो नाना अर्थों के अवलम्बन रूप परिस्पन्द वाली नहीं हो
सकती । इसलिये उसका निरोध कहना असंगत है । इसलिये चिन्तानिरोधका अर्थ ऐसा करना
चाहिये—चिन्ति धातुमे चिन्ता शब्द बना है उसीसे चैतन्य भी बना है । अतः चिन्ता शब्दमे
यहां चैतन्य कहा है । वह चैतन्य अन्य-अन्य पदार्थों को जानते हुए ज्ञानपर्याय रूपसे वर्तन करना
है अतः वह परिस्पन्द वाला है । उसका निरोध अर्थान् एक ही विषयमे प्रवृत्ति । क्योंकि जो
एक ही विषयमे प्रवृत्ति करता है उसे वही निवृद्ध कहा जाना है ।

शङ्का—ध्यानमे लग्नगमे 'उत्तम महनन' विशेषणका प्रयोग करनेमे अनुत्तम सहननवाले
तिर्यग्चो और मनुष्योंमे आर्तध्यान और रीद्रध्यान नहीं हो सकेंगे । ऐसा होनेमे उन ध्यानोंको
स्केर जो गतिवा विभाग किया है वह नहीं बनेगा । तथा ऐसा कहना अनुभवमे भी सिद्ध है

विरतप्रमत्तसयताना" "हिंसानृतस्तेयसरलोभेभ्यो रौद्रमविस्तदेशविरतयो" रिति [त० सू० ९।३५] गुणस्थान-
मात्राश्रयणेनैव स्वामिनिर्देशकृतत्वात् ।

अत्र प्रतिविधीयते—निर्जराहेतुतया विक्ल्पे ध्यानेषु तत्प्रस्तुते युक्त साक्षात् मुक्त्यङ्ग ध्यान निर्देष्टुमिति
मन्मथमानेन उत्तममहन्नपहण कृत सूत्रकारेण । यद्येव आर्तैरौद्रधर्म्यशुन-गानोति सूत्रमुत्तरं नोपपद्यते न निर्जरा-
हेतुतास्त्वार्तैरौद्रयारिति । अत्रोच्यते 'उत्तमसहन्नपहणकाप्रचिन्तानिरोधसामान्यान्तर्भूत अनभिमतमपि
मुक्त्यङ्गमुद्दिश्य प्रवृत्तमुत्तरं तु सूत्रमात्तैरौद्रधर्म्यशुक्लानोत्पेनदेकाप्रचिन्तानिरोधसामान्यान्तर्भूत अनभिमतमपि
ध्यानं निरूपयति । प्रस्तुतस्यैव ध्यानस्य अनभिमतध्यानविक्लृप्तपमधिगममितुमर्त प्रासंगिकयो आर्त-
रौद्रयोस्तरन्याम इति न दोषः । अयकोत्तमसहन्नपहण धीर्यतिशयवत् आत्मन उपलक्षण, उत्तमसहन्नपहण
धीर्यतिशयवत् आत्मनो यदेकवस्तुनिष्ठ ध्यानं तत् ध्यानमिति सूत्रार्थः ॥ 'शुक्लं च चतुर्विधं' शुक्लं च ध्यानं
चतुर्विधं ध्यानं श्लेशहरं ससारदुःखभोरुं चतुर्गुणपरावतनेन यानि दुःखानि तेष्वपि भोत । 'बोधिनि वि'
द्वे 'क्षणाणि' ध्याने धर्म्यशुक्ले 'सो' क्षपक 'ज्ञावि' ध्यायति ॥१६९४॥

ण परीसहेहि मताविदो वि सो ज्ञा अदृष्टद्वानि ।

सुदृष्टवहाणे सुदृ पि अदृष्टद्वानि वि णासति ॥१६९५॥

'ण परीसहेहि' स क्षपक 'परिस्तहेहि' परोपहं । 'सताविदो वि' बाधितोऽपि 'अदृष्टद्वानि' आन

क्योंकि आजके मनुष्योंके भी आर्त और रौद्रध्यान होते हैं । तथा उक्त कथनका विरोध अन्य
मूलोंसे भी होता है । क्योंकि तत्त्वाधर्मसूत्रमें ही गुणस्थान मात्रका आश्रय लेकर आर्त और
रौद्रध्यानके स्वामियोंका कथन किया है । यथा—आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तमयतो
के होता है । रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके होता है ।

समाधान—तत्त्वाधर्मसूत्रकारने नीचे अध्यायमें निर्जराके कारणोंका विवेचन करते हुए
जब ध्यानका वर्णन किया तो 'साक्षात् मुक्तिकारण ध्यानका निर्देश करना उचित है' ऐसा
मानकर ध्यानके लक्षणमें उत्तम सहन्नपदका ग्रहण किया है ।

शका—यदि ऐसा है तो 'आर्त रौद्र धर्म और शुक्ल' ये चार ध्यान हैं ऐसा सूत्र नहीं कहना
चाहिये था क्योंकि आर्त रौद्र निर्जराके कारण नहीं है ।

समाधान—'उत्तम सहन्न' इत्यादि सूत्र जो मुख्य ध्यान मुक्तिके कारण हैं उनको लक्ष्य
करके रचा गया है । आगेका सूत्र, जिसमें ध्यानके चार भेदोंके नाम गिनाये हैं, एकाग्र चिन्ता
निरोध सामान्यमं अन्तर्भूत सप्त ध्यानोको बतलाता है । अर्थात् आर्त रौद्रमें भी ध्यान सामान्यका
लक्षण घटित होता है इसलिये ध्यानके भेदोंमें उनको गिनाया है । यद्यपि वे मोक्षके कारण नहीं
हैं । अतः अनिष्ट ध्यानोंसे सिद्ध प्रस्तुत धर्म्य शुक्लध्यानोका ही स्वरूप बतलानेके लिये सूत्रकारने
आर्त और रौद्रध्यानोका कथन किया है । अथवा उत्तम सहन्नपद अतिशय धीर्यशाली आत्माका
उपलक्षण है । उत्तममहन्नपद अर्थात् अतिशय धीर्यसे विशिष्ट आत्माके जो एक वस्तुनिष्ठ ध्यान
होता है वही ध्यान है, ऐसा उक्त सूत्रका अर्थ होता है । समारम्भे भोत क्षपक धर्म्य और शुक्ल-
ध्यानोको ध्याता है ॥१६९४॥

गा०—वह क्षपक परोपहोसे पीडित होनेपर भी आर्त और रौद्रध्यान नहीं करता । क्योंकि

गीद्र च 'न साड' ना ध्याति । 'सुदृष्टवहणे' सुष्टु उपधाने । शुद्धमपि 'अदृष्टाणि नासति' आन्तरीद्रध्याने नागयत ॥१६९५॥

अद्रे चउप्पयारे रुहे य चउन्विधे य जे भेदा ।

ते मन्वे परिजाणदि सथारगओ तओ खवओ ॥१६९६॥

'अद्रे चउप्पयारे' आर्तं चतु प्रकारे, 'जे भेदा रुहे य चउन्विधे' ये भेदा । 'ते सव्वे परिजाणदि' तान् सर्वान् विजानाति । 'सथारगओ' सस्तरगत । 'तओ खवओ' अगो क्षपक । यो यत् परिहरेच्छुम्भं तत् तत्तत्त्वतोऽनवनुस्यूमानो नियोगतः परिहरेदिच्छेद् वायं आन्तरीद्र परिहरन् तस्मान् ज्ञातव्ये ते इति दर्शयति ॥१६९६॥

अमणुण्णसपओगे इट्ठिविओए परिस्सहणिदाणे ।

अट्ट कसायसहिय ज्ञाण भणिय समासेण ॥१६९७॥

तेणिक्कमोसहिंमारक्खणेसु तह चेव छन्विहार मे ।

रुह कसायसहिय ज्ञाण भणिय समासेण ॥१६९८॥

अवहट्ठ अट्टरुदे महाभये सुग्गदीए पच्चहे ।

धम्मे सुक्के य सदा होदि समण्णागदमदी सो ॥१६९९॥

'अवहट्ठ' अपहृत्य । 'अट्टरुहे' आन्तरीद्र । महतो भयस्य हेतुत्वाद्महाभये । 'सुग्गदीए पच्चहे' सुगतेर्विघ्नभूते । 'धम्मे सुक्के वा' धर्म्ये शुक्ले वा ध्यानेऽगो क्षपक । 'समण्णागदमदी सो होदि' सम्यगनुपरत-मतिर्भवति ॥१६९७॥॥१६९८॥॥१६९९॥

आर्त और रौद्र ध्यान सुष्टु उपधान अर्थात् सकलेश्वरहित परिणामोत्ते, विशुद्ध अर्थान् कर्मों को निर्जीर्ण करनेको शक्तिसहित भी समीचीन ध्यानको नष्ट कर देते हैं ॥१६९५॥

गा०—आर्तध्यानके जो चार भेद हैं और रौद्रध्यानके जो चार भेद हैं वे सब सस्तरपर आरुढ क्षपक जानता है । जो जिसको त्यागना चाहता है वह उसको यदि यथार्थरूपमे नहीं जानता तो कैसे उसका त्याग कर सकता है । अत क्षपकको आर्त और रौद्र ध्यानोका स्वरूप जानना चाहिये । इसलिये उनको भी बतलाते हैं ॥१६९६॥

गा०—अनिष्ट सयोग, इष्टवियोग, परीपह (वेदना) और निदान ये सन्धेपमे कपायमहित आर्तध्यानके चार भेद हैं ॥१६९७॥

गा०—चोरी, झठ, और हिंसाका रक्षण तथा छद्म प्रकारके आरम्भको लेकर सन्धेपमे कपाय सहित रौद्रध्यानके चार भेद हैं ॥१६९८॥

गा०—सुगतिमे विघ्न डालनेवाले और महान् भयके कारण होनेमे महामयरूप रौद्र और आर्तध्यानको त्यागकर वह मय्यक् बुद्धिसम्पन्न क्षपक धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है ॥१६९९॥

विमर्षमयी ध्यानयो शुभयोर्वर्तत इत्यादाद्वया ध्यानप्रवृत्ती कारणमाचष्टे—

इदियकसायजोगणिरोधं इच्छ च निज्जरं विउलं ।

चित्तस्स य वसियत्त मग्गादु अविप्पणास च ॥१७००॥

‘इदियकसायजोगणिरोधं’ स्पर्शादिदूषजन उपयोग इन्द्रियशब्देनोच्यते । कपाया क्रोधादयस्ते योग सम्बन्धनस्य निरोध निवारणमिच्छन्निजरा च विपुलमिच्छन्, वस्तुयायात्म्यसमाहितचित्तस्य नैन्द्रियविषय-जन्योपयागमप्रद, कपायाणा चोत्पत्ति ‘चित्तस्स य वसियत्त’ चित्तस्य स्ववशत्व इच्छन् त्वेष्टे विषये चित्तममकृत्यापयतोऽनिष्टाच्च व्यावर्तयत स्ववश भवति चित् । ‘मग्गादो अविप्पणास च’ मार्गाद्विलम्बया-विप्रणाश च बाँधन्, अनुभूध्यानप्रवृत्तो रत्नत्रयात्प्रच्युतो भवामीति ध्याने प्रयतते ॥१७००॥

ध्यानपरिकरप्रतिपादनापोत्तरणाया—

किंचिवि दिट्ठिमुपावच्छइत्तुं ज्ञाणे निरुद्धदिट्ठीओ ।

अप्पाणहिं सदिं मघित्ता ससारमोक्खइ ॥१७०१॥

‘किंचिवि दिट्ठिमुपावच्छइत्तुं’ बाह्यद्रव्याशेषान् विचिच्चदुर्भ्यावर्तयित्वा । ‘ज्ञाणे निरुद्धदिट्ठीओ’ एकविषये परोक्षज्ञाने निरुद्धचैतन्य । ‘दृष्टिनिमित्ते हि चैतन्ये दृष्टिशब्दोऽन युक्त । ‘अप्पाणहिं’ आत्मनि । ‘सदिं’ स्मृति । ‘सघित्ता’ सधाय । स्मृतिशब्देनात्र धृतज्ञानेनावगतम्यार्थस्य स्मरणमुच्यते, ‘ससारमोक्खइ’ ससारविमुक्तये ॥१७०१॥

वह क्षपक किसलिये शुभ ध्यान करता है ? इस शकाके उत्तरमें उसके कारण कहते हैं—

गा०—इन्द्रिय और कपायोंसे सम्बन्धको रोकने, अत्यधिक निजराको चाहने, चित्तको वशमें करने और रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गको नष्ट न होने देनेके लिये क्षपक शुभ ध्यान ही करता है ॥१७००॥

टी०—यहाँ इन्द्रिय शब्दसे स्पर्श आदिसे उत्पन्न हुवा उपयोग कहा है । कपायसे क्रोधादि लिये हैं । जिसका चित्त वस्तुके मयार्थ स्वरूपसे ममाधान युक्त होता है उसकी प्रवृत्ति इन्द्रियोंके विषयसे उत्पन्न हुए उपयोगकी ओर नहीं होती और न कपायोंकी उत्पत्ति होती है । तथा जो अपने इष्ट विषयमें चित्तको बार-बार स्थापित करता है और अनिष्टसे चित्तको हटाता है उसका चित्त अपने वशमें रहता है । क्षपक जानता है कि यदि मैं अशुभ ध्यानमें लगा तो रत्नत्रयमें च्युत हो जाऊँगा । इन कारणोंसे वह शुभ ध्यान करता है ॥१७००॥

आगे ध्यानकी सामग्री कहते हैं—

गा०-टी०—बाह्य द्रव्यको देखनेकी ओरमें आँखोंको किञ्चित् हटाकर अर्थात् नाकके अग्र भागपर दृष्टिको स्थिर करके, एक विषयक परोक्षज्ञानमें चैतन्यको रोककर शुद्ध चिद्रूप अपनी आत्मामें स्मृतिका अनुगन्धान करे । गायामें निरुद्ध दृष्टि पद है । यहाँ दृष्टिमें निमित्त चैतन्यमें दृष्टि शब्दका प्रयोग किया है । और स्मृति शब्दमें धृतज्ञानके द्वारा जाने गये अर्थका स्मरण लिया है । अर्थात् दृष्टिको नाकके अग्रभागमें स्थापित करके किसी एक परोक्ष वस्तु विषयक

१ चैतन्यदृष्टि निमित्ते गन्धोऽन युक्त -अ० वा० । -चैतन्य दृष्टिनिमित्ते चैतन्ये दृष्टिशब्दो मूलारः ।

पञ्चाहरितु विसयेहि इन्द्रियाइं मण च तेहितो ।

अप्पाणम्मि मण तं जोग पणिघाय धारेदि ॥१७०२॥

‘पञ्चाहरितु’ प्रत्याहृत्य । ‘विसयेहि’ विषयेभ्य । ‘इन्द्रियाइं’ इन्द्रियाणि ‘मण च’ मनश्च व्यावर्त्ये । ‘तेहितो’ विषयेभ्य । ‘मण त धारेदि’ तन्मनो धारयति । नव ? ‘अप्पाणहि’ आत्मनि । ‘जोग’ योग वीर्य-
न्तरायक्षयोपशमजवीर्यपरिणाम । ‘पणिघाय’ ‘प्रणिघाय’ स्थाप्य । एतदुक्तं भवति वीर्यपरिणामेन नोद्दिश्यमिति
धारयतीति ॥१७०२॥

कृतमनोनिरोध किं करोतीत्याशङ्क्याह—

एयमेण मणं रुभिरुण धम्म चउच्चिह आदि ।

अणापायविवाग विचय सठाणविचय च ॥१७०३॥

‘एयमेण’ एतद्ध्येयमुत्तमया । ‘मण रुभिरुण’ मना निरुह्य । ‘धम्म’ धर्म्य वस्तुस्वभाव । ‘चउच्चिह’
चतुर्विध चतुर्विक्रम । ‘आदि’ ध्यायति । अभ्यन्तरपङ्क्तिरोप्यमुक्तं सूत्रकारेण । बाह्य परिकर उच्यते ।
पर्वतगुहाया, गिरिकदरे, दर्या, तमकोटर, नद्योपुल्लि, पितृवने जीर्णोद्याने धूम्यागारे वा ध्यान्मृगाणा
पशूना, पक्षिणा, मनुष्याणा वा ध्यानविप्लकारिणा सन्निधानानुन्ये, तत्रन्वैरावन्तुभिश्च जीवैर्बुद्धिने, उष्णशीता-
पवातादिविरहिते, निरस्तेन्द्रियमनोविशेषहेतौ, पुत्रावनुसूक्ष्मस्पर्शे सुभागे मन्द-मन्द प्राणापानप्रचार भावेन्द्रिय
हृदि ललाटेऽप्यत्र वा मनोवृत्ति यथापरिचय प्रणिदधानीति बाह्यपरिकर । ‘अणापायविवागविचये’ आना-

ज्ञानमे मनको लगाकर श्रुतमे जाने हुए विषयोका स्मरण करते हुए आत्मामे लौन हो । यह
ध्यान सत्तारसे छूटनेके लिये किया जाता है ॥१७०१॥

गा०—विषयोसे इन्द्रियोको और मनको हटाकर वीर्यान्तरायके क्षयोपशममे उत्पन्न हुए
वीर्य परिणामको स्थापित करके आत्मामे मनको लगाता है । अर्थात् वीर्य परिणामसे अपनी
शुद्ध आत्मामे मनको धारण करता है ॥१७०२॥

मनको रोककर क्या करता है, यह कहते हैं—

गा०—एक विषयमे मनको रोककर आज्ञाविचय, अणायविचय, विपाकविचय और
सत्पानविचय इन चार प्रकारके धर्मध्यानको ध्याता है ॥१७०३॥—

टी०—प्रयकारने यह ध्यानकी अभ्यन्तर सामग्री कही है । टीकाकारने बाह्य सामग्री
इस प्रकार कही है—

पर्वतकी गुफामे, या पहाडकी कन्दरामे, या वृक्षके कोटरमे या नदीके किनारे या स्मशान
मे या उजड़े हुए उद्यानमे या शून्य मकानमे, जहाँ ध्यानमे त्रिघ्न करनेवाले सर्प मृग आदि पशु
पक्षी और मनुष्योंका वास न हो, तथा वर्षा रहनेवाले और इधर-उधरमे आनेवाले जीव जन्तु न
हो, गर्म या सर्द, धाम और वायु आदिसे रहित हो, जहाँ इन्द्रिय और मनको चंचल करनेके
साधन न हो । ऐसे स्थानमे जो जमीनका भाग साफ सुपरा हो, उमका स्पर्श अनुकूल हो, उमपर
स्थित होकर धीरे-धीरे श्वास उच्छ्वास लेते हुए नाभिम ऊपर हृदयमे या मस्तकपर अथवा अन्य
स्थानमे अपने मनोव्यापारको रोकता है । यह ध्यानकी बाह्य सामग्री है । ऐसा करके चार
प्रकारका धर्मध्यान करता है । उनमेंमे आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानका स्वरूप बहते हैं—

विचयमपायविचय, विपाकविचय, 'संज्ञाविचय च' सस्यानविचय च । तन्नाज्ञाविचयो निरूप्यते—कर्माणि समूलोत्तरप्रवृत्तीनि तेषां चतुर्विधो बन्धपर्याय उदयफलविकल्प जीवद्रव्य मुख्यवस्थेत्येवमादौ नामतान्द्वयत्वान् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाभावात् बुद्धघटितार्ये असति दुरवबोध यदि नाम वस्तुतत्त्व तथापि सर्वज्ञान-प्रामाण्य आगमविषयतत्त्व तथैव नान्यथेति निश्चय सम्यग्दर्शनस्वभावत्वान्मोहहेतुगित्याज्ञाविचारनिश्चय-ज्ञान आज्ञाविचयाख्य धर्मध्यान । अन्ये तु वदन्ति स्वयमधिगमपदार्थतत्त्वस्य पर प्रतिपादयितुं सिद्धान्तनिरूपितार्यप्रतिपत्तिहेतुभूतयुक्तिगवेषणावहितचिन्ता सर्वज्ञानप्रकाशनपरा अनया युक्त्या इय सर्वविदामाज्ञावबोधयितुं शक्येति प्रवर्तमानत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यत इति । अगादौ ससारे स्वरमनोवाङ्मायवृत्तेर्मम अशुभमनोवाङ्मायैभ्योऽप्याय कथं स्यादिति अपाये विचयो मोक्षसास्मिन्नस्तोत्पत्त्यायविषय द्वितीय धर्मध्यान । जात्यन्धसस्यानीया मिथ्यादृष्ट्य समीचीनमुक्तिमार्गापरिज्ञानान् दूरमेवापयन्ति मार्गादिति सन्मार्गापाये प्राणिना विषयो विचारो यस्मिन्स्तदप्यायविचय इत्युच्यत इति । मिथ्यादर्शनज्ञानविचारिभ्यः कथमिमे प्राणिनोऽनेमु रिति स्मृतिस्मन्माहाराष्ट्रायविचय ॥ विपाकविचय उच्यते—समूलोत्तरप्रवृत्तीनां कर्मणामद्वयप्रकाराणां चतुर्विध-बन्धपर्यायाणां मधुरकटुकविपाकानां तीव्रमध्यमन्दपरिणामप्रपञ्चकृतानुभवविशेषाणां द्रव्यप्रक्षेत्रकालभावपेक्षाणां एतासु गतिषु यानिषु वा इत्यभूत फलमिति विषये कर्मफले विचयो विचारोऽस्मिन्निति विपाकविचय । वेत्नासमपल्लरीमृशगसस्यानो लोक इति लाङ्कत्रयसस्याने विचयो विचारोऽस्मिन्निति सस्यानविचयता ॥ ७०३॥

मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियों सहित कर्म, उनके चार प्रकारके बन्ध, उदय और फलके भेद, जीव द्रव्य, मुक्ति अवस्था ये सब और इसी प्रकारके अन्य पदार्थ अतीन्द्रिय हैं । तथा श्रुत-ज्ञानावरणके क्षयोपशमका प्रकर्ष न होनेसे विरोध बुद्धि भी नहीं है । ऐसी अवस्थामें यद्यपि वस्तु तत्त्व समझमें नहीं आता तथापि सर्वज्ञके ज्ञानके प्रमाण होनेसे आगममें तो तत्त्व जैसा कहा है, वह वैसा ही है, अन्य रूप नहीं है इस प्रकारका निश्चय सम्यग्दर्शन रूप होनेसे मोक्षका कारण है । इस प्रकार सर्वज्ञकी आज्ञाके विचारका निश्चयरूप ज्ञान आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है । अन्य कुछ आचार्य ऐसा कहते हैं—स्वयंको तो पदार्थों और तत्त्वोंका सम्यग्ज्ञान है । किन्तु दूसरोंको समझानेके लिये सिद्धान्तमें कहे गये अर्थोंका ज्ञान करानेमें हेतुभूत युक्तियोंकी खोजमें मनको लगाना कि इस युक्तिके द्वारा सर्वज्ञकी आज्ञाको समझाया जा सकता है, इसे भी सर्वज्ञकी आज्ञाके प्रकाशनमें सलग्न होनेसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं । इस अन्तादि सत्तारमें स्वच्छन्द मन वचन कायकी प्रवृत्तिमें मेरा अशुभ मन वचन कायसे अपाय अर्थात् छुटकारा कैसे हो इस प्रकार अपायका विषय अर्थात् विचार जिसमें हो वह अपायविचय नामक दूसरा धर्मध्यान है । जन्ममें अन्ये मनुष्योंके समान मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन मोक्षमार्गको न जाननेमें मोक्षमार्गमें दूर ही रहते हैं । इस प्रकार सन्मार्गसे प्राणियोंके भटकनेका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो उसे अपायविचय कहते हैं । अथवा समारके ये प्राणी मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे कैसे अलग हो, कैसे उमें छोड़ें इस प्रकार बार-बार चिन्तन करना अपायविचय है । विपाक-विचयका स्वरूप कहते हैं—मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति सहित आठ प्रकारके कर्मोंका और उनके चार प्रकारके बन्धोंका तथा द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षामें तीव्र मध्य और मन्द परिणामों के विस्तारमें होनेवाले विपाकका तथा उनके मधुर और कटुक फलोंका कि इन गतियोंमें अथवा योनियोंमें इस प्रकारका फल होता है । इस तरह विपाक अर्थात् कर्मफलका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह विपाकविचय धर्मध्यान है । अधोलोकका आकार वेत्तामनके ममान है, मध्यलोक-

धम्मध्यानस्य लक्षण निदिशति—

धम्मस्स लक्षणं से अज्जवलहुगत्तमद्भवुदेसा ।

उवदेसणा य सुत्ते णिसग्गजाओ रुचीओ दे ॥१७०४॥

‘धम्मस्स लक्षणं से’ से तस्य । ‘धम्मस्स’ धर्मस्य ध्यानस्य । ‘लक्षणं’ लक्षण । लक्ष्यते धर्मं ध्यान येन तल्लक्षण । ‘अज्जवलहुगत्तमद्भवुदेसा’ आकृष्टान्तद्वयतन्तुबन् कुटिलताविरह आर्जव । ‘लघुगत्तं’ लघुना निस्सगता जात्याद्यष्टविधाभिमानाभावो मार्दव । उपेत्य जिनमतं देसन कथनमुपदेश हितोपदेश इति यावन् । आर्जवादिनि कार्यैर्लक्ष्यते धम्मध्यानमिति आर्जवादिक लक्षण । न ह्यार्तरीद्रे आर्जवादिक सपादयत । यदाज्जवादिक परिणाममात्मन करोति तदधम्मध्यानमिति सम्मणभाव । अथवा आर्जवादिपरिणाममद्भाव एव धम्मध्यानं प्रवर्तते नास्त्यार्जवादौ । नहि मानमायालोभरूपायाविष्टो धर्मं प्रवर्तते, तेनार्जवादिक कारण तेन लक्ष्यते धम्ममिति लक्षणार्जवादीनाम् ॥१७०४॥

आलक्षणं च वायणं पुच्छणं परिवट्ठणानुपेहाओ ।

धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सन्वाणुपेहाओ ॥१७०५॥

आलम्बनप्रतिपादनाद्योत्तरगाथा । ‘आलम्बणं च’ आश्रयवच । कस्स ? ‘धम्मस्स’ धम्मध्यानस्य, ‘वायणं पुच्छणं परिवट्ठणानुपेहाओ’ वाचना प्रश्न, परिवर्तनमनुप्रेक्षेति स्वाध्यायविकल्पा । वाचनादिस्वाध्यायाभावे

का आकार झल्लरी गोल आसके समान और ऊर्ध्वलोकका आकार मृदगके समान है । इस प्रकार तीनों लोकोंके सम्यक्ताका विचय अर्थात् विचार जिसमें हो वह सस्यानविचय धर्मध्यान है ॥१७०३॥

धर्मध्यानका लक्षण कहते हैं—

गा०—आर्जव, लघुता, मार्दव, उपदेश और जिनागममें स्वाभाविक रचि ये धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

टी०—जिसमें धर्मध्यानकी पहचान होती है वह उसका लक्षण है । एक धागेको दोनों ओरमें ताननेपर जैसे उसमें कुटिलता नहीं रहती, सरलता रहती है उसी प्रकारकी सरलताको आर्जव कहते हैं । लघुता अनामक्ति और निर्लोभताको कहते हैं । जाति आदि आठ वासोंका गर्व न करना मार्दव है । उप’ अर्थात् किसीके पास जाकर ‘देन’ अर्थात् जिनमतका कथन करना उपदेश है अर्थात् हितोपदेश है । आर्जव आदि कार्योंसे धर्मध्यान पहचाना जाता है इसलिये आर्जव आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं । आर्त और रौद्रध्यान बालीको आर्जव आदि नहीं होते । जो आत्माके आर्जव आदिरूप परिणाम करता है वह धर्मध्यान है । इस प्रकार आर्जवादि धर्मध्यानके लक्षण हैं । अथवा आर्जव आदि परिणामके होनेपर ही धर्मध्यान होता है, आर्जव आदिके अभावमें नहीं होता । जो मान, माया और लोभने घिरा रहता है वह धर्ममें प्रवृत्ति नहीं करना । वन आर्जवादिक धर्मध्यानके कारण हैं उनमें धर्मध्यानकी पहचान होती है । इसीलिये आर्जव आदि धर्मध्यानके लक्षण हैं ॥१७०४॥

आगेकी गाथासे धर्मध्यानके आलम्बन कहते हैं—

गा०—वाचना, पृच्छना, परिवर्तन और अनुप्रेक्षा ये धर्मध्यानके आलम्बन हैं । तथा सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अविरुद्ध हैं ॥१७०५॥

वस्तुयायात्म्यज्ञानमेव नास्तीति ध्यानाभाव । स तु स्वाध्यायो भवति ज्ञानमविचल ध्यानसंज्ञितमित्यालम्ब-
नता स्वाध्यायस्य । 'तेषां' तेन धर्मेण ध्यानेनाविच्छेदा 'सध्यायुपेक्षा' सर्वानुपेक्षा एवैवत्राश्रये वृत्तेर-
विरोध । अनित्यतादिवस्तुस्वभावानुपेक्षणमनुपेक्षासावालम्बन ध्यानमिति । एतेनानुपेक्षाया ध्यानेऽन्त-
पातित्वमाचक्षणेनानुपेक्षोपन्यासे बीजाधानं कृतम् ॥१७०५॥

पूर्वोक्तान् धर्मस्य चतुरो भेदान् व्याचष्टे चतसृभिर्गोपामि । तत्राज्ञाविचय निरूपयति—

पचेव अस्थिराया छज्जीवणिकाए दव्वमण्णे य ।

आणामेज्जे भवे आणाविचएण विचिणादि ॥१७०६॥

'पचेव अस्थिराया' पञ्चास्तिकाया जीवा पुद्गलधर्मास्तिकाया धर्मास्तिकाया अधर्मास्तिकाया
आकाशमिति । तान् 'छज्जीवणिकायो' पद्मजीवणिकायान् 'दव्व' कालाव्य इव्य 'अण्णे य' अन्याश्च धर्म-
वन्धमोक्षादीन् । 'आणामेज्जे भावे' सबज्ञानयागम्यान्भावान् । 'आणाविचयेण' आज्ञाविचयार्थेन धर्मध्यानेन
'विचिणादि' विचारयति । सर्वविद्धिरपास्ततरागद्वेषं परमकारणिकं 'ययामी' निरूपितास्ते तथैवेति चिन्ता-
प्रबन्ध आज्ञाविचय इति यावत् । 'आणापायविचयविचये' इत्यस्मिन्पाठे अपायविचयो नाम धर्मध्यानमिति
गाथापूर्वार्धेन व्याचष्टे ॥१७०६॥

कल्लाणपावगाणउपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च ।

विचिणादि वा अवाए जीवाण सुमे य असुमे य ॥१७०७॥

'कल्लाणपावगाण उपाये' तीर्थंकरपददायकानां दर्शनविशुद्ध्यादीनामुपायान् नि शङ्क्यदीन् विचिनोति

टी०—वाचना, प्रदन करना, पाठ करना, अर्थका चिन्तन करना ये सब स्वाध्यायके भेद
हैं । यदि वाचना आदि स्वाध्याय न किया जाये तो उसके अभावमें वस्तुके यथार्थस्वरूपका ज्ञान
ही न होनेसे ध्यानका अभाव प्राप्त होता है । वह स्वाध्याय ज्ञान रूप है और निश्चल ज्ञानका
नाम ध्यान है । अतः स्वाध्याय ध्यानका आलम्बन है । तथा सब अनुपेक्षाएँ एक समयमें एक
आश्रयमें रह सकती हैं अतः वे भी धर्मध्यानके अनुकूल हैं । वस्तुके अनित्य आदि स्वभावका
चिन्तन अनुपेक्षा है अतः वे भी ध्यानकी आलम्बन हैं । इस प्रकार ग्रन्थकारने अनुपेक्षाओंको
ध्यानमें अन्तर्भूत कहकर आगे अनुपेक्षाओंके कथन करनेका बीज बो दिया है ॥१७०५॥

आगे चार गाथाओंसे धर्मध्यानके चार भेदोंको कहते हैं । सबसे प्रथम आज्ञाविचयको
कहते हैं—

गा०—टी०—पाँच अस्तिकाय हैं—जीव पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय
और आकाश । इन अस्तिकायोंको, तथा पाँच प्रकारके स्थावरकाय और त्रसकाय इन छह
जीवणिकायोंको, कालद्रव्यको तथा अन्य कर्मवन्ध मोक्ष आदिको जो सर्वज्ञकी आज्ञासे ही गम्य
है, आज्ञाविचय नामक धर्मध्यानके द्वारा विचार करता है । परम दयालु और राग-द्वेषसे रहित
सर्वज्ञ देवने जिस रूपमें इन्हें कहा है वैसे उसी रूप है । इस प्रकारके चिन्तनको आज्ञाविचय धर्म-
ध्यान कहते हैं ॥१७०६॥

गा०—तीर्थंकर पदको देनेवाले दर्शनविशुद्धि आदिके उपाय नि शक्ति आदिका विचार

‘जिनमत’ जिनकथित उपदेश । ‘विचिणादि वा अपायो जीवाण सुभे च असुभे य’ जीवाना शुभाशुभकर्म-
विपर्यायनपायान् तान्विचारयति । एतदुक्तं भवति शुभाशुभकर्मणः कथमपायो भवति जीवस्य इति चिन्ता-
प्रवाहोऽप्याविचयो नाम । स्पष्टार्थोत्तरगाथा ॥१७०७॥

‘एयाणेयमवगद जीवाण पुण्णपावकम्मफल ।

उदओदीरणसकमवंधे मोक्ख च विचिणादि ॥१७०८॥

अह तिरियउट्टलोए विचिणादि सपज्जए ससठाणे ।

एत्थे व अणुगदाओ अणुपेहाओ वि विचिणादि ॥१७०९॥

‘अह तिरिय उट्टलोए’ ऊर्ध्वार्धस्तिर्यग्लोकान् । ‘विचिणादि’ विचारयति । कीदृग्भूतान् । ‘सपज्जए’
सपर्यायान् सस्यानसहितान् मपर्यायविभूवनमस्यानविचारपर सस्यानविषयाख्य धर्मध्यान । ‘एत्थेव’
अत्रैव । ‘अणुगदाओ’ अनुगता । ‘अणुपेहाओ वि’ अनुप्रेक्षा अपि । ‘विचिणादि’ विचारयति । अनित्यत्वा-
दिस्वभावविचार करोति धर्मध्याने इति कथितं भवति ॥१७०८॥॥१७०९॥

कास्ता अनुप्रेक्षा इत्याशकायामधुवादीननुप्रेक्षान्निष्पत्युत्तरप्रबन्धेन—

‘अधुवमसरणमेगत्तमण्णससारलोयमसुइत्त ।

आसवसवरणिज्जर धम्म बोधिं च चित्तिज्ज ॥१७१०॥

जिनभगवान्के द्वारा कथित उपदेशके अनुसार करता है । अथवा जीवोंके शुभ और अशुभ
कर्मविषयक अपायोका विचार करता है । इसका अभिप्राय यह है कि जीव शुभ और अशुभ
कर्मों से कैसे छूटे इस प्रकारका सतत चिन्तन अपायविषय है ॥१७०७॥

गा०—जीवोंके एक भव या अनेक भव सम्बन्धी पुण्यकर्म और पापकर्मके फलका तथा
उदय, उदीरणा, सक्रम, वन्ध और मोक्षका विचार करता है ॥१७०८॥

टी०—कर्मों के फल, उदय, उदीरणा, सक्रम, वन्ध तथा मोक्ष आदिका चिन्तन करना
विपाकविषय धर्मध्यान है । क्रमसे कर्मों का अनुभवन होना उदय है और अक्रमसे कर्मों का
फल देना उदीरणा है । अर्थात् जो कर्म उदयमें नहीं आ रहा है उसकी स्थितिको बलपूर्वक
घटाकर कर्मका उदयमें लाना उदीरणा है । और एक कर्म प्रकृतिका अपनी मजातीय अन्य
प्रकृतिरूप बदलना सक्रम है । इन भवका चिन्तन विपाकविषय धर्मध्यान है ॥१७०९॥

गा०—पर्याय अर्थात् भेद सहित तथा वेत्तासन, शल्लरी और मृदगके समान आकार
सहित ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोकका चिन्तन करना सस्यानविषय धर्मध्यान है । इसी
स्यानविषयमें सम्बद्ध अनुप्रेक्षाओका भी विचार करता है अर्थात् धर्मध्यानमें समारके अनित्य-
त्वादि स्वभावका विचार करता है ॥१७०९॥

आगे अधुव आदि अनुप्रेक्षाओका कथन करते हैं—

गा०—अधुव, अजरण, एक्त्व, अन्यत्व, मगार, लोक, अशुचित्व, अम्यव, सवर, निर्जरा,
धर्म और बोधि इन बारह अनुप्रेक्षाओका चिन्तन करना चाहिये ॥१७१०॥

लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व सदेवमाणुसतिरिक्खो ।
रिद्धीओ सज्जाओ सुविणयसदसणममाओ ॥१७११॥

‘लोगो विलीयदि इमो’ लोको विलयमुपयाति । किमिव ? ‘फेणोव्व’ फेनवत् । ‘सदेवमाणुसतिरिक्खो’ देवंमनुष्यैस्तिपग्भिश्च मगन्वित । इत्यनेन लोकत्रयस्यापि विनाशिताभिहिता । ‘रिद्धोभो सज्जाओ’ ऋद्धय सर्वा । ‘सुविणयसदसणसमाओ’ स्वप्नज्ञानसमा । ननु ‘लोगो विलीयदि इमो’ इत्यनेन सर्वस्यानित्यता व्याख्याता, ऋद्धघादयोऽपि लोकान्तर्भूता इति किमर्थं भेदोपन्यास ? । अत्रोच्यते । समुदायस्यावयवगतक-
स्यावयवानित्यतामन्तरेण सदनित्यता न सुखेनावगम्यते इति भिदोपन्यस्यते ॥१७१०॥१७११॥

द्रव्यगतो लोभो महान् प्राणभूता तन्मूलत्वादिन्द्रियसुखस्य । प्राणानप्यय त्यजति द्रव्यनिमित्तमतस्तद-
नित्यतामेव प्राणवदस्यति निस्तगतामात्मन संपादयितु—

विज्जूव चच्चलाइ दिट्ठपणट्ठाइ सव्वसोक्खाइ ।

जलबुब्बुदोव्व अधुवाणि हुत्ति सज्जाणि ठाणाणि ॥१७१२॥

‘विज्जूव चच्चलाइ’ विष्टुदिव चञ्चलानि, ‘दिट्ठपणट्ठाइ’ दृष्टप्रणट्ठानि, ‘सव्वसोक्खाइ’ सर्वाणि
सुखानि अभिमतरूपादिविषयपञ्चकस्य प्रपञ्चस्य सन्निधानादुपजातानि यानि च मन समुत्थानि सर्वेषां वा
मानवानां तिरस्चा दिविजाना वा सुखानि सुखलम्पटवया जन क्लेशाश्चनित्यतनिपातमपि सहते, तानि च
नीरभरविन ‘तसभारगम्भीरघाराखनोली’ ‘रदोदरपरिस्फुरत्तडिल्लतेव’, एतेनानित्यतादोषोत्पन्नकटेन सासारिक-
सुखपरादमुखतोपायो निगदित । ‘जलबुब्बुदोव्व’ जलबुद्बुदवत् । ‘अधुवाणि’ अधुवाणि । ‘होति’ भवन्ति ।

गा०—टी०—देव, मनुष्य और तिर्यञ्चोके साथ यह लोक जलके फेनके समान विनाशको
प्राप्त होता है । इससे तीनों लोकोंको विनाशशील कहा है । सब ऋद्धियाँ भी स्वप्नज्ञानके
ममान विनाशीक हैं ।

शङ्का—‘लोक विनाशशील है’ इससे सबको अनित्य कह दिया है । ऋद्धि आदि भी
लोकोंके अन्तर्भूत हैं । फिर अलगसे उनको विनाशी कहनेका क्या प्रयोजन है ?

समाधान—समुदाय अवयवात्मक है । अत अवयवोंकी अनित्यताके विना समुदायकी
अनित्यताका ज्ञान सुखपूर्वक नहीं होता । इससे ऋद्धियोंको अलगसे अनित्य कहा है ॥१७११॥

प्राणियोंको द्रव्यका लोभ बहुत अधिक होता है, क्योंकि इन्द्रिय सुखका मूल द्रव्य है ।
इसीमे वह द्रव्यके लिये प्राणी तकको त्याग देता है । अत आत्माको नि सग बनानेके लिये
प्रथम द्रव्यकी अनित्यता ही दशति है—

गा०—टी०—इष्ट रूप आदि पाँच विषयोंके समूहके सम्बन्धसे उत्पन्न तथा मनसे उत्पन्न सब
मनुष्यों तिर्यञ्चो और देवोंका सब सुख विजलीके समान चपल है और देखते-देखते नष्ट होनेवाला
है । आशय यह है कि मनुष्य सुखका लम्पटी होनेसे सैकड़ों वज्रपातोंके गिरनेसे होनेवाले बच्यो
भी सहता है । किन्तु वे सब सुख जलके भारसे नष्ट हुए गम्भीर घोर शब्द करने वाले नीले
वादलोंके उदरमे चमकने वाली विजुलीकी तरह हैं । इम अनित्यता दोषको प्रकट करनेसे सामा-
रिक मुखमे विमुख होनेका उपाय कहा है । तथा सब स्थान जलके बुलबुलेंकी तरह अध्रुव हैं ।

‘ठाणाणि सन्धानि’ सर्वाणि स्थानानि । तिष्ठन्त्येतेषु जीवा इति स्थानानि ग्रामनगरपत्तनादीनि । इदं मदीयं स्थानं अत्राह वभामोति मा कृषा मकल्प । तानि अनित्यानि नित्यबुद्ध्या परिगृहीतानि विनाशे सङ्कटे शानानयन्तीनि कथिन । अथवा तिष्ठन्त्यस्मिन्वक्तृविचित्रकर्मोदयात्प्राप्तभूत इतीन्द्रत्व, चक्रालङ्घनत्व, गणाधिपनिव्व वा एतानि स्थानान्यनित्यानि ॥१७१२॥

पानागदाव बहुगडपधाविदा ह्रुति सम्बन्धवधी ।

सन्वेमिआसया वि अणिच्चा जह अन्धमघाया ॥१७१३॥

‘पानागदाव’ जलपानपात्राहदा इव ‘बहुगडपधाविदा’ ह्रुति सम्बन्धवधी विचित्रगुणागुणपरिणामोपास्यगतिर्मवशात्तदुपनीयमानदेवमानवभारकतिर्यंचाल्यगतिपरिमिश्रगुणाय कृतप्रयाणा वन्धव सर्वेऽपि । एतेन बन्धुताया अनित्यनोक्ता । उपास्यगत्यपरित्यागे बन्धुता स्थिरा भवति, उपासा चेन त्यक्तास्या थ गृहीता पितृपुत्रादीना गत्यन्तरमुपगतमपि बन्धुत्वे स्वजनपरजनविवेक एव न स्यादिति ग्रन्थे । ‘सर्वेति आसया वि’ सर्वेषामाश्रया अपि यानाश्रित्य प्राणिनो औबिगुमुत्सहन्ते तेष्वध्या स्वामी भूय पुनो भ्रातेत्येवमाश्रयोऽनित्या यथा अन्धमघादा अन्नसघाता इव ॥१७१३॥

सवामो वि अणिच्चो पहियाण पिण्डण व छाहीए ।

पीदी वि अच्छिगगोव्व अणिच्चा सन्वजीवाण ॥१७१४॥

‘सवासो वि’ महाबन्धानमपि बन्धुभिर्मित्रै ररिजनैर्वा, ‘अणिच्चो’ अनित्य । ‘पहियाण पिण्डण व

जिनमे जीव ठहरते हैं उन्हें स्थान कहते हैं । वे स्थान है—गाँव, नगर आदि । यह मेरा स्थान है । मैं यहाँ रहता हूँ । ऐसा सकल्प तुम मत करो । वे स्थान अनित्य हैं । उन्हें नित्य समझकर ग्रहण करनेपर यदि वे नष्ट होते हैं तो मनमें बड़ा सकलेश होता है । अथवा अपने किये विचित्र कर्मके उदयमें प्राणी जिनमें रहते हैं वे स्थान हैं इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, गणधरपद । ये सब स्थान अनित्य हैं ॥१७१२॥

गा०-टी०—सत्र सम्बन्धी विचित्र शुभ या अनुभ परिणामोंमें दाये गये गति नामकर्मके वशमें प्राप्त मनुष्यगति, देवगति, नारकगति और तिर्यङ्गगति रूप पर्यायको ग्रहण करनेके लिये जाने-वाले हैं अत वे नावपर सवार यात्रियोंके समान हैं । जैसे नावपर सवार यात्री अपने-अपने स्थानपर चले जाते हैं उसी प्रकार हमारे सम्बन्धी अपने-अपने परिणामोंके अनुसार गति नामकर्मका धन्य करके मरकर अपनी-अपनी गतिमें चले जाते हैं । इसमें बन्धुताको अनित्य कहा है । जो जिन गतिमें है वह उसी गतिमें रहे, उसे छोड़े नहीं तो बन्धुपता स्थिर होता है । जिस गतिमें है उसे छोड़ अन्य गतिको ग्रहण करे तो नित्य बँधे हुई । जो पिता पुत्र आदि मरकर दूसरी गतिमें चले गये फिर भी यदि वे अपने बन्धु हैं तो अपने और परायेका भेद ही नहीं रहता । तथा जिन आश्रयोंमें प्राणी जीवित रहते हैं वे आश्रय भी, जैसे स्वामी और सेवक, पत्र भ्राता आदि ये सब भेषपटलके समान अनित्य हैं ॥१७१३॥

गा०-टी०—जैसे नाना दिशाओं और नाना देशोंमें आये हुए और भिन्न-भिन्न स्थानोंको

छाहोए' नानादिदेशगताना पयिकाना भिन्नस्थानयायिना भागोपकण्ठस्थितनिविडत'रपलाशालकार-
विततशाखाकरशतनिवारितधर्मरश्मिप्रसरत्तरवरशीतलाबिरलविपुलछायाया पान्थाना समाज इव । 'पोखोवि'
प्रीतिरपि । 'अच्छि रामोव' प्रणयकृतहृषासुधातद्रूपितप्रियतमालुठपाटीनोदग्धवल्लोचनान्तराग इव अनित्या
सर्वजीवाना । तथाह्यप्रियाचरणविषकणिकाप्रणयलोचनप्रलय सविदधातीति प्राणभूतामनुभवसिद्धमेव ॥१७१४॥

रत्तिं एगम्मि दुमे सउणाण पिण्डणं व सजोगो ।

परिवेसोव अणिच्चो इस्सरियाणाधणारोगं ॥१७१५॥

'रत्ति' रात्रौ । 'एगम्मि दुमे' एकस्मिन् दुमे । 'सगुणाण' पक्षिणा । 'पिण्डण व' पिण्डितमिव 'सजोगो'
सजोगो 'यस्यामस्तद्रुमाभिमुख तत्र इव प्राप्त्यामोन्योन्यमित्यकृतकत्पाना यथाकथंचिदन्त्योन्यप्राप्तिरल्पकाला
तथा प्राणभूतामपि समानकालकालभारतप्रेरितानामेकस्मिन् कुलविटपिनि कतिपयदिनभावीसप्रयोग ।
'परिवेसो व' परिवेप इव । 'अणिच्च' अनित्य । किं ? 'इस्सरियाणाधणारोग' ऐश्वर्यं प्रभुता भाज्ञा घन आरोग्य
च ॥१७१५॥

इदियसामग्गी वि अणिच्चा सझाव होइ जीवाणं ।

मज्झण्ह व णराणं जोव्वणमणवट्ठिद लोए ॥१७१६॥

'इदियसामग्गीवि' इन्द्रियाणा सामान्यवि । 'अणिच्चा' अनित्य । अघता वधिरता च दृश्यत एव ।
'मज्झण्ह व' मध्याह्नवन्, 'णराण जोव्वणमणवट्ठिद लोए' नराणा यौवनमनवस्थित लोके यौवनोद्गमिति जन

जानेवाले पथिक मार्गके समीपमे स्थित अत्यन्त घने पलाश आदि वृक्षोंके फैले हुए शाखाभरसे
सूर्यके तेजकी दूर करनेवाले वृक्षोंकी शीतल और घनी छायामे अपना समाज बनाकर बैठते हैं
और धूप ढलनेपर अपने-अपने स्थानोंको चले जाते हैं । उन्हींकी तरह भिन्न, बन्धु और परिजनोंके
साथ सहवास भी अनित्य है । वे भी प्रायः पूरी होनेपर अपने अपने स्थानोंको चले जाते हैं । तथा
सब जीवोंकी प्रीति भी अनित्य है । जैसे प्रेमकलहके कारण या धूल पड़ जानेसे प्रिय स्त्रीकी
क्रोडा करती हुई मछलियोंके उदर भागके समान श्वेत लोचनोंके कोनोंमे ललामी अनित्य है ।
अप्रिय आचरणरूपी विषकी कनी प्रेमरूपी नेत्रोंको नष्ट कर देती है यह बात सब प्राणियोंके
अनुभवसे सिद्ध है अतः प्रीति भी अनित्य है ॥१७१४॥

गा०—जैसे पक्षी सूर्यके अस्त होनेपर हम अमुक वृक्षपर मिलेगे, ऐसा परस्परमे सकल्प
नहीं करते । फिर भी जिस किसी प्रकार कुछ समयके लिये परस्परमे मिल जाते हैं । उसी प्रकार
ससारके प्राणी भी समान कालरूप वायुसे प्रेरित होकर एक कुलरूपी वृक्षपर कुछ दिनोंके लिये
वा मिलते हैं । तथा ऐश्वर्य, प्रभुता, आज्ञा, घन और आरोग्य भी सूर्यकी परिधिकी तरह अनित्य
है ॥१७१५॥

गा०—टी०—सन्व्याकालकी तरह इन्द्रियोंकी सामग्री भी अनित्य है । क्योंकि लोकमे अन्धे
और वहरे मनुष्य देखे जाते हैं । तथा मध्याह्न कालकी तरह लोकमे मनुष्योंका यौवन भी अनव-

श्लाघ्यते, यौवनदर्पविकारादेव बुध्यमानोऽपि धर्मं न प्रयतते तदनित्य मध्याह्नवन् । क्षिप्रतर व्यतिवर्तिनि यौवने 'वा यौवनकृतोत्तीर्णमद स्याच्च मनस्विनाम् ॥१७१६॥

चदो हीणो व पुणो वड्डदि एदि य उडू अदीदो वि ।

णटु जोव्वणं णियत्तइ णदीजलमदछिद चेव ॥१७१७॥

'चदो हीणोव पुणो वड्डदि' नित्यराहुमुखकुहरप्रवेशाद्वानिमुपमनोऽपि निशानाय कृष्णपदं होयते होनो भवति । 'पुणो वड्डदि' पुन सुक्लपक्षे वड्डते । प्रतिदिनोपचोयमानकाल । 'एदि य उडू अदीदोवि' हिमशिधिरवमन्तादयोऽज्ञाता अपि श्रुत्व पुनरावाप्ति 'न तु जोव्वण णियत्तेवि' नैव यौवन निवर्ततेऽतिक्रान्तम् तस्मिन्नेव भवे 'नदीजलमदछिद चेव' नदीजलगतिक्रान्तमिव न पुनरेति । तद्विद यौवनमित्यनेनानित्यतया-तिशयो यौवनस्य दर्शित ॥१७१७॥

धावदि गिरिणदिसोद व आउग सव्वजीवलोगम्मि ।

सुकुमालदा वि हायदि लोगे पुव्वणहछाही व ॥१७१८॥

धावदि गिरिणदिसोदव' धावति गिरिनदीप्रवाह इव । किं ? 'आउग' आयु । 'सव्वजीवलोगहि' सर्वस्मिन् जीवलोकं । 'सुकुमालदा वि हायदि' सुकुमारतापि होयते । 'पुव्वणह छाही व' पूर्वाह्णछाया इव । यथा यथोद्गच्छति तामरमवधुस्तथा तद्यपसहरति छाया शरीरादीना ॥१७१८॥

अवरणहरुक्खछाही व अड्डिद वड्डदे जरा लोगे ।

रूव पि णासइ लहु जलेव लिहिदन्लय रूव ॥१७१९॥

'अवरणहरुक्खछाहीव' अपराह्णपक्षेऽप्येव । 'अड्डिद वड्डदे' अस्तित्व वड्डते । क्रियाविरोधणत्वान्-पु सन्नता । 'जरा लोगे' लोके । सौरूप्यपल्लवदवानलशिक्षा, सौम्यायप्रभूतकरकावृष्टि, सुवर्तिहरिणालीम्याग्री,

स्थित है । मनुष्य 'मैं युवा हूँ' इस प्रकारसे अपनी प्रशंसा करता है । यौवनके धमण्डसे ही जानते हुए भी धममे प्रयत्नशील नहीं होता । किन्तु वह यौवन मध्याह्नकालकी तरह अनवस्थित है । इस प्रकार शीघ्र ही जानेवाले यौवनका मनस्विनको मद कैसा ? अर्थात् यौवनका मद करना उचित नहीं है ॥१७१९॥

गा०—टी०—प्रतिदिन राहुके मुखरूपी विलमे प्रवेश करनेसे चन्द्रमा कृष्णपक्षमे घटता है और पुन सुक्लपक्षमे प्रतिदिन वड्डता है । तथा हेमन्त, शिशिर, वसन्त आदि ऋतुएँ भी जाकर पुन लौटती हैं । किन्तु बीता हुआ यौवन उमो भवनमे नहीं लौटता । जैसे नदीमे गया जल फिर वापिस नहीं आता । उसी प्रकार यौवन भी जाकर वापिस नहीं आता । इससे यौवनकी अत्यन्त अनित्यता दिखलाई है ॥१७१७॥

गा०—सर्व जीवलोकमे आयु पहाड़ी नदीके प्रवाहरी तरह दौडती है । सुकुमारता भी पूर्वाह्नकी छायाके समान दौडती है । जैसे जैसे सूर्य ऊपर उठता है वैसे-वैसे शरीरादिकी छाया घटती जाती है । उमो तरह ज्यो-ज्यो आयु वड्डती है त्यो त्यो सुकुमारता कम होती है ॥१७१८॥

गा०—टी०—जैसे अपराह्न कालमे वृषाकी छाया वड्डती है वैसे ही लोकमे एक बार

ज्ञानलोचनपाशुवृष्टिस्तपस्तामरमवनस्य हिमानी, दीनताया जननी, परिभवस्य धारिणी, मृतेर्दूता, भीते प्रियमलो
या जरा मा वर्द्धते । 'रुचि नासति हृद्' रूपमपि विलासिनीरतामोक्षणगरजनयुगीरायभाष, चेतोचरभ्रमूत्रम-
वसनरञ्जने कौमुभरमायमान, प्रीतिलनिकाया मूल, मोभाग्यतरफल, कूल पूज्यताया मद्रूप तल्लघु विनस्पति ॥
किमिव ? 'जलेव लिहिवेल्लग रुच' जले लिखितरूपमिव ॥१७१९॥

तेजो वि उदघणुतेजसणिहो होइ सन्वजीवाणं ।

दिट्ठपण्डा बुद्धी वि होइ उक्काव जीवाण ॥१७२०॥

'तेजोवि इदघणुतेजसणिहो' शरीरस्य तेजोपि पौर्णोमोप्रियतमचापस्य तेज इव गर्ज्जजननमनचेत-
प्रमोदादयि क्षणेन क्षयमुपवर्जति । 'दिट्ठपण्डा' दृष्टप्रणष्टा बुद्धि वि' सबलवस्तुयायास्यावकुण्ठ' ज्ञानात्म-
पटनपाटनपटोयसी, विचित्रदु खप्पाह्वर दम्बकाकोपानुगतिविशालनिम्नगाप्रवेशनिवारणोद्यता, चारित्र्यविभ्रमर-
नक्षमादीपवर्ति, सबलमप्यदाकर्षणविद्या शिवगतिनायिकासफली एवभूता बुद्धिरभ्युत्थेवानु नाशमुप-
वाति ॥१७२०॥

अदिबड्ड बल खिप्प रुव धूलीकदवरछाप ।

वीचीव अद्भुव वीरियपि लोगम्मि जीवाण ॥१७२१॥

'अदिबड्ड बल खिप्प' क्षिप्रप्रतिपन्नति बल 'रुव धूलीकदवरछाप' रथ्याया पाशुरचितरूपमिव ।

आनेपर बुढापा बढना जाता है । यह बुढापा सुन्दरतारूपी कोमल पत्तोंके लिये बनको आगकी
लपटके समान है । सौभाग्यरूपी पुष्पोंके लिये ओलोंकी वर्षाके समान है । तारुण्यरूपी हरिणोंकी
पक्षिके लिये व्याघ्रके समान है । ज्ञानरूपी नेत्रके लिये धूलकी वर्षाके समान है । तपस्वी कमलोंके
बनके लिये वर्षा गिरनेके समान है । अर्थात् वृद्धावस्थाके आनेपर सुन्दरता, मुग्धता, तारुण्य,
ज्ञान और तप सब क्षीण हो जाते हैं । यह वृद्धावस्था दीनताकी माता है, तिस्कारकी धार है,
मृत्युकी दूती है और भयकी प्रिय सखी है । तथा जलमे लिये हुए रूपके समान रूप भी शीघ्र नष्ट
हो जाता है । यह रूप सुन्दर स्त्रियोंके कटाक्षरूपी सैकड़ों बाणोंके लिये तृणोंके समान है अर्थात्
पुटपके रूपको देखकर श्विर्वा उमपर बटाक्षवाण चलाती हैं । चित्तरूपी सूक्ष्मवस्त्रकी रगनेके लिये
कुमुम्भके रगके समान है । प्रीतिरूपी लताका मूल है । सौभाग्यरूपी वृक्षका फल है । पूज्यताका
किनारा है । ऐसा रूप भी शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥१७१९॥

गा०—टी०—शरीरका तेज भी इन्द्र धनुषके तेजके समान है । जैसे इन्द्रधनुषकी कान्ति
मनुष्योंके नेत्रों और चित्तको आनन्दकागी होती है किन्तु क्षणभरमें नष्ट हो जाती है वही दगा
शरीरकी कान्तिकी भी है । जो बुद्धि समस्त वस्तुओंके यथार्थस्वरूपको दाबनेवाले अज्ञानरूपी
अन्धकारके पटलको नष्ट करनेमें अतिशय दक्ष है, विचित्र दु खरूपी भ्रमरमच्छोंके समूहमें व्याप्त
वृगतिरूपी विशाल नदीमें प्रवेश करनेमें रोकनेमें तत्पर है, चारित्र्यरूपी निधिकी प्रकट करनेमें
दीपककी वनीके समान है, समस्त सम्पदाओंकी आनेवाली विद्यातुल्य है और मोक्षगतिरूपी
नायिकाकी सन्ती है, ऐसा बुद्धि भी शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥१७२०॥

गा०—जैसे मार्गमें धूलीमें रचा गया आवार शीघ्र नष्ट हो जाता है वैसे ही जीवोंका

‘वीचीव’ चण्डप्रभज्जाभिघातोत्पागिततरुत्तरमालेव, ‘अध्रुव’ अध्रुव । ‘वीरिय’ वीर्यमपि । जीवानां शरीरस्य दृढता बलं वीर्यमात्मपरिणाम ॥१७२१॥

हिमणिचओ वि व गिहसयणासणभट्टाणि होति अधुवाणि ।

जमकिन्ती वि अणिच्चा लोए सज्झम्भरागोव्व ॥१७२२॥

स्पष्टोत्तराया—

किह दा सत्ता कम्मवमत्ता सारदियमेहसरिसमिण ।

ण मुणांति जगमणिच्च मरणभयसमुत्थिया सता ॥१७२३॥

‘किह’ कथं तावन् । ‘अणिच्च जग म्मुणांति’ जगदनित्यं न जानन्ति । के ? ‘सत्तारी सीदन्ति स्वकृतपापवशात्तासु तासु योनिष्विति सत्त्वा । ‘सारदिगमेघसरिसमिण’ वारद्वुत्तमुदगतनैकवर्णविचित्र-सन्धानजीमूतमालासदृश । ‘मरणभयसमुत्थिया सता’ मरणं विषं ‘वृषतमजीवितस्य सरित्खल प्रियवियागदार-कम्प, शोकाशनेर्जलदपटल, अयस्कान्तोपल’ दुःखलोहाकपणे, बन्धुहृदयापलानां द्वावकमौपध्मायतापशमापतन एवभूतमरणभयममुत्थिता सन्त । एवमनित्यतामशेषवस्तुविषया ध्येयीकृत्य प्रवर्तते धर्मं ध्यानं । अध्रुव ॥१७२३॥

अशरणाकथनायोत्तरप्रबन्ध । कर्माण्यात्मपरिणामोपाजितानि कथापरिणामोपनीतचिरकालस्थितीनि सन्निहितश्रेयकालभावस्वसहचारिकारणानि यदा फलमगुभं प्रयच्छति तदा तानि न निवारयितुं कश्चित्त्व-मर्षोऽस्ति तेनाशरणोऽस्म्यहमिति चिन्ताप्रबन्धं कर्म इत्याशङ्कते—

णामदि मदी उदिण्णे कम्मे ण य तस्स दीसदि उवाओ ।

अमदंपि विस मत्थं तण पि णीया वि हुति अरी ॥१७२४॥

वलं शीघ्रं नष्टं हो जाता है । तथा जीवोका वीर्यं भी प्रचण्ड बायुके अभिघातमे उठी हुई चंचल तरंगमालाके समान अध्रुव है । जीवोके शरीरकी दृढताको बल और जीवोके आत्मपरिणामनो वीर्य कहते हैं । ये दोनों ही शीघ्र नष्ट होनेवाले हैं ॥१७२१॥

गा०—घर, शय्या, आमन, भाण्ड ये सब भी वर्षोंके समूहकी तरह अध्रुव हैं । तथा लोक-मे यशकी कीर्ति भी सन्ध्याके समय आकाशकी लालिमाकी तरह अनित्य है ॥१७२२॥

गा०—मरणके भयसे युक्त होनेपर भी अपने अपने कामोमे लीन प्राणी शरत् कालके मेघके समान इस जगत्को अनित्य क्यों नहीं जानते ॥१७२३॥

टी०—अपने किये हुए पापके वशसे उम-उम योनियोमे जो कष्ट उठाते हैं उन्हे सत्त्व कहते हैं । यह जगत् शरद ऋतुमे उठे हुए अनेक रंग और अनेक आकार वाले मेघमालाके समान अनित्य है । तथा जिन्हे अपना जीवन प्रिय है उनके लिये मरण विषके समान है । प्रियजनके विधोगरूपी पुत्रके लिये नदीका तट है । शोकरूपी वज्रपातके लिये मेघपटल है । हु मरूपी छोटका लानेके लिये चुम्बक पत्थर है । बन्धुओंके हृदयएषो पत्थरको पिघलानेके लिये ओषध है । मरने पर कठोर हृदय कुटुम्बियोंका भी मन पिघल जाता है । लम्बी बिपत्तियोंका घर है । ऐसा मरणके भयको जानते हुए भी लोग जगन्की अनित्यताको नहीं समझते यह आश्चर्य और गेदवी बात है ॥१७२३॥

‘शास्त्रं भवति’ नश्यति मति । ‘उद्विष्ये कर्म’ उदीर्णे कर्मणि । बुद्धिर्द्विधा स्वाभाविकी आगमभवा च । सा द्वयी यस्यासौ हितमवैति नेतर । उक्त च—

द्विषेह बुद्धिं प्रवदन्ति सतः स्वाभाविकीमागमसंभवाच्च ।

बुद्धिर्द्वयी यस्य शरीरिण स्यादित्थं हितं सो लभते न चान्य ॥१॥

स्वाभाविकी यस्य मतिर्विशुद्धा, तीर्थाववाप्तं न तु शास्त्रमस्ति ।

द्रष्टुं हितं धर्ममसौ न ज्ञातो भाषा विना रूपमिवाप्यनन्य ॥२॥

तीर्थाववाप्तं श्रुतमस्ति यस्य स्वाभाविकी नास्ति मतिर्विशुद्धा ।

श्रुतस्य नामोति फलं स तस्य दीपस्य हृत्तेऽपि सतो यथान्य ॥३॥

किं दर्पणेनावृतलोचनस्य विद्वान् भोगस्य घनेन वा किम् ।

शास्त्रेण किं वा युधि भीरुकस्य तथैव किं मन्त्रमते धृतेन ॥४॥

ईदृशी बुद्धिर्नश्यति ज्ञानावरणाख्ये कर्मण्युदयमुपागते । तच्च ज्ञानावरणं वध्नासि जन्तुर्मानिना ज्ञानस्य ज्ञानोपकरणानां च द्वेषान्निह्नवादुपघातात् मात्सर्याद् विघ्नकरणादासादन्नाद् दूषणात् । ज्ञानादेतिग्रहवरणाद-

इस प्रकार अध्रुवभावनाका कथन समाप्त हुआ । आगे अशरणभावनाका कथन करते हैं—

कर्मबन्ध आत्माके परिणामोसे होता है । जोवके ही कर्मायरूप परिणामोका निमित्त पाकर उन कर्मोकी दीर्घ स्थिति होती है । प्राप्त द्रव्य क्षेत्र काल और भाव उनके महकारी कारण होते हैं । जब वे काम अगुम फल देते हैं तो उनको कोई रोक नहीं सकता । अतः मैं अशरण हूँ ऐसा विचारना चाहिये, यह कहते हैं—

गा०—टी०—कर्मका उदय होनेपर बुद्धि नष्ट हो जाती है । बुद्धि दो प्रकारकी होती है एक स्वाभाविक और दूसरी आगमिक । जिसके दोनो प्रकारकी बुद्धि होती है वह अपने हितको जानता है । जिसके वह बुद्धि नहीं होती वह नहीं जानता । कहा भी है—

सन्तः पुरः दो प्रकारकी बुद्धि कहते हैं—एक स्वाभाविक, दूसरी आगमसे उत्पन्न हुई । जिम शरीरधारीके ये दोनो बुद्धियाँ होती हैं वह अपने इष्ट हितको प्राप्त करता है । जिसके दोनो बुद्धियाँ नहीं हैं वह हितको प्राप्त नहीं कर सकता । जिसके पास स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि तो है किन्तु जिसने शास्त्राभ्यास कर्के आगमिक बुद्धि प्राप्त नहीं की है वह हितकारी धर्मको उसी प्रकार नहीं देख सकता, जैसे दृष्टिमग्न पुरुष रूपको देखते हुए भी भाषाके बिना उसको कह नहीं सकता । जिसके पास गुरुसे प्राप्त शास्त्र तो है किन्तु उसे समझनेकी स्वाभाविक विशुद्ध बुद्धि नहीं है वह भी श्रुतका फल नहीं प्राप्त कर सकता । जैसे अन्धा पुरुष हाथमे दीपक होते हुए भी उसका फल नहीं पाता । जिसके लोचन मूढ़े हैं उसे दर्पणसे क्या लाभ ? जो न दान देता है न भोगता है उसे घनमे क्या लाभ ? जो दरपोक है उसे युद्धमे शस्त्रसे क्या लाभ ? इसी तरह मन्दबुद्धि पुरुषको शास्त्रमे क्या लाभ ? ॥

ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय आनेपर इस प्रकारकी बुद्धि नष्ट हो जाती है । ज्ञानियोसे, ज्ञानमे और ज्ञानके उपकरणोमे द्वेष करनेमे, ज्ञानको और ज्ञानके माधनोको छिपानेसे, प्रशमनीय ज्ञानमे दूषण लगानेसे, ईर्ष्याका किसीको ज्ञानदान न करनेमे, किसीके ज्ञानाराधनमे बाधा डालनेसे,

काले पठनात् परेन्द्रियोपघातकारणाच्च^१ दजित अवग्रहेहावायधारणाविकल्प मतिज्ञान श्रुतादिक वा नाशयति । उक्त च—

अवग्रहीतु च तर्पेहितु च सोवेहितु धारयितु च सम्प्यक ।
 ताल भक्त्यर्जितवान्पुरा य कर्मवम ज्ञानवृत्तेनिमित्तम् ॥१॥
 अन्धश्च पश्यन् बधिरश्च शृण्वन् जिह्वा विनाऽसौ रसनास्तथाश्नन् ।
 त्वचो विनाशे वरणीतकादि जानन्नसौ कर्मविभावबद्ध ॥२॥
 प्राण विना गन्धमय हि जीवो जानाति नित्य निखिल जगच्च ।
 परन्तु बोधावृत्तिकर्मनाम्ना प्रोद्यस्तरा न विषयेषु वेति ॥३॥
 एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियता भवेयु स त्रीन्द्रियत्व चतुरिन्द्रियात्वम् ।
 तेनावृत्त कर्ममहाम्बुदेन प्राप्नोति जीवो विमनस्कता च ॥४॥
 द्रष्टु हित मोक्षमवेहितु च कर्तुं च दातु विधिना च भोक्तुम् ।
 स्वकर्मणा तेन नरो वृत्तस्सन् न बुध्यमान पशुर्नैति साम्यम् ॥५॥
 स्वबुद्धि^३मात्रमपि दावयमाप्नु धेय सवोपस्यमि^४हृष्यविद्वान् ।
 सुदूरतस्थ च^५ भूतोऽभिगम्य स केन विन्द्यात् परलोकपथ्यम् ॥६॥

प्रशस्त ज्ञानकी प्रशंसा न करनेसे, जीव ज्ञानावरण कर्मका बन्ध करता है । तथा ज्ञानादिका निग्रह करनेमें, अकालमें स्वाध्याय करनेसे, दूसरेकी इन्द्रियोका घात करनेमें सचित्त मतिज्ञानका, जिसके अवग्रह ईहा अवाय और धारणा भेद हैं तथा श्रुतज्ञान आदिका नाश हो जाता है । कहा है—

जो पहले ज्ञानको रोकनेमें निमित्त नीच कर्म उपाजित कर चुका है, वह सम्पत्कूपमें पदार्थको अवग्रहण करनेमें, ईहित करनेमें, अवायरूपसे ज्ञाननेमें तथा जाने हुएको धारण करनेमें ममर्थ नहीं होता । अर्थात् उसे पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप ज्ञान नहीं होते । यह जीव अज्ञोंके विना देखता है । कानोंके विना सुनता है । जिह्वाके विना रसोंका स्वाद लेता है । त्वचाके विना शीत आदिका अनुभव करता है । किन्तु कर्ममें बद्ध होनेमें ऐसा नहीं कर सकता । तथा यह जीव विना नाकके गन्धको जानता है किन्तु ज्ञानावरण नामक कर्मका उदय होनेमें इन्द्रियोंके विना विषयोंको नहीं जानता । उस ज्ञानावरण नामक कर्मरूपी महामेघमें ढका होनेसे यह जीव एकेंद्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चोइन्द्रिय और असेनी पञ्चेन्द्रिय होता है । अपने ज्ञानावरण कर्मके उदयसे मनुष्य न हितको देखता है, न सुनता है, न हितको जाननेकी इच्छा करता है, न विग्रिपूर्वक धन देता है, न उसे भोगता है । इस प्रकार वह पशुके समान हो रहा है । जो अपने समीपवर्ती भी कल्याणकी जो कि अपनी बुद्धिमानमें प्राप्त करने योग्य है, नहीं जानता, वह मुदूरवर्ती और शास्त्रके द्वारा जानने योग्य परलोकमें जो हितकर है उसे कैसे जान सकता

१ शादात्रि -अ० । २ त्वगीतये मयपि विष्वक्च न यो विनेषान् विषयेषु वेति ॥२॥

एकेन्द्रिय -अ०, मु० । ३ द्विगाध्यानापि -आ० । ४ दास्यति -अ० । ५ च तनोऽभिगम्य मेनेन विवेद्या -अ० ।

महामुहा भीमतर प्रवेशात् सदाप्यगाधाम्भसि भञ्जनाच्च ।

घनाच्चिर धारकरोपनाच्च स्पाहेति कष्टतरोज्जभावः ॥७॥

तमप्रवेशोऽम्भसि भञ्जनं च स्पादुं कृच्छारकरोपनं च ।

जाताविहैकत्र भवास्त्वनन्तान्तानि न दुःक्षमनुप्रयाति ॥८॥

नाल विशाल नयन तृतीय श्रुतं च मर्या रहितो गृहीतुम् ।

त्रयोऽपि यस्मिन् सति याति मार्गं क्षेमे त्रिवे मोक्षमहापुरस्य ॥९॥

एवभूतामज्जतामापादयति ज्ञानावरणं न किञ्चित्स्निवारणधाम शरणमस्ति । 'न तस्स दिस्सदि उवाओ' तत्र तस्य परमणो निवारणे उपायो दृश्यते । असद्वेदस्य कर्मण उदयात् अमदं वि विसं होदि' अमृतमपि विपं भवति । 'अगमपि सत्थं तृणमपि शस्त्रं भवति । गोआ वि होति अरो' बन्धवोऽपि दास्यो भवन्ति ॥१७२४॥

ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमं किं स्यादित्याह—

मुक्खस्स वि होदि मदी कम्मोवत्समे य दीसदि उवाओ ।

णीया अरी वि सत्थ वि तण अमय च होदि विसं ॥१७२५॥

मुखस्य वि होदि मदी' मुक्खन्यापि भवति मति । 'कम्मोवत्समे य दीसदि उवाओ' कर्मोपशमे ज्ञानावरणस्य तु क्षयोपशमं सति उपायो दृश्यते मुक्खमत्वपुण्यकर्मोदयान् । 'णीया अरी वि' दास्यवोऽपि बन्धवो भवन्ति 'सत्थं वि तण' दास्यमपि तृणं भवति, 'अमदं होदि विसं' विपमप्यमृतं भवति मन्वेद्योदये ॥१७२५॥

पाओदण्ण अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स ।

दूरादो वि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण ॥१७२६॥

'पावोदण्ण' लाभान्तरायस्य कर्मण उदयेन, 'अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स' हस्तप्राप्तोऽप्यर्थो नयमति पुनः । 'दूरादो वि' दूरतोऽपि । 'सपुण्णस्स' पुण्यवत् । 'एदि अत्थो' आयान्तर्या । 'अयत्तेण' अयत्नेन ॥१७२६॥

है । इस प्राणीका अज्ञानभाव महान् गुफाके भीतर भयकर अन्धकारमें प्रवेश करनेसे, मवा अगाध जलमें डूबे रहनेसे और निरकाल तक जेलखानेमें पड़े रहनेसे भी अधिक कष्टदायी है । अन्धकारमें प्रवेश जलमें डूबना और जेलखानेमें पड़े रहना तो एक ही भवने दुःखदायी है किन्तु अज्ञानजन्य दुःख अनन्त भवोंमें दुःखदायी है । श्रुतज्ञान तीमग विशाल नेत्र है । किन्तु बुद्धिमें रहित प्राणी उसे ग्रहण नहीं कर सकता । उस श्रुतज्ञानके होनेपर अन्धा मनुष्य भी मोक्षरूपी महानगरके कल्याणकारी मार्ग पर जाता है ।

ज्ञानावरण कर्म इस प्रकारकी अज्ञताको लाता है उसको निवारण करनेमें समर्थ कोई शरण नहीं है । उसके निवारण का कोई उपाय नहीं है । असातावेदनीय कर्मके उदयमें अमृत भी विप हो जाता है । तृण भी शस्त्र हो जाता है और बन्धु-यान्त्रव भी शत्रु हो जाते हैं ॥१७२४॥

शा०—टी०—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर क्या होता है, यह कहते हैं—ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर मूर्खको भी बुद्धि प्राप्त होती है । पुण्यकर्मका उदय होनेसे कर्मके उपशमका उपाय दृष्टिगोचर होता है तथा सातावेदनीयके उदयमें शत्रु भी बन्धु हो जाते हैं, शस्त्र भी तृण हो जाता है और विप भी अमृत हो जाता है ॥१७२५॥

गा०—पाप अर्थात् लाभान्तराय कर्मके उदयमें मनुष्यके हाथमें आया भी पदार्थ नष्ट हो

पाओदण सुट्ठु वि चेद्धतो को वि पाउणदि दोस ।

पुण्णोदण दुट्ठु वि चेद्धतो को वि लहदि गुण ॥१७२७॥

‘पावोदण’ अयसम्कीर्तदयेन । ‘सुट्ठु वि चेद्धतो’ सम्यक् चेष्टमान । ‘कोवि पाउणदि दोस’ कश्चित्प्राप्नोति दोषः । ‘पुण्णोदणे’ पुण्यकर्मण उदयेन । ‘दुट्ठु वि चेद्धतो’ यत्किञ्चिदव्ययं कुर्वन्मपि । ‘कोवि लभदि गुण’ कश्चित्कलमते गुणम् ॥१७२७॥

पुण्णोदण कस्सइ गुणे असते वि होइ जसकिन्ती ।

पाओदण कस्सइ मगुणस्म वि होइ जसघाओ ॥१७२८॥

‘पुण्णोदण’ पुण्यस्योदयेन । ‘कस्सइ होइ जसकिन्ती’ कस्यचिद्भवति यथास्कीर्तिश्च । ‘पावोदण’ पापस्योदयेन । ‘कस्सइ मगुणस्स वि’ कस्यचिन् मगुणवतो पि । ‘जसघाओ होइ’ यथाघातो भवति ॥१७२८॥

णिक्कक्कमस्स कम्मस्स फले समुवड्ढिमि दुक्कमि ।

जादिजरामरणरुजाचिंतामयवेदणादीए ॥१७२९॥

‘णिक्कक्कमस्स’ नि प्रतीकारस्य कर्मणः । ‘फले समुवड्ढिमि दुक्कमि’ समुपस्थिते दुःखे, ‘जादि-जरामरणरुजाचिंतामयवेदणादीणे’ जाते, जराया, मरणे, व्याधौ, चिन्ताया, मये, वेदनादौ च समुपस्थिते ॥१७२९॥

जीवाण णत्थि कोई ताण मरण च जो हवेज्ज इध ।

पायालमदिगदो वि य ण मुच्चदि सरम्मउदयम्मि ॥१७३०॥

‘जीवाण’ जीवस्य । नास्ति कश्चिद्रक्षा शरण वा । ‘जो हवेज्ज’ यो भवेत् । ‘पायालमदिगदो वि’ पायाल प्रविष्टोऽपि । ‘ण मुच्चदि’ । न मुच्यते दुःखान् । ‘सरम्मउदयेहि’ स्वकर्मोदये सति ॥१७३०॥

गिरिकदर च अडविं सेल भूमिं च उदधि लोगत ।

अदिगतूण वि जीवो ण मुच्चदि उदिण्णकम्मेण ॥१७३१॥

जाना है । और पुण्यवानको बिना प्रयत्न किये दूरमे भी पदार्थ प्राप्त होता है ॥१७२६॥

गा०—पाप अर्थात् अपराधीता नामक कर्मके उदयमे सम्यक् चेष्टा करनेवाला भी दोषका भागी होता है । और पुण्य कर्मके उदयसे न करने योग्य भी काम करनेवाला प्रणसाका पात्र होता है ॥१७२७॥

गा०—पुण्यके उदयमे किमीमे गुण न होते भी उगका यग फलना है । और पापने उदयमे गुणवानका भी अपयश होता है ॥१७२८॥

गा०—जिमका कोई प्रतीकार नहीं है ऐसे कर्मका उदय आनेपर जन्म, जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि दुःख भोगने होते हैं ॥१७२९॥

गा०—ऐसी अवस्थामे जीवका कोई रक्षक नहीं है जिमकी वह शरणमे जाये । अपने कर्मके उदयमे पातालमे प्रवेश करनेपर भी कर्ममे छुटकारा नहीं होता ॥१७३०॥

‘गिरिवन्दर ध’ गिरिवन्दर जटवीं शैलभूमिमुदधि । लोबान्त प्रदिरगपि जीवो न मुच्यते । उद-
पायतेन कर्मणा ॥१७३१॥

दुगचदुअणेयपाया परिसप्पादी य जति भूमीओ ।

मच्छ जलम्मि पक्खी णमम्मि कम्मं तु सव्वत्थ ॥१७३२॥

‘दुगचदुअणेयपाया’ द्विचतुस्चरणादिका । परिसप्पादी य जति भूमीओ’ परिसप्पादिवरध भान्ति
भूमादेव । मत्स्या बले पशिणो नमनि यान्ति । कर्म सर्वत्रण ॥१७३२॥

रविचदवादवेउळ्वियाणमगमा वि अत्थि हु पदेमा ।

ण पुणो अत्थि पएसो अगमो कम्मस्स होइ उह ॥१७३३॥

‘रविचदवादवेउळ्वियाण’ सूर्येण, चन्द्रेण, वागेन, देवदेवागम्यास्त्वान्नि प्रदेया । न कर्मणामगम्योअ
प्रदेशोअस्ति लोके ॥१७३३॥

विज्जोसहमंतवलं बलवीरिय अस्सइत्थिरहजोहा ।

सामादिउवाया वा ण होति कम्मोदए मरणं ॥१७३४॥

‘विज्जामतोसपिबलवीरिय’ विद्या स्वाहाकारान्ता तद्वह्निता मन्दस्य । वीर्यमा मन् राक्षस्यविराग ।
बलमाहारव्यापामत्र शरीरस्य दाहय, जनीकबन्ध । सामनेददण्डोपप्रशान्तास्पाश्च हेतवो न शरण ॥१७३४॥

जह आइच्चमुदितं कोई वारंतओ जगे गत्थि ।

तह कम्ममुदीरतं कोई वारतओ जगे गत्थि ॥१७३५॥

‘जह आइच्चमुदित’ यदा दिनमपिमुदयाचतबुडानिनामुपयान्ति न निवारयति बन्धित् तदा समधिउ-
सहवारिकारणं कर्म न निपेदधूमस्ति समर्थ ॥१७३५॥

गा०—पहाडकी गुफा, जटवी, पर्वत, भूमि, नमुद्र, यहां तक कि लोकके अन्त तक चले
जानेपर भी जीव उदयप्राप्त कर्मने नहीं छूटता ॥१७३१॥

गा०—दोपाये, चौपाये और अनेक पैर वाले सर्प आदि तो भूमिपर ही जाते हैं । मच्छ
जलमे जाते हैं । पक्षी आकाशमे जाते हैं किन्तु कर्म सर्वत्र पहुँचता है । उसकी गति सर्वत्र है
॥१७३२॥

गा०—लोकमे ऐसे प्रदेश हैं जो सूर्य, चन्द्र, वायु और देवोंके द्वारा लग्न्य हैं जहाँ जहाँ
ये नहीं जा सकते । किन्तु ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ कर्मकी गति नहीं है ॥१७३३॥

गा०—कर्मका उदय होनेपर विद्या, मन्त्र, औषध, बल वीर्य, धोडे, हाथी, रघ, घोडा,
सात, दाम, दण्ड, भेद आदि उपाय शरण नहीं है ॥१७३४॥

टी०—जितने अन्तमे स्वाहाकार होना है उन्ने विद्या बहते हैं । और जितने अन्तमें
स्वाहाकार नहीं होता उन्ने मन्त्र बहते हैं । वीर्य आत्माकी गतिको बहते हैं और बल बाह्य
व्यापामन्ने उत्पन्न शरीरकी दृढताको बहते हैं ॥१७३५॥

गा०—जैसे सूर्यकी उदयाचलके मन्त्रवप आनेको जातमे कोई नहीं रोक् सकता उन्नी

रोगाणं पडिगारा दिट्ठा कम्मस्स णत्थि पडिगारो ।
कम्म भलेदि हु जग हत्थीव णिरकुमो मत्तो ॥१७३६॥

‘रोगाण पडिगारा दिट्ठा’ व्याधीना प्रतीकारा दृष्टा औपधादय । कर्मणा नास्ति प्रतीकार ।
जगदस्येव महंयति कर्म मदगज इव निरकुशा नलिनीवन ॥१७३६॥

रोगाण पडिगारो णत्थि य कम्मे णरस्स समुदिण्णे ।
रोगाण पडिगारो होदि हु कम्मे उवसमते ॥१७३७॥

‘रोगाण पडिगारो व्याधीना प्रतीकारो नास्ति कर्मण्यसद्वैधे प्राप्तोदये सति, पथ्यौपधादिमिहपशानो
रोगादीना सोऽपि कर्मव्युपशम गत एव नानुपशान्तेऽत्र ॥१७३७॥

विज्जाहरा य धलदेववासुदेवा य चक्कवट्ठी वा ।
देविंदा व ण सरण कम्मड कम्मोदए हँति ॥१७३८॥

‘विज्जाहरा य’ विजाघरादयो महाबलपराक्रमा अपि न शरण भवन्ति कर्मोदय इति
गायार्थ ॥१७३८॥

बोलेज्ज च कमतो भूमि उदधि तरिज्ज पवमाणो ।
ण पुणो तीरदि कम्मस्स फलमुदिण्णस्स बोलेदुं ॥१७३९॥

‘बोलेज्ज’ उल्लङ्घयेत् गच्छन् भूमि, समुद्र तरेन् प्लवमान । उदीरस्य कमण फलमुल्लङ्घयितु न
वेत्ति कोऽन्यो वा महाबलोऽपि ॥१७३९॥

सीहतिमिगिलगहिदस्स मगो मच्छो व णत्थि जह सरण ।
कम्मोदयम्मि जीवस्स णत्थि सरण तहा कोई ॥१७४०॥

‘सीहतिमिगिलगहिदस्स’ सिंहने तिमिगिलाख्येन महामत्स्येन च गृहीतम्य नैव शरण भवति अन्यो मृगो
मत्स्यो वा । तथा कर्मोदये जीवस्य नास्ति कश्चिच्छरणम् ॥१७४०॥

प्रकार सहकारी कारणोंके मिलनेपर उदयमे आये कर्मको जगत्मे कोई रोक नहीं सकता ॥१७३५॥

गा०—रोगोका प्रतीकार औपध आदि हैं किन्तु कर्मका कोई प्रतीकार नहीं है । जैसे
निरकुश मत्त हाथी कमलिनीके वनको उजाड देता है वैसे ही कर्म समस्त जगत्को मसल देता
है ॥१७३६॥

गा०—असातावेदनीय कर्मका उदय होनेपर रोगोका प्रतीकार नहीं है । पथ्य औपध
आदिसे जो रोगोका उपशम होता है वह भी कर्मका उपशम होनेपर ही होता है । कर्मका
उपशम न होनेपर औपध आदि भी लाभकारी नहीं होनी ॥१७३७॥

गा०—कर्मका उदय होनेपर विद्याधर, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती अथवा देवेन्द्र जैसे
महाबली, महापराक्रमी भी किसीके शरण नहीं होते । वे भी रक्षा नहीं कर सकते ॥१७३८॥

गा०—चलता हुआ प्राणी भूमिको लाध सकता है । तेरता हुआ प्राणी समुद्रको तैर
सकता है । किन्तु उदयागत कर्मके फलको उल्लघन कोई महाबली भी नहीं कर सकता । उसे
सबको भोगना पड़ता ही है ॥१७३९॥

गा०—जैसे कोई सिंह किसी मृगको पकड ले तो दूसरा मृग उसकी रक्षा नहीं कर सकता ।

न्यावर्णितानामशरणत्व मनसावधार्य इदं शरणमिति चिन्तनीयमिति वक्ष्यति—

दसणणाणचरित्तं तवो यं ताणं च होइ सरणं च ।

जीवस्म कम्मणामणहेदुं कम्मे उदिण्णम्मि ॥१७४१॥

‘दसणणाणचरित्तं तवो यं’ ज्ञान दशन चारित्र्य तपश्च रक्षा शरणं च भवति । जीवस्य कर्मणा नाशहेतुं कर्मण्युदीर्णं ज्ञानमद्वेषादी । एवमशरणानुप्रेक्षा गता ॥ अशरणा ॥१७४१॥

एकत्वानुप्रेक्षा उत्तरणं प्रवर्ण्येनोच्यते—

पापं करोदि जीवो बन्धवहेदुं सरीरहेदुं च ।

णिययादिसु तस्स फलं एक्को सो चेव वेदेदि ॥१७४२॥

पापं करोति जीवो बान्धवनिमित्तं शरीरनिमित्तं च । बान्धवशरीरपोषणाय कृतस्य कर्मणः फलं नरकादिष्वेक एवानुभवति ॥१७४२॥

नरकादिगतिषु प्राप्तं दुःखमपश्यतस्तत्रासतो बान्धवाः किं कुर्वन्तीति आशङ्क्य निरस्यति सन्निहिता पश्यन्तोऽप्यकिञ्चित्करा इति वक्ष्यते—

रोगादिबेदणाओ वेदयमाणस्म णिययकम्मफलं ।

पेच्छता वि ममक्ख किञ्चि वि ण करति से णियया ॥१७४३॥

‘रोगादिबेदणाओ’ रोगादिदुःखानि । ‘णिययकम्मफलं’ निजकर्मफलं स्वयोग्यवशोपचितस्य कर्मणः फलं । ‘वेदयमाणस्म’ वेदयमानस्व । ‘ममक्ख पेच्छतावि’ पश्यत्यक्ष पश्यन्तोऽपि । ‘विषया’ निजका बान्धवा, ‘से’ तस्स

मा तिमिगल नामकं महामत्स्यं किसी मच्छको पकड़ ले तो दूसरा मच्छ उमको नहीं छुड़ा सकता । उसी प्रकार कर्मका उदय आनेपर जीवका कोई शरण नहीं होता ॥१७४०॥

आगे कहते हैं कि ऊपर जिनका वर्णन किया है, वे शरण नहीं हैं ऐसा मनमें दृढ़ निश्चय करके आगे कहे पदार्थ शरण हैं ऐसा विचारना चाहिये—

गा०—जीवके असातावेदनीय आदि कर्मका उदय होनेपर कर्मोंके नाशके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य और सम्यक् तप ही रक्षक हैं और शरण हैं ॥१७४१॥

इस प्रकार अशरणानुप्रेक्षाका वक्ष्यन हुआ । आगे एकत्वानुप्रेक्षाका वक्ष्यन करते हैं—

गा०—जीव बन्धु-बान्धवोंके निमित्त और शरीरके निमित्त पाप करता है । और बान्धवोंके तथा अपने शरीरके पोषणके लिये जो पापकर्म करता है उसका फल नरकादिमें अवेद्या ही भोगता है ॥१७४२॥

यहाँ कोई कह सकता है कि नरकादि गतियोंमें वह जो दुःख भोगता है उसे उसके बन्धुबान्धव नहीं देखते क्योंकि वे वहाँ नहीं हैं इसीसे वे कुछ कर नहीं सकते । इसके उत्तरमें कहते हैं कि निवृत्त रहकर देखने हुए भी वे कुछ नहीं कर सकते—

गा०—टी०—अपने मनोयोग, वचनयोग और काययोगसे भवित कर्मका फल जब यह जीव भोगता है तो प्रत्यक्ष देखते हुए भी उसके बन्धुगण कुछ भी उसका प्रतीकार नहीं करते । इस

‘किंचिद्वि ण करति’ किंचिदपि प्रतीकारजात न कुर्वन्ति । परवैह वा जन्मन्येक एवानुभवति जन्तुर्न तदीय-
कर्मफलविभागकरणे समथ कश्चिदिति भाव ॥१७४३॥

तह तथा यया दुःख स्वकर्मफलमेक एवानुभवति—

तह मग्ग एक्कओ चेव तस्स ण विदिज्जगो हवड कोई ।

भोगे भोत्तु णियया विदिज्जया ण पुण कम्मफल ॥१७४४॥

तथा स्वायुगलने । ‘एक्कओ चेव मग्गि’ एक एव प्राणास्त्यजति । ‘ण विदिज्जगो होइ कोई’ न
सहायो भवति कश्चन । तदीय मरण सविभज्य गृहीत्वा सहायता न कश्चित्करोतीत्यर्थ । अन्यथा एक एव
म्रियते इत्ययमटमाने बहूनामप्येकदा मरणात् । ‘भोगे’ भुज्यन्तेऽनुभूयन्त इति भोगा द्रव्याणि अक्षयवसनमुख-
वासादीनि । भोक्तुमनुभवितु निजका बान्धवा । ‘विदिज्जया’ सहाया । ‘ण पुण’ न पुन । ‘कम्मफल भोत्तु
णियया विदिज्जया’ तदीयकर्मफल भोक्तु न बन्धवस्सहाया ॥१७४४॥

प्रकारान्तरेणैकत्वभावनामाचष्टे—

णीया अत्था देहादिया य सगा ण कस्म इह होंति ।

परलोग अण्णेत्ता जदि वि दइज्जंति ते सुट्ठु ॥१७४५॥

‘णीया अत्था’ बन्धवो धन शरीरादिकाश्च परिग्रहा कम्पचिदपि सम्बन्धिनो न यान्ति परलोकं प्रति
प्रत्येत । यद्यपि सुष्ठु काम्यन्ते परिग्रहा । गृहीत्वा तान्यदि तानास्य गन्तुमुत्कृष्टा तथापि ते नानुगच्छन्त्येव
एव मातीत्येकत्वभावना ॥१७४५॥

इहलोगवधवा ते णियया परस्म होंति लोगस्स ।

तह चेव धणं देहो सगा सयणासणादी य ॥१७४६॥

लोक और परलोकमें जीव अकेला ही भोगता है । उसके कर्मफलका बटवारा करनेमें ममर्थ कोई
भी नहीं है । यह इसका अभिप्राय है ॥१७४३॥

गा०-टी०—जैसे यह जीव अपने कर्मफलको स्वयं ही भोगता है उसी प्रकार अपनी आयु
समाप्त होनेपर अकेला ही प्राणोको त्यागता है । दूसरा कोई भी उसका सहायक नहीं है । अर्थात्
उसके मरणका भागीदार बनकर कोई भी उसकी सहायता नहीं करता । यदि एक ही मरता है
ऐसा न हो तो एकके साथ वटुतोंको मरण प्राप्त होता है । जो भोगे जाते हैं उन्हें भोग कहते हैं ।
भोजन, वस्त्र, मुखको सुवामित करनेवाले द्रव्य भोग हैं । भोगोको भोगनेमें तो अपने बन्धु-बान्धव
सहायक होते हैं । किन्तु उसके कर्मों का फल भोगनेमें कोई सहायक नहीं होता ॥१७४४॥

प्रकारान्तरने एकत्व भावनाको कहते हैं—

गा०-टी०—बन्धु-बान्धव धन और शरीर आदि परिग्रह किमीके नहीं होते । जय यह
जीव परलोक जाता है तो उसके साथ नहीं जाते । यद्यपि मनुष्य परिग्रहोंमें बहुत अनुगम रखता
है । वह यदि उनको परइकर साथ ले जाना चाहे तो भी वे उसके साथ नहीं जाते । जीव अकेला
ही जाता है । यह एकत्व भावना है ॥१७४५॥

‘इहलोकवन्धवा’ अस्मिन्नेव जन्मनि बान्धवा । ‘परस्म लोकास्स च विपदा होति’ अन्यस्य जन्मो न बन्धवो भवन्ति । ‘तह खेव बाधवा इव धन देहो भग्ना सज्जासपादो य’ धन शरीर शयनासनादयश्च परिग्रहा इह लोके एव न परजन्मनि उपकारका भवन्ति । एव हि ते बान्धवा परिग्रहाश्च महाया इति ग्रहीतु शक्यन्ते यदनपायितया उपकारिण स्मृ । इह जन्मन्येव ये प्रयान्ति ते परलोक गच्छन्मनुनरन्तीति का प्रत्याशा ॥१७४६॥

यद्येते बान्धवादयो न महाया वन्तहि महाय इत्यागङ्गायामाचष्टे—

जो पुणं धम्मो जीवेण कदो मम्मत्तचरणसुदमइओ ।

सो परलोए जीवस्म होइ गुणकारकमहाओ ॥१७४७॥

‘जो पुण’ य पुन । ‘जीवेण कदो धम्मो’ जीवेन कृतो धर्म, ‘सम्मत्तचरणसुदमइओ’ रत्नत्रयको दुर्गतिसन्निवृत्त जीव धारयति यत्ते वा शुभे स्थाने इति रत्नत्रय धर्म इत्युच्यते । ‘सो’ सः व्यावर्तितो धर्म । ‘जीवस्म’ जीवस्य । ‘परलोए’ परजन्मनि । गुणकारक महायो भवति अन्यदुत्पत्तिश्रेयससुखप्रदानम् । तथा बोध—

इत्था तादापुयिओबंरविपरंति बोतभीमुग्गिपावा

इत्था लोकत्रयेइय सुरनरपत्तिभि प्राप्य पूजा विशिष्टाम् ।

मृत्युव्याधिप्रसूतिप्रियविषमवरातोऽशोकप्रहणे

भोक्षे नित्योरनोद्ये विपति निरपये यस्स भोग्यासुधर्म ॥ इति ॥१७४७॥

ननु च ‘अमहायत्वभावनाधिकारे सहायनिरूपणा कथमुपयुज्यते । नैव दोष’ यो ‘येन जन्तुना सहाय-

गा०—टी०—जो इन जन्ममे बान्धव हैं वे परलोकमे बान्धव नहीं होते । बान्धवोंकी ही तरह धन, शरीर, शयन, आसन आदि परिग्रह भी इसी लोकमे काम आते हैं परलोकमे नहीं । यदि वे बान्धव और परिग्रह सदा रहनेवाले हों तो उन्हें महायक कहा जा सकता है । जब वे इसी जन्ममे नष्ट हो जाते हैं तो वे परलोकमे जानेपर साथमे जायेंगे, इसकी आशा कैसी ? ॥१७४६॥

यदि ये बन्धु आदि महायक नहीं हैं तो कौन सहायक है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—टी०—जीवने सम्यक्प्रचारित्र ज्ञानरूप अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्म विद्या है जो दुर्गतिये जानेवाले जीवका कारण बरता है उसे शुभ स्थानमे धरता है वह धर्म है इन तरह रत्नत्रयकी धर्म कहते हैं । वह धर्म परलोकमे जीवका गुणकारक सहायक होता है । क्योंकि उससे सामारिक और पारमायिक सुख मिलता है । कहा है—

वह धर्म हमारी रक्षा करे जो मर्त्यलोक और स्वर्गलोकके भय, शोक और विपादमे रहित विषय सुखको देकर देवेंद्रों और राजेंद्रोंमे विशिष्ट रूपमे पूजित नील लोकोवा न्यामी तीर्थङ्कर पद प्रदान करता है तथा अन्तमे मृत्यु, रोग, जन्म, प्रियविषय, जरा, व्याधि और शोकमे रहित नित्य उत्कृष्ट और अनुपम सुखवाले मोक्षमे ले जाता है ।

शङ्का—यह अधिकार असहाय भावनाका है कि जीवका कोई सहाय नहीं है । इसमे महायका कथन करना कैसे उचित है ?

त्वेनाध्यवसितो वाण्यवादिरसौ सहायो न भवतीति न तत्रादर कार्य । सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्यात्मकस्तु धर्म । धर्मोऽपि जीवपरिणाम उपकारि सहाय इति । तत्रादरो जन्यने सूरिणा । अतिशयितधर्मव्यामहान्यानिरूपणेन जातिघनादीनां तस्यानुभूतमहायताभावान् प्रस्तुतैव सहायता समर्थता भविष्यति । अत्रोच्यते । सम्यक्त्वादयः शुभपरिणामा प्रशस्तगतिजातिगोत्रमघातसहनशायु मर्द्धेद्यादिकमात्मनि निधाय नश्यन्ति तेन देवो मानव पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक कुलीन शुभनीरोषघटीरश्चिरजीवो सुखी भविष्यति । धर्मानुबन्धिन पुण्यस्योदयात् दीप्तामिमुखा बुद्धिनिरतिचाररत्नत्रयमपत्तिश्च भविष्यतीति सप्रवत्युपकारसहायता धर्मस्य । ननु च ज्ञान-पूर्वकत्वाच्चरणस्य 'सम्मत्तचरणमुदमइगो' इति कथमुपन्यस्त ? अयमस्यामिप्राप्य सत्यपि श्रुतज्ञाने असत्य-सम्यग्दृष्टेचारित्र्याभावान् महत्यो मवरनिजरे मुख्यगुणे भवत । तस्मान्मुन्यापिनश्चारित्र प्रधानं किंच तज्ज्ञानमुपायश्चारित्रमुपेय अत परार्थत्वाज्ज्ञानमप्रधान उपेयत्वाच्चरण प्रधानमिति । 'जो पुण धम्मो जीवेण कदो इत्यनेन धर्मस्य सर्वथा नित्यत्व प्रतिपिद्ध फलवैचित्र्यमनुभवसिद्ध, सर्वदैकरूपत्वं धर्मस्य विशिष्यते । सुवसायनानां स्त्रीवस्त्रगन्धमात्यादीनां वैचित्र्यान् तत्कार्यसुखस्यापि वैदव्यस्य नित्यत्वंपि धर्मस्य घटदेदिति चेत् अत्रोच्यते । अनित्यवितानतिशयितमुखमाधनना तस्य धर्महेतुता न वत्पन विकल्पद्वये धर्महेतुत्वाम्पुगमे

समाधान—यह दोष उचित नहीं है क्योंकि जिस जीवने यहाँ जिस बन्धु आदिको अपना सहायक रूपसे माना हुआ है वह सहायक नहीं है इसलिये उसमें आदरभाव नहीं करना चाहिये । सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र्यरूप धर्म जीवका परिणाम होनेसे उसका उपकारी सहायक है । इसलिये आचार्य उसमें आदर कराते हैं ।

शङ्का—सांतिग्रय धर्मके सहाय होनेका कथन न करके भी जाति बन्धु धन आदि उस प्रकारके सहायक नहीं होनेसे प्रस्तुत धर्मादिके ही सहायक होनेका समर्थन होता है ।

समाधान—सम्यक्त्व आदि शुभपरिणाम आत्मामे उत्तम गति, उत्तम जाति, उत्तम गोत्र, उत्तम सहनन, आयु, सातावेदनीय आदि कर्मा को उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं । उन कर्मोंके उदयमे जीव, देव अथवा पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक कुलीन, शुभ नीरोग घटीर वाला चिरजीवो और सुखी होता है तथी धर्मानुयन्त्रि पुण्यके उदयसे बुद्धि मुनिदीशाके अभिमुखी होती है और निरति-चार रत्नत्रयरूप मर्पत्ति होती है । अत धर्म सहायक और उपकारी है ।

शङ्का—चारित्र्य ज्ञानपूर्वक होता है अन ग्रन्थकारने 'सम्यक्त्वचारित्र्य श्रुतमतिक' कैसे कहा ? यहाँ चारित्र्यके पदवान् ज्ञानका निर्देश किया है ?

समाधान—इसका अभिप्राय यह है कि अमयन सम्यग्दृष्टिके श्रुतज्ञान होनेपर भी चारित्र्यका अभाव होनेसे बहुत अधिक मवर और निजरा ये दोनों मुख्य गुण नहीं होते । इसलिये जो मवर और निजराके अर्थों हैं उनके लिये चारित्र्यकी प्रधानता है । तथा ज्ञान उपाय है और चारित्र्य उपेय है अत परार्थ होनेसे ज्ञान अप्रधान है तथा उपेय—उपाय द्वारा प्राप्य होनेसे चारित्र्य प्रधान है । 'जो धर्म जीवने किया' ऐसा कहनेसे धर्मके सर्वथा नित्य होनेका निषेध किया है । धर्मके फलको विचित्रता अनुभवने सिद्ध है । अन धर्मको सर्वथा एकरूपता आगम विरुद्ध है ।

शङ्का—मुखके सायन स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला आदि अनेक हैं अत उनका कार्य मुख भी अनेक रूप है । इस तरह धर्मको नित्य मानने पर भी फल की विचित्रता बन जाती है ।

समाधान—कुछ साधन मानिनाय सुखदायक होते हैं और कुछ माघारण सुखदायक होते

कथं न वैचित्र्यं धर्मस्य । अथ न धर्मो हेतुः स्वहेतुसामान्यायतता सुखसाधनानां सातिशयनिरतिशयत-
दायक फलविभाग इति धर्मस्यानर्थक्यमापद्यते । ततो न धर्मस्य सर्वथा नित्यता ॥१७४७॥

शरीरद्विषादीनां असहायताभावना तद्गोचरानुरागनिवर्तनमुखेन स्थिरयत्युत्तरागाया—

बद्धस्स वधणेण व ण रागो देहम्मि होइ णाणिस्स ।

विससरिसेसु ण रागो अत्थेसु महाभयेसु तहा ॥१७४८॥

‘बद्धस्स वधणेण व ण रागो’ रज्जुशृङ्खलादिनिर्वद्धस्य बन्धनक्रियासाधकतमे रज्ज्वादौ दुःखहेतो
यथा न रागः । तथा ‘देहम्मि होइ णाणिस्स’ सुखदुःखसाधनविवेकज्ञस्य दुःखहेतावसरेऽस्थिरैरनुचितं कार्यं
न रागो भवति । गुणपक्षपातिनो हि प्राज्ञाः । विससरिसेसु’ विपसदशेष्वपि ‘ण रागो णाणिस्स’ ज्ञानिनो नैव
रागः । केयु ? ‘अत्थेसु सत्थेसु’ । कथमर्थानां विपसदशानेति चेत् । यथा विप दुःखदायि पाणान्वियोजयति च
तथाप्योऽप्यजनरक्षार्थं व्यापूय दुःखेन योजयति, प्राणानां च विनाशो निमित्तं भवति । तथाहि । प्राणिनोऽप्यर्थं
एव परस्परं प्रयाते प्रयतन्ते अतएव महाभयहेतुत्वान्महाभयतापीनां सूत्रकारेणोक्ता । ‘आपेसु महाभयेसु’ इति ।
यद्विषयानुपकारि तस्य तस्मिन् विवेकिनः सहायबुद्धिर्यथा विपकण्टकादौ, अपकारि शरीरद्विषादिकमिति
पुनः पुनरभ्यस्यतो नेतरः सहायोऽयमिति चिन्ताप्रबन्धः प्रवर्तते ॥ एकतः ॥१७४८॥

हे । इसमें धर्म भी कारण है या नहीं ? यदि धर्म भी कारण है तो धर्ममें वैचित्र्य क्यों नहीं हुआ ।
यदि कहोगे कि धर्म कारण नहीं है, सुखके साधन अपने सामान्य कारणोंके अधीन हैं और उनका
जो सातिशय तथा निगतिशय फलभेद पाया जाता है वह भी उन्हींके अधीन है तो धर्म निरर्थक
सिद्ध होता है । अतः धर्म सर्वथा नित्य नहीं है ॥१७४७॥

विशेषार्थ—यहाँ टीकाकारका धर्मसे अभिप्राय शुभ परिणामोंसे है । शुभ परिणामोंकी
हीनाधिकताके अनुसार पुण्यबन्धमें विचित्रता होती है और तदनुसार फलमें विचित्रता होती
है ॥१७४७॥

शरीर धन आदिमें असहायताकी भावनाको उनके विषयमें जो अनुराग है उस अनुरागको
हटानेके द्वारा स्थिर करते हैं—

गा०—टी०—जैसे पुरुष रस्सी साकल आदिसे बँधा है उसे बन्धन क्रियामें साधकतम रस्सी
आदिमें राग नहीं होता क्योंकि वे उसके दुःखमें हेतु हैं, उसी प्रकार जो अपने सुख और दुःखके
साधनोमें भेदकी जानता है उसे दुःखके हेतु, असार, अस्थिर अशुचि शरीरमें राग नहीं होता ।
विद्वान्जन गुणोंके पक्षपाती होते हैं । अतः विपके समान सब अर्थोंमें जानीका राग नहीं होता ।

शका—सब अर्थ विपके समान कैसे हैं ?

समाधान—जैसे विप दुःखदायी है, प्राण हरण कर लेता है वैसे ही अर्थ भी जो उसके उपा-
जर्न और रक्षणमें लगता है उसे दुःख देता है । तथा प्राणोंके विनाशमें निमित्त होता है । इसका
मुलासा इस प्रकार है—प्राणीगण अर्थके लिये ही परस्परमें घात करनेमें लगते हैं । इसीलिये ग्रय-
कारमें महाभयका कारण हानेमें अर्थोंको महाभयरूप कहा है । जो जिसका उपकार नहीं करता,
वल्कि अनुपकार करता है चिन्तेकी पुरुष उसे अपना सहायक नहीं मानते । जैसे विपकण्टक

अन्यन्वभावनानिरूपणार्थमुत्तरप्रबन्ध —

किहदा जीवो अण्णो अण्णं सोयदि हु दुक्खियं णीय ।

ण य बहुदुक्खपुरक्कडमप्पाणं सोयदि अबुद्धी ॥१७४९॥

‘किहदा अण्णो जीवो अण्णं सोयदि’ पदघटना । अन्यो जीवो नोग स्वस्मादन्य ज्ञातिवर्ग । ‘दुक्खियं’ दुःखेनाभिभूत कथं तावच्छोचति । ‘ण य सोयदि’ नैव शोचने । क ? ‘अत्ताण आत्मानं ? कौदूमत् ‘बहुदुक्खपुरक्कड’ शारीरैरागतुकं, मानसं स्वाभाविकं च बहुभिर्दुःखैः पुरस्कृतं । ‘अबुद्धि’ मयाश्रिते काले चतसृषु गतिषु विचित्रासद्वैधेन्यात् द्रव्यक्षेत्रकालमात्ममहाकारिकाणसान्निव्यापेक्षयामुपरतमापदं प्राप्ता पुनरप्यागमिष्यति मा सलीकत्वं । न हि कारणाभ्यासस्थितसहकारिप्रत्यये सति कार्यस्यानुद्भूतो नामास्ति, यो यद्भावेति नानाश्लेषे दुःखं स कथमिव तद्धेतुकं ? यथा सत्यपि यवबीजेऽप्युपजायमानश्चूताङ्कुरा । तथा सत्य-सद्वैधोदये यदि न स्युर्मंशन्ति च । सत्मादात्मप्रदेसावस्थितस्य दुःखबीजस्य केनोपायेनपायो मविष्यतीत्य-हन्नुद्विष्टया अबुद्धिः । एतद्भुवनं भवति परस्य दुःख आत्मन एव दुःखमिति मत्वा शोकमयमुपैति, तद्विनाशे च सततं प्रयत्नं करोति । तथा च प्रवर्तमानस्य स्वदुःखनिवृत्तये न प्रारम्भोऽस्ति । ततोयं दुःखं भोजं भोजं पर्यटति । न च परो दुःखात्मातुं शक्यते । तेन हि सञ्चितानि कर्माणि कथं फलं न प्रपच्छन्ति । न हि परस्य शोकं फलशयिना कर्मणा प्रतिबन्धकं, तथा चाम्यधायि—

आदिको कोई अपना सहायक नहीं मानता । उसी प्रकार शरीर धन वगैरह भी अपकार करनेवाले हैं । इस प्रकार बार-बार अभ्यास करनेसे मेरा कोई अन्य सहाय नहीं है । ऐसा सतत् चिन्तन चलता है ॥१७४८॥

आगे अन्यत्व भावनाका कथन करते हैं—

गा०—टी०—अन्य जीव अपनेसे अन्य सम्बन्धी जनोको दुःखसे पीडित देखकर मैंने शोक करता है ? किन्तु यह अज्ञानी शारीरिक, आगन्तुक, मानसिक और स्वाभाविक अनेक दुःखोंसे घिरे हुए अपने आत्माको चिन्ता नहीं करता है कि अतीतकालमें मैंने चारों गतिधामोंमें अनेक प्रकारके अमातावेदनीयके उदयसे तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप सहकारी कारणोंके मिलनेमें निरन्तर आपदाएँ भोगी और वे आपदाएँ पुनः मुझे परेशान करनेके लिये भविष्यमें आयेंगी । सहकारी कारणोंके साथ कारणके रहते हुए कार्य अवश्य उत्पन्न होता है । जो जिनके रहते हुए भी उत्पन्न नहीं होता वह समका कारण कैसे हो सकता है ? जैसे जो बोनेपर आमका अकुर पैदा नहीं होता अतः आमके अकुरका कारण जोके बीज नहीं हैं । उसी प्रकार अमातावेदनीयका उदय होते हुए भी यदि दुःख नहीं होता तो अमातावेदनीय दुःखका कारण नहीं हो सकता । किन्तु अमातावेदनीयके उदयमें दुःख अवश्य होता है । अतः आत्माके प्रदेशोंमें जो दुःखके कारण उपस्थित हैं उनका विनाश किस उपायसे होगा, ऐसा विचार न करनेसे उमे अबुद्धि कहा है । बहनेका अभिप्राय यह है कि यह अज्ञानी जीव दूसरेके दुःखको अपना ही दुःख मानकर शोक करता है और उसके विनाशका निरन्तर प्रयत्न करता है । और ऐसा करनेसे अपने दुःखको दूर करनेका प्रारम्भ भी नहीं कर पाता । इसमें दुःख भोगते-भोगते भ्रमण करता है । दूसरेको दुःखमें बचाना शक्य नहीं है । उसने जो कर्मबन्ध किया है वह उसे फल क्यों नहीं देगा ? दूसरेसे शोक करनेसे फल देनेवाले कर्म ऋक नहीं जाते । कहा भी है—

प्रोति पूर्वं कृत कर्म मनोवाक्यकर्मभिः ।

न निवारयितुं शक्यं संहतविदग्धैरपि ॥ इति ॥

तेनान्यदु सापेक्ष शोकोऽप्यव्ययं । अन्यशब्देन च स्वदुःखात्पृथक्त्व परदुःखस्योच्यते । अन्यत्र परदुःखागतस्यानुपेक्षणमन्यत्वानुपेक्षा एव परदुःखस्यान्यतामर प्रेक्षमाण परदुःखस्योपहतन वतु न शक्यत इति न शोचन्ति [परदुःख], स्वदुःखान्मूलने प्रयत्नत इति भावोऽप्यस्य सूत्रे ॥१७४९॥

मयस्य जीवराशेरतमनोऽन्यत्वस्यैवानुपेक्षणमन्यत्वानुपेक्षेति कथयत्युत्तराद्या—

संसारमि अणते सगेण कम्मेष हीरमाणानं ।

को कस्म होइ सयणो सज्जड मोहा जणमि जणो ॥१७५०॥

‘संसारमि अणते’ अन्तातीते पञ्चविधे ससारं परिवर्तने । ‘सगेण कम्मेष’ आमीयमिध्यादर्शनादि परिणामोत्पादितकर्मपर्यायेण पुद्गलस्वरूपेण ‘हीरमाणानं’ आनुप्यमाणाना बहुविधा गति प्रति । ‘को कस्म होइ सयणो’ नैव कश्चित् स्वयचित्स्वजनो नाम प्रतिनियतोऽस्ति । युज्यतेऽप्य विवेकस्वजनोऽप्य परजनोऽप्यमिति यदि यो यस्य स्वजनत्वेनाभिमतस्म तस्यैव स्वजन सर्वदा भवेत् । परजनो वा स्वजनता मोष्यात् । न चायमस्ति प्रतिनियम स्वकर्म परतन्त्राणामतो न कश्चित् स्वो जनं परो वा ममास्ति । सर्वो जीवराणिमिध्यात्वादिगुणविकल्पोपनीतनानातोऽप्य एवेति कृतम्यवसायस्य क्वचित्चिदेव दया प्रोतिर्वा क्वचिन्निर्दयता द्वेषोऽभिमानात्को न प्रादुर्भवति ततो विरागद्वेषस्य चारित्र्यमविकल्प भवति । ‘सज्जडि जणमि जणो’ आत्मन्ति

‘पूर्वमे मन, वचन, कायमे जो कर्म किये है । सब इन्द्र भी मिलकर उनका निवारण नहीं कर सकते’ ।

इसलिये दूसरेके दुःखको देखकर हमका शोक कर्ना व्यर्थ है । अन्य शब्दमे परये दुःखको अपने दुःखसे भिन्न कहा है । परके आगत दुःखको अपनेमे भिन्न चिन्तन कर्ना अन्यत्वानुपेक्षा है । इस प्रकार परके दुःखको अपनेसे भिन्न विचार करता हुआ जानता है कि परके दुःखका विनाश करना शक्य नहीं है इसलिये वह उसका शोक नहीं करता । और अपने दुःखके विनाशमे प्रयत्नशील रहता है । यह आचार्यका अभिप्राय है ॥१७५१॥

आगे कहते हैं कि समस्त जीवराशि अपनेमे अन्य है ऐसा चिन्तन करना अन्यत्वानुपेक्षा है—

गा०—टी०—पञ्चपरावर्तन रूप ससारके अनन्त होते हुए अपने मिथ्यादर्शन आदि परिणामोत्पत्ति हुए पुद्गल स्वरूप कर्म पर्यायके द्वारा अनेक गतियोंमे भ्रमण करने हुए जीवका कौन किमका स्वजन है ? यह स्वजन है और यह परजन है यह भेद हो सकता था यदि जो जिसका स्वजन है वह उसका स्वजन सदा रहता और परजन कभी भी स्वजन न होता । किन्तु अपने-अपने कर्मोंके अधीन जीवोंका यह नियम नहीं हो सकता । अब न कोई मेरा स्वजन है और न कोई परजन है । मिथ्यात्व आदि गुणस्यानोके भेदसे नाना भेदरूप हुई समस्त जीवराशि मुझमे भिन्न हो है ऐसा जिमने निश्चय किया है उसका किन्धोमे हो दया और प्रोति और किन्धोमे निर्दयता और द्वेष यह अमान्यतारूप व्यवहार नहीं बनना । इसलिये जो राग-द्वेषमे रहिन है

करोति जन हि जनो ममाय भ्राता पिता पुत्रो भागिन्यो दास स्वामीति^१, वा मोहमदस्तुतत्त्वस्य अन्यतामान-
रूपस्य निरस्तस्वजनत्वस्य^२ परिज्ञानात् ॥१७५०॥

प्रकारातरेण स्वजनपरजनविवेकाभाव दर्शयत्युत्तराद्या—

सञ्चो वि जणो सयणो सन्वस्स वि आसि तीदकालम्मि ।

एते य तहाकाले होहिदि सजणो जणस्स जणो ॥१७५१॥

‘सञ्चो वि जणो सजणो’ निरवरोधो जन्तुरनन्त स्वजन । ‘सञ्चस्स वि’ सर्वस्यापि प्राणमृत । ‘तीद-
कालम्मि’ अतीते काले ‘आसि’ आसीत् । ‘एते य तया काले’ भविष्यति तथा काले । ‘होहिदि’ भविष्यति ।
‘सजणो जणस्स जणो’ स्वजनो जनस्य जन । एतदनेनाख्यायते अतीते भविष्यति च काले सर्वस्य सर्व स्वजन
क्षमीकृतविष्यति च । ततस्मर्वसाधारणत्वं स्वजनत्वस्य मति ममाय स्वजन इति मिथ्यामकल्प ।^३ तेऽप्यन्ये
ममाप्य^४ च्यस्तस्य ह्येतदेव तत्त्वमित्यन्यत्वस्य स्वपरविषयस्यानुप्रेक्षणमन्यत्वानुप्रेक्षा ॥१७५१॥

रत्ति रत्ति रुख्खे रुख्खे जह सउणयाण सगमणं ।

जादीए जादीए जणस्स तह सगमो होई ॥१७५२॥

‘रत्ति रत्ति’ रात्रौ रात्रौ । ‘रुख्खे रुख्खे’ वृक्षे वृक्षे । ‘जह सउणयाण सगमणं’ यथा पक्षिणा सगमन ।
‘जादीए जादीए’ जन्मनि जन्मनि । ‘जणस्स’ जनस्य । ‘तहा’ तथा । ‘सगमो होई’ सगमो भवति । यथा
रात्रावाधयमन्तरेण स्यातुममर्था पक्षिणो योग्य वृक्षमन्विष्य षोक्ते । तदप्राणिनोपि निरवरोपगलितायु
पुद्गलम्वन्धा परित्यक्तप्राक्तनशरीरा शरीरातरग्रहणादिन शरीरतरग्रहणयोग्यदेश योनिसंज्ञितमास्त्वन्धि ।

उसका चारित्रि सर्वत्र एकरूप होता है । यह मेरा भाई, पिता, पुत्र, भाजेज, दास या स्वामी है
इस प्रकार आसक्ति मनुष्य मोहका करता है । वस्तुतत्त्व तो अन्यतामान रूप है उसमे कोई
स्वजन नहीं है ॥१७५०॥

प्रकारान्तरसे स्वजन और परजनके भेदका अभाव कहते हैं—

गा०—अतीतकालमे सब प्राणियोंके समस्त अनन्त जीव स्वजन थे । तथा भविष्यत् कालमे
सब प्राणियोंके सब जीव स्वजन होंगे ॥१७५१॥

टी०—इम गायसे यह कहा गया है कि अतीत कालमे सबके सब जीव स्वजन थे और
भविष्यमे सबके सब जीव स्वजन होंगे । इम प्रकार जब सभी जीव स्वजन हैं तो यह मेरा स्वजन
है इम प्रकारका सकल्प मिथ्या है । वे भुजसे अन्य है और मैं उनसे अन्य हूँ, इस स्वपरविषयक
अन्यत्व तत्त्वका चिन्तन अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५१॥

गा०—जमे प्रत्येक रात्रिमे प्रत्येक वृक्षपर पक्षियोंका सगम होता है उसी प्रकार जन्म-
जन्ममे मनुष्योंका सगम होता है ॥१७५२॥

टी०—जैसे रात्रिमे आश्रयके बिना रहनेमे अममर्थ पक्षी योग्य वृक्षको श्रावक उमाग
वमेरा लेते हैं । उन्हीकी तरह मसारके प्राणी भी जब उनके आयुक्रमके पुद्गल म्वन्ध पूर्णरूपमे

१ नि श्यामो—आ० । २ जनपरि—आ० । ३ अपरिगन्तु इति प्रतिभाति । ४ तेनान्या

ममाप्यन्ये इत्ययदेव—आ० । ५ न्यस्त्यत्य इ—आ० ।

तत्र ययो मुद्रशोणितमयमाधितोऽगुचितम सौ पितराविति त्वत्पयति । तथाभूतयोरेव मुद्रशोणितयोरेपात्त-
देहा भ्रातर इति । अन्ये ॥ एवभूताश्च स्वजनितोत्सुलभा । कातारे पक्षिणा निषामवृक्षा इवेति
भाव ॥१७५२॥

पहिया उवासये जह तहिं तहिं अन्लियति ते य पुणो ।

छंडित्ता जति णरा तह णीयसमागमा सन्वे ॥१७५३॥

‘पहिया’ पयिका । ‘उवासये’ उपाश्रये कस्मिन्चित् । ‘जह’ यथा । ‘तहिं तहिं’ तस्मिन्तस्मिन् ग्राम-
नगरादी । ‘अन्लियति’ अन्यान्य ढीकन्ते । ‘ते य’ ते च सगता पयिका । ‘पुणो’ पश्चात् । ‘छंडित्ता’ त्यक्त्वा ।
‘जति’ याति स्वाभिमत देश । ‘तह णीयसमागमा सन्वे’ तथा बन्धुसमागमा सर्वेषु च । एतेन बन्धु-
समागमस्यानित्यता व्याख्याता ॥१७५३॥

भिण्णपयडिम्मि लोए को कस्स सभावदो पिओ होज्ज ।

कज्ज पडि सवध बालुगमुदुदोव जगमिणमो ॥१७५४॥

‘भिण्णपयडिम्मि लोए’ नानास्वभावं लोके । ‘को कस्स सभावदो पिओ होज्ज’ क कस्य स्वभावेन
प्रिया भवेत् । समानशीलताया हि सख्य भवति । न च सर्वबन्धव सभानशीला कथं तहिं तेषां वा स
बान्धव । ‘कज्ज पडि सवधो’ कायमेवाद्विषय सम्बन्ध’ नास्ति कार्योऽस्ति सम्बन्ध । ‘बालुगमुदुदोव’ बालुका-
मुष्टिरिव । ‘जगमिणमो’ लोकोप । यथा बालुकानां भिन्नप्रकृतीनां इवद्रव्यमन्तरेण न स्वाभाविक सम्बन्धो येन
सगता मुष्टिमुपेयु । उदकादिद्रव्योपनीतैव सगतिस्तासां, एव कार्योपनीतैव सगति स्वजनानां ॥१७५४॥

गल जाते है, और वे पूर्व शरीरको छोड़ नवीन शरीर ग्रहण करना चाहते हैं, तो वे शरीर ग्रहण
करनेके योग्य देशमें, जिसे योनि कहते हैं, जाते हैं। वहाँ उन्हें जिनके अत्यन्त अपवित्र रजवीर्य
रूपका आश्रय प्राप्त होता है उन दोनोंमें माता-पिताका सकल्प करते हैं। उसी प्रकारके रजवीर्यसे
जिनके शरीर बनते हैं वे भाई होते हैं। वनमें पक्षियोंके रहनेके वृक्षोंकी तरह इस प्रकारके
स्वजनवास सुलभ है। यह उक्त गायिका अभिप्राय है ॥१७५२॥

गा०—जैसे किसी उपाश्रयमें पयिक विभिन्न ग्राम नगर आदिमें परस्परमें मिलते हैं। पीछे
वे सब उस उपाश्रयको छोड़कर अपने-अपने देशको चल जाते हैं। उसी प्रकार सब बन्धु-व्यान्धवोंका
समागम है। इससे बन्धुसमागमको भी अनित्य कहा है ॥१७५३॥

गा०—टी०—लोगोंके अलग-अलग स्वभाव होते हैं। ऐसे नाना स्वभाववाले लोकमें कौन
किसको स्वभावसे प्रिय हो सकता है। समानशील वालोंमें ही मित्रता होती है। किन्तु सब बन्धु-
व्यान्धव तो समान शीलवाले नहीं होते। तब कैसे वह उनका बन्धु हो सकता है। कार्यको लेकर
ही सम्बन्ध होता है। कार्यके न रहनेपर सम्बन्ध नहीं रहता। जैसे रेतका प्रत्येक कण अपना
भिन्न स्वभाव रखता है। किसी मिलानेवाले द्रव्यके दिना उनका परस्परमें कोई स्वाभाविक
सम्बन्ध नहीं है। पानी आदिमें सम्बन्धसे हो वे परस्परमें मिलते हैं। अन्यथा मुट्टीमें अलग-अलग
ही रहते हैं। इसी प्रकार स्वजन भी कार्यवश ही परस्परमें मिलते हैं ॥१७५४॥

त च कार्यकृत सम्बन्ध स्पष्टयत्युत्तरगाथा—

माया पोसेइ सुयं आधारो मे भविस्सदि इमोचि ।

पोसेदि सुदो माद गन्मे धरिओ इमाएत्ति ॥१७५५॥

‘माया पोसेदि सुद’ माता पोषयति सुत । ‘आधारो मे भविस्सदि इमोचि’ अयं ममाधारो भविष्य-
तीति । ‘पोसेदि सुदो माद’ पोषयति सुतो मातर । ‘गन्मे धरिओ इमाएत्ति’ गर्भं धारितोऽजयेति ॥१७५५॥

उपकारापकारयो प्रतिबन्धात् शत्रुता मित्रता वेति तत् कथयति—

होऊण अरी वि पुणो मिच्च उवकारकारणा होइ ।

पुनो वि खणेण अरी जायदि अवयारकरणेण ॥१७५६॥

‘होऊण अरी वि’ शत्रुरपि भूत्वा । ‘पुणो’ पुन । ‘मिच्चो होदि’ सुदृढवति । म एवारि । कुत ?
‘उपकारकारणा’ उपकारकरणेन । ‘पुत्तोवि खणेण अरी जायदि’ पुनरपि क्षणेन शत्रुर्भवति, केन ? अपकार-
करणेन, निर्भर्त्सनतादनाद्यपकरणक्रियायाः । यस्मादेव ॥१७५६॥

तम्हा ण कोह कस्सइ मयणो व जाणो व अत्थि ससारे ।

कज्ज पडि हुति जगे णीया व अरी व जीवाणं ॥१७५७॥

‘तम्हा’ तस्मान् । ‘० कोह कस्सइ सयणो व जणो व अत्थि ससारे’ नैव कश्चित्कस्यचित्स्वजन
परजनो वा विद्यते । ‘कज्ज पडि होदि णीया व अरी व जग’ नार्यमेवोपकारापकारलक्षणं प्रति बन्धव
शत्रवश्च भवति । न स्वाभाविकी बन्धुता शत्रुता वा जीवानामस्ति उपकारापकारक्रिययोरनवस्थितत्वात्तन्मू-
लोर्गमित्रभावोप्यनवस्थित इति न रागद्वेषौ नवचिदपि कार्यौ । मतोऽजये सर्व एव प्राणभूत इति कार्यान्प-
स्थानुप्रेक्षेति प्रस्तुताधिकारेणाभिसम्बन्ध ॥१७५७॥

आगे उम कार्यबश हुए सम्बन्धको दृढ करते हैं—

गा०—यह मेरा बुढ़ापेमें आधार होगा इस भावनासे माता पुत्रका पालन करती है और
पुत्र माताका पालन करता है कि इसने मुझे गर्भमें धारण किया था ॥१७५५॥

आगे कहते हैं कि शत्रुता और मित्रता उपकार और अपकारसे बंधे हैं—

गा०—शत्रु होकर भी उपकार करनेमें मित्र हो जाता है । अपकार करनेसे पुत्र भी क्षण-
भरमें शत्रु हो जाता है । अर्थात् यदि पुत्र माता पिताका तिरस्कार करता है उन्हे मारता है तो
वह शत्रु ही प्रतीत होता है ॥१७५६॥

गा०—इसलिये ससारमें कोई किसीका न स्वजन है और न परजन है । उपकार और
अपकार रूप कार्यको लेकर ही जीवोंके मित्र या शत्रु बनते हैं ॥१७५७॥

टी०—जीवोंमें न तो स्वाभाविक शत्रुता है और न स्वाभाविक बन्धुता है । उपकार
और अपकाररूप क्रिया भी स्थायी नहीं है इसलिये उपकार मूलन मित्रता और अपकारमूलक
शत्रुता भी स्थायी नहीं है । अतः न किसीसे राग करना चाहिये और न किसीमें द्वेष करना
चाहिये । सभी प्राणी मनुष्यमें अन्य है इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षा करना चाहिये ॥१७५७॥

शत्रुमित्रबोलेक्षणमाचष्टे—

जो जस्स चट्टदि हिंदे पुरिसो सो तस्स घघवो होदि ।

जो जस्स कुणदि अहिद सो तस्स रिबुचि णायव्वो ॥१७५८॥

‘जो जस्स चट्टदि हिंदे’ यो यस्य उपकारे वर्तते । ‘पुरिसो’ पुरुष । ‘सो तस्स घघवो होदि’ स तस्य बन्धुर्भवति । ‘जो जस्स कुणदि अहिद’ यो यस्य वरोत्यहित । ‘सो तस्स रिबुचि णायव्वो’ स तस्य रिपुरिति शास्त्रम् ॥१७५८॥

शत्रुलक्षण बन्धुषु दर्शयति—

णीया करति विग्घ मोक्खब्धुदयावहस्स धम्मस्स ।

कारिति य अइवहुग असजम तिव्वदुक्खकर ॥१७५९॥

‘णीया करति विग्घ’ बन्धव कुर्वन्ति विघ्न । कस्य ? ‘धम्मस्स’ धर्मस्य, ‘बोद्द’ ? मोक्षरत्नमुदयावहस्स’ निरवशेषदुःखकारिभर्मापाय सात्कारिकमतिशयवत् मुख च सपादयतो रत्नत्रयस्य । ‘कारिति य’ कारयन्ति य । किं ? ‘असजम’ हिमानृतस्तेषां विक, ‘अइवहुग’ अतीव महान् । ‘तिव्वदुक्खकर’ दुःसह-नरकादिदुःखोत्थापनोत्त । हितस्य विघ्नकरणादहिते च प्रवर्तनान् दर्शयति शत्रुता बन्धुतामितेन । अन्येषां बान्धवाद्यभिमतानां शत्रुत्वेनानुप्रेक्षणं अन्यत्वानुप्रेक्षेति ज्ञेयं भवति ॥१७५९॥

इदानीमप्यन्वयेन साधवो भण्यते तेषामुपकारस्त्वेनानुप्रेक्षेति चेत्तसि वृत्त्या व्याचष्टे—

णीया सत्त पुरिसस्स हूति जदिधम्मविग्घकरणेण ।

कारेति य अतिवहुग असजम तिव्वदु खय ॥१७६०॥

शत्रु और मित्रका लक्षण कहते हैं—

गा०—जो पुरुष जिसका उपकार करता है वह उसका वाग्धव होता है । और जो जिसका अहित करता है वह उसका शत्रु होता है । यह मित्र और शत्रुका लक्षण जानना ॥१७५८॥

आगे बन्धुओंमें शत्रुका लक्षण दिखलाते हैं—

गा०—टी०—बन्धुगण दुःख देनेवाले सब कर्मोंका पूर्णरूपसे विनाश और समाश्रय सातिशय दुःख देनेवाले रत्नत्रयरूप धर्ममें विघ्न करते हैं । और दुःसह नरकादिके ॥ ३ ॥ लोको लानेमें तत्पर हिंसा, झूठ, धोरो आदि अममम कराते हैं । अर्थात् यदि कोई जिनदीक्षा आदि लेकर आत्म-कल्याणमें लगना चाहता है तो परिवारके लोग उसे रोकते हैं तथा अपने पीपणके लिये मनुष्यको बुरे कर्म करनेकी प्रेरणा करते हैं । तो हितसाधनमें विघ्न करनेमें और अहितमें लगानेमें बन्धु शत्रु हैं, यह इसमें दिखलाया है । इसका अभिप्राय यह है कि जो अन्य बान्धव आदि रूपसे इष्ट है उन्हें भी शत्रु रूपसे विचारना कि ये मेरे मित्र नहीं हैं, शत्रु हैं, अन्यत्वानुप्रेक्षा है ॥१७५९॥

अब अन्य शब्दसे साधुओंको खेतें हैं । उन्हें उपकारी रूपसे विचारना अन्यत्वानुप्रेक्षा है, यह कहते हैं—

गा०—पुरुषके यति धर्म स्वीकार करनेमें विघ्न करनेसे बन्धुगण शत्रु होते हैं तथा वे

‘अन्यथा यतीना बन्धुत्व कथं प्रस्तुताया अन्यत्वानुप्रेक्षायामुपयुज्यते ॥१७६०॥

पुरिमस्स पुणो साधू उज्जोव संजणति जदिधम्मे ।

तथ^१ तिज्जदुक्खकरण असंजमं परिहरावेंति ॥१७६१॥

‘पुरिमस्स’ पुण्यस्य । ‘पुणो साधू’ साधव पुन ‘उज्जोव संजणति’ उद्योग सम्यग्जनयति । ‘जदिधम्मं’ मत्तोरभपरिग्रहत्यागलक्षणं यतिधर्मं, ‘तथ असंजमं परिहरावेंति’ तथा असंजमं परिहारयन्ति । कीदृग्भूत ? ‘तिज्जदुक्खपर’ तोत्राणां दुःखानामुत्पादक ॥१७६१॥

उपमहरति प्रमृत्तमय—

तन्हा णीया पुरिसस्स होंति साहू अणेयसुहेहेदु ।

मसारमदीणता णीया य णरस्स होंति अरी ॥१७६२॥

‘तन्हा’ तस्मात् । हिने प्रवर्त्तनान् अहिने निवर्त्तनान् । ‘णीया पुरिसस्स’ वन्धव पुरुषस्य । के ? ‘साधू’ साधव । ‘अणेयसुहेहेदु’ इन्द्रिया^२ तोन्द्रियमवलम्बुसुहेहेतव । ‘समारमदीणता’ समारमपारनेकदुःखसङ्कुल-मवतारयन्त । ‘णीया य णरस्स होंति अरी’ धनवो भवन्ति मनुष्यस्य वन्धव । एतेन मृगेण अन्येषां यतीनां बन्धूनां मित्रत्वशत्रुत्वानुप्रेक्षणं अन्यत्वानुप्रेक्षेति कथ्यते । एवमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मं तदुपदेशकं रिणि च यतिजने महानादरो भवति । अस्मिन्न मकलं सुखमुपस्थापयतो धर्मस्य विघ्नं सम्पादयत्यु चतुसतिषटीयन्त्रे^३ दुःखानार-‘आरोह्यन्तु नितरामनादरो भवति ॥१७६२॥ अण्णत् ।

संसारानुप्रेक्षा कथ्यते प्रवन्धेनोत्तरेण—

मिच्छत्तमोहिदमदी संसारमहाडवी तदोदीदि ।

जिणक्खणविप्पणट्ठो महाडवीविप्पणट्ठो वा ॥१७६३॥

अत्यन्तं दुःमहं दुःखदायी अमयमं कराते हैं इसलिये भी वे दात्रु हैं ॥१७६०॥

गा०—किन्तु मानुं सर्वं आरम्भ और सर्वं परिग्रहवे त्यागरूपं मुनियर्ममे पुरुषको तत्पर कराते हैं और तीव्र दुःखदायी अमयमका त्याग कराते हैं ॥१७६१॥

प्रस्तुत कथनका उपसंहार करते हैं—

गा०—टी०—अतः हितमे लगाने और अहितमे रोकनेके कारण माधुगण बन्धु हैं । वे इन्द्रियजन्य और अतीन्द्रिय सुखके कारण हैं तथा अनेक दुःखोंमें भरे अपार समारमं पार उतारते हैं । इस गाथाके द्वारा अपनेमें अन्य माधुगणोंका मित्ररूपमें और बन्धुगणोंका दात्ररूपमें चिन्तन करनेको अन्यत्वानुप्रेक्षा कहा है । ऐसा चिन्तन करनेमें धर्ममें और धर्मका उपदेश करनेवाले माधुगणमें महान् आदर होता है । और सर्व इष्ट सुखको देनेवाले धर्ममें विघ्न करनेवालोंमें और जिमपरमें उतारना दुष्कर है उस चाग गतिरूपी घटीयन्त्रपर चटाने वालोंमें अन्यन्त अनादर होता है ॥१७६२॥

१ अन्येषां—आ० म० । २ नयमत्र—आ० म० । ३ असंजमं परिहरावेंति तिज्जदुक्खपर—आ० ।

४ यानिन्द्रि—आ० म० । ५ यन्ने दुःखभारे वा—आ० म० । ६ आरोहन्तु—अ० म० ।

‘मिच्छतमोहिदमदी’ वस्तुसायात्प्राधदान दर्शनमोहोदयश्च मिथ्यात्व तेन मिथ्यात्वेन हेतुना मोहमुपगता मतिर्यस्यासी । ‘ससारमहाटवी’ ससारो महाटवी ‘दुस्तरत्वादनैकदुस्मावहत्वादिनामपितु-
मुयतत्वाच्च ता ससारमहाटवी । ‘तवे’ तस्मात् मिथ्यात्वमूढमतिरित्याह । ‘अदीदि’ प्रविशति । ननु च मिथ्या-
त्वमयमकपाययोगारचत्वारोऽपि ससारस्य निमित्तभूता तत्र किमुच्यते मिथ्यात्वमूढमति ससारमहाटवी
प्रविशतीति । अत्रोच्यते—उपलक्षण मिथ्यात्वग्रहण असयमादीना । ‘जिणघयनविष्णट्ठो’ द्रव्यभावकर्मा-
रानिजमात जिनास्तेषा वचन जीवाद्यर्थयायात्प्रकाशनपदु प्रत्यसादिप्रमाणातराविरोधि ततो विप्रनष्टस्तर्या-
परिजानात् वस्तत्वाधदान तन्निरपितेन मार्गेणामाचरणाच्च महाटवी महतीमटवी प्रविशति । ‘विष्णट्ठो वा’
मार्गादिप्रनष्ट इव । ‘ससारमहोदयिमविगम्भ जीवपोतो भमदि’ ससारमहासमुद्र प्रविश्य जीवयानपान भ्रमति ।
कीदृभूत ससारमहोदधि ॥१७१३॥

बहुतिज्वदुक्खसलिल अणतकायप्पवेसपादाल ।

चदुपरिवट्ठावत्त चदुगदिवहुपट्टमणत्त ॥१७६४॥

‘बहुतिज्वदुक्खसलिल’ बहुनि तीचाणि दु सानि सल्लिनि यस्मिन्समारमहादधौ त । ‘अणतकायप्पवेस
पादाल’ अनन्ताना जीवाना काय शरीरमनतकाय अनन्तकाय ‘प्रवेसास्ते पातालस्यस्यानीया यस्य त । अथवा
न विद्यते अन्तो निश्चयोऽयैव जीवस्येद शरीरमिति बहूना साधारणत्वात् यस्मिन् काये सौजत कायोऽस्य

आगे समार अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—टी०—दर्शनमोहके उदयसे जो वस्तुके यथार्थस्वरूपका अधदान है उसे मिथ्यात्व
कहते हैं । उस मिथ्यात्वके कारण जिसकी मति मोहित है वह मिथ्यात्वसे मोहितमति होनेसे
ससाररूपी महा अटवीमें प्रवेश करता है । महाअटवीके समान ही ससारको पार करना कठिन है
वह अनेक दु खोंसे भरा है तथा प्राणीका विनाश करनेवाला है इसलिये ससारको महाअटवी
कहा है ।

शंका—मिथ्यात्व, असयम, कपाय और योग ये चारो भी ससारके हेतु हैं । तब यह क्यों
कहा कि मिथ्यात्वमें जिसकी मति मूढ है वह ससार महाअटवीमें प्रवेश करता है ।

समाधान—मिथ्यात्वका ग्रहण असयम आदिका उपलक्षण है अत मिथ्यात्वके ग्रहणमें
असयम आदिका ग्रहण हो जाता है । द्रव्यकर्म और भावकमरूपी शब्दोंको जीतनेसे जो जिन
कहे जाते हैं उनके वचन जीवादि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशनमें दक्ष हैं तथा वे प्रत्यक्ष
आदि अन्य प्रमाणोंमें अविच्छेद हैं । उन वचनोंका अर्थ न जाननेसे जो सत्त्वोंका अधदान है उससे
तथा उसमें कहे गये मार्गके अनुसार आचरण न करनेसे ससाररूपी महाअटवीमें प्रवेश करता है ।
तथा मार्गमें भ्रष्ट होकर जीवरूपी जहाज ससाररूपी महासमुद्रमें प्रवेश करके भटकता है ॥१७६३॥

ससाररूपी महासमुद्र कैसा है, यह बतलाते हैं—

गा०—टी०—जिस ससाररूपी महासमुद्रमें तीव्र दु खरूपी जल भरा है और अनन्त जीवोंके
काय अर्थात् शरीरको अनन्तकाय कहते हैं । अनन्तकायमें प्रवेश ही जिस ससार समुद्रमें पाताल
है । अथवा ‘यह शरीर इमी जीवका है’ ऐसा अन्त अर्थान् निश्चय जहाँ नहीं वह काय अनन्त है

जीवस्येत्यनन्तकाय । अन्तरेणापि भावप्रधानो निर्देश । तेनायमर्थ अनन्तकायत्वस्य प्रवेश अनन्तकाय-
प्रवेश स पाताल यम्य त । 'चदुपरिवट्टावत्' चत्वार द्रव्यक्षेत्रकालमावास्या परिवर्त आवर्त यस्मिस्त ।
'चदुगविबहुपट्टण' चतस्रो गतयो बहूनि महान्ति पतनानि यस्मिस्त । 'अणते' अनन्त ॥१७६४॥

हिंसादिदोसमगरादिसावद दुविहखीववहुमच्छ ।

जाडजरामरणोदयमणेयजादीमदुम्भीयं ॥१७६५॥

'हिंसादिदोसमगरादिसावद' हिंसानृतस्तेयाद्रहपरिग्रहा हिंसादिदोषास्ते मकरादय स्वापदा यस्मिस्त ।
'दुविहखीववहुमच्छ' द्विविधा स्यात्वरजगमविकल्पा जीवा इति द्विविधा जीवास्ते बहवो मत्स्या यस्मिन् ।
'जाडजरामरणोदय' जानिरभिनवातीरग्रहण, जरा नाम गृहीतस्य शरीरस्य तेजोवलादिमिहता, मरण
शरीरादपगम एतानि जातिजरामरणानि उदय उदयतिर्यस्मिस्त । 'अणेयजादीमुदुम्भीय' अनेकानि जाति-
शतानि ऊर्मयो यस्मिस्त । एकद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियजानय प्रत्येकमवान्तरभेदापेक्षया पृथिवीकायिका, अकायिका-
स्तेज्ज्वायिकवनम्पनिकायिका इति । एकेन्द्रियजानिरनेकप्रकार । पञ्चिन्द्रियज्ज्वायिका पृथिवी । आपोऽपि वर्षहिम-
हिमानीकरकादिभेदभिन्ना । अग्निरपि प्रदीपोऽप्युष्मन्निर्वात्यनेकभेद । वायुरपि गुञ्जामण्डलिकादिविकल्प ।
वनस्पतयोऽपि तरुगुल्मवल्लीलतातृणादिभेदस्ततो जातिशतानोरप्युक्त ॥१७६५॥

क्योंकि एक शरीरमे बहुतसे जीव समानरूपसे रहते हैं। वह अनन्तकाय जिस जीवकी है वह
अनन्तकाय है । 'भाव प्रत्ययके विना भी निर्देश भावप्रधान होता है' इस नियमके अनुसार अर्थ
होता है अनन्त कायत्वका प्रवेश अनन्तकाय प्रवेश । वही जिसमें पाताल है । तथा द्रव्य क्षेत्र काल
और भाव परिवर्तन रूप जिसमें चार भँवर हैं । और चारगतिरूप महान् द्वीप हैं तथा जो अनन्त
है ॥१७६४॥

विशेषार्थ—समारको महासमुद्रकी उपमा दी है । समुद्रमें जल होता है ससारमें दुःख ही
जल है । जैसे जलका आरपार नहीं है वैसे ही ससारके दुःखका भी आदि अन्त नहीं है । समुद्रमें
पानाल होते हैं जिनमें प्रवेश करके निकलना कठिन है । ससारमें जो अनन्तकाय निगोद हैं वही
पाताल है जिनमें प्रवेश करके निकलना कठिन है । समुद्रमें भँवर होते हैं । ससारमें परिवर्तनरूप
भँवर है । समुद्रमें द्वीप होते हैं जहाँ कुछ समय ठहर सकते हैं । ससारमें चार गतियाँ ही द्वीप हैं ।
इसी प्रकार समुद्र भी अनन्त है और ससार भी ॥१७६४॥

गा०—टी०—उम ससाररूपी समुद्रमें हिंसा, झूठ, चोरी, अवह्मा और परिग्रहन्पी मगर
आदि क्रूर जन्तु रहते हैं । म्यावर और जगम जीवरूप बहुतसे मच्छ हैं । जाति अर्थात् नया
शरीर धारण करना, जरा अर्थात् वर्तमान शरीरके तेज बल आदिमें बर्मी होना, मरण अर्थात्
शरीरका त्याग । ये जाति जरा और मरण उसके उठाव हैं तथा सैकड़ों जातियोंमें उगमें तरंगें
हैं । एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चोइन्द्रिय और पचेन्द्रिय ये पाँच जातियाँ हैं । इसमें प्रत्येकके
अनेक अवान्तर भेद हैं । जैसे एकेन्द्रिय जातिने पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक,
वनस्पतिकायिक आदि अनेक भेद हैं । उनमेंसे भी पृथिवीके छत्तीस भेद हैं । जलके भी वर्षा, हिम,
ओले आदि भेद हैं । आगके भी दीपक, अगार, लपट आदि अनेक भेद हैं । वायुके भी गुंजा,
माण्डलिक आदि भेद हैं । वनस्पतिने भी वृक्ष, शाही, बेल, लता, तृण आदि भेद हैं । इन्हींमें
सैकड़ों जातियाँ कही हैं ॥१७६५॥

दुविहपरिणामवाद ससारमहोदधिं परमभीम ।

अदिगम्भ जीवपोदो भमइ चिर कम्ममण्डभरो ॥१७६६॥

‘दुविहपरिणामवाद’ द्विविधा शुभाशुभपरिणामा वाता यस्मिन् । ‘परमभीम’ अतिभयकर । ‘अदिगम्भ’ प्रविश्य । ‘जीवपोदो’ जीवपोत । ‘भमइ चिर’ चिरकाल भ्रमति । ‘कम्ममण्डभरो’ कर्मद्रविण-भार । त्रिभि मन्बन्ध ॥१७६६॥

भवससार निरूपयति—

एगविगतिगचउपचिंदियाण जाओ हवति जोणीओ ।

मग्वाओ ताओ पचो अणत्सुत्तो डमो जीवो ॥१७६७॥

‘एगविगतिगचउपचिंदियाण’ नामकं गतिजात्यादिविचित्रभेद । ४३ जातिक्रम पञ्चविकल्प एकदित्रि-चतु पञ्चेन्द्रियजातिविकल्पेन तासां जातीनामुदयान् । एवेन्द्रियतादिपर्यायभाजो जीवा एकेन्द्रियादिशब्द-नोच्यन्ते । तेषामेवेन्द्रियादीनां योनय आश्रया दादरसूक्ष्मपर्याप्तकापर्याप्तकाण्या जीवद्रव्याणामिहाश्रयत्वेन विवक्षिता । ‘सच्चित्तशोतसवृत्ता सेतरा मिध्याश्चैव शस्तद्योनय’ [व० सू० २।३२] इति सूत्रे ये निर्दिष्टाश्च-तुरगीतिशतमहस्रविकल्पास्त इह न गृह्यन्ते । यत् सूत्रान्तरे देवत्वानारकत्वमनुप्यत्वादिमध्वत्वात्मा भवपर्याय-परावृत्तिर्भवससार इत्युक्त ।

गिरयादिजहण्णादिषु जाव दु उवरत्तलपातु वेवज्जा ।

मिच्छस्तससिदेण धु भवटिठो भग्जिदा बहुसो ॥ इति वचनात् ॥

योनयो न भवशब्दवाच्या । जीवपर्यायो हि भवस्तत्र भव समारस्त्रिस्तद्विध —पृथिव्यप्तेजोवायुवन-

गा०— वर्मरूपी भाण्डसे भरा हुआ जीवरूपी जहाज शुभ अशुभ परिणामरूप वायुसे युक्त अतिभयकर ससार महासागरमें प्रवेश करके चिरकाल तक भ्रमण करता है ॥१७६६॥

अब भवससारका कथन करने हैं—

गा०—टी०—नामकर्मके गतिनामकर्म जातिनामकर्म आदि अनेक भेद हैं । उगमेसे जाति-नामकर्मके पांच भेद हैं—एकेन्द्रिय जातिनाम, दोइन्द्रिय जातिनाम, त्रीन्द्रिय जातिनाम, चतुरिन्द्रिय जातिनाम और पञ्चेन्द्रिय जातिनाम । उन जातिनाम कर्मों के उदयसे एकेन्द्रिय आदि पर्यायमें जन्म लेनेवाले जीव एकेन्द्रिय आदि शब्दमें बड़े जाते हैं । उन एकेन्द्रिय आदिको दादर सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त योनियोंको यहाँ जीवद्रव्यका आश्रय कहा है । तत्त्वाधं सूत्रवे ‘सच्चित्तशोत-सवृत्ता’ इत्यादि सूत्रमें जो चौगसी लाय योनियाँ कही हैं, यहाँ उनका ग्रहण नहीं किया है । क्योंकि उसी तत्त्वाधं सूत्रवे ‘ससारिणो मुक्ताश्च’ सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीकामें देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यञ्च नामक भवपर्यायके परावर्तनको भवमसार कहा है । कहा है—‘इम जीवने नरवगति आदिकी जपन्य म्यितिमें लेकर उपरिम प्रवेयव पर्यन्त अनेक भवस्थितियोंको मिथ्यात्वने मनगमें भोगा है ।’

अब भवशब्दमें योनियाँ नहीं कही जाती । जीवकी पर्यायको भव कहते हैं । भवमसार तीस प्रकारका है—पृथिवीवाय, जलवाय, तेजस्वाय, वायुवाय और वनस्पतिवायमेंसे प्रत्येकके

स्पतिनाया प्रत्येक वादरसूदमपर्याप्तकापर्याप्तविवत्पाद्विगतिविधा । द्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञासंज्ञिविवत्पा
पञ्चेन्द्रियाश्च पर्याप्तपर्याप्तविवत्पा दशविधा । अन्ये तु भवपरिवर्तनमेव 'वदन्ति । नरकगतौ सर्वजघन्य-
मायुर्दशवर्षसहस्राणि । तेनायुषा तत्रोत्पन्न पुन परिभ्रम्य तेनैवायुषा तत्र जायते । एव दशवर्ष-
सहस्राणा यावन्त समयास्तावन्तृत्वा तदैव जातो मृत । पुनरेकसमयाविवभावेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि
परिसमापितानि । तत प्रच्युत्य त्रिंशत्सगरी अन्तर्मुहूर्तोप्यु ममुत्पन्न । पूर्वोक्तेन क्रमेण त्रीणि पत्योपमानि परि-
ममापितानि । तत्र प्रच्युत्य एव मनुष्यगती । देवगती नारकवत् । अथ तु विशेष, एकत्रिंशत्सागरोपमानि
परिसमापितानि यावत्तावद्भवपरिवर्तना मयस्ता भवन्ति इति । अनन्तवारमय प्राप्तो जीव ॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—

अण्ण गिण्हदि देह त पुण मुत्तूण गिण्हदे अण्ण ।

घडिजंत व य जीवो भमदि इमो दब्बससारे ॥१७६८॥

अण्ण गेण्हदि देह' अन्यच्छरीर गृह्णाति । 'त पुण मुत्तूण' तच्छरीर मुक्त्वा पुनरन्यद् गृह्णाति ।
घटीयन्ननिव जीवो' घटीयन्नप्रवर्ज्यजीव । यथा घटीयन्न अन्यज्जल गृह्णाति तत्र त्यक्त्वा पुनरन्यदादत्ते
एवमय शरीराणि गृह्णन् मुचश्च भ्रमन्ति । शरीराणि विचित्राणि द्रव्यसंज्ञेनोच्यन्ते तत्स्वात्मन परिवर्तन

वादर, सूदम, पर्याप्त और अपर्याप्त चार भेद होनेमे त्रीस भेद होने हैं । तथा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय,
चौइन्द्रिय, असंज्ञिपञ्चेन्द्रिय और सज्ञोपञ्चेन्द्रियके पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद होनेसे दसभेद
होते हैं ।

अन्य आचार्य भवपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—

नरकगतिमें सबसे जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है । कोई जीव उस आयुको लेकर
नरकमें उत्पन्न हुआ । पुन परिभ्रमण करके उतनी ही आयुको लेकर नरकमें उत्पन्न हुआ । इस
प्रकार दस हजार वर्षों के जितने समय होते हैं उतनी बार दस हजार वर्षकी आयु लेकर नरकमें
उत्पन्न हुआ और मरा । पुन दस हजार वर्षकी आयुमें एक-एक समय वढाकर नरकमें उत्पन्न
होते हुए वहाँकी उत्कृष्ट आयु तँतीम मागर पूर्ण की । नरककी आयु पूर्ण करनेके पश्चात् तिर्यञ्च-
गतिमें एक अन्तर्मुहूर्तकी आयु लेकर उत्पन्न हुआ और मरा । नरकगतिमें वहे क्रमानुसार
तिर्यञ्चगतिकी उत्कृष्ट आयु तीन पत्य पूर्ण की । तिर्यञ्चगतिके समान मनुष्यगतिकी आयु
पूर्ण की और नरकगतिके समान देवगतिकी आयु पूर्ण की । किन्तु इतना विशेष है कि उपरि
प्रवेयवकी उत्कृष्ट आयु इतनीमागर पूर्ण होने पर समस्त भवपरिवर्तन हो जाते हैं । ऐसे
भवपरिवर्तन इस जीवने अनन्तवार किये हैं ॥१७६७॥

द्रव्यपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०—टी०—घटीयन्नकी तरह जीव अन्य शरीरको छोडकर अन्य शरीरको ग्रहण करता
है । उमे भी छोडकर अन्य शरीरको ग्रहण करता है । जैसे घटीयन्न नया जल ग्रहण करता है
उमे निकालकर फिर नया जल ग्रहण करता है । उसी प्रकार यह जीव शरीरको ग्रहण करता
और छोडता हुआ भ्रमण करता है । द्रव्यगदमे विचित्र शरीर कह है । आत्माके शरीरको

द्रव्यससार इति सूत्रकारस्यास्य व्याख्या स्थूलबुद्धीनुद्दिश्य । एव तु द्रव्यपरिवर्तनं ग्राह्य । द्रव्यपरिवर्तनं द्विविध—नोकर्मपरिवर्तनं कर्मपरिवर्तनं चेति । तत्र नोकर्मपरिवर्तनं नाम त्रयाणां शरीराणां एणां पर्याप्तीनां योग्या ये पुद्गला एकेन जीवने एकस्मिन्समये गृहीता म्लिग्धरूपावर्णगन्धादिभिस्तोत्रममन्दमध्यमभावेन च यथावस्थिता द्वितीयादिषु समयेषु निर्जोर्णा अगृहीताननन्तवारानतीत्य, मिश्रवाश्च अनन्तवारानतीत्य मध्ये गृहीतागृहीताश्च अनन्तवारानतीत्य त एव तेनैव प्रकारेण तन्मैव जीवस्य नोकर्मभावमावयन्ते यावत्तावत्समुदितं नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनं । कर्मद्रव्यपरिवर्तनमुच्यते—एकस्मिन्समये एवेन जीवने अष्टविधकर्मभावेन द्वे च गृहीता समयाधिकावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जोर्णा पूर्वोत्तेनैव क्रमेण त एव तेनैव प्रकारेण तस्य जीवस्य कर्मभावमावयन्ते यावत्तावत्कर्मद्रव्यपरिवर्तनं ॥१७६८॥

रगगदण्डो व इमो बहुविहसठाणवण्णरूवाणि ।

गिण्हदि मुच्चदि य ठिद जीवो ससारमावण्णो ॥१७६९॥

‘रगगदण्डो व रगप्रविष्टनट इव । ‘इमो’ अयं बहुविहसठाणवण्णरूवाणि’ बहुविधसन्धानवर्णस्वभावान् । गिण्हदि य ‘मुच्चदि य ठिद’ गृह्णाति मुञ्चति च । ‘अस्तिप । क्रियाविशेषणमेतत् । ‘जीवो ससारमावण्णो’ जीवो द्रव्यससारमापन्न ॥१७६९॥

क्षेत्रससार निरूपयति—

जत्थ ण जादो ण मदो हवेज्ज जीवो अणत्तमो चेव ।

काले तदग्निं इमो ण सो पदेमो जए अत्थि ॥१७७०॥

परिवर्तनं द्रव्यमसार है । ग्रन्थकारने स्थूलबुद्धि वालोको लक्ष करके द्रव्यमसारका यह स्वरूप कहा है, किन्तु द्रव्यपरिवर्तन इस प्रकार लेना ।

द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं—नोकर्म परिवर्तन और कर्म परिवर्तन । उनमेमे नोकर्म परिवर्तन इस प्रकार है—तीनों शरीर और छह पर्याप्तियोंके योग्य जो पुद्गल एक जीवने एक समयमे ग्रहण किये, उनमे जंसा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहा हो और तीव्र, मन्द या मध्यम भावमे वे ग्रहण किये गये हो, दूसरे आदि समयोमें उन्हे भोगकर छोड़ दिया । उसने पश्चान् अनन्तवार अगृहीतको ग्रहण करके, अनन्तवार मिश्रको ग्रहण करके, मध्यमे गृहीत और अगृहीतको अनन्तवार ग्रहण करके वे ही पुद्गल उसी जीवके उसी प्रकारमे जब नोकर्म रूपको प्राप्त होते हैं, उन सबको नोकर्म परिवर्तन कहते हैं । अब कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं—एक समयमे एक जीवने आठ कर्मरूपसे जो पुद्गल ग्रहण किये और एक समय अधिक एक आवली कालके पश्चान् द्वितीय आदि समयोमें उन्हे भोगकर छोड़ दिया । नोकर्म परिवर्तनमे बड़े क्रमके अनुमान वे ही कर्मपुद्गल उसी जीवके उसी प्रकारमे जब कर्मरूपसे आते हैं उस सबको कर्मद्रव्य परिवर्तन कहते हैं ॥१७६८॥

गा०—जंमे रगभूमिमे प्रविष्ट हुआ नट अनेक रूपको धारण करता है उसी प्रकार द्रव्यससारमे भ्रमण करता हुआ जीव निरन्तर अनेक बाकार, रूप, स्वभाव आदिको ग्रहण करता और छोड़ता है ॥१७६९॥

‘जस्य न जादो न मदो हवेज्ज’ यत्र क्षेत्रे जानो मूतो वा न भवेज्जीव । ‘अणतसो चैव’ अनन्त-
वारान् । ‘कालेतोदमि इमो अतीते कालेऽपि । न सो पदेसो जगे अत्थि’ नामो प्रदेशो जगति विद्यते । अन्ये
तु क्षेत्रपरिवर्तन—जयति मूकमनिगोदजीवो पर्याप्तक सर्वजघन्यप्रदेशसरीरो लोकस्याष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीर-
मध्यप्रदेशान् कृत्वोत्पन्न क्षुद्रभवग्रहण जीवित्वा मृत , ॥ एव पुनस्तेनैवावगाहेन द्विरुत्पन्नस्तथा त्रिष्वतुरिति ।
एव यावन्तोऽङ्गुलस्याग्न्येयभागप्रमिताकाशप्रदेशास्तावत्कृत्वा तत्रैव जनिता पुनरेकैकप्रदेशाधिकमावेन
सर्वलोक आत्मनो जन्मक्षेत्रभावमुपनीतो भवति यावत्तावत् क्षेत्रपरिवर्तन । उक्तं च—

सम्बन्धि लोपक्षिते कभसो स णत्थि जण्य उत्पण्ण ।

भोगाहृणा य बहुतो परिभमिदो सित्तसत्तारे ॥ [बा० अणु० २६] ॥१७७०॥

कालपरिवर्तनमुच्यते—

तकालतदाकालसमएसु जीवो अणतसो चैव ।

जादो मदो य सच्चैसु उमो तीदम्मि कालम्मि ॥१७७१॥

‘तत्कालितदाकालसमयेसु’ उत्सर्पिण्यवसर्पिणोऽसत्तितयो कालयोर्मे ममयास्तेषु । ‘जीवो अणतसो चैव’
जीवोऽनन्तवारान् । ‘जादो मदो य सच्चैसु’ जातो मृतश्च सर्वेषु समयेषु । ‘इमो तीदम्मि कालम्मि’ अयम-
तीते काले । इयमस्या गाथाया प्रपञ्चव्याख्या—उत्सर्पिण्या प्रथममयमे जातं कश्चिज्जीव स्वायुष परिम-
माप्तो मृत , स एव पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयमयमे जातं स्वायुष क्षवागमृत । स एव पुनस्तृतीयाया-

अव क्षेत्रसमारको कहते हैं—

गा०—जगन्मे ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ यह जीव अतीत कालमें अनन्तवार जन्मा
और मरा न हो ॥१७७०॥

टी०—अन्य आचार्य क्षेत्रपरिवर्तनका स्वरूप इस प्रकार कहते हैं—सूक्ष्म निगोदिया
लघ्व्यपर्याप्तक जीव सबसे जघन्य प्रदेशवाला शरीर लेकर लोकके आठ मध्यप्रदेशोंको अपने
शरीरके मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और क्षुद्रभव ग्रहण करके एक इवामने अठारहवें भाग
समय तक जिया और मरा । वही जीव पुन उसी अवगाहनाको लेकर उसी स्थानमें दुबारा
उत्पन्न हुआ, निबारा उत्पन्न हुआ, चौथो बार उत्पन्न हुआ । इस तरह अगुलके असस्यातव
भाग प्रमाण आकाशमें जितने प्रदेश होते हैं उतनी बार वही उत्पन्न हुआ । पुन एक-एक प्रदेश
बढ़ाने-बढ़ाने सर्वलोकको अपना जन्मक्षेत्र बनाया । इस सबको क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं । कहा
भी है—

सर्वलोकक्षेत्रमे ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह क्रमसे उत्पन्न नहीं हुआ । अनेक अव-
गाहनाके साथ इस जीवने क्षेत्र समारमे परिभ्रमण किया ॥१७७०॥

कालपरिवर्तनको कहते हैं—

गा०—यह जीव अनेक कालमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके मय समयमें अनन्त
बार उत्पन्न हुआ और अनन्तवार मरा ॥१७७१॥

टी०—इस गाथाकी विम्वृत व्याख्या इस प्रकार है—उत्सर्पिणी कालके प्रथम समयमें
उत्पन्न हुआ कोई जीव अपनी आयुके समाप्त होनेपर मरा । वही जीव पुन दूसरी उत्सर्पिणीके

उत्सर्पिण्यास्तृतोयमभये जात । एवमनेन ब्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्ता तथा चावसर्पिणी । एव जन्मनैरन्तर्यं भुवन् । मरणस्यापि नैरन्तर्यं तथैव ग्राह्यमेव तावत्कालपरिवर्तन । उक्तं च—

‘उवसर्पिणिश्रवसर्पिणिसमयावलिषामु णिरवसेसामु ।

जातो मदो यं बहुतो भ्रमणेण दुःखालससारे ॥’ [वा०, अप० २७] ॥१७७१॥

स्पन्दनसमार निरूपयत्युत्तरगाथा—

अट्टपदेसे मुत्तूण इमो सेसेसु सगपदेसेसु ।

तत्तमिव अद्वरण उव्वत्तपरत्तण कुणदि ॥१७७२॥

‘अट्टपदेसे मुत्तूण’ अष्टौ प्रदेशाश्चक्राकारान् भुज्वा । ‘इमो’ अयं जीव । ‘सेसेसु सगपदेसेसु’ ‘गपेपु’ स्वप्रदेशेषु ‘तत्तमिव अद्वरण’ तप्तजलमध्यस्थतन्तुवत् । ‘उव्वत्त परत्तण कुणदि’ उद्बन्धेन परावर्तनं करोति । एतया गाथया स्वप्रदेशेषु ससारनामात्मन क्षेत्रममारुत्तेनोच्यते ॥१७७३॥

भावसारादौत्तरप्रतिपादनार्थं गाथा—

लोगागासपेसा अससगुणिदा हवति जावदिया ।

तावदियाणि हु अज्झवमाणाणि इमस्स जीवस्स ॥१७७४॥

‘लोगागासपेसा’ कावावासाय प्रदेशा । ‘अससगुणिदा’ असस्यगुणिता । ‘हवति जावदिया’ यावन्ता भवन्ति । ‘तावदियाणि हु अज्झवमाणाणि’ तावदध्यवसायस्यानानि भवन्ति । ‘इमस्स जीवस्स’ अस्य जीवस्य । जीवस्य असक्यातलोकप्रमाणेध्यवसायसंज्ञितेषु भावेषु परावृत्तिर्भावससार ॥१७७४॥

दूमरे ममयमे उत्पन्न हुआ और अपनी आयुके समाप्त होने पर मरा । वह जीव पुन तीसरी उत्सर्पिणीवे नीसरे ममयमे उत्पन्न हुआ । इस क्रमसे उसने उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी क्रममे अवसर्पिणी समाप्त की । अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोमे क्रममे जन्मा । तथा इसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयोमे मरा भी । इस सबको काल परिवर्तन कहते हैं । कहा भी है—

कालममार्गमे भ्रमण कग्नेसे यह जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके सब समयोमे अनेक बार जन्मा और अनेक बार मरा ॥१७७१॥

आगे क्षेत्रसमारूप स्पन्दन ससारको कहने है—

गा०—लोकके मध्यमे स्थित गौके स्तनके आकार आठ प्रदेशोको छोड़कर यह जीव अपने शेष प्रदेशोमे तप्त जलके मध्यमे स्थित चावलोकी तरह उद्धर्तन परावर्तन किया करता है । अर्थात् जैसे आग पर रखे गर्म जलमे पड़े हुए चावल ऊपर नीचे हुंवा करते हैं उसी प्रकार आठ मध्य प्रदेशोको छोड़कर जीवके शेष प्रदेश चल रहने हैं ॥१७७३॥

भाव समारका कथन करते हैं—

गा०—जीवकाशके प्रदेशोको असम्यातसे गुणा करनेपर जितनी राशि होती है उतने ही इस जीवके अध्यवसाय स्थान होने हैं । इन असम्यात लोक प्रमाण अध्यवसाय नामक भावोमे जीवके परावर्तनको भाव समार कहते हैं ॥१७७४॥

अञ्जवसाणठाणंतराणि जीवो विकुब्बइ इमो हु ।

णिच्चं पि जहा सरडो गिण्हदि णाणाविहे वण्णे ॥१७७५॥

‘अञ्जवसाणठाणंतराणि जीवो विकुब्बइ इमो खु’ अञ्जवसायस्थानान्तराणि जीव परिणमस्यय ।
‘निच्चपि’ नित्यमपि, ‘यथा सरडो णाणाविहे वण्णे’ यथा गात्रा नानाविधान्वर्णानुपादते । एव ससार ॥१७७५॥

तस्य भयमुपदर्शयति—

आगामस्मि वि पक्खी जले वि मच्छा थले वि थलचारी ।

हिंसति एकमेवक सच्चत्थ भय सु ससारे ॥१७७६॥

‘आयासस्मि वि पक्खी’ आकाशे मचरन्त परकीयप्राणोऽपि बाधन्ते । ‘जले वि मच्छा’ जलेऽपि मत्स्या । ‘थले वि थलचारी’ भूमावपि भूमिचारिण । ‘हिंसति’ बाधन्ते । ‘एकमेवक अ-यान्य’ । ‘सत्वरथ भय सु ससारे’ सर्वत्र भय ससारे ॥१७७६॥

गा०—जैसे गिरगिट नित्य ही नाना प्रकारके रंग बदलता है वैसे ही यह जीव अञ्जवसाय स्थानोको धारण करता हुआ परिणमन करता है ॥१७७५॥

विशेषार्थ—भावपरिवर्तनका विस्तृत स्वरूप इस प्रकार है—पञ्चेन्द्रिय मशी पर्याप्तक मिथ्या-दृष्टि कोई जीव सबसे जघन्य अपने योग्य ज्ञानावरण कर्मका भन्त बोटिकोटी सागरप्रमाण स्थितिवन्ध करता है । उस जीवके उस स्थितिवन्धके योग्य असत्यात लोकप्रमाण कपायाध्यवसायस्थान होते हैं । उनमेंसे सबसे जघन्य कपायाध्यवसायस्थानमें निमित्त अमस्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थान होते हैं । इस प्रकार सबसे जघन्य स्थिति, सबसे जघन्य कपायाध्यवसाय स्थान, सबसे जघन्य ही अनुभागवन्ध स्थानको प्राप्त उस जीवके उसके योग्य सबसे जघन्य एक योगस्थान होता है । फिर उसी स्थिति, उसी कपाय स्थान और उसी अनुभागस्थानको प्राप्त उस जीवके दूसरा योगस्थान होता है जो पहलेसे अमस्यात भागवृद्धियुक्त होता है । इस प्रकार श्रेणिके अमस्यातवें भागप्रमाण योगस्थानोंके समाप्त होनेपर पुन वही स्थिति और उनी कपायाध्यवसायस्थानको प्राप्त उनी जीवके दूसरा अनुभागाध्यवसायस्थान होता है । उसके भी योगस्थान पूर्ववत् जानना चाहिये । इस प्रकार तीसरे आदि अमस्यात लोकप्रमाण अनुभागाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होनेपर उसी स्थितिको प्राप्त उसी जीवके दूसरा कपायाध्यवसायस्थान होता है । उसके भी अनुभागाध्यवसायस्थान पूर्ववत् जानना । इस प्रकार तीसरे आदि कपायाध्यवसायस्थानोंके समाप्त होनेपर वही जीव एक समय अधिक जघन्यस्थितिको वाधता है । उसके भी कपायादि स्थान पूर्ववत् जानना । इसी प्रकार एक-एक समय अधिकके क्रमसे ज्ञानावरण कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोटी सागर पूर्ववत् बाधता है । इसी प्रकार सत्र मूलवर्मा और उनकी उत्तर प्रतनियोंकी सत्र स्थितियोंको उक्त प्रकारसे बाधता है । इस सत्रको भावपरिवर्तन कहते हैं ॥१७७५॥

समारम्भे भय दर्शति है—

गा०—आवाशमें विचरण करते हुए पशियोंको हमारे पक्षी बाधा देने हैं । जलमें मन्त्र बाधा करते हैं । थलमें थलचारी बाधा करते हैं । इस प्रकार सर्वत्र एन हमारेकी हिमा करते हैं । अतः समारम्भे सर्वत्र भय है ॥१७७६॥

समगो बाहपरद्धो विलत्ति णारुण अजरस्स मुह ।

सरणत्ति मण्णमाणो मच्चुस्स मुहं जह अदीदि ॥१७७७॥

‘समगो बाहपरद्धो’ शरीरो व्याधेनोपहृत, ‘विलत्तिणारुण अजरस्स मुह’ विलमिति ज्ञात्वा अजरस्स मुख । ‘सरणत्ति मण्णमाणो’ शरणमिति मन्थमान । ‘मच्चुस्स मुहं जह अदीदि’ मृत्योर्मुखं यथा प्रविशति ॥१७७७॥

तह अण्णाणी जीवा परिद्धमाणच्छुहादिवाहेहिं ।

अदिगच्छति महादुहहेदु संसारसप्पमुह ॥१७७८॥

‘तह अण्णाणी जीवा’ तथा अज्ञानिनो जीवा । ‘परिद्धमाणच्छुहादिवाहेहिं’ अनुवाच्यमाना क्षुदाविभि श्यायै । ‘अदिगच्छति’ प्रविशन्ति । ‘महादुहहेदु’ महतो दुःखस्य निमित्त । ‘संसारसप्पमुह’ संसार-सर्पमुल ॥१७७८॥

जावदियाड सुहाड होंति लोगम्मि सव्वजोणीसु ।

ताइपि बहुविधाड अणंतखुत्तो इमो पत्तो ॥१७७९॥

‘जावदियाड’ यावन्ति । ‘सुहाणि होंति लोगम्मि’ सुखानि भवन्ति लोके । ‘सव्वजोणीसु’ सर्वास्तु योनिषु । ‘ताइपि बहुविधाड’ तान्यपि बहुविधानि । ‘अणंतखुत्तो इमो पत्तो’ अनन्तवारमय जीव-प्राप्त ॥१७७९॥

दुक्ख अणतखुत्तो पावेत्तु सुहापि पावदि कहिं वि ।

तह वि य अणंतखुत्तो सव्वाणि सुहाणि पत्ताणि ॥१७८०॥

‘दुक्ख अणतखुत्तो पावेत्तु सुहापि पावदि कहिं वि’ दुःखमपि अनन्तवार प्राप्य सुखमपि प्राप्नोति कथ-चित् । ‘तह वि य अणंतखुत्तो’ तथाप्यनन्तवार ‘सव्वाणि सुहाणि पत्ताणि’ सर्वाणि सुखानि प्राप्तानि गणभूता चक्रवर्तिना पञ्चानुत्तरविमानवाहिना लौकान्तिकानामहमिन्द्राणां च सुखानि मुक्त्वा ॥१७८०॥

गा०—जैसे वरगोश व्याधसे मत्ताया जानेपर विल समझकर अजरकरके मुखमें प्रवेश करता है । वह उसे अपना शरण मानकर मृत्युके मुखमें प्रवेश करता है ॥१७७७॥

गा०—उसी प्रकार अज्ञानी जीव भूख प्यास आदि व्याधोके द्वारा पीडित होनेपर महान् दुःखमें निमित्त ममारूपी सर्पके मुखमें प्रवेश करते हैं ॥१७७८॥

गा०—लोकमें सब योनियोंमें जितने प्रकारके सुख होते हैं उन सब अनेक प्रकारके सुखोंको भी इस जीवने अनन्तवार भोगा है ॥१७७९॥

गा०—अनन्तवार दुःखोंको प्राप्त करके कदाचित् सुखको भी प्राप्त करता है । तथापि अनन्तवार इस जीवने सब सुखोंको प्राप्त किया है ॥१७८०॥

टी०—किन्तु गणधर, चक्रवर्ती, पांच अनुत्तर विमानवासी, लौकान्तिक और अनुदिग विमानवासी देवोंका सुख इस जीवने प्राप्त नहीं किया, क्योंकि ये चक्रवर्तीको छोड़कर शेष सब नियममें सम्यग्दृष्टि होनेसे मोक्षगामी होते हैं । और चक्रवर्ती पद वाग्-वाग् प्राप्त नहीं होता है ॥१७८०॥

करणेहिं होदि विगलो बहुसो चित्तवचिसोदणिचेहिं ।

घाणेण य जिन्माए चिट्ठावलविरियजोगेहिं ॥१७८१॥

‘करणेहिं होदि विगलो’ विकलेन्द्रिय वचचिद्ववति । ‘बहुसो’ बहुश । ‘चित्तवचिसोदणिचेहिं’ मनमा वचना श्रोत्रेण नेत्रेण करणेन हीन । स्पशनेन्द्रियवैकल्यासम्भवात् तदनुपन्यास । ‘घाणेण य’ घ्राणेन च । ‘जिन्माए’ जित्वा । ‘चिट्ठावलविरियजोगेहिं’ चेष्टया बलेन वीर्येण च ॥१७८१॥

जच्चधवहिरमूओ छादो तिसिओ वणे व एयाई ।

भमइ सुचिरपि जीवो जम्मवणे णट्टसिद्धिपहो ॥१७८२॥

‘जच्चधवहिरमूओ’ जाग्यन्तो, वधिरौ, मूक । ‘छादो’ क्षुधा पीडित, ‘तिसिओ’ तृपाभिभूत । ‘वणे व एयाओ भमइ’ अमहायो यथा वने भ्रमति । तथा ‘सुचिरपि’ चिरकालमपि । जीवो ‘जम्मवणे’ जन्मवने भ्रमति । ‘णट्टसिद्धिपहो’ नट्टनिर्दिष्टमार्ग । उक्त च—

बलुपचरितेनंष्टतानस्सुसचित्तकर्मभि, करणविकल ‘कर्मोद्भूतो भवार्णवपातत ।

सुचिरमवशो दु सारतो ‘मिमोलितलोफनो, भ्रमति कृपणो नट्टराण शुभेतरकर्मदृत् ।

श्रवणविकलो बाग्घोनोओ यथावतलोचन, तृपितमलिनो नट्टोऽष्टव्या चरेदसहस्रमक ।

असद्वदसकृत् गृह्णन् मुञ्चदधराचरदेहता, भ्रमति सुचिर जमाटव्या तथायमदेशक ॥इति॥१७८२॥

एडदियेसु पचविधेसु वि उत्थाणवीरियविहूणे ।

भमदि अणत्त काल दुक्खसहस्साणि पावेत्तो ॥१७८३॥

‘एडदियेसु पचविधेसु वि’ एकेन्द्रियेषु पञ्च प्रकारेष्वपि । पृथ्व्यपतेजोवामुवनस्पतिशरीरधारिषु ।

गा०—यह जीव बहुत बार मन, वचन, श्रोत्र, नेत्र, घ्राण और जिह्वा इन्द्रिय तथा चेष्टा बल और वीर्यमे हीन विकलेन्द्रिय होता है ।

टी०—किन्तो प्राणोका स्पर्शन इन्द्रियसे हीन होना तो असम्भव है अतः उसका कथन नहीं किया है ॥१७८१॥

गा०—टी०—कभी यह जीव जन्ममे ही अन्धा, बहिरा, गूंगा होता है और भूख तथा प्यास से पीडित होकर जैसे कोई मार्ग भूलकर वनमे अकेला भटकता है उसी प्रकार मोक्षमार्गमे भ्रष्ट होकर जन्मरूपी वनमे अकेला भ्रमण करता है । कहा भी है—अपने बुरे आचरणोमे सचित्त त्रिये कर्मोवि द्वारा अपना जान खोकर यह जीव विकलेन्द्रिय होता है तथा कर्मोसे प्रेरित हो मसाररूपी समुद्रमे गिरकर निरकाल तक पराधीन हो, आस बन्द करके भ्रमण करता है । उसका कोई रत्नक नहीं होता । जैसे कोई बहिरा, गूंगा अन्धा भूख प्राणो प्यासमे व्याकुल हो, मार्ग भूलकर अकेला वनमे भटकता है । उसी प्रकार यह ममारी प्राणो मार्गदर्शकके बिना बार-बार भ्रमस्थायी पर्यायोतो ग्रहण करता और छोड़ता हुआ चिरकाल तक जन्मरूपी वनमे भ्रमण करता है ॥१७८२॥

गा०—पृथिवी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिवा शरीर धारण करनेवाले पाँच प्रकारके

‘उत्पाणवीरियविहीणो’ पृथिव्यादिकायां परित्यज्य त्रसवायप्राप्तिनिमित्तोत्पानवीर्यरहित । ‘भमदि अणत काल’ भमति अनन्तकाल । ‘दुस्ससहस्साणि पावतो’ दुस्सनहस्साणि प्राप्नुवन् ॥१७८३॥

बहुदुक्खावत्ताए ससारणदीए पावकलुमाए ।

भमड वरागो जीवो अण्णाणनिमीलितो सुचिरं ॥१७=४॥

‘बहुदुक्खावत्ताए’ बहुदुःखावर्तमान । ‘ससारणदीए’ समृतिनद्या । ‘पावकलुमाए’ पारकलवसहिताया । वरागो जीवो भमदि’ दोनो जीवो भ्रमति । ‘सुचिर अण्णाणनिमीलितो’ बलानेन निमीलित ॥१७८४॥

विमयामिसारगाड कुजोणिणेमि सुहदुक्खदडखीलं ।

अण्णाणतुब्धपरिदं कमायदहपट्टियावंध ॥१७=५॥

‘विमयामिसारगाड’ विषयानिलापाईगाँठ स्तम्भ । ‘कुजोणिणेमि सुहदुक्खदडखील’ कुन्सितयोनि-
नेमिक सुहदुक्खदडखील । ‘अण्णाणतुब्धपरिद’ अज्ञानतुब्धधारित । ‘कमायदहपट्टियावंध’ कपायदह-
पट्टिकाबन्ध ॥१७८५॥

बहुज्मसहस्मविसालवत्तणि मोहवेगमहिचवल ।

ससारचक्रमारुहिय भमदि जीवो अणप्पवसो ॥१७८६॥

‘बहुज्मसहस्मविसालवत्तणि’ अनेकजन्ममहस्रविगालमार्ग । ‘मोहवेग’ मोहवेग । ‘ससारचक्रमारुहिय’ एवभूत ससारचक्रमारुह । ‘अणप्पवसो जीवो भमदि’ अनात्मवसो जीवो भ्रमति ॥१७८६॥

भार णरो वहंतो कर्हिचि विस्ममदि ओरुहिय भारं ।

देहभरवाहिणो पुण ण लहति खणं पि विस्समिदु ॥१७८७॥

‘भार णरो वहंतो’ भार वहन्तर । ‘कर्हिचि भारमोरुहिय’ कस्मिदिबहेरो काले च भारमवधारं । ‘विस्समदि’ विष्माम्यति । ‘देहभरवाहिणो पुण’ देहभारोद्वाहिणो जीवो पुन । ‘न लभति खण पि विस्समिदु’ न लभन्ते क्षणमपि विश्राम वतुं । औदारिकवैकिकियोविनष्टयोराप कार्माणवैजस्योरवस्थानान् ॥१७८७॥

एकेन्द्रियोमे यह जीव हजारो वष्ट भोगता हुआ अनन्तकाल तक भ्रमण करता है । उसमे इतनी भी शक्ति नहीं होती कि पृथिवी आदि कामोका त्याग करके त्रसकायवी प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर सके ॥१७८३॥

गा०—अज्ञानमे पडा हुआ यह बेचाग जीव पापरूपी मैले पानीसे भरो और बहुत दुःख-
रूपी भँवरसे युक्त समाररूपी नदीमे चिरकाल भ्रमण करता है ॥१७८४॥

गा०—यह समाररूपी चक्र (पहिया) विषयोकी अभिलाषारूपी आरोंमे जकडा हुआ है, युयोनिरूपी नेमि—हाल उमपर चढ़ी हुई है । उममे सुख दुःखरूपी भजवृत्त कोले लगी है । अज्ञानरूपी तुम्बपर वह स्थित है, कपायरूपी दृढ पहियोंसे कसा हुआ है । अनेक हजार जन्मरूपी उमका विसाल मार्ग है । उमपर वह समार चक्र चलता है । मोहरूपी वेगसे अतिशीघ्र चलता है । ऐसे समाररूपी चक्रपर सवार होकर यह पराधीन जीव भ्रमण करता है ॥१७८५-८६॥

गा०-टी०—मारवाही मनुष्य तो किसी देश और कालमे अपना भार उतागकर विश्राम कर लेता है । किन्तु शरीरके भारको दोनेवाले जीव एक क्षणके लिये भी विश्राम नहीं पाते । औदारिक

कम्माणुभावदुहिदो एव मोहघयारगहणम्मि ।

अधो व दुग्गमग्गे भमदि हु ससारकतारे ॥१७८८॥

‘कम्माणुभावदुहिदो’ अस्तद्वेद्यादिपापकर्ममाहात्म्यजनितदुःख । ‘एव’मुक्तेन क्रमेण । ‘ससारकतारे भमदि’ ससारकान्तारे भ्रमति । कीदृशे ? ‘मोहघयारगहणम्मि’ मोहान्धकारगहने । ‘अधो व दुग्गमग्गे’ अध इव दुर्गमार्गे ॥१७८८॥

दुक्खस्स पडिगरेतो सुहमिच्छतो य तह इमो जीवो ।

पाणवधादीदोसे करेइ मोहेण सछण्णो ॥१७८९॥

‘दुक्खस्स पडिगरेतो’ दुःखस्य प्रतीकारं कुर्वन् । ‘सुहमिच्छतो य’ इन्द्रियमुखमभिलषन् । ‘इमो जीवो’ अयं जीवः । ‘पाणवधादीदोसे’ हिंसादिवोषात् । ‘करेइ मोहेण सछण्णो’ करोति मोहेन सछन्नः । एतदुक्तं—‘भवति—दुःखभीरुनिरवरोपदुःखापायस्योपायं न वेति । दुःखनिराकरणाप्यपि दुःखहेतून्नेव हिंसादीन् प्रवर्तयति । इन्द्रियमुखलम्पटोऽपि तेष्वेव हिंसादिषु दुःखहेतुषु प्रवर्तते । ततोऽप्यसकलो व्यापारो दुःखस्यैव मूलमिति ॥१७८९॥

दोसेहिं तेहिं बहुग कम्मं यधदि तदो णव जीवो ।

अध तेण पच्चइ पुणो पविसिस्तु व अग्गिमग्गीदो ॥१७९०॥

‘दोसेहिं तेहिं’ प्राणिवधादिकैर्दोषैः । ‘बहुग कम्मं यधदि’ महत्कर्मं वध्नाति । ‘नव’ प्रत्ययः । ‘तदो’ पञ्चात् । ‘अध’ कर्मवन्धानन्तरं । ‘तेण पच्चइ’ तेन वन्धनेन कर्मणा पच्यते । ‘पविसिस्तु व’ प्रविश्येव । किं ? ‘अग्गि’ अग्निः । ‘अग्गीदो’ अग्नेः । अग्नेरागत्य अग्निं प्रविश्य यथा बाध्यते एव पूर्वं कर्मभिर्बाधितं पुनः प्रत्यग्रकर्मनिलेन दह्यते इति ॥१७९०॥

और वैक्रियिक शरीरोंके छूट जानेपर भी कामर्ण और तैजस शरीर बराबर बने रहते हैं ॥१७८७॥

गा०—इस प्रकार असातावेदनीय आदि पापकर्मोंके प्रभावसे दुःखी जीव मोहरूपी अन्धकारमें गहन ससाररूपी वनमें उसी प्रकार भ्रमण करता है जैसे अन्धा व्यक्ति दुर्गम मार्गमें भटकता है ॥१७८८॥

गा०-टी०—मोहसे आच्छादित यह जीव दुःखमें बचनेका उपाय करना है और इन्द्रिय सुगम की अभिलाषा रखता है और उसके लिये हिंसा आदि दोषोंको करता है । आगय यह है कि दुःखमें डरता है किन्तु समस्त दुःखोंके विनाशका उपाय नहीं जानता । यद्यपि दुःखोंको दूर करना चाहता है किन्तु हिंसा आदि पापोंमें प्रवृत्त होता है जो दुःखके हेतु हैं । इन्द्रिय मुखका लम्पटी होते हुए उन्हीं हिंसा आदि पापोंमें लगा रहता है जो दुःखके कारण हैं । इसलिये उसका मग्न काम दुःखका ही मूल होता है ॥१७८९॥

गा०—उन हिंसा आदि दोषोंको करनेमें जीव वृत्त गा नया कर्म बाँधता है । कर्मवन्धने पदचान् उस कर्मका फल भोगता है । इस प्रकार जैसे कोई एक मार्गमें निकलकर दूसरे मार्गमें प्रवेश करके भट्ट उठाता है, वैसे ही पूर्ववद्ध कर्मोंको भोगकर पुनः नवीन कर्मरूपी मार्गमें जलता है ॥१७९०॥

१ भीक्षुर्दो विषेपदुःखापायस्यापाय—आ० मु० । नि शेषदुःखापायोपाय—मूलारा० ।

२ कर्मनिबन्धने—आ० ।

वधतो मुञ्चतो एवं कम्म पुणो पुणो जीवो ।

सुहकामो बहुदुक्खं संसारमणादिय भमड ॥१७९१॥

‘वधतो मुञ्चतो’ वन्धन् मुञ्चन् । ‘एव कम्म पुणो पुणो जीवो’ कर्म पुन पुनर्जीव दत्तफलानि मुञ्चति, कर्मफलानुभवकालोपजातगणद्वेषादिपरिणामैरभिनवानि कर्माणि बध्नाति । ‘सुहकामो’ सुखाभिलाषवान् । ‘बहुदुक्ख’ विचित्रदुःख । ‘संसारमणादिय भमडि’ अनादिक संसार भ्रमति । संसारचिन्ता ॥१७९१॥

लोकानुप्रेक्षा निरूप्यते । नामस्थापनाद्रव्यादिविकल्पेन यद्यप्यनेकप्रकारो लोकावगतापीह लोकानन्देन जीवद्वयलोक एवोच्यते । कथं ? सूत्रेण जीवधर्मप्रवृत्तिक्रमनिरूपणात्—

आहिङ्गयपुरिसस्स व इमस्स णीया तहिं तहिं होसि ।

सब्बे वि इमो पत्तो सबंधे सम्बजीवेहिं ॥१७९२॥

‘आहिङ्गयपुरिसस्स व’ देशान्तर भ्रमत् पुंस इव । ‘इमस्स णीया तहिं तहिं होसि’ अस्व वधवस्तत्र तत्र भवन्ति । ‘सब्बे वि इमो पत्तो’ सर्वानय प्राप्त । ‘सबंधे’ सबंधान् । ‘सम्बजीवेहिं’ सर्वजीवं सह ॥१७९२॥

माया वि होइ भज्जा भज्जा मायत्तण पुणमुवेदि ।

इय समारे सब्बे परियट्ठते हु सवधा ॥१७९३॥

माया य होदि भज्जा’ माता भार्या भवति । भार्या मातृता पुनरपति । एव सप्तारे सर्वे सम्बन्धा परिवर्तन्ते इति मायार्थ ॥१७९३॥

जणणी वसंततिलया भगिणी कमला य आमि भज्जाओ ।

घनदेवस्म य एककम्मि भवे ससारवासम्मि ॥१७९४॥

‘जणणी वसंततिलया’ घनदेवस्य जननी वसंततिलका । कमला भगिनी । ते उभे भार्ये जाते

पा०—इस प्रकार जीव जो कर्म फल दे लेते हैं उन्हें छोड़ देता है और कर्मोंका फल भोगते समय होनेवाले राग-द्वेष रूप परिणामोंसे नवीन कर्मोंका धन्ध करता है । सुखकी अभिलाषा रखकर बहुत दुःखोंसे भरे अनादि संसारमें भ्रमण करता है ॥१७९१॥ समाप्त अनुप्रेक्षाका वधन समाप्त हुआ ।

अब लोकानुप्रेक्षा । कथन करते हैं । यद्यपि नाम, स्थापना, द्रव्य आदिके भेदसे लोकोंके अनेक भेद हैं । तथापि यहाँ लोक शब्दसे जीव द्रव्यलोक ही कहा है क्योंकि गाधामे जीवोंके प्रवृत्ति क्रमका कथन किया है—

पा०—जैसे देशान्तरमें भ्रमण करनेवाले पुरुषको सर्वत्र इष्ट-मित्र मिलते हैं उसी प्रकार इस जीवोंके भी जहाँ-जहाँ यह जन्म लेता है वही-वही धन्धु-वन्धव होते हैं । इस तरह इसने सब जीवोंके साथ सब सम्बन्ध प्राप्त किये हैं ॥१७९२॥

पा०—जो इस जन्म माता है वही दूसरे जन्ममें पत्नी होती है और पत्नी होकर पुन माता बन जाती है । इस प्रकार संसारमें सब सम्बन्ध परिवर्तनशील हैं ॥१७९३॥

पा०—टा०—दूसरे भवोंमें सम्बन्ध बदलनेकी तो बात ही क्या है । किन्तु जनदेवकी माता वसन्ततिलका और वहन कमला, ये दोनों उभो भवमें जनदेवकी पत्नी हुईं । कहा भी है—

घनदेवस्य तस्मिन्नेव भवे । भवान्तरेषु सबन्धान्ययाभावे किमस्ति वाच्य ? उक्तं च—

यद्येकदेहवहने समतेऽपवादं दुःखं ततो व्ययनमुपबलं च पापम् ।
नानाशरीरवहनेषु क्व न दुःखं प्राप्नोति 'को न विपर्याजितपापकर्म' ॥
कुर्यान्ति तन्मदगजोद्धतदत्तवेगं खड्गो विकृष्टबलपाणिर्विसृष्टधारः ।
कुर्वन्ति तु क्षमधिकं विषया नराणां, तस्मात्त्यजन्ति विषयान् परिदृष्टत्वा ॥

एवमयं कष्टो लोकधर्मः ॥१७९४॥

राया वि होइ दासो दामो गयचण पुणमुवेदि ।
इयं मसारे परिवट्ठते ठाणाणि सव्वाणि ॥१७९५॥

'राया वि होइ दासो' राजा दासो भवति, नीचगोत्राजनान्, दासो राजतां पुनरपैति उच्चगोत्र-
कर्मण उदयान् । एव ससारे परिवर्तन्ते सर्वानि स्थानानि ॥१७९५॥

कुलरुवतेयभोगाधिगो वि राया विदेहेदमवदी ।
वचचघरम्मि सुभोगो आओ कीडो सकम्मेहि ॥१७९६॥

'कुलरुवतेयभोगाधिगो वि' कुलेन रूपेण तेजसा मायेनाधिकोऽपि । विदेहजनपदाधिपतो राजा सुभोग-
सज्ज सुवर्षागृहे कीटो जातः स्वं कर्मभिः प्रेरितः । उक्तं च—

दृष्ट्वा क्वचित्सुरमनुष्यगणप्रधाना सर्वद्विद्वीसवपुषः शशिकातक्ष्णा ।
अष्टास्त एव पुनरन्यमते प्रमुखा दीना भवन्ति कुलरूपधनप्रतापैः ॥१७९६॥

यदि एक शरीर धारण करनेपर जीव अनेक अपवादों और दुःखोंको पाता है और उसमें
मनोवेदना और उग्र पापको वाधता है तब विषय सेवनके द्वारा पापकर्मका उपार्जन करनेवाला
कौन पुरुष नाना शरीर धारण करनेपर कैसे दुःख नहीं पाता है अर्थात् अवश्य दुःख पाता है ।

मदमें मत्त हाथीके द्वारा वेगपूर्वक किया गया प्रहार तथा बलशाली हाथमें छोड़ी गयी
तीक्ष्ण तलवार दुःख नहीं देते । उसमें भी अधिक दुःख विषय देते हैं । इसलिये तत्त्वज्ञानी जन
विषयोंको त्याग देते हैं । इस प्रकार यह लोकधर्म दुःखदायक है ॥१७९४॥

गा०—नीच गोत्रका बन्ध करनेसे राजा मरकर दास होता है और उच्च गोत्रका बन्ध
करनेसे दाम राजा हो जाता है । इस प्रकार ससारमें सब स्थान परिवर्तनशील है ॥१७९५॥

गा०—विदेह देशका राजा सुभोग कुल, रूप, तेज और भोगमें अधिक होते हुए भी अपने
कर्मोंमें प्रेरित होकर विष्ठाधरमें कीट हुआ, कहा भी है—जो देव और मनुष्योंमें प्रधान थे,
जिनका शरीर मन्त्रद्विषोमं दीप्तिमान् था, जिनका रूप चन्द्रमाको तर्ह मन्दोद्गर था, वे भी
अन्य गतिमें कुल, रूप, धन और प्रतापमें अष्ट होकर दीन होने हैं ॥१७९६॥

होउण महद्दीओ देवो सुभवणगंधरूवघरो ।

कुणिमम्मि वसदि गम्मे धिगत्यु ससारवासस्स ॥१७९७॥

‘होऊण महद्दीओ देवो’ महद्दिको देवो भूत्वा । ‘सुभवणगंधरूवघरो’ प्रसास्ततेजोगन्धरूपान्वित ।

इन्द्रचापतडिदम्बधराणा यड्ढागु गगने सहसेव ।

जन्म सभवति तद्वदभीषा जन्म वेद्यमनुचिप्रविमुक्तम् ॥

वातपित्तकफजं परिमुक्तं व्याधिभिर्विगतखेदमनिद्रम् ।

अच्युतं परमयौवनयुक्तं सर्वतोऽधिकलभुक्तमकान्ति ॥

सर्वतद्वज्र विमलाम्बरवर्णस्पर्शगन्धवरबाहुमितहास ।

सद्विलासगतिचेष्टितलोत्ते शरीरसरमयं समन्ते ॥

गीतवाद्यततितूर्यनिनादैस्तास्तदाद्यं समुपेत्य सहर्षाः ।

देवदेवैर्बलिना प्रणिपत्य कुचंतेऽत्र समुपासनमेवा ॥

कुलपङ्कजसमैरपि हस्तेर्दक्षिणे प्रवरतक्षणकोर्णे ।

चारुवद्रथवना नतिमेयां स्निग्धवृष्टिहसितां प्रतिगृह्य ॥

मृगपासनमस्तकोपविष्टान् मृगपानप्रवतानिवाचलानां ।

अथ तानभिषेकमापद्यति मुदितास्तत्र ३मुरा सुवणकुम्भे ॥

प्रविकाशय वरत्रयकुञ्जानि मुरनात्पाकगुणद्गुणि मुराणां ।

४कुम्भं सुधिरं त्वमाधिपत्यमिति तांवाग्भिरभिष्टुबन्ति चैव ॥

गा०—टी०—शुभरूप, शुभगन्ध, और प्रशस्त तेजधारी महती ऋद्धिका धारक देव श्री होकर गन्दे गर्भस्थानमें वास करता है ।

देवोमे उत्पत्तिका वर्णन करते हुए कहा है—

जैसे आकाशमे सहसा ही दीघ्रतासे इन्द्रधनुष, विजली और मेघ प्रकट होते हैं उसी प्रकार देवोका जन्म होता है । उनका शरीर अपवित्र वस्तुओंसे रहित होता है, वात, पित्त और कफमे उत्पन्न होनेवाले रोगोंसे रहित होता है । खेद और नीदसे रहित होता है । उत्कृष्ट यौवनसे युक्त होता है, सब रूपसे परिपूर्ण होता है, उत्तम कान्तिसे युक्त होता है । उत्तम रूप, रस गन्धसे युक्त है । वक्त्र-विलास, हाम-विलास, गति चेष्टासे लीला सहित होता है । वे देव ऐसा, शरीर तत्काल प्राप्त कर लेते हैं । उसके पश्चात् गीत वाद्योंको पकि तथा भेरोक शब्दोंके साथ देव-देवागना बड़े हर्षके साथ उनके पास जा, नमस्कार करके उनकी सेवा करते हैं । हास सहित स्निग्ध दृष्टिसे युक्त सुन्दर चन्द्रमुखी देवागनाएँ खिले हुए कमलके समान तथा उत्तम लक्षणोंसे युक्त दक्षिण हाथोंसे उनका नमस्कार स्वीकार करती हैं ।

पर्वतोके अग्रभाग पर बैठे हुए सिंहके समान सिंहासनके मस्तक पर बैठे हुए उन देवोका वे देव प्रसन्नतापूर्वक सुवर्ण कलशोंसे अभिषेक करते हैं । हे देवेन्द्ररूपी सूर्य ! अपने गुणरूपी किरणोंसे देवोंके मुखरूपी कमलोंको विकसित करो और चिरकाल तक हमारे स्वामी रहो, इस

आदाय नैदायरीव शिरःसु न्यस्तेरिवर्तेमुकुटानि भूत्वा ।
 विभूषिताश्चाभरणैरनर्घहारार्धहारामदकुण्डलाद्यैः ॥
 ज्योतिर्विभूषात् यगनप्रदेशान् विद्युद्दिनद्वान् शक्तिराम्बुदाश्च ।
 रत्नारघितान् हेममहागिरींश्च विशेषयतोऽभ्यधिकं विभ्रान्ति ॥
 दिव्यवीर्यबलविक्रमायुधो दिव्यदोस्तवपुषो दिशो दश ।
 भासयति विमलाब्जैराकर्षदिव्यसौम्यवपुषः शशाङ्कुवत् ॥
 दूरमप्यतिपतन्ति सपथवान् गौरवाद् गिरिसमा भवन्ति च ।
 आणवावतिविशन्ति मेदिनीं पायिबाल्च महतोऽपि हन्यते ॥
 काष्ठभनिमनिल जल ग्रहो सप्रविश्य च तन् शरीरेणा ।
 निविशेयगुणका सहस्रितु ते भवति सुचिर सुशङ्क्य ॥
 पावकाचलमूर्ध्ना बनावनीसागराश्च सहसा निपत्य ते ।
 स्थानभीप्सिततम अनादिना याति चाप्रतिहृताः समीरवत् ॥
 उत्सिधेयुरवर्त्ता महाबलात् पातयेयुरपि भद्रास्करं ।
 मन्दराप्रशिखर धरास्थितास्ते स्पृशेयुरपि यद्यभीप्सित ॥
 ईशितु मुरगुणामपरक्त वस्तुमारमवागामुधानपि ।
 रूपमात्ममनसा समीप्सित षष्ठ्यमप्यलममी सहस्रया ॥

प्रकार वे देव अपने वचनोसे उनकी स्तुति करते हैं ॥ उनके मस्तक पर मुकुट शोभित होते हैं जो मानो ग्रीष्म कालके सूर्यको ही पकड़ कर सिरो पर रख लिया है ऐसे प्रतीत होते हैं । उन मुकुटोंसे तथा हार, अर्द्धहार, बाजूबन्द, कुण्डल आदि बहुमूल्य आभरणोंसे भूषित होकर वे देव सूर्यचन्द्रमे सुशोभित आकाशसे, विजलीसे सम्बद्ध सुन्दर मेघोंसे और रत्नोंसे शक्ति स्वर्णमयी पर्वतोंमें भी अधिक सुशोभित होते हैं । दिव्य वीर्य, बल, विक्रम और आयुवाले तथा दिव्य चमकदार शरीरवाले वे देव निर्मल आकाशमें स्थित सूर्य और दिव्य सौम्य शरीरवाले चन्द्रमाकी तरह दसो दिशाओंकी प्रकाशित करते हैं । वे लाघवसे सुदूर तक ऊपर उठे हुए हैं और गौरवसे पर्वतके समान होते हैं । सूक्ष्म होनेसे पृथिवीमें प्रवेश करते हैं और महान् होनेसे बड़ो-बड़ोको रोकते हैं । अर्धान् अणिमा, महिमा, लघिमा और गरिमा मिट्टिके धारी होने हैं । वे काष्ठ, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वीमें तथा प्राणियोंके शरीरमें प्रवेश करके उन्हींके समान हो जाते हैं । ऐसी उनमें शक्ति होती है ॥ वे आग, पर्वत, पृथ्वी और सागरमें, सहसा प्रवेश करके भ्रमके बिना बेरोक-टोक वायुकी तरह इच्छित स्थानकी चले जाते हैं । वे महान् बलसे पृथ्वीको ऊपर उठा सकते हैं । अपने हाथोंमें मन्दराचलकों गिरा सकते हैं । वे पृथ्वी पर रहकर यदि चाहे तो सुमेरुकी चोटोके अग्रभागको छू सकते हैं अर्थात् प्राप्ति और ग्राह्यस्य सिद्धिमें सम्पन्न होते हैं ॥

वे बिना प्रयत्नके देवों और मनुष्योंका स्वामित्व कर सकते हैं । मनुष्योंको भी अपने वशमें कर सकते हैं और हजारों इच्छित रूप बना सकते हैं । अर्थात् ईशित्व और बांशित्व सिद्धिसे सम्पन्न होते हैं ॥ अपनी सुगन्धमें और मिष्ट वचनोमें दिशाओंकी पूरित वरके सन्तान आदिके

१ तोऽप्यपि -आ० । २ बरा क्वचिद् -आ० । ३ ति विप्रवान सु-आ० । ४ ता शरीर-अ० ।

५ महाबलात् -अ० मू० । ६ स्पष्टम् -अ० । ७, सह स्वया -आ० ।

संपूर्णा स्वसुरभिगन्धैर्वानि^१मृष्टं शुभकुसुमैश्च ।
 सततान्यैर्विरचितमाला नित्याम्लाना परिवहमाना ॥
 मात्यैर्गन्धे सुसुखमनुलिप्ता^२दध्युर्वस्त्राण्यतिविरजाति ।
 ररम्यते रतिनिपुणाभिस्स्वाभि सार्द्धं वरवनिताभिः ॥
 सुलेनेव जोवन्तो यान्ति वियोगकृत परिताप ।
 तत्र महद्विश्रुता अपि देव । स्त्रीपुरया वियमामुष एव ॥
 प्राणभूतामिह मध्यमशोकै^३ तोषतरादिकषायचतुष्टय ।
 स्यात्सुरसततय समकाला, तन्न भवति हि कर्मवशेन ॥
 अक्षय्यमानितजोवितदेवे, स्त्री चिरजोवितवत्यपि तस्या ।
 पत्यमित बत जोवितकाल तेन वियोगमित सुरलोक^४ ॥
 मृत्युकृत च विघ्नित्य सुदुः ॥ भावि सुरा^५ परिभीतमनस्का ।
 तत्र भजन्ति मृगा इव बद्धा व्याघ्रसमीपमुपेत्य समीपा^६ ॥
 गर्भकृतामपि ते दुरवस्था सपरिचिन्त्य पुन समवाप्य ।
 शोकभये विपुले परिवान्ति चारकरोच इवाम्मुपपाते ॥
 मृतपयावशुचेरतिदुःख निर्गमन स्मरता च शुचीना ।
 जन्मतेयेति भय दिविजाना, स्यादधिक तदवाप्य सुख तत् ॥
 तातपि क्षामु पतेत् क्षुद्रनिष्टा पश्यत सर्ववधूरिव कष्टा ।
 वर्षसहस्रमितीह गतेऽपि कालदरो न जहात्यहमिदं ॥
 उच्छ्वसन ध्वमज नृपतेपि पञ्चमितैर्दिवसैर्वदि यान्ति ।
 कान्यसुरेभ्य कया बत लोके ही सभयो जननार्णववास ॥

सुन्दर फूलोंमें रचित माला धारण करते हैं जो कभी मुरझाती नहीं है ॥ सुखपूर्वक माला और गन्धोंसे विलिप्त वे देव अत्यन्त स्वच्छ वस्त्र धारण करते हैं और रतिमें निपुण अपनी देवागनाओंके साथ रमण करते हैं ॥ इस प्रकार सुखपूर्वक जीवन यापन करते हुए वियोगजन्य मन्तापको सहते हैं । क्योंकि स्वर्गमें महद्विद्वक भी देव-देवागना समान आयुवाले नहीं होते । आगे-पीछे मरते हैं ॥ मध्यलोकसे यहकि प्राणियोंकी कषाय तीव्रतर होती है । अतः कर्मवश देव-देवागनाओंकी आयु समान नहीं होती ॥ देवकी आयु सागरप्रमाण होती है और देवागना चिरकाल तक भी जीवित रहे तो उसकी आयु पत्यप्रमाण ही होती है इसलिये देवलोकमें वियोगजन्य सन्ताप होता है । भविष्यमें होनेवाले मृत्यु जन्य दुःखका विचार करके देव डर जाते हैं और वहाँ ऐसे भयभीत रहते हैं जैसे व्याघ्रके समीपमें बांधे गये मृग । स्वर्गलोकसे च्युत होनेपर गर्भमें होनेवाली दुरवस्थाका भी विचार करके वे महान् शोक और भयसे युक्त होते हैं जैसे कोई जेलखानेसे डरता है । पवित्र देवोंको देवलोकमें जितना सुख होता है उससे भी अधिक भय स्त्रीके अपवित्र मूत्रमार्गसे जन्म लेनेका स्मरण करके जन्मसे ही होता है । यहाँ स्वर्गमें तो हजार वर्ष बीतनेपर भी भूत नहीं सताती थी । किन्तु मनुष्य पर्यायमें जन्म लेनेपर सपिणियोंकी तरह भूख सताती है यह भय अहमिन्द्रदेवकी भी नहीं छोड़ता । स्वर्गमें तो पन्द्रह दिनमें एक बार स्वाम लेनेका श्रम उठाना होता

रोगनराविकलत्वविहीनास्तत्र पुनश्च भवम्भुजानाम् ।
 तत्सहितं प्रसन्नोऽयं पुरस्तात् प्राप्यमवश्यमतश्च्युतमात्रे ॥
 अन्यवशादवशा विलपन्तो देशमिवान्यमुपद्रवयुक्त ।
 सप्रतिपत्सव उपमयं हि शोकवशा बहुशोऽपि भवन्ति ॥
 यत्पुरतोऽप्यमवाप्य विमाने भूतञ्जो जयतीरपि धान्ति ।
 तत्परिचिन्तयता कुशलानां येन सुरेषु भवेद्बहुमान ॥
 तेऽवधिना विधिना बहुतत्त्व दूरगतान्यपि जानत एव ।
 तेन भयाऽनुभूय पुरस्तादनुवते 'भयकृद्यदपश्चात् ॥
 यः सहसा भयमभ्युपयाति पूर्वतश्च न भयं स उच्यते ।
 प्राग्विदितमवश्यं नरः प्राक् प्राप्य भयं वपयेति हि पश्चात् ॥
 अतो न सोऽयं तद्विहास्ति किञ्चन बिभृद्यमान भनसा भवार्णवे ।
 सुखे प्रसन्नो विपुले पुमानय भजेत बुद्धेन विनाशुनापि यत् ॥
 यथाणुकेशोपहृतेऽपि भोजने न तं नरो रोचयते कुलोदितः ।
 तथाल्पबो'केऽप्यसुखे सुखे सति न तद्बुधो रोचयते कदाचन ॥
 'प्रपीडमानेऽन्वृनि पातितो यथा लवोऽपि मूत्रस्य तद्वद्बुधयेत् ॥
 तथा लवाशोऽप्यसुखस्य सत्सुखे करोति सर्वस्य सुखस्य दूषण ॥

किन्तु मनुष्यगतिमे तो सतत इवाम लेंना होता है । हा, जन्मरूपी समुद्रका वास भयकारक है । यहाँ देवगतिमे तो रोग, बुढ़ापा आदि नहीं है । किन्तु मनुष्योमे तो ये सब हैं । यहसि च्युत होने पर ये सब अवश्य प्राप्त होंगे । ऐसा देख वे देव दु खी होते हैं । जैसे कोई परवश होकर उपद्रवसे युक्त अन्य देशमे जानेपर विलाप करता है वैसे ही देव स्वाधीन होते हुए भी परवश होकर देवगतिमे मनुष्यगतिमे जानेका बृहत् शोक करते हैं । स्वर्गके विमानोमे देवोंका सुख प्राप्त करके भी जीवोंको पुन इमी मनुष्यलोकमे जन्म लेंना होता है ऐसा विचार करनेवाले बुद्धिमानोंको देवोंके प्रति बहुमान कैसे हो सकता है । वे देव अवधितानके द्वारा दूरवर्ती तत्त्वोंको भी जानते ही हैं । इससे पहले ही भयका अनुभव करते हैं ।

जो भय अचानक उपस्थित होता है उसका भय पहलेसे नहीं होता । किन्तु जिस मनुष्यको पहलेमे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा वध होगा वह पहले भयभीत होता है, पीछे मारा जाता है । अर्थात् मनुष्यगतिमे तो मृत्युका बोध पहलेसे नहीं होता । किन्तु देवगतिमे तो मृत्युसे छह मास पूर्व माला मुरझा जाती है । अत मृत्यु पीछे होती है और उसका भय पहले आ जाता है । अत विचार करनेपर इस संसाररूपी समुद्रमे कुछ भी सुख नहीं है । बहुत मुखमे आसक्त मनुष्य भी एक परमाणु प्रमाण दु खके बिना सुख नहीं भोग सकता । अर्थात् संसारके मुखमे दु खका मिश्रण रहता ही है । जमे कुलीन मनुष्यको यदि भोजनमे जरा मा भी बाल आदि गिर जाये तो भोजन नहीं रचना उसी प्रकार जानीको बृहत्तमे सुखमे थोड़ा मा भी दु ख मिला हो तो वह सुख नहीं रचना । जैसे पीनेके पानीमे मूत्रकी एक बूँद भी गिरनेपर वह पानी दूषित

१ भयमभ्युपयाति -आ० । २ पुमानय -आ० मृ० । ३ दोषोऽयं-अ० मृ० । ४ प्रपीडमाने

गुणैर्नेकैरेव समुता स्त्रिय कृतापचारं सङ्कल्पनिर्घुण ।

नरो जहास्येव यथा तथा बुधो न दृष्टिदोषादिव सोऽप्रमिच्छति (?)

‘कुणिममि वसति गच्छे’ कुणितगर्भे वसति । ‘धिगत्यु ससारवातस्त’ धिगत्यु ससारवातस्त ।

उक्त च—

त्यागाद्भोगादेव समुत्पन्नानुषु गर्भेस्मृत्या गर्भनिपात च समोऽयम् ।

प्रस्तदेव देहागुचीनपि निरीक्ष्य गर्भविष्टा दुःखमिवात्तेऽनुभवन्ति ॥१७९७॥

इध किं परलोके वा सत्त्वं पुरिमस्स इति णीया वि ।

इहं परत्त वा खाइ पुत्तमसं निययमादा ॥१७९८॥

‘इत्य किं परलोके वा’ इहलोके परलोके वा, ‘पुरिमस्स णीया वि सत्त्वं ह्येति’ वधवोऽपि शत्रवो भवति पुरिमस्स । ‘इहं परत्त वा खाइ’ इह वा परत्त वा अति, ‘पुत्तमसं निययमादा’ पुत्रस्य मास आत्मीया जननी अति किमत पर वृष्ट ॥१७९८॥

होऊण रिऊ बहुदुःखकारओ बंधवो पुणो होदि ।

इय परिवत्तइ णीयत्तण च सत्तुत्तणं च जये ॥१७९९॥

‘होऊण रिऊ’ रिपूर्त्वा पूव । ‘बहुदुःखकारो’ विचित्रदुःखकारी । स एव पुणो पश्चादपि । ‘इय परिवत्तइ’ प्रियवाधवो भवति । ‘इय परिवत्तइ’ एव परिवर्तते । ‘णीयत्तणं च सत्तुत्तणं च’ बन्धुत्व च शत्रुत्व च । ‘जये’ जीवलोके ॥१७९९॥

विमलाहेदु वक्षेण भारिओ णिययभारियागम्मे ।

जाओ जाओ जादिभरो सुदिट्ठी सकम्मेहि ॥१८००॥

‘विमलाहेदु’ विमलामिमित्त । ‘वक्षेण भारिओ’ वक्ष्वाख्येन भुतवेन भारित । क ? ‘सुदिट्ठी’ सुदृष्टि-

हो जाता है उसी प्रकार दुःखका जरा सा भी अंश सब मुखको दूषित कर देता है । जैसे अनेक गुणोंसे युक्त स्त्री यदि एक बार भी व्यवहार दोषसे दूषित हो जाये तो दयालु भी मनुष्य उसे त्याग देता है । उसी प्रकार शानी मनुष्य भी दुःखसे मिश्रित मुखको त्याग देता है ।

अत कहा है—मनुष्योंमें गर्भका स्मरण करके तथा गर्भपातको देखकर और मनुष्योंके अपवित्र शरीरको देखकर देव दुःखी होते हैं और मरण होनेपर गर्भमें प्रवेश करके दुःख भोगते हैं ॥१७९७॥

गा०—इस लोक अथवा परलोकमें बन्धु भी मनुष्यके शत्रु हो जाते हैं । इस लोक तथा परलोकमें माता भी अपने पुत्रके भासको खाती है इससे अधिक कष्टकी बात और क्या है ? ॥१७९८॥

गा०—बहुत दुःख देनेवाला शत्रु भी पुनः प्रिय बन्धु हो जाता है । इस प्रकार जगत्में बन्धुता और शत्रुता परिवर्तनशील है ॥१७९९॥

गा०—सुदृष्टि नामक रत्नपारखी मैथुन करते समय अपनी पत्नी विमलाके निमित्तसे

नामधेय । 'सकम्मेहि' आत्मीयं कम्मभि । 'जादो' उत्पन्न । कद 'निधयभारियागम्मे' निजमायागम्मे ।
'जादिभरो जादो' जानिम्मग्गच्च जात ॥१८००॥

होरुण बंमणो सोत्तिओ सु पाव करित्तु माणेण ।

सुणगो व म्मगो वा पाणो वा होड परलोए ॥१८०१॥

'होरुण बंमणो सोत्तिओ' श्रोत्रियो ब्राह्मणो भूत्वा । 'माणेण' जातिमदेन । गुणिजननिन्दावमानाभ्या
'पाव करित्तु' पाप कृत्वा नीचगोत्रमुपचित्य । सुणगो व म्मगो वा पाणो वा होड परलोए' इवा
सूकरचण्डालो वा भवति परजन्मनि ॥१८०१॥

दारिद अडिद्धत्त णिद च युदि च वसणमम्भुदय ।

पावदि बहुसो जीवो पुरित्तिण्णुसपत्त च ॥१८०२॥

'वारिद' दारिद्र्य । 'बहुसो जीवो पावदि' बहुच जीव प्राप्नोति लाभान्तरायोदयान् । अडिद्धत्त'
आदृतता पूर्ववदेव मन्वन्व । पावदि बहुसो इमे इत्यनेन । लाभान्तरायशयापराधदीप्तिना निद्राणि लभते,
लब्धानि च नश्यन्ति तत आदृतता । निदा' श्वपाशचण्डाल कुण काणो दुर्भगो मूख कृपण इत्यादिका ।
'युदि च' मृत्नि च कुलीना रूपवान् वाम्भो आहव प्राज उन्धादिका दशम्बीनेकदयान् । 'एव वसण' दुःख
अमद्रेचोदयान् । 'अम्भुदय' देवमनुजभवज सुख सद्रेचोदयान् । पुरित्तिण्णुसपत्त च' पुरुषन्द च स्त्रीत्वे च
नपुंसकत्वे च बहुधा प्राप्नोति ॥१८०२॥

कारी होड अकारी अप्पडिभोगो जणो हु लोगम्मि ।

कारी वि जणममक्खं होड अकारी सपडिभोगो ॥१८०३॥

'अकारी अपि' दोषमकुर्वन्नपि कारी भवति, 'अप्पडिभोगो जनो' पुण्यरहितो जन । 'कारीवि' कुर्व-

अपने मेवक बक्के द्वारा मारा गया और मरकर अपनी पत्नी विमलाके गर्भमे उत्पन्न हुआ ।
उदन्न होनेपर उसे पूर्वजन्मका स्मरण हो आया ॥१८००॥

विशेषार्थ—बृहत्संघाकोशमे १५३वें नम्बर पर इसकी क्या है ।

गा०—श्रोत्रिय ब्राह्मण होकर यह जीव अपनी जातिका अभिमान करके गुणी जनोकी
निन्दा और अपमानके द्वारा बीच गोत्रका बन्ध करता है और मरकर परलोकमे कुत्ता, सूकर या
चण्डाल होता है ॥१८०१॥

गा०—दी०—यह जीव लाभान्तरायका उदय होनेसे अनेक बार दरिद्र अवस्था पाता है ।
लाभान्तरायका क्षयोपशम होनेसे अनेक बार इच्छित धन पाता है । इस प्रकार अनेक बार धनीमे
दरिद्र और दरिद्रमे धनी होता है । अयशवीनिका उदय होनेसे चण्डाल, काना, अभागा, मूर्ख,
कज्ज आदि निन्दाका पात्र होता है । यश कीर्तिका उदय होनेसे कुलीन, रूपवान् धनी, पण्डित
इत्यादि मृत्निका पात्र होता है । अमातावेदनीयका उदय होनेसे दुःख उठाना है और मातावेद-
नीयका उदय होनेसे देव और मनुष्य भवका सुख भोगना है । इसी प्रकार अनेक बार स्त्री, पुण्य
और नपुंसक होता है ॥१८०२॥

गा०—पुण्यहीन मनुष्य लोकमे दोष नहीं करनेपर भी दोषका भागी होता है । और
पुण्यवान् अनाचार करने भी लोभोक्ति मन्मुन्व दुःखानी मिद नहीं होता ॥१८०३॥

नम्यनाचार, 'जणसमक्ष' जनाना प्रत्यक्ष 'अकारो होई' दुराचारो न भवति । सर्पाडभाग पुण्यवान् ॥१८००॥

मरिसीए चदिगाए कालो वेस्सो पिओ जहा ओण्हो ।

सरिसे वि तहाचारे कोई वेस्सो पिओ कोई ॥१८०४॥

सरिसीए चदिगाए' चदिनाया समानायामपि । 'कालो वेस्सो' कालपक्षो द्वेष्ट्य । 'पिओ जहा ओण्हो' शुक्लपक्षो यथा प्रिय । 'सरिसे वि तहाचारे' मनुष्याचारे द्वयो पुत्रो । 'कोई वेस्सो पिओ कोई' कश्चित् द्वेष्ट्य कश्चित् प्रिय ॥१८०४॥

इय एस लोगधम्मो चित्तिज्जतो करेइ गिन्वेद ।

धण्णा ते भयवता जे मुक्का लोगधम्मादो ॥१८०५॥

'इय एस लोगधम्मो' अयमेव प्राणिधर्म । 'चित्तिज्जतो' चिन्तयमानो । 'करेइ गिन्वेद' निर्वेद करोति । 'धण्णा ते भयवता' पुण्यवन्तस्ते यतय । 'जे मुक्का लोगधम्मादो' ये मुक्ता प्राणिधर्माद् व्यावर्णिताम् ॥१८०५॥

विज्जू व चचल फेणदुब्बल वाधिमहिमन्चुहद ।

गाणी किह पेच्छतो रमेज्ज दुक्खुदुधुद लोग ॥१८०६॥

'विज्जू व चचल' विद्वदिव चचल, 'फेणदुब्बल' फेनमिव दुर्बल । 'वाधिमहिमन्चुहद' व्याधि-भिम्भित मृत्युना हत । 'लोग पेच्छतो' लोक पश्यन् । 'गाणी किह रमेज्ज' ज्ञानी कथं तत्र रतिं कुर्यात् । लोगधम्मचिन्ता ॥१८०६॥

अशुभत्वानुप्रेक्षा प्रक्रम्यते—

असुहा अत्था कामा य हुति देहो य सच्चमणुयाणं ।

एओ चेव सुभो णवरि सच्चसोक्खायगे धम्मा ॥१८०७॥

'असुहा अत्था कामा य हुति' अशुभा अर्था कामाश्च भवन्ति । 'देहो य सच्चमणुयाणं' देहश्च सर्व

गा०—जैसे चांदकी चांदनोके समान होनेपर भी लोग कृष्णपक्षमें द्वेष करते हैं और शुक्लपक्षमें प्रेम करते हैं । वैसे ही समान आचार होते हुए भी कोई मनुष्य लोगोंको प्रिय होता है और कोई अप्रिय होता है ॥१८०४॥

गा०—इस प्रकार लोचनानाका चिन्तन करनेसे वैराग्य उत्पन्न होता है । वे पुण्यवान् यतिजन धन्य हैं जो इस ऊपर कही सत्सारीक दशामें मुक्त हो गये हैं ॥१८०५॥

गा०—विजलीकी तरह चचल, फेनकी तरह दुर्बल, रोगोंसे ग्रस्त और मृत्युसे पीडित इस लोकको देखकर ज्ञानी इसमें कैसे अनुराग कर सकता है ॥१८०६॥

इस प्रकार लोचनानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

अब अशुभत्व अनुप्रेक्षाका कथन करते हैं—

गा०—अर्थ, काम और सब मनुष्योंकी देह अशुभ हैं । एक मव सुखोंकी खान धर्म ही शुभ है । शेष सब अशुभ है ॥१८०७॥

मनुजानाम् । 'एकको चेव सुभो' एक एव शुभ पुन । 'सत्त्वसुखायरो घम्मो' सर्वेषां सौख्यानामाकरो घर्म ॥१८०७॥

अर्थस्याशुभता व्याचष्टे—

इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्म आवहइ णिच्च ।

अत्यो अणत्थमूल महाभयं मुत्तिपडिपथो ॥१८०८॥

'इहलोगियपरलोगियदोसे' ऐहिकान् पारलौकिकावच दोषान् । 'पुरिसस्म आवहइ णिच्च' पुरुषस्य आवहति नित्य । 'अत्यो अणत्थमूल' अर्थोऽन्यथा मूल, 'महाभयं' महतो भयस्य मूलत्वान्महाभय । 'मुत्तिपडिपथो' मुक्तेरर्गलीमूत ॥१८०८॥

कामस्याशुभतामाचष्टे—

कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा ।

उवघो लोए दुबखावहा य ण य हुंति ते सुलहा ॥१८०९॥

'कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया' अशुचिकुटिभवा लघुत्वकारिण । 'अप्पकालिया कामा' अल्पकालेपु भवा कामा । 'उवघो लोए' लोकादये दुःखावहारच । य ण य हुंति ते सुलभा' नैव ते सुलभा भवन्ति ॥१८०९॥

कामाशुभत्वमाख्याति—

अदिठदलिया छिरावक्कवद्विया मसमद्वियालिचा ।

चहुकुणिमभण्डभरिदा विहिंमणिज्जा खु कुणिमकुडी ॥१८१०॥

'अदिठदलिया' अस्तिदलनिष्यन्ता । 'छिरावक्कवद्विया' शिरावक्कस्त्वद्धा । 'मसमद्वियालिचा' मास

अर्थकी अशुभता वतलाते हैं—

गा०—टी०—घन सत्र अनर्थोंकी जड़ है । यह पुरुषमें इस लोक और परलोक सम्यन्धी दोष लाता है अर्थात् घन पाकर मनुष्य ध्यस्तनोमें फँस जाता है और उसमें वह इस लोकमें भी निन्दाका पात्र होता है और परलोकमें भी कष्ट उठाता है । मृत्यु आदि महान् भयोंका मूल होनेसे घन महाभय रूप है । और मोक्षमार्गके लिये तो अर्गल है । धनमें मस्त मनुष्य मोक्षकी बात भी सुनना नहीं चाहता ॥१८०८॥

अब कामकी अशुभता बतलाते हैं—

गा०—यह कामभोग अपवित्र अपने और परके शरीरके संयोगमें पैदा होता है । यह मनुष्यको गिराता है, उसे लोगोंकी दृष्टिमें लज्जित करता है । यह अल्पकालके लिये होता है तथा दोनों ही लोकोंमें दुःखदायी है । तथा सुलभ भी नहीं है ॥१८०९॥

अब शरीरकी अशुचिना कहते हैं—

गा०—यह शरीर रूपी नुटी हड्डी रूपी पत्तोंमें बनी है । निराएँ रूपी बल्बल (छाल) से

मृत्तिकालिप्ता । 'बहुकुणिमभंश्चरिदा' अनेकाशुचिद्रव्यपूर्णा । 'विहिसिण्वा ख कुणिमकुडो' जुगुप्सनीया
अशुचिकुटी ॥१८१०॥

इगालो धुव्वतो ण सुद्धिमुवयादि जह जलादीहिं ।

तह देहो धोव्वतो ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं ॥१८११॥

'इगालो धोव्वतो' प्रसाल्यमाना मयो न शुद्धमुपयाति न गृह्णतामुपयाति । 'जह' यया । 'जलादी-
हिं' जलादिभि । 'तह देहो धोव्वतो' तथा शरीर प्रसाल्यमान । 'ण जाइ सुद्धिं जलादीहिं' न याति सुद्धिं
जलादिभि ॥१८११॥

सलिलादीणि अमेज्झ कुणइ अमेज्झाणि ण दु जलादीणि ।

मेज्झममेज्झ कुव्वति मयमवि मेज्झाणि संताणि ॥१८१२॥

'सलिलादीणि' सलिलादीनि द्रव्याणि शुचीनि । 'अमेज्झ कुणइ' अमेध्य करोति । 'अमेज्झाणि'
अशुचीनि । 'ण दु जलादीणि मेज्झ कुणइ' नैव जलादीनि शुचित्वमापादयन्तीति । 'अमेज्झाणि' अशुचीनि
'सयममेज्झाणि संताणि' अमेध्ययोगात् स्वयमशुचीनि सन्ति ॥१८१२॥

तारिसयममेज्झमय मरीरय किह जलादियोगेण ।

मेज्झ हवेज्ज मेज्झ ण हु होदि अमेज्झमयघडओ ॥१८१३॥

'तारिसयममेज्झमय' शुचीनामशुचिताकरणसमर्थाशुचिमय शरीरक । 'किह' क्वय । 'जलादियोगेण'
जलादिसम्बन्धेन । 'मेज्झ हवेज्ज' शुचिर्भवत् । 'अमेज्झमय घडओ' अमेध्यमयो घट । 'म हु मेज्झो होदि'
नैव शुचिर्भवति । यथा जलादियोगेन ॥१८१३॥

यदि शरीरमशुचि किं तहिं शुचीत्यत्राह—

णवरि हु धम्मो मेज्झो धम्मस्थस्म वि णमति देवा वि ।

धम्मणे चैव जादि खु साह जल्लोसधादीया ॥१८१४॥

बाँयो हुई है । मामल्पी मिट्टीसे लीपी गई है तथा अनेक अपवित्र वस्तुओंसे भरी हुई है । इस
तरह यह शरीररूपी कुटिया घृणास्पद है ॥१८१०॥

गा०—जैसे कीचलोको जलादिसे धोनेपर भी वे सफ़ेद नहीं होते । उसी प्रकार जलादिने
धोनेपर भी शरीरकी शुद्धि नहीं होती ॥१८११॥

गा०—अपवित्र शरीर जलादिको भी अपवित्र कर देता है । अर्थात् शरीरके सम्बन्धसे
निर्मल जल मिला हो जाता है । जल स्वयं मिला नहीं है, स्वयं तो निर्मल ही है किन्तु जल
शरीरकी पवित्र नहीं बनाता । बल्कि शरीरके सयोगसे जल ही अपवित्र हो जाता है ॥१८१२॥

गा०—निर्मलको मलीन करनेवाला अपवित्र शरीर जलादिके सम्बन्धसे कैसे पवित्र हो
सकता है । क्या मलमे भरा घडा पानीसे धोनेसे पवित्र हो सकता है ॥१८१३॥

यह शरीर अपवित्र है तो पवित्र कौन है, इसका उत्तर देते हैं—

ग०—किन्तु धर्म पवित्र है क्योंकि रत्नत्रयात्मक धर्ममे स्थितको देव भी नमस्कार करते

‘णवरि ह धम्मो भेज्जो’ धर्मं पुनं नुचि । कस्मात् सुखब्धो यस्मादित्यर्थे वर्तते । ‘धम्मस्यस्स वि णमति देवा वि’ यस्माद्धर्मे रत्नत्रयात्मने स्थितस्य देवा अपि नमस्कारं कुर्वन्ति । धर्मेण नुचिना योगा-
दात्मापि नुचिरिति । ‘धर्मेण चैव जादि ण साधू धर्मेणैव प्राप्नुवन्ति माधव । किं ? ‘जल्लोसघादीया’
जल्लोपध्यादिकमृद्वतिशम् ॥१८१४॥ अनुमत्तः ।

आश्ववानुप्रेक्षा निरूप्यते—

जम्मसमुद्धे बहुदोसवोचिणं दुक्खजलयरङ्गणे ।

जीवस्स दु परिभ्रमणम्मि कारण आसवो होदि ॥१८१५॥

‘जम्मसमुद्धे’ जन्मसमुद्धे । ‘बहुदोसवोचिणं’ विविध दोषतरङ्गे । ‘दुक्खजलयरङ्गणे’ दुःखजलवरं-
कीर्णे । ‘जीवस्स परिभ्रमणम्मि’ जीवस्य परिभ्रमणे यत् कारणं सत् ‘आसवो’ आश्ववो भवति । मनु च
कर्माणि कारणानि नत्वास्व । अत्रोच्यते । कर्मणा परिभ्रमणकारणानां कारणत्वादाश्व कारण-
मित्युक्तं ॥१८१५॥

ससारसागरे से कम्मजलममबुडस्स आसवदि ।

आसवणीए णावाए जह सलिल उदधिमज्झम्मि ॥१८१६॥

‘ससारसागरे’ ससारसमुद्धे । ‘से’ तस्य । ‘असबुडस्स’ मवररहितस्य सम्यक्-वसयमशमामार्श्वार्जव-
सतोपपरिणामरहितस्य । ‘कम्मजलमासवदि’ ज्ञानावरणादिकर्मजलमाश्ववत्यागच्छति । ‘आसवणीए णावाए’
आसवणशीलाया नावि यथा सलिलं प्रविशति । ‘उदधिमज्जे’ समुद्रमध्ये ॥१८१६॥

धूली णेहुत्तुप्पिदगचे लग्गा मलो जहा होदि ।

मिच्छत्तादिसिणेहोन्निदस्स कम्म तहा होदि ॥१७१७॥

हैं । पवित्र धर्मके सम्बन्धसे आत्मा भी पवित्र है । धर्मसे ही साधु भी जल्लोपणी आदि ऋद्धियो-
को प्राप्त करते हैं । अर्थात् रत्नत्रयरूप धर्मका साधन करनेसे साधुआके शरीरका मल भी
औपधीरूप हो जाता है ॥१८१४॥

आगे आश्ववानुप्रेक्षाको कहते हैं—

गा०—टी०—यह जन्ममरणरूपी समुद्र विविध दोषरूपी लहरोसे युक्त है तथा दुःखरूपा
जलचर जीवोंसे भरा है । इस समुद्रमें परिभ्रमणका कारण आश्वव है ।

शका—ममार समुद्रमें परिभ्रमणका कारण तो कर्म है, आश्वव नहीं है ।

समाधान—परिभ्रमणका कारण कर्म है यह ठीक है । किन्तु उन कर्मों का कारण आश्वव
है । अत आश्ववको परिभ्रमणका कारण कहा है ॥१८१५॥

गा०—जैसे समुद्रमें मध्यमें छेदयुक्त नावमें जल प्रवेश करता है वैसे ही मयारूपी समुद्रमें
जो जीव मवरमें रहित है अर्थात् सम्यक्त्व, सयम, शमा, मार्दव, आर्जव, सन्तोष आदि रूप
परिणामोंमें रहित है उसके ज्ञानावरण आदि कर्मरूप जलका आश्वव होता है ॥१८१६॥

गा०—जैसे तेलसे शिष्ट शरीरमें लगे हुए धूल मलरूप हो जाती है वैसे ही जो आत्मा

‘धूली चेदुत्तुत्पिदगते लम्गा’ धूली स्नेहान्मत्तगरीरलम्गा । ‘बहु मत्तो होइ’ यथा मल भवति ।
 ‘मिच्छतादित्तमेहोत्तिदस्त’ मिथ्यात्वानयमकषायपरिणामस्नेहान्मत्तग्यात्मन प्रदेशोपवस्थित कर्मप्रानोम
 द्रव्य । ‘तहा’ तथा । ‘कम्प होदि’ कर्म भवति । एतदुक्त भवति-आत्मपरिणामान्मिथ्यात्वादिवान विनिष्ट
 पुद्गलद्रव्य कर्मत्वेन परिणमयतीति कर्मत्वपर्यायहेतुरात्मन परिणाम आसव इत्यर्थः ॥१८१७॥

ओगाडगाढणिचिदो पुग्गलद्वेहिं मव्वदो लोणो ।

सुहमेहि वादरेहिं य दिस्सादिस्सेहिं य तहेव ॥१८१८॥

‘ओगाडगाढणिचिदो’ अनुप्रवेशाद् निश्चितः । पुग्गलद्वेहिं’ पुद्गलद्रव्यं । ‘सव्वदो लोणो’ वात्सर्प्येन
 लोकः । ‘सुहमेहि वादरेहिं य’ सूक्ष्मं स्पृह्य । ‘दिस्सादिस्सेहिं’ चक्षुषा दृश्यैर्दृश्यैश्च । ‘तहेव’ तदैव ।
 एतया गायया कर्मत्वपर्याययोग्याना पुद्गलद्रव्याणा सर्वत्र लोकाकाशे बहूनास्तत्त्वमाख्यातम् ॥१८१८॥

के ते आसवा इत्यत्राह—

मिच्छत्त अविरमणं कमाय जोगा य आसवा होति ।

अरहतवुत्तत्थेसु विमोहो होइ मिच्छत्त ॥१८१९॥

‘मिच्छत्त अविरमणं कमाय जोगा य आसवा होति’ मिथ्यात्वमसयम कषाययोगात् आसवा भवन्ति ।
 आसवस्याप्युच्यते कर्मत्वपर्याय पुद्गला एभि कारणभूतैरिति मिथ्यात्वादय आसवस्यैवास्या तेष्व्वास्वेषु ।
 मिथ्यात्वस्वरूप वक्ष्यति । ‘अरहतवुत्तत्थेसु’ अहदुक्तेषु अनन्तद्रव्यपर्यायामयेषु अर्थेषु विमोहो मिच्छत्त
 होदि’ अध्वान मिथ्यात्व भवति ॥१८१९॥

अमयममाचष्टे—

अविरमण हिंसादी पंच वि दोसा हवति णायव्वा ।

कोधादीया चत्तारि कमाया रागदोसमया ॥१८२०॥

मिथ्यात्व, असयम और कषायपरिणामरूप तैलसे लिप्त होता है उन आत्माके प्रदेशोमे स्थित
 कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप हो जाते हैं । इसका वाराय यह है, मिथ्यात्व आदि
 रूप आत्माके परिणामोमे विनिष्ट पुद्गलद्रव्य कर्मरूपसे परिणमन करता है इसलिये कर्मरूप
 परिणमनमे कारण आत्माके परिणाम ही आसव हैं ॥१८१७॥

गा०—यह लोक सर्वत्र पुद्गल द्रव्योप्ति ठाण्डस भरा हुआ है । वे पुद्गल सूक्ष्म भी है
 और बादर भी हैं । चक्षुके द्वारा दिखाई देने योग्य भी हैं और न दिखाई देने योग्य भी हैं ।

टी०—इस गायिकाके द्वारा कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गल द्रव्योका सर्वत्र लोकाकाशमे
 अस्तित्व बतलाया है ॥१८१८॥

वे आसव कौन हैं यह बतलाते हैं—

गा०—मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग ये आसव हैं । जिन कारणोप्ति पुद्गल कर्म-
 रूप होकर आते हैं उन मिथ्यात्व आदिको आसव कहते हैं । उनमेंमे मिथ्यात्वका स्वरूप
 कहते हैं—अर्हन्त भगवान्के द्वारा बहे गये अनन्त द्रव्य पर्यायात्मक पदार्थोंमे अध्वान करना
 मिथ्यात्व है ॥१९१९॥

‘अविरमण’ अविरमण नाम । ‘हिमादि पञ्च वि दोस’ हिंसानृतस्तेषां ब्रह्मपरिग्रहाख्या पञ्चापि दोषा । ‘हवति शास्त्रा’ अविरमण भवन्तीति ज्ञातव्या । प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण, असदभिधान, अदत्तादान, मंथनकर्म विशेष, मूर्छा चेति एते परिणामा अविरमणशब्देनोच्यन्ते । विरमण हि निवृत्तिस्त्वतीत्यत्रात् । प्रवृत्तिरपि हिमादय अविरमण इत्युच्यन्ते । ‘क्रोधादीनां क्रोधमानमायालोभा । ‘चत्तारि’ चत्वार । ‘क्साया’ कषाया इत्युच्यन्ते । ‘रागदोषमया’ रागद्वेषात्मका ॥१८२०॥

रागद्वेषयोर्माहात्म्य दर्शयति—

किहदा राओ रंजेदि णर कुणिमे वि जाणुम देहे ।

किहदा दोमो वेस स्रणेण णीयपि कुण्ड णर ॥१८२१॥

‘किहदा राओ रंजेदि णर’ कथं तावद्भागो रञ्जयति नर । ‘कुणिमे वि देहे’ अणुषावपि देहे, अनुराग-स्माद्योमे । ‘जाणुम’ शरीरानुचित्व जानन्त अत्र रजयति । मारे वस्तुनि नर रञ्जयतीति न ठञ्चिच्च ज्ञातार-मनुचिन्त्यसारे शरीरे रञ्जयतीत्येतद्भूतमिति भाव । ‘दोमो’ दोष, ‘किहदा वेस कुण्डि’ कथं ताव-द्वेष्य करोति । ‘स्रणेण’ क्षणमात्रेण । ‘णीयपि णर’ बान्धवमपि नर । अनेनापि द्वेषमाहात्म्यमाख्यायने । रागाध्यानपि बधून् द्वेष्यान् करोतीति ॥१८२१॥

सम्मादिद्धी वि णरो जेसिं दोसेण कुण्ड पावाणि ।

धिसेसि गारविंदियसण्णामपरारागदोसाण ॥१८२२॥

‘सम्मादिद्धी वि णरो’ तत्त्वज्ञानप्रदानममन्वितोऽपि नर । ‘जेसिं दोसेण कुण्डि पावाणि’ येषां दोषेण करोति पापानि । ‘धिसेसि गारविंदियसण्णामपरारागदोसाण’ धिक्काम्योरेवानिन्द्रियाणि सप्तमदान् रागद्वेषाच्च ॥१८२२॥

असयमका स्वरूप कहते हैं—

गा०—हिंसा, झूठ, चोरी, अन्नह्य और परिग्रह इन पाँच दोषोंको असयम कहते हैं । कषाययुक्त आत्मपरिणामके योगसे प्राणेंकि घातको हिंसा कहते हैं । प्राणि पीडाकारक अप्रगस्त वचन बोलनेको असत्य कहते हैं । त्रिना दो हुई वस्तुके ग्रहणको चोरी कहते हैं । मंथन कर्मको अन्नह्य कहते हैं और ममत्व भावको परिग्रह कहते हैं । ये सब परिणाम असयम कहे जाते हैं । इन सबसे निवृत्तिकी समय कहते हैं । और प्रवृत्तिरूप हिंसादि परिणाम असयम हैं । तथा राग-द्वेषमय धार कषाय हैं । अर्थात् हिंसादिरूप परिणाम असयम हैं और क्रोधादि कषाय हैं इनमेंसे क्रोध और मान द्वेषरूप हैं और माया, लोभ रागरूप हैं ॥१८२०॥

राग और द्वेषका माहात्म्य बतलाते हैं—

गा०-टी०—यह शरीर अनुचि है । रागके अयोग्य है । यह राग शरीरकी अनुचितताको जाननेवाले अजानीको उममें अनुरक्त करता है सारवान् वस्तुमें मनुष्यको अनुरक्त नहीं करता । इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । आश्चर्य इसमें है कि यह जाननेवालेको भी अस्मर शरीरमें अनुरक्त करता है । तथा द्वेष सामान्यमें वस्तु मनुष्यको भी द्वेषका पात्र बनाना है । इससे द्वेषका माहात्म्य कहते हैं कि जो वस्तु राग करने योग्य है उन्हें भी वह द्वेषका पात्र बनाता है ॥१८२१॥

गा०—तत्त्वोंके ज्ञान और प्रदानमें युक्त मनुष्य भी अर्थात् मय्यहृष्टी मनुष्य भी जिनके

जो अभिलासो विसएसु तेण न य पावए सुह पुरिमो ।

पावदि य कम्मबंधं पुरिमो विसयामिलासेण ॥१८२३॥

‘जो अभिलासो विसएसु’ यो अभिलापो विषयेषु स्पर्शादिषु । ‘तेण विषयाभिलासेण न य पावदे सुह पुरिमो’ प्राप्नोति नैव सुखं पुरुष । ‘पावदि य कम्मबंधं’ प्राप्नोति च कर्मबन्धं, पुरिमो विसयामिलासेण’ पुरयो विषयाभिलासेण निमित्तेन । एतेन विषयामिलापपरिणामस्य प्राप्तिनामसदृशं प्रवर्तमानस्याहितता निवेदिता, सुखं न प्रयच्छति कर्मबन्धकारणं तु भवतीति विषयामिलापस्यास्रवण्यं स्वरूपं कथितं ॥१८२३॥

विषयामिलापस्य दुष्टता प्रकारान्तरेणाचष्टे—

कोई इहिज्ज जह चदण णरो दारुग च बहुमोल्ल ।

णासेइ मणुस्सभव पुरिमो तह विसयलोहेण ॥१८२४॥

‘कोई इहिज्ज जह चदण’ कश्चिद्यथा दहेच्चन्दन । ‘बहुमोल्ल’ महामूल्य । ‘दारुग च’ अगुर्विदार च, यथा दहति भस्मादिकं स्वल्पं समुद्दिश्य । ‘तहा णासेइ मणुस्सभव’ तथा नाशयति मानुषभवं अतीन्द्रियानन्त-सुखकारणं । ‘पुरिमो तह विसयलोहेण’ अतितुच्छविषयमाच्येन ॥१८२४॥ उक्तं च—

विषया अनितेन्द्रियोत्सवा बहुभिश्चापि समञ्जिता रसे ।

विषयमसुखसृष्टात्मनवत परिभुक्ता परिणामवारणा ॥

विषयसुखप्रतिबद्धलोलचित्तो विषयनिमित्तमनिष्टरूप इत्यादि ।

विषयसुखप्रविहीणजातिजातो विषयसुखं लभते न ना विपुष्य ॥

दोपसे पाप करता है उन गारवोको, इन्द्रियोको, मन्नामदोको और राग द्वेषको धिक्कार हो ॥१८२२॥

गा०—विषयोमे जो अभिलाषा है उसके कारण पुष्ट सुख नहीं पाता विषयोकी चाहके निमित्तसे पुष्ट कर्मबन्ध करता है ॥१८२३॥

टी०—इससे प्राणियोमे निरन्तर प्रवर्तमान विषयोकी चाहरूप परिणामको अहितकारी बतलाया है । उसमें सुख तो नहीं होता, किन्तु कर्मबन्ध होता है । अतः विषयोकी अभिलाषाको आसवरूप कहा है ॥१८२३॥

गा०—टी०—अन्य प्रकारसे विषयोकी अभिलाषाकी दुष्टता बतलाते हैं—जैसे कोई मनुष्य राख आदिके लिये बहुमूल्य चन्दनकी लकड़ीको जला देना है । वैसे ही मनुष्य अति तुच्छ विषयोके लोभसे उस मनुष्य भवको नष्ट कर देता है जिसके द्वारा अतीन्द्रिय अनन्त सुख प्राप्त हो सकता है । कहा भी है—ये विषय इन्द्रियोके लिये आनन्द उत्पन्न करते हैं तो बहुतसे रत्न उन विषयोमे रहते हैं । किन्तु विषये मस्कार किये गये अन्नको तरह उनको भोगनेपर अत्यन्त भयकर परिणाम होता है । जिसका चंचल चित्त विषय मुखमें अत्यामक्त होना है वह विषयोकी प्राप्तिके लिये अनिष्ट कार्य करके ऐसी पर्यायमे जन्म लेता है जहाँ उसे विषयसुख मिलता ही नहीं । ठीक ही है, पुण्यहीन मनुष्य विषयसुखको नहीं पाता ॥१८२४॥

छडिय रयणाणि जहा रयणदीवा हरेज्ज कट्ठाणि ।

माणुसभवे वि छडिय धम्म भोगे मिलसदि तहा ॥१८२५॥

‘छडिय रयणाणि जहा’ रत्नानि त्यक्त्वा यथा, ‘रयणदीवा हरेज्ज कट्ठाणि’ रत्नद्वीपात्काष्ठान्याहरति । ‘तहा माणुसभवे वि मनुष्यभवेऽपि, ‘छडिय धम्म’ धम विहाय । ‘भोगे मिलसदि’ भोगान्वाञ्छति । एतदुक्तं भवति—अनेकमाररत्नास्पद रत्नद्वीपं सुदुर्लभं प्राप्य मुषा रज्ज्यान्यपि रत्नान्यनुपादाय असारमिन्धनं सुलभं सारबुद्ध्या यथा कश्चिदाहरति जड । तथानेकगुणरत्नाकरं मनुष्यस्य च दुरवापमवाप्य अतर्पकं पराधीनं अल्पकालिकं विषयमुखमभिलषति ॥१८२५॥

गत्तूण णटणवण अमय छडिय विस जह पियड ।

माणुसभवे वि छडिय धम्मं भोगे मिलसदि तहा ॥१८२६॥

‘गत्तूण णटणवण’ गत्वा नन्दनवन । ‘अमय छडिय’ अमृतं त्यक्त्वा । ‘विस जहा पियड’ विषं यथा पिबति कश्चिन् । ‘माणुसभवे वि छडिय मनुष्यभवेऽपि त्यक्त्वा । ‘धम्म’ धर्म । ‘भोगेमिलसदि तहा’ भोगानामभिलषति तथा ॥१८२६॥

योगशास्त्रायमाचष्टे—

पावपओगा मणवचिकाया कम्मासव पकुव्वति ।

भुज्जतो दुग्मत्त वणम्मि जह आमव कुणह ॥१८२७॥

‘पावपओगा’ पापं प्रयुज्यते प्रवर्तते अभिरिति पापप्रयोधा । ‘मणवचिकाया’ मनोवाक्काया, ‘कम्मासव पकुव्वति’ कर्मत्वपर्याप्तागमं पुद्गलानां कुर्वन्ति । ‘भुज्जतो दुग्मत्त’ भुज्जमानो दुराहार । ‘वणम्मि जह आसव कुणहि’ जने यथा आम्रव खुरितं पूतीनां करोति ॥१८२७॥

गा०—टी०—जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीपमें जाकर रत्नोंको छोड़ लकड़ी बीनता है वैसे ही मनुष्यभवमें धमको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है । इसका अभिप्राय यह है कि जैसे कोई मूर्ख अनेक बहुमूल्य रत्नोंमें भरे तथा अतिदुर्लभ रत्नद्वीपमें जाकर बिना प्रयत्नके ही प्राप्त भी रत्नोंको ग्रहण न करके अमार और सुलभ ईंधनको ही सारभूत मानकर ग्रहण करता है, उसी प्रकार जो मनुष्यभव अनेक गुणरूपी रत्नोंकी खान है, जिसका मिलना बहुत कठिन है उसे प्राप्त करके भी अज्ञानी ऐसे विषयमुखकी अभिलाषा करता है जो तृप्ति प्रदान नहीं करता तथा पराधीन है और अल्प काल ही रहता है ॥१८२५॥

गा०—जैसे कोई पुरुष नन्दन वनमें जाकर भी अमृतको छोड़ विष पीता है । वैसे ही मनुष्यभवको पावर भी मनुष्य धर्मको छोड़ भोगोंकी अभिलाषा करता है ॥१८२६॥

योगशब्दका अर्थ कहने हैं—

गा०—जिनके द्वारा पापमें प्रवृत्ति की जाती है वे मन, वचन, काय, पुद्गलोंको बर्म्मरूपमें परिणामाने हैं । जैसे अपय्य सेवन करनेवाला अपने धावमें पीव पैदा करता है । अर्थात् जैसे अपय्य सेवन करनेमें धावमें पीव जाता है वैसे ही मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिमें बर्म्मों का आसव होता है ॥१८२७॥

वर्माणि शुभाशुभरूपाणि द्विविधानि, तत्र वत्स्य कर्मण व आत्मव इत्यत्राह—

अणुकपासुद्धुवओगो वि य पुण्यस्त आसवदुवारं ।

त विवरीद आसवदार पावस्त कम्मस्स ॥१८२८॥

‘अणुकपा’ अनुकम्पा । ‘सुद्धुवओगो’ शुद्धश्च प्रयोग परिणाम, ‘पुण्यस्त आसवदुवार’ पुद्गलानां पुण्यत्वपर्यायागमनमुक्त मध्येछ सम्पत्त्व रतिहास्यपुवेदा शुभे नामगाने शुभ चायु पुण्य एनेन्योऽयानि पापानि । अनुकम्पा निप्रकारा । धर्मानुकम्पा मिथानुकम्पा तत्त्वानुकम्पा चेति । तत्र धर्मानुकम्पा नाम परित्यक्तासयमेव मानावमानमुखदुःखलाभालाभनृणसुवर्णादिषु समानचित्तेषु दान्तेन्द्रियान्तकरणेषु जननीमित्र मुक्तिमाश्रितेषु परिहृतोद्योगपायविषयेषु दिव्येषु भोगेषु दोषान्वितचित्त्य विरागतामुगमनेषु ससारमहानुद्वाङ्मयेन निरास्वप्नस्थितिषु, अज्ञोदृष्टमित्यङ्गत्वेषु, समादिदशाविषयमपरिणतेषु यानुकम्पा ना धर्मानुकम्पा, यया प्रयुक्तो जनो विवेकी तद्योग्यान्पापानावयपणादिक सयमसाधन यतिभ्यः प्रयच्छति । स्वामिनिगुह्य दान्त उपसर्ग-दोषानपसारयति आश्रय्यतामिति चेत् करोति भ्रष्टमार्गाणां पत्न्यानुपदर्शयति । तैः प्रमदोद्यमवाप्य अहो मपुण्या वयमिति हृष्यति, सभासु सेवा गुणानुक्तोत्तयति, तान् गुरुमिव पश्यति । तेषां गुणानामाभिरुण स्मरति, महात्मनि वदा नु मम समागम इति । तैः सयोगं लभोपति, तदीयान् गुणान् परैरभिवर्धमानान्निगम्य तुष्यति । इत्यनुकम्पापर साधुगुणानुमननानुकारी भवति । त्रिधा च सन्तो बन्धमुपदिशन्ति, स्वयं कृते, कारणाया, परैः कृतम्यानुमतेश्च । तत्रा महागुणराशिगतहर्षाद् महान् पुण्यास्तव ।

कर्म शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारके हैं । किसने किस कर्मका आस्त्व होता है यह कहते हैं—

पा०—अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग पुण्य कर्मके आस्त्वके द्वार है । और अनुकम्पा तथा शुद्ध उपयोगसे विपरीत परिणाम पाप कर्मके आस्त्वके द्वार है ॥१८२८॥

टी०—अनुकम्पाके तीन भेद हैं—धर्मानुकम्पा, मिथानुकम्पा, सर्वानुकम्पा । जिन्होंने असयमका त्याग कर दिया है, मान, अपमान, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ तथा तृण-सुवर्ण आदिमें जिनका समभाव है, इन्द्रिय और मनका जिन्होंने दमन किया है, जो माताने समान मुक्तिके आश्रित हैं, जिन्होंने उग्र कषाय विषयोका परित्याग किया है, दिव्य भोगोंमें दोषोंका विचार करके विरागताको अपनाया है, ससाररूपी महासमुद्रके भयसे रात्रिमें भी जो बल्य निद्रा लेंते हैं, जिन्होंने नि सगताको स्वीकार किया है और जो उत्तम क्षमा आदि दस प्रकारके धर्मों में लौन हैं उनमें जो अनुकम्पा है उनमें धर्मानुकम्पा कहते हैं । उस धर्मानुकम्पाने प्रेरित होकर विवेकी जन उन मुनियोंके योग्य अन्नपान, वस्त्रतिका आदि समयके साधन प्रदान करते हैं । अपनी शक्तिको न छिपाकर उपसर्ग और दोषोंको दूर करते हैं । ‘हमें आज्ञा कीजिये’ इस प्रकार निवेदन करके सेवा करते हैं । जो मार्गमें भ्रष्ट हो जाते हैं उन्हें सम्मार्ग दिखलाते हैं । उन मुनियोंका सयोग प्राप्त होनेपर ‘अहो हम बड़े पुण्यशाली हैं ।’ इस प्रकार विचार कर प्रसन्न होते हैं । नमालोमें उनके गुणोंका वसान करने हैं । उनको गुरुके समान मानते हैं । उनके गुणोंका सदा स्मरण करते हैं कि कब उनका समागम हो । उनमें भयोंकी अभिलाषा रखते हैं । दूसरे द्वारा उनके गुणोंकी प्रशंसा सुनकर मन्तुष्ट होते हैं । इस प्रकार अनुकम्पामें तत्पर साधु गुणोंको अनुमोदना करनेवाला

मिथ्यानुकम्प्योचते—पृथुपापकर्ममूलेभ्यो हिंसादिभ्यो भ्यावृत्ता सतोपवैराग्यपरता विनीता दिग्विरति, देशविरति, अनयदण्डविरति चोपगतामनोदोषाद् भोगोपभोगान्निवृत्त्य शेषे च भोगे कृतप्रमाणा पापात्परि-
भीताचिता, विशिष्टदेशे काले च विविजितमर्वसावधा पर्वस्वारम्भयोग सकल विमृश्य उपवास ये कुर्वन्ति तेषु
सयतामयतेषु क्रियमाणानुकम्पा मिथ्यानुकम्प्येत्युच्यते । जीवाणि जीवेषु दया च कृत्वा कृत्स्नामबुध्यमाना जिन-
मृन्नाद्याह्य येऽप्यपापण्डरताविनीता कष्टानि तपांसि कुर्वन्ति, तेषु क्रियमाणानुकम्पा तपा सर्वोऽपि कर्मपुण्य
प्रविनोति ।

देश प्रवृत्तिर्गृहिणामकृत्स्नात् मिथ्यास्वतोपोपहतोन्मेषम् ।

इत्येषु मिथो भवतीति धर्मो मिथ्यानुकम्पामवगच्छेत्कृत्वा ॥

सदृष्ट्यो वापि कुदृष्ट्यो वा स्वभावतो भार्दवसप्रमुक्ताः ।

यां कुचते सर्वशरीरवर्गं सर्वानुकम्पेत्यभिधीयते सा ॥

जिह्वा न बद्धा न रूढा न प्रहना न विलुप्यमानाश्च मर्त्यान्, सहैतसो निर्जनो वा परित्यज्य मृगाम्बुह्वान्
सरीसृपान् पशूश्च मासादिनिमित्तं प्रहृत्यमानान् परलोकं परस्परं वा तान् हिंसनो भक्षयत्तश्च दृष्ट्वा
सूक्ष्माननेकान् कुप्युषिपोलिकाप्रभुनि प्राणभृतां मनुजकरमक्षरक्षरभकरितुरगादिभिः समुद्यमानानभिबीक्ष्य
असाध्यरोमोरगदशान् परितप्यमानान् मृनोऽस्मि नष्टोऽस्म्यभिधावतेति रोगानुभूयमानान्, गुरुपुत्रकलत्रादिभिर-

हंता है । पूर्व ज्ञानियोंने वन्धको तीन प्रकारसे कहा है । स्वयं करनेमें, दूसरोंमें करानेसे और
दूसरोंके करने पर उसकी अनुमोदना करनेसे । अतः महागुणशाली मुनियोंको देखकर हर्ष प्रकट
करनेसे महान् पुण्यान्व होता है ।

अब मिथ्यानुकम्पा कहते हैं । जो महान् पाप कर्मों मूल हिंसा आदिसे निवृत्त है, सन्तोष
और वैराग्यमें तत्पर है, विनीत है, दिग्विरति, देशविरति और अनयदण्डविरतिको धारण किये
हुए है, तोत्र दोषवाले भोग उपभोगोंका त्याग करके शेष भोगोंका जिन्होंने परिमाण कर लिया
है, जिनका चित्त पापसे भीत रहता है, जो विशिष्ट देश और कालमें सब सावधका त्याग करते हैं
अर्थात् त्रिकाल सामायिक करते हैं, पर्वके दिनोंमें समस्त आरम्भको त्याग उपवास करते हैं उन
सयतामयमियोंमें जो अनुकम्पा की जाती है वह मिथ्यानुकम्पा है । मैं जिलाता हूँ ऐसा मान जो
जीवोंपर दया तो करते हैं किन्तु पूर्णरूपसे दयाको नहीं जानते । ऐसे जो जिनानाममें बाह्य अन्य
धर्मोंको माननेवाले विनयी तपस्वी हैं कष्टदायक तपस्या करते हैं उनमें अनुकम्पा भी मिथ्यानुकम्पा
है । उनमें सब जीव पुण्य कर्मका सबय करते हैं । वहाँ भी है—

गृहस्थ एकदेशमें प्रवृत्तिशील होनेमें पूर्ण समयका पालक नहीं होता । तथा मिथ्यास्वके
दोषमें सदोष अन्य धर्मवालोंमें अनुकम्पा मिथ्यानुकम्पा है । सम्यग्दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जो
स्वभावमें ही भार्दव भावमें युक्त है वे जो समस्त प्राणियोंमें अनुकम्पा करते हैं उसे सर्वानुकम्पा
कहते हैं । जिनके अवयव बट गये हैं, जो बाधे गये हैं, रोके गये हैं, पीटे गये हैं, खोये गये हैं ऐसी
निरपराधी अथवा अपराधी मनुष्योंको देखकर तथा मृगों, पक्षियों, सरीसृपों और पशुओंको मान
के लिये दूरे लागेके द्वाग माग जाना अथवा उन्हें परस्परमें ही एक दूसरेको हिंसा करते और
एक दूसरेका भक्षण करते देखकर, तथा कुयु चीटी आदि अनेक छोटे जन्तुओंको मनुष्य, ऊँट,
गधा, शरभ, हाथी, घोड़े आदिके द्वाग भुचले जाते देखकर, तथा अमाध्य गेरुसुपी सर्पके द्वारा

प्राप्तकालं महता विपुल्य ऊर्ध्वमुत्तान् विवोगतः, स्वाङ्गानि घनतश्च शोभेत्, उपाजितद्रविणैर्विपुल्यमानान्
कृपणान् प्रनष्टवन्तून् धैर्यशिल्पविद्याव्यवसायहोतान् यात्र प्रज्ञाप्रसवित्या वराकान् निरीक्ष्य तद् दुःखमात्मन्पदमिव
विचिन्त्य स्वास्थ्यमुपशपन्नमनुकम्पा ।

सुदुर्लभं मानुषजन्म लब्ध्वा मा क्लेशायात्राणि वृष्येव भूत ।

धर्मे शुभे भूतहिते यतप्यमित्येवमाद्यैरपि चोपदेशः ॥

कृतकरिष्यमाणोपकाररूपेणैरनुकम्पा कृता भवति ।

पुण्यान्वत सा त्रिविधानुकम्पा सुतेषु पुत्रं जननी शुभेव ।

इवेतानुकम्पा प्रभवतिपुण्यान्ताके भूता अन्वपपत्तिपौषः ॥

शुद्धप्रयोगो निरूप्यते स च द्विप्रकारः यतिगृहिणोर्वरमेदेन । यतं शुद्धोपयोग इत्यम्बुत्—

जीवान् हन्यां न मृषा वदेय चोयं न कुर्यान् भवेय भोगान् ।

घन न सेवेय न च क्षपासु भूशीप कृच्छ्रसि शरीरतापे ॥१॥

शोषेण मानेन च मायया च लोभेन चाह बहूदोषकेन ।

शुद्धेय नारम्भपरिग्रहेऽथ बीजा शुभान्मप्युपगम्य भूय ॥२॥

यथा न भाषाश्चलनौलिमालो मित्रा चरन्कामुक्तागणपति ।

तथा न भाषां यदि दीक्षितः सन् बह्वेय दीपानवष्टाय लज्जाम् ॥३॥

इसे जानेसे पीड़ित मैं मर गया, मैं नष्ट हो गया इत्यादि चिल्लातेवाले रोगियोंको देख तथा जिनकी अवस्था अभी मरनेकी नहीं है ऐसे गुरु, पुत्र, स्त्री आदिका सहसा वियोग हो जानेसे चिन्चिताते हुए, अपने अंगोंको शोकसे पीटते हुए, कमाये हुए धनके नष्ट हो जानेसे दोन हुए तथा धैर्य, शिल्प, विद्या और व्यवसायसे रहित गरीब प्राणियोंको देख उनके दुःखको अपना ही दुःख मानकर उसको शान्त करना अनुकम्पा है । 'अति दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर वृथा ही क्लेशके पात्र मत बनो । प्राणियोंके लिये कल्याणकारी धर्ममें मन लगाओ' इत्यादि उपदेशोंके द्वारा किये गये अथवा भविष्यमें किये जानेवाले उपकारकी अपेक्षाके बिना अनुकम्पा करना चाहिये ।

ये तीनों प्रकारकी अनुकम्पा पुण्य कर्मका आन्वव करती है । वह जैसे माता पुत्रके लिये शुभ होती है उसी प्रकार शुभ है । उस अनुकम्पासे हुए पुण्यके विपाकसे मरकर स्वर्गमें देव होते हैं ।

अब शुद्ध प्रयोगका स्वरूप कहते हैं—उसके दो भेद हैं—एक यति सम्बन्धी शुद्धनप्रयोग और दूसरा गृहस्थ सम्बन्धी शुद्ध सप्रयोग । यतिका शुद्ध प्रयोग इस प्रकार है—मैं जीवोंका घात नहीं करूँगा । झूठ नहीं बोलूँगा । चोरी नहीं करूँगा । भोगोंको नहीं भोगूँगा । घनका सेवन नहीं करूँगा । शरीरमें अत्यन्त कष्ट होनेपर भी रात्रिमें भोजन नहीं करूँगा । शुभ दीक्षा लेकर बहुदोषपूर्ण क्रोध माना माया लोभसे आरम्भ और परिग्रहसे सम्बन्ध नहीं रखूँगा । जैसे कोई मनुष्य निरस्पर मुकुटमाला धारण करके और हाथमें धनुष बाण लेकर मित्रा मागे तो शोभा नहीं देता । उनी प्रकार यदि मैं दीक्षा लेकर लज्जा त्याग दोषोंको बहन करूँ तो शोभा नहीं देता । महान्

लिङ्ग गृहीत्वा महतामूषीणा, अङ्ग च विघ्नत्परिकर्महीनम् ।
भट्टग व्रतानामविचित्त्य कष्ट सङ्ग कथ कामगुणेषु कुर्याम् ॥४॥
चर्यामनार्याचरितामधेया धैर्येण हीन कृपणत्वमेत्य ।
कथ ध्यामण्डनिराशचरेय लिङ्गीभवन्तङ्गविकारयुक् ॥५॥
इत्येवमादि शुभकर्मचिन्ता सिद्धाहंदाचार्यबहुभूतेषु ।
चेत्येषु सधे जिनशासने च भक्तिविरक्तिगुणरागिता च ॥

विनीतना सयमो अप्रमत्तता, मृदुता, क्षमा, आर्जव सतोष, सज्ञाश्रयमौर्वविजय, उपसर्ग-
परीपहृजय, सम्यग्दर्शन, तत्त्वज्ञान, सरागमयम, दसविधधर्मध्यान, जिनेन्द्रपूजा, पूजोपदेश नि शक्तिस्वा-
दिगुणाष्टक, प्रशस्तरागसमेता तपोभावना, पञ्चममिषय, तिष्ठो गुप्तय इत्येवमाद्या शुद्धप्रयोगा । गृहिणा
शुद्धोपयोग उच्यते—गृहीतव्रताना धारणपालनयोरिच्छा क्षणमपि व्रतमङ्गोनिष्ट, अभीक्ष्ण यतिप्रयोग
अन्नादिदान श्रद्धादिविधिपुरस्सर भ्रमनोदनाय भोगान् भुक्त्वापि स्वगित्वा सक्तिविगर्हण, सदा गृहप्रमोक्षप्राप्त्यना,
धर्मध्वजोपकम्भात्मनमोर्जितनुष्टि, भक्त्या पञ्चगुह्यस्तवनप्रणमने तत्पूजा, परेषा च स्थितीकरणमुपवृहण,
वात्सल्य, जिनेन्द्रभक्तानामुपकारकरण, जिनेन्द्रसास्त्राभिगम, जिनगामनप्रभावना इत्यादिक । 'तद्विवरीद'
अनुकम्पाशुद्धप्रयोगाभ्या विपरीत परिणाम । 'आसन्नद्वार' आसन्नद्वार, 'पापस्त कम्मन्त' अनुभूत
कर्मण । आसन्न । ॥१८२८॥

ऋषियोका लिंग स्वीकार करके और स्नान आदिके बिना शरीर धारण करके व्रतोंके भगका
विचार न करते हुए काम सेवन आदिका ससर्ग में कैसे कर सकता है । मैं धैर्य हूँ, दीन बनकर
अनार्योंके द्वारा आचरण करके योग्य चर्या कैसे कर सकता हूँ । शरीरमे विकार युक्त होकर धूमने
पर साधु होकर सिर मुडाना व्यर्थ है । इत्यादि प्रकारसे शुभ कर्मकी चिन्ता करना, सिद्ध, अर्हन्त,
आचार्य, उपाध्याय, प्रतिमा, सध और जिनशासनमे भक्ति, वैराग्य, गुणोमे अनुराग, त्रिनययुक्त
प्रवृत्ति, सयम, अप्रमादीपना, परिणामोमे कोमलता, क्षमा, आर्जव, सन्तोष, आहारादि सज्ञा
मिथ्यात्व आदि शरय और ऋद्धि आदिके मदको जीतना, उपसर्ग और परीपहको जीतना, सम्य-
ग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सरागसयम, दस प्रकारका धर्मध्यान, जितपूजा, जितपूजाका उपदेश,
नि शक्ति आदि आठ गुण, प्रशस्तराग, तपोभावना, पांच समिति, तीन गुति इत्यादि शुद्ध
प्रयोग हैं ।

अथ गृहस्थोका शुद्ध प्रयोग कहते हैं—ग्रहण किये हुए व्रतोंके धारण और पालनको इच्छा,
एक क्षणके लिये भी व्रतभगको इष्ट न मानना, निरन्तर यतियोंको दान देना, श्रद्धा आदि विधि-
पूर्वक अन्न आदि देना, भोगोंको भोगकर भी यकान दूर करनेके लिये अपनी भोगासक्ति को निन्दा
करना, सदा घर छोड़नेकी भावना करना, धर्मका ध्वण करनेको मिले तो मनका अनितुष्ट होना,
भक्तिपूर्वक पंचपरमेष्ठोका स्तवन और प्रणाम करना, उनको पूजा करना, दूसरोंको धर्ममे स्थिर
करना, धर्मका बढ़ाना साधर्मिवात्सल्य, जिनेन्द्रदेवो मळोका उपकार करना, जिन धाम्प्रोका
अभ्यास करना, जिनशासनको प्रभावना करना आदि ध्यावकोका शुद्ध प्रयोग है । अनुकम्पा और
शुद्ध प्रयोगमे विपरीत परिणाम अनुभूत कर्मके आश्रवके द्वार हैं ॥१८२८॥

सवरानुप्रेक्षा वक्ष्यते । सन्नियन्ते निरुध्यन्तेऽभिनवा कर्मपर्याया पुद्गलाना येन जीवपरिणामेन । मिथ्यात्वादिरिणामो वा निरुध्यते स संवरः । तत्राय सूरिमिथ्यात्वादिरिणामसवरान् सम्यक्त्वादीनां सवरतामाचष्टे—

मिच्छतासवदार रुंभइ सम्मत्तदिठक्वाडेण ।

हिंसादिदुवाराणि वि दठवदफलहेहिं रुंभति ॥१८२९॥

‘मिच्छतासवदार’ तत्त्वाभेदानमात्रवद्धार । ‘रुंभति’ रुंभते, ‘सम्मत्तदिठक्वाडेण’ तत्त्वभेदान् क्वाटेन । ‘हिंसादिदुवाराणि वि’ हिंसादिद्वाराण्यपि, ‘दठवदफलहेहिं रुंभति’ दृढवदपरिणामं स्पष्टयन्ति ॥१८२९॥

उवसमदयादमाउहकरेण रक्खा कमायचोरेहिं ।

सक्का काउं आउहकरेण रक्खाव चोराण ॥१८३०॥

‘उवसमदयादमाउहकरेण’ उपनाम कपायवेदनीयस्य कर्मणस्तिरोनवन, दया सर्वप्राणिविषया, दया कपायदोषभावनाया वित्तनिग्रहः । एते त्रय आयुषा करे यस्य तेन । ‘कमायचोरेहिं’ कपायचोरेभ्यः । ‘रक्खा सक्का काउं’ रक्षा शक्या कर्तुं, ‘आयुषकरेण रक्खाव चोरेहिं’ आयुषहस्तेन चोरेभ्यो रक्षेव, कपायदोषपरिणामेनानन्दं प्रवृत्तेन क्रोधादिनिमित्तवस्तुपरिहारेण तत्प्रतिषेधसमादिरिणामेन च कपायनिवारणः । उक्तं च—

जयेत्सदा क्रोधमुपाभितः क्षमां जयेच्च भान समुपेत्य मार्दवं ।

तथैव मायामपि धार्जवाजयेत्, जयेच्च सन्तोषवशेन लुब्धतां ॥

जिता कपाया यदि किञ्चित् जितं कपायमूलं सत्त्वं हि वक्ष्यन्मिति ॥१८३०॥

मिथ्यात्वसवर कपायसवर च निरूप्य हिन्द्रपसवर आचष्टे—

इदियदुहं तस्सा णिधिप्पति दमणाणखलिणेहिं ।

उप्पहगामी णिधिप्पति हु खलिणेहिं जह तुरया ॥१८३१॥

अथ सवर अनुप्रेक्षा कहते हैं । जिस जीव परिणामसे पुद्गललोक नवीन कर्म पर्याय अथवा मिथ्यात्वादि परिणाम रक्ते हैं उसे सवर कहते हैं । उनमेंसे ग्रन्थकार मिथ्यात्व आदि परिणामोका सवर करनेसे सम्यक्त्व आदिको सवर कहते हैं—

गा०—मिथ्यात्व अर्थात् तत्त्वके अश्रद्धानरूप आस्तवका द्वार सम्यक्त्व अर्थात् तत्त्वके श्रद्धान रूप दृढ कपाटोंके द्वारा रोका जाता है और हिंसा आदि आत्मव द्वाराको दृढ वृत्तरूपी अंगलाओसे रोका जाता है ॥१८२९॥

गा०—टी०—कपायवेदनीय कर्मके तिरोभाव अर्थात् उदय अवस्थाको प्राप्त न होनेकी उपसम कहते हैं । सब प्राणियोपर दयाभाव होना दया है । कपायोंके दोषोका विचार करके चित्तका निग्रह करना दम है । ये तीन अस्त्र जिसके पास हैं वह कपायरूप चोरोंसे अपनी रक्षा कर सकता है । जैसे जिसके हाथमें अस्त्र होता है वह चोरोंसे अपनी रक्षा कर सकता है उसी प्रकार कपायके दोषोंको जाननेसे, क्रोध आदिमें निमित्त वस्तुसे ध्वजनेसे और कपायोंके विरोधी क्षमा आदि परिणामोंसे कपायको दूर किया जा सकता है । कहा भी है—सदा क्षमाकी उपासना करके क्रोधको जीतना चाहिये । मार्दवको धारण कर्णके मानको जीतना चाहिये । तथा आज्ञवभावसे मायाको जीतना चाहिये और सन्तोषसे लोभको जीतना चाहिये । जिसने कपायोंको जीत लिया उन्होंने क्या नहीं जीता । अर्थात् सबको जीत लिया । क्योंकि सब वचनका मूल कपाय है ॥१८३०॥

‘इन्द्रियदुर्दृष्टता’ इन्द्रियदुर्दान्तादवा । ‘निगिष्पति’ निगृह्यन्ते निरुध्यन्ते । केन ? ‘दमपानसल्लिगेहि’ दमपानानि दमनानि, तान्येव खलिनानि तै । शब्दादिषु वर्तमानानि इन्द्रियज्ञानानि रागद्वेषमूलानि तानि-हेन्द्रियशब्देनोच्यन्ते । तेषां चासन्नानां निरोधस्तत्त्वज्ञानभावनया भवति । द्वयो रूपयोग्यपदेकस्मिन्नात्मन्य-प्रवृत्ते । ‘उपपत्तयामो’ उन्मार्गयायिन । ‘जह तुरया निगिष्पति’ यथादवा निगृह्यन्ते । ‘सल्लिगेहि’ खरै खलिनं ॥१८३१॥

अणिहुदमणमा इन्द्रियमप्पाणि निगेहिदु ण तीरति ।

विज्जामतोसघहीणेण च आसीविसा सप्पा ॥१८३२॥

‘अणिहुदमणसा’ ज्ञानेन अनिमृत्चेतसा । ‘इन्द्रियसप्पा’ इन्द्रियसर्पा । ‘निगिष्पते’ निग्रहीतु । ‘ण तीरति’ न शक्यन्ते । ‘विज्जामतोसघहीणेण च’ विद्यया मन्त्रेण औपधेन वा हीनेन, ‘आसीविसा सप्पा’ आसीविषा सर्पा यथा न गृह्यन्ते ॥१८३२॥

प्रमादसवर कथयत्युत्तरगाथा—

पावपयोगासवदारणिरोधो अप्पमादफलगेण ।

कीरड फलिगेण जहा पावाए जलासवणिरोधो ॥१८३३॥

‘पावपयोगासवदारणिरोधो’ अशुभपरिणामासवदारनिरोध । विकयादयः पञ्चदशप्रमादपरिणामा ‘पावपयोगा’ इत्युच्यन्ते । तेषां निरोध ‘अप्पमादफलगेण’ अप्रमादफलकेन । केन फलकेन क ‘प्रमाद उच्यते सत्यासत्यमृषाभाषा विकया निरुगडि, स्वाध्यायो ध्यान एकाग्रतेति चेति एते प्रमादविकयाप्रतिपक्षमूता ।

मिथ्यात्व और कपायके सवरका कथन करके इन्द्रिय सवर कहते हैं—

गा०—टी०—जैसे कुमार्गमें जानेवाले दुष्ट घोड़ोको कठोर लगामके द्वारा बशमें किया जाता है । वैसे ही दमप्रधान ज्ञानके द्वारा इन्द्रियरूपी दुर्दान्त घोड़ोको बशमें किया जाता है । यहाँ इन्द्रिय शब्दमें शब्द आदि विषयोमें प्रवर्तमान इन्द्रिय ज्ञानको कहा है जिसका मूल राग और द्वेष है । उनमें हानेवाले आसवोका निरोध तत्त्वज्ञानकी भावनामें होता है क्योंकि एक आत्मामें एक साथ दो रूप—तत्त्वज्ञान भी और इन्द्रिय विषयोमें प्रवृत्ति भी नहीं हो सकते ॥१८३१॥

गा०—जैसे जिसके पाम विद्या, मन्त्र और औपध नहीं है वह सर्पों को बशमें नहीं कर सकता । उसी प्रकार जिसका मन चंचल है वह इन्द्रियरूपी सर्पों को बशमें नहीं कर सकता ॥१८३२॥

आगे प्रमादके सवरकी कहने हैं—

गा०—जैसे लकड़ीके पाटिये में नावमें जलवा आना रोका जाता है । वैसे ही अप्रमादरूपी पाटियेमें अशुभ परिणामोरूपी आसव द्वारको रोका जाता है ॥१८३३॥

टी०—किस पाटियेमें किस प्रमादको रोका जाता है यह कहते हैं—सत्य और अनुभयरूप वचन विकया नामक प्रमादको रोकने हैं । स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता ये विकया नामक प्रमादके प्रतिपक्षी हैं । इनमें लगे रहनेमें खोटी बयाबा अवसर ही नहीं मिलता । शमा, मार्दव, आर्जव

क्षमामार्दवार्जवसतोषा, नपायप्रमादस्य प्रत्यनीकभूता । ज्ञानभावना, रामद्वेपेन्द्रियविषयविविक्तदेशावस्थान ज्ञानेन मन प्रणिधान, इन्द्रियविषयरागद्वेषजदोषाणामनुस्मरण, विषयोपलब्धावनादररचेति एते इन्द्रिय-प्रमादप्रतिपक्षा । तथा चोक्त—

वराङ्गनाङ्गानि च रागचोदितो यदुच्छया वा न निरोक्ष्य रज्यति ।
तथैव रूपाण्यशुभानि घोषितु, न नेच्छति द्वेषवशप्रचोदित ॥१॥
निरोक्ष्य न हृष्टि यदुच्छयापि च भवेत्स जेता पुण्य स्वचक्षुष ।
मुगीतवादित्रभवान्मनोहरान् स्वरान्मनोज्ञान्युबतीरितानपि ॥२॥
न वाञ्छति ध्योतुमिहादरेण यो यदुच्छया वा न निशाम्य रज्यति ।
स्वराननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितु ॥३॥
निशाम्य न हृष्टि यदुच्छयापि च भवेत्स जेता श्रवणेन्द्रियस्य च ।
तुरककावागुरुकुण्डकुङ्कुमान् तमालपत्रोत्पलचम्पकादिकान् ॥४॥
शुभ न जिघ्रासति गन्धमादरात् यदुच्छयाप्राप्य न चापि रज्यति ।
तथैव गन्धानशुभानपोह यो न नेच्छति घ्रातुमसूततट्टिपान् ॥५॥
नियेय्य न हृष्टि यदुच्छयापि च भवेत्स मासेन्द्रियजिह्वोत्सवः ।
न यो महामूढविशिष्टभोजनप्रियापलेहापि मनोहरान् रसान् ॥६॥
नियेवितु रागवशेन काङ्क्षति यदुच्छया या न नियेय्य रज्यति ।
रसाननेकानमनोहरानपि न नेच्छति द्वेषवशेन सेवितु ॥७॥
नियेय्य न हृष्टि यदुच्छयापि च भवेत्स जेता रसनेन्द्रियस्य च ।

कपायनामक प्रमादके विरोधी है । ज्ञानकी भावना, रागद्वेषके कारण इन्द्रिय विषयोंसे रहित देशमें रहना, ज्ञानके द्वारा मनको एकाग्र करना, इन्द्रियोंके विषयोंमें रागद्वेषमें उत्पन्न हुए दोषोंका स्मरण करना, और विषयोंकी उपलब्धिमें आदरभाव न होना, ये इन्द्रिय नामक प्रमादके विरोधी हैं । कहा भी है—

रागसे प्रेरित होकर अपना स्वेच्छासे सुन्दर स्त्रीके अगोकी देखकर राग नहीं करता । तथा द्वेषसे प्रेरित होकर अशुभ स्त्रीको देखनेकी इच्छा नहीं करता । जो महच्छासे देखकर भी द्वेष नहीं करता वह पुरुष अपनी आँखोंका विजेता है । अच्छे गीत, और वादियोंके मनोहर स्वरोको तथा युवती स्त्रियोंके द्वारा कहे गये शब्दोंको भी जो आदरपूर्वक सुनना नहीं चाहता और अचानक सुनकर भी उनमें अनुराग नहीं करता । तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर स्वरोको भी सुननेकी इच्छा नहीं करता । अचानक अमनोज्ञ स्वर सुनाई पड़ जाये तो उससे द्वेष नहीं करता, वह श्रवणेन्द्रियका जेता है । लोपान, काला अगर, कुण्ड, कुकुम, तमालपत्र, कमल, चम्पक आदिकी सुगन्धको आदरभावमें जो नहीं सूँघता, और अचानक सूँघनेमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता । उसी प्रकार जो अशुभ गन्धको भी सूँघनेसे द्वेष नहीं करता । और अचानक दुर्गन्ध सूँघ ले तो उससे द्वेष नहीं करता वह श्रेष्ठ पुरुष नासा इन्द्रियको जीतनेवाला है । जो अत्यन्त मोठे विशिष्ट भोजनको और मनोहर रसोंको रागवश सेवन करना नहीं चाहता, अचानक सेवनमें आ जाये तो उसमें राग नहीं करता । तथा द्वेषवश अनेक अमनोहर रसोंको भी सेवन

मनोज्ञश्यासनकान्तयोपिता, शुभाश्च यः स्पर्शविधौ मनोहरान् ॥८॥
 न सेविन्तु रागवशेन वाञ्छति यदृच्छया वा न निषेव्य रज्यति ।
 प्रमदनाच्छादनमार्जनानि वा विलेपनाभ्यञ्जनमञ्जनानि च ॥९॥
 शरीरसौख्याय न यच्च सेवते विबुद्धवेराग्ययुतो महायति ।
 हिमोष्णभूनेलक्षितातृणादिनानशोभनान् स्पर्शविधौश्च सर्वदा ॥१०॥
 न नेच्छति द्वेष्टि न वाप्सुपायतात् त्वगिन्द्रियस्यैव भजेद्विबिधता ।
 रणे रिपूणामिव निर्भयो जयेत धर्मेन्द्रियाणां ज्यमास्थितो यतिरिति ॥११॥

निद्रायां प्रतिपन्नभूतोऽप्रमादः, अनशनमवमोदयः, रत्नपरित्यागः, सत्साराद्धीतिनिद्रादोषचिन्ता रत्न-
 त्रयेऽनुरागः स्वदुश्चरितानां स्मरणेन शोक इत्येवमादिकः । स्नेहप्रमादप्रतिपक्षभावनोच्यते—वन्धुतायां अनवस्थि-
 तत्वभावना, तदयतिकारम्भपरिग्रहप्रवृत्तिचिन्ता, धर्मविघ्नता, दोषापेक्षामित्यादिकः । एवभूतेनाप्रमादफलकेन
 प्रवर्तता निरूप्यते । 'कीरि कलनेन अहं' क्रियते फलकेन यथा । 'शावाए जलासवनिरोधो' नाव जलालव-
 निरोधः ॥१८३३॥

गुत्तिपरिखाड हि गुत्त सजमणयर ण कम्मरिउसेणा ।

यधेडं मत्तुसेणा पुग व परिखादिहि सुगुत्त ॥१८३४॥

'गुत्तिपरिखाडिगुत्त' गुत्तिपरिखाभिर्गुत्त, सयमनगर कर्मरिपुसेना न भन्तु शक्नोति । परिखादि-
 भिर्गुत्त शत्रुसेनेवेति । गुत्तः सवरतास्याता ॥१८३४॥

न करनेकी इच्छा नहीं करता । और अचानक सेवनमें आ जाय तो द्वेष नहीं करता, वह रसना
 इन्द्रियका जेना होता है । जो मनोज्ञ शय्या, मनोज्ञ आसन, सुन्दर स्त्री, तथा मनोहर शुभ
 स्पर्शवाली वस्तुओंको रागके बशीभूत हो सेवन करनेकी इच्छा नहीं करता । अचानक सेवनमें
 आनेपर उनसे राग नहीं कृता । तथा जो बड़े हुए वैराग्यमें शोभित महायती शारीरिक सुखके
 लिये शरीरका दबाना, आच्छादन, मार्जन, लेपन, तेल, स्नान आदिका सेवन नहीं करता । तथा
 सर्वदा अतिशीतल या अतिउष्ण पृथ्वी, पहाड, पत्थर, तृण आदि जन्य अप्रिय म्पर्शों को मेवन न
 करनेकी इच्छा नहीं करता और ऐसे अप्रिय स्पर्श प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष नहीं करता वह स्पर्शन
 इन्द्रियका जीननेवाला होता है । जैसे युद्धमें निर्भय व्यक्ति शत्रुओंको जीतता है । उनी प्रकार
 वह यति इन्द्रियोंको जीतता है । निद्राका विरोधी है अप्रमाद, अनशन, अवमोदय, रत्नपरित्याग,
 सत्सारे भय, निद्राके दोषोका चिन्तन, रत्नत्रयमें अनुराग, अपने बुरे आचरणोका स्मरण करके
 शोक करना आदि । स्नेह नामक प्रमादकी विरोधी भावना कहते हैं—वन्धुता अस्थिर है ऐसा
 विचारना जिनके प्रति स्नेह होता है उनके लिये अनेक आरम्भ परिग्रह आदिकी चिन्ता बरना
 होती है । धर्म साधनमें विघ्न होना है । इत्यादि दोषोका चिन्तन स्नेहका प्रतिपक्षी है । इस
 प्रकारके अप्रमादरूप पाटियेसे प्रमादजन्य आश्रयका सवर होता है ॥१८३३॥

गा०—जैसे शत्रुकी सेना परिखा आदिसे सुरक्षित नगरको नष्ट नहीं कर सकती ।
 वैसे ही कर्मरुपी शत्रुकी सेना गुप्तिरूपी परिखा आदिसे युक्त सयमरूपी नगरको नष्ट नहीं कर
 सकती ॥१८३४॥

गुप्तीना सवरतामाख्याति—

समिदिदिद्विणावमारुहिय अप्पमत्तो भवोदधि तरटि ।

छज्जीवणिकायवधादिपावमगरेहि अन्धित्तो ॥१८३५॥

‘समिदिदिद्विणावमारुहिय’ समितिसज्जिता दृढनावमारुह्य । ‘अप्पमत्तो’ अप्रमत्तो भवोदधि तरति पद्मजीवणिकायवधादिपापमकरैरस्पृष्ट । एतेन समिते सवरतास्याता ॥१८३५॥

दारेव दारवालो हिदये सुप्पणिहिदा सदी जस्स ।

दोसा घसति ण त पुर सुमुत्त जहा सच्च् ॥१८३६॥

‘दारेव दारवालो’ द्वारे द्वारपाल इव । हृदये सम्प्रवर्णिहिता वस्तुतत्त्वाना स्मृतियस्य त दोषा नाश-
भिभवन्ति पुर सुमुत्त पात्रव इव ॥१८३६॥

जो हु सदिविप्पहूणो मो दोसरिऊण गेज्झओ होइ ।

अधलगो व चरतो ‘अरीणमविदिज्जओ चैव ॥१८३७॥

‘जो ए सदिविप्पहूणो’ य स्मृतिहीन । ‘सो दोसरिऊण गेज्झओ होइ’ असौ दोषरिपुर्निर्माह्यो भवति । अरीणा मध्ये असहायोऽयं शत्रुग्राह्यो यथा ॥१८३७॥

अमु‘पतो सम्मत्त परीसहचमुक्करे उदीरतो ।

णेव मदी मोत्तव्वा एत्थ दु आराधणा भणिया ॥१८३८॥

‘अमुपतेण’ अमुञ्जता । ‘सम्मत्त’ रत्नत्रय । ‘परीसहसमोकरे’ परीपहृष्टकरे अभिभवत्यपि नैव स्मृति-
मोक्तव्या । अन्नाराधना कथिता । सवर । ॥१८३८॥

इससे गुप्तिको सवरका कारण कहा है—

गा०—प्रमादरहित साधु समितिरूपी दृढ नावपर आस्ट होकर छह कायके जीवोंके घातसे होनेवाले पापरूपी मगरमच्छोंसे अछूता रहकर ससार समुद्रको पार करता है ॥१८३५॥

इससे समितिको सवरका कारण कहा है—

गा०—जैसे सुरक्षित नगरका शत्रु ध्वंस नहीं कर सकते, उसी प्रकार द्वारपर खड़े द्वार-
पालकी तरह जिसके हृदयमें वस्तु तत्त्वोंकी स्मृति बनी रहती है, दोष उसका अनिष्ट नहीं कर सकते ॥१८३६॥

गा०—जैसे शत्रुओंके मध्यमें असहाय अन्धा व्यक्ति शत्रुओंके द्वारा पकड़ा जाता है । वैसे
हैं जो वस्तु तत्त्वोंका सतत स्मरण नहीं रहता, वह दोषरूपी शत्रुओंसे पकड़ा जाता है ॥१८३७॥

गा०—गरीपहोंके समूहसे पीड़ित होते हुए भी गाधुको रत्नत्रयकी न छोड़ते हुए तत्त्वोंका स्मरण नहीं छोड़ना चाहिये । मदा तत्त्वका स्मरण करते रहना चाहिये । इसीको यहाँ आराधना कहा है ॥१८३८॥

सवर अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

निर्जरानुप्रेक्षोच्यते—

इयं सव्यत्यवि सवरसबुद्धकम्पामवो भवितु मुणी ।

कुर्वन्ति तवं विविह सुत्तुच णिज्जराहेदु ॥१८३९॥

‘इयं’ एव । ‘सव्यत्यवि’ उक्तं सवरप्रकारं । ‘सबुद्धकम्पामवो भवितु मुणी’ सवृतकर्मस्त्वो भूत्वा मुनिं करोति विविधं तपः सूत्रोक्तं निर्जराहेतु ॥१८३९॥

तवसा विणा ण मोक्खो सवरमिच्छेण होइ कम्मस्स ।

उवमोगादीहि विणा घण ण हु खीयदि सुगुच ॥१८४०॥

‘तवसा विणा’ तपसोऽन्तरेण न कर्ममोक्षो भवति सवरमात्रेण । सुरक्षितमपि घनं नैव हीयते उपभोग-मन्तरेण तथा । सत्त्वान् तपोनुष्ठानव्यं निर्जराय । का सा निर्जरा नाम ? पूर्वकृतकर्मशासनं तु निर्जरा ॥१८४०॥

पुव्वकदकम्मसदण तु णिज्जरा मा पुणो हवे दुविहा ।

पदमा विवागजादा विदिया अविवागजाया य ॥१८४१॥

‘पुव्वकदकम्मसदण’ पूर्वकृतकर्मपुद्गलस्व-धातूनामवयवानां जीवप्रदेशोऽप्यगमनं निर्जरा । तथा चोक्तं ‘एकदेशकर्मसक्षय-लक्षणा निर्जरेति’ । निर्जरा द्विविधा द्रव्यनिर्जरा भावनिर्जरा चेति । द्रव्यनिर्जरा नाम गृहीतानामशनपानादिद्रव्याणां एकदेशापगमनं वमनादिव । भावनिर्जरा नाम कर्मत्वपर्यायविगमं पुद्गलानां । सा पुनर्द्विविधा, आद्या विपाकजाता वसकल्याणा कर्मणा गलनं विपाकजा निर्जरा । द्वितीयाऽविपाक-जाता ॥१८४१॥

अब निर्जरा अनुप्रेक्षाको कहते हैं—

गा०—इस प्रकार सवरके उक्त भेदोंके द्वारा मुनि कर्मों का आलस्य रोककर आगममें कहे अनेक प्रकारके तपोंको करता है जो निर्जराके कारण हैं ॥१८३९॥

गा०—जैसे सुरक्षित भी घन उपभोग किये बिना नहीं घटना, उसी प्रकार तपके बिना कर्मों के सवरमात्रसे कर्मों का क्षय नहीं होता । अतः निर्जराके लिये तप करना चाहिये । पूर्वमें वद्व कर्मों के क्रमसे क्षयको निर्जरा कहते हैं ॥१८४०॥

गा०-टी०—पूर्वमें वापे हुए पौद्गलिक कर्मस्कन्धोंके अवयवोंका जीवके प्रदेशोंमें अलग होना निर्जरा है । कहा भी है—‘कर्मों के एकदेशका क्षय निर्जराका लक्षण है । निर्जराके दो भेद हैं—द्रव्यनिर्जरा और भावनिर्जरा । खाये हुए भोजन पान आदि द्रव्योंके एकदेशका वमन आदिके द्वारा वाह्य निवर्तना द्रव्यनिर्जरा है । और पुद्गलोंका कर्मरूप पर्यायिकों त्यागना भावनिर्जरा है । भावनिर्जराके भी दो भेद हैं—मविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा । जो कर्म अपना फल दे चुके हैं उनकी निर्जरा मविपाक निर्जरा है और जिन कर्मों का विपाक बाल नहीं आया है उन्हें तप आदिके द्वारा बलान् उदयमें लाकर खेरना अविपाक निर्जरा है ॥१८४१॥

विशेषार्थ—द्रव्यमग्रह आदिमें भी निर्जराके उक्त भेदोंका कथन है किन्तु उनमें फल दे चुकने वाले कर्म पुद्गलोंका जीवसे पृथक् होना द्रव्यनिर्जरा है और जीवके जिन भावसे यह द्रव्यनिर्जरा होती है उस भावको भावनिर्जरा कहा है ॥१८४१॥

अत्र दृष्टान्तमाचष्टे द्विविधा निर्जरामवगमयितु —

कालेण उवावेण य पच्वति जहा वणप्फदिफलाड ।

तह कालेण तवेण य पच्वति कदाणि कम्माणि ॥१८४२॥

‘कालेण उवाएण य’ यथा कालेनोपायेन च वनस्पतीना फलानि पच्यन्ते तथा बालेन तपसा पच्यन्ते कृतानि कर्माणि ॥१८४२॥

तयोर्निर्जरयो वा कस्य भवतीत्याशङ्क्यामाचष्टे—

मव्वेसिं उदयमा गदस्म कम्मस्स णिज्जरा होड ।

कम्मस्स तवेण पुणो सव्वस्म वि णिज्जरा होह ॥१८४३॥

‘सव्वेसिमुदयसमयागदस्स’ अर्धेण समयपूर्वके तपसि कृताना भवताना च अथवा मिथ्यादृष्टपापीना सम्यग्दृष्टपापीना वा उदयावलीकाप्रविष्टस्य दत्तस्य फलस्य कर्मणो निर्जरा भवति । एतेन विपाकनिर्जरा स्वल्पेत्याख्यात भवति । कस्य न सर्वाणि कर्माणि गलन्तीति चेदुच्यते—सर्वाणि कर्माणि भिन्नस्थितिकानि सहकारिकारणाना द्रव्यक्षेपादीना युगपदसान्निध्यादुदय सर्वस्य नोपपन्नजन्ति, ततो वृद्धयप्राप्त तदेवागच्छति नेतरदिति । ‘तवेण पुणो’ तपसा पुन । ‘कम्मस्स सव्वस्स वि’ कर्मण सर्वस्यापि निर्जरा भवति ॥१८४३॥

ण हु कम्मस्स अवेदिदफलस्स कस्सइ हव्वेज्ज परिमोक्खो ।

होज्ज व तस्स विणासो तवग्गिणा डज्झमाणस्स ॥१८४४॥

दोनों प्रकारकी निर्जराको समझानेके लिये दृष्टान्त कहते हैं—

गा०—जैसे वनस्पतियोंके फल अपने समयपर भी पकते हैं और उपाय करनेसे समयसे पहले भी पक जाते हैं, उसी प्रकार पूर्ववद्ध कर्म भी अपनी स्थिति पूरी होनेपर अपना फल देते हैं और तपके द्वारा स्थिति पूरी होनेमें पूर्व ही फल देकर चले जाते हैं ॥१८४२॥

उक्त दोनों निर्जराजोमेंसे किम्के कौन निर्जरा होती है, यह कहते हैं—

गा०-टी०—सभी जीवोंके जो तप करते हैं या तप नहीं करते, अथवा सम्यग्दृष्टी हो या मिथ्यादृष्टी हो उन सब जीवोंके उदयावलीमें प्रवेश करके अपना फल देनेवाले कर्मों की निर्जरा होती है अर्थात् सविपाक निर्जरा तो सभी जीवोंके सदा हुआ करती है क्योंकि सभी जीव सदा कर्म करते हैं और सदा उनका फल भोगते हैं । इससे सविपाक निर्जरा थोड़े ही कर्मकी होती है यह सूचित होता है ।

शका—सब कर्मों की निर्जरा क्यों नहीं होती ?

समाधान—सब कर्मोंकी स्थिति भिन्न-भिन्न होती है । तथा सबके सहकारी कारण द्रव्य क्षेत्र आदि एक साथ नहीं मिलते अतः सब कर्म एक साथ उदयमें नहीं आते । अतः जिस कर्मका उदय होता है उसीकी निर्जरा होती है । क्षेपकी निर्जरा नहीं होती । किन्तु तप करनेसे सब कर्मों की निर्जरा होती है ॥१८४३॥

‘कम्मस्स ण ह्वेज्ज परिमोक्खो’ अननुभूतफलस्य कर्मणो नैव कस्यचित् मोक्षो भवति इति । ततः फल प्रदायापयति । एतेन विपाकनिर्जरोक्ता ‘होज्ज व तस्स कम्मस्स विणासो’ भवेद्वा तस्य कर्मणो विनाशः । ‘तवगिणा डज्जमाणस्स’ तपोअग्निना दह्यमानस्य । एतेन कृतं कर्म तत्फलमदात्वा न निवर्तत इत्येतन्निरस्त ॥१८४४॥

उद्दिऊण जहा अग्गी विद्धमदि सुवहुगपि तणरासी ।

विद्धसेदि तवग्गी तह कम्मतण सुवहुगपि ॥१८४५॥

‘उद्दिऊण जहा अग्गी’ ययानिर्दग्धा नाशयति महातमपि तुणरासि तथा तपोअग्निं सुमहदपि कर्मतुणं विनाशयति ॥१८४५॥

तपस कर्मविनाशनक्रममुपदर्शयत्युत्तराध्यायः—

कम्म पि परिणमिज्जड सिणेहपरिसोमएण सुतवेण ।

तो त सिणेहमुक्क कम्म परिसडदि धूलिन्व ॥१८४६॥

‘कम्म पि परिणमिज्जडि’ कर्माण्यपि अभाव नीयन्ते, केण ? ‘सुतवेण’ ज्ञानदर्शनवरणसहभाविना तपसा । ‘सिणेहपरिसोमएण’ कर्मपुद्गलगतस्नेहपरिणामविशेषकारिणः । ‘तो’ पश्चात् । स्नेहपरिणामविनाशोत्तरकालः । ‘कम्म परिसडदि’ कर्म परितोऽपवाति, ‘सिणेहमुक्क’ स्नेहमुक्त धूलिव । दृश्यते हि स्नेहावबन्ध-मुपागतानां तनक्षते परस्परतो विभोगं यथा जलेनैव पिण्डतापनानां मिक्तानां ध्रुके जले विभोगमापद्यमानता ॥१८४६॥

भा०-टी०—जिस कर्मका फल नहीं भोगा गया है उसका विनाश नहीं होता । अतः कर्म फल देकर जाता है । इससे सविपाक निर्जराका स्वरूप कहा । सविपाक निर्जरा उन्हीं कर्मोंकी होनी है जो अपना फल दे चुकते हैं । किन्तु तपको अग्निमें जलकर ऐसे कर्मों का भी विनाश होता है जिन्होंने फल नहीं दिया है । इसमें जो मत ऐसा म नते हैं कि किया हुआ कर्म विना फल दिये नहीं जाता, उनका खण्डन होता है ॥१८४४॥

भा०—जैसे आग महान् भी तुणरासिकी जलाकर खाक कर देती है । उसी प्रकार तपस्वी आग महान् भी कर्मरूपी तुणोंके ढेरको जलाकर नष्ट कर देती है ॥१८४५॥

आगे तपमें कर्मों के विनाशका क्रम दिखलाते हैं—

भा०-टी०—ज्ञान, दर्शन और चारित्रिके साथ होनेवाला तप कर्म-पुद्गलमें रहनेवाले स्नेह परिणामको सोख लेता है । अतः उससे कर्मों का अभाव होता है । क्योंकि कर्मों में रहनेवाले स्नेहपरिणामका विनाश होनेके पश्चात् स्नेहरहित धूलकी तरह कर्म नष्ट हो जाते हैं । देखा जाता है जो वस्तुएँ चिक्चकणता गुणके कारण परस्परमें बँधी होनी हैं, उनकी चिक्चकणता नष्ट होनेपर वे परस्परमें अलग हो जाती हैं जैसे जलके सयोगसे धूल बँध जाती है और जलके भूमने पर अलग-अलग हो जाती है । इसी प्रकार कषाय आदि रूप स्नेहके कारण जो कर्मपुद्गल जीवके माय एकरूप होते हैं, तपके द्वारा कषायके चत्रे जानेपर वे जीवमें पृथक् हो जाते हैं ॥१८४६॥

१ कर्माणि सुतवेण गोमनेन तपसाऽप्यभावा नीयन्ते । केण ? ज्ञान आ० ।

घादुगद जह कणय सुज्झइ घम्मंतमग्गिणा महदा ।

सुज्झइ तवग्गि'घतो तह जीवो कम्मधादुगदो ॥१८४७॥

‘घादुगद’ यथा सुवर्णपाषाणवत वनक महताग्निना दह्यमानं शुष्यति, मलान् पृषग्भवति तथा जीव कर्मधातुगतस्तपोऽग्निना दह्यमानं शुष्यति ॥१८४७॥

यद्येव तप एवानुष्ठातव्यं किं सवरणेति शङ्का निराकरोति—

तवसा चेव ण मोक्खो सवरहीणस्स होइ जिणवयणे ।

ण हु सोत्ते पविसते किसिणं परिसुस्सदि तलाय ॥१८४८॥

‘तवसा चेव ण मोक्खो’ तपसंश्च न सर्वकर्मापायो भवति, सवरहीणस्य जिनवचने । सोत्तमि प्रविशति न जलादिकं कृत्स्नं परिशुष्यति ॥१८४८॥

एवं पिण्डसवरवम्भो सम्भत्तवाहणारूढो ।

सुदणायमहाघणुगो ज्ञाणादित्तवोमयसरेहि ॥१८४९॥

‘एवं पिण्डसवरवम्भो’ एवं पिण्डसवरकवच, सम्पक्ववाहणारूढ, श्रुतज्ञानचापधर, ध्यानादित्त-
वोमयदर्श ॥१८४९॥

सजमरणभूमीए कम्मरिचमू पराजिणिय सव्वं ।

पावदि भजमजोहो अणोवम मोक्खरज्जसिणिं ॥१८५०॥

‘सजमरणभूमीए’ मयमयुद्धाङ्गणे कर्मारिचमू सर्वाग्निभूय प्राप्नोति सयत्तयोध अनुपमा मोक्षराज्य-
धिय । निर्जरा ॥१८५०॥

गा०—जैसे सुवर्ण पाषाणको महान् अग्निमें फूँकने पर उसमेंसे सोना अलग हो जाता है । उसी प्रकार तपस्वी आगसे तपानेपर कर्मरूपी धातुमें घिरा हुआ जीव शुद्ध हो जाता है ॥१८४७॥

इम परसे कोई शका करता है कि यदि तपमें जीव शुद्ध होता है तो तप ही करना चाहिए, सवरणी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हैं—

गा०—जिनागममें सवरके बिना केवल तपसे ही सब कर्मों का विनाश नहीं कहा है । क्योंकि यदि तालानमें जल आता रहता है तो तालावको पूर्णरूपमें सुखाया नहीं जा सकता ॥१८४८॥

गा०—अतः जिमने सवररूप कवच धारण किया है, जो सम्पक्वरूपी रथपर सवार है, और श्रुतज्ञानरूपी घनुष लिये हुए है वह मयमरूपी योद्धा मयमरूपी रणभूमिमें ध्यान आदि तपोमय वाणोंके द्वारा समस्त कर्मरूपी शत्रुओंको सेनाको पराजित करके मोक्षरूपी अनुपम राज्य-
लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥१८५०॥

निर्जरानुप्रेक्षावा कथन समाप्त हुआ ।

धर्मगुणानुप्रेक्षायाव्यन्ते—

जीवो भोक्तृपुरवकडकल्लाणपरपरस्त जो भागी ।

भावेणुववज्जदि मो धम्म त तारिसमुदार ॥१८५१॥

‘जीवो भोक्तृपुरवकडकल्लाणपरपरस्त जो भागी’ यो जीव भोक्षावमानकल्याणपरपरगया भाजनमूत ।
म धम भावेन प्रतिपद्यते, त तादृशमुदार सक्तुमुद्यमपादनमम महान्त धम ॥१८५१॥

धम्मणे होदि पुज्जो विस्समणिज्जो पिओ जममी य ।

सुहसज्जो य णराण धम्मो मणणिब्बुदिकगे य ॥१८५२॥

‘धम्मणे होदि पुज्जो’ धर्मेण पूज्यो भवति । विश्वसनीय प्रियो यमम्बो च भवति, सुखेन च साध्यो
नराणा धर्म । उक्त च—दृष्टे धृते च विदिते स्मृते च धर्मे कलागमो भवतीति, मनसा निवृत्ति च
करोति ॥१८५२॥

जावदियाइ कल्लाणाइ ’ माणुस्म-देवलोगे य ।

आवहदि ताण सव्वाणि भोक्तृ भोक्तृं च यधम्मो ॥१८५३॥

‘जावदियाइ कल्लाणाइ’ यावति कल्याणानि स्वर्गे मनुष्यलोके च तानि सर्वाण्याकपनि धर्मो भोग
मुत्त च ॥१८५३॥

ते धण्णा जिणधम्म जिणदिट्ठं सव्वदुक्खणामयर ।

पडिबण्णा दिट्ठधिदिया विसुद्धमणमा णिगवेस्सा ॥१८५४॥

‘ते धण्णा’ पुण्यवन्त । जितदृष्ट धम सर्वदुःखनाशकर प्रतिपन्ना बुद्धेन मनसा दृढप्रविका,
निर्वाहुला ॥१८५४॥

अथ धर्मानुप्रेक्षाया कथन करते हैं—

गा०—जो जीव सुदेवत्व सुमानुषत्व आदि कल्याण परम्पराके साथ अन्तर्मे मोक्षार्थ प्राप्त
करता है वही ममस्त मुख सम्पादनमे समर्थ महान् धर्मको भावपूर्वक धारण करता है । अर्थात्
भावपूर्वक धर्मका पालन करनेमे सामारिक मुखने साथ मोक्षमुख प्राप्त होता है ॥१८५१॥

गा०—धर्ममे मनुष्य पूजन होता है, मवका विश्वासपात्र होता है, मवना प्रिय और
यमम्बो होता है । मनुष्य धर्मको मुखपूर्वक पालन कर सकते हैं । कहा भी है—धर्मको श्रद्धा
करनेपर, धर्मको मुननेपर, धर्मको जानने और धर्मका स्मरण करनेपर कष्टकी प्राप्ति होती है ।
तथा धर्ममे मनको शान्ति मिलती है ॥१८५२॥

गा०—मनुष्यलोक और देवलोकेमे जितने कल्याण हैं उन मर्गो उत्तममर्म राना है और
अन्तर्मे मोक्षमुखको भी लाना है ॥१८५३॥

गा०—जिन्होंने जिन भगवान्के द्वारा कहे गये और मय दृष्टोक्त नाश करनेवाले जिन
धर्मको दृढ धर्मके साथ निर्मल मनसे और बिना किसी प्रकारकी व्यंथाके धारण किया वे पुण्य-
शाली हैं ॥१८५४॥

१ द मगे य मनुष्यों मे —म० ।

१०८

विसयाडवीए उम्मगविहरिदा सुचिरमिन्दियस्सेहिं ।

जिणदिद्विणिब्बुदिपह घण्णा ओदरिय गच्छति ॥१८५५॥

‘विसयाडवीए’ विषयाडव्या उन्मागविहारिण सुचिरमिन्द्रियाद्वर्वलान् जीता मन्त ये च जिनदृष्ट-
निवृत्तिमार्गं गच्छन्ति तं धन्या इन्द्रियास्वेभ्योऽवराह्य ॥१८५५॥

रागेण य दोसेण य जगे रमतम्मि वीदरागम्मि ।

धम्मम्मि णिरासादम्मि रदी अदिदुल्लहा होइ ॥१८५६॥

‘रागेण ॥ दोसेण य जगे रमतम्मि’ रागद्वेषाभ्या सह अर्गति क्रीडति । वीतरागे धर्मे निरास्वादे रति-
रतीव दुर्लभा भवति । उक्तं च—

कुलं च रूपं च यत्सारं कीर्तिर्धनं च विद्या च सुखं च लक्ष्मी ।

आरोग्यमाज्ञे प्सितसंप्रयोगो द्वेष्यवियोगोऽपि च दीर्घमायुः ॥

स्वर्गश्च मोक्षश्च मयोपदिष्टा भावा इमेऽन्ये च जगत्प्रशस्ती ।

धर्मेण दास्यते जगतीह इदम्, हिताय तं कर्तुंमतोऽर्हसि त्वं ॥ [॥१८५६॥]

सहल माणुमजम्मं तस्स हवदि जस्स चरणमणवज्जं ।

ससारदुक्खकारयकम्मागमदारसरोध ॥१८५७॥

‘सहल माणुसजम्मं’ तस्य मनुष्यस्य जन्म सफलं भवति यस्य चरणमनवद्य । वीदरा ? ससारदुःख-
सपादनोद्यनरुमागमद्वारनिरोधकारी । अनेन चारित्र्यमिह धन्दो धर्मत्वेनोच्यते इत्याख्यातं भवति ॥१८५७॥

जह जह णिब्बेदमम वेरग्गदयादमा पवडुदंति ।

तह तह अन्भासयर णिब्बाण होइ पुरिसस्म ॥१८५८॥

गा०—जो विषयरूपी वनमे इन्द्रियरूपी घोडोके द्वारा बलपूर्वक ले जाये जाकर चिरकालमे
कुमार्गमे विहार करते हैं और एक दिन उन इन्द्रियरूपी घोडेसे उतरकर जिन भगवान्‌के द्वारा
कहे मोक्षमार्गमे चलने लगते हैं वे धन्य हैं ॥१८५५॥

गा०—दो०—जो राग और द्वेषपूर्वक ससारके भोगोमे फँसे हैं, स्वादरहित वीतराग धर्मेमे
उनकी रचि होना अतिदुर्लभ है । कहा भी है—जितेन्द्रदेवने कुल, रूप, यश, कीर्ति, धन, विद्या,
सुख, लक्ष्मी, आरोग्य, इष्टसंयोग, अनिष्ट वियोग, दीर्घ आयु, स्वर्ग, मोक्ष तथा अन्य भी जगत्‌मे
प्रशस्त भाव कहे हैं । इस जगत्‌मे उन्हें धर्मके द्वारा प्राप्त करना शक्य है । अतः तुम अपने हितके
लिये धर्माचरण करो ॥१८५६॥

गा०—ससारके दुःखोको करनेमे समर्थ कर्मों के आनेके द्वारको रोवनेवाला चारित्र्य
जिसका निदोष है उसका मनुष्य जन्म सफल है । यहाँ धर्म शब्दमे चारित्र्य कहा है, इसमे यह
प्रकट होता है ॥१८५७॥

गा०—जैसे-जैसे मनुष्यमे वैराग्य, निर्वेद, उपशम, दया और चित्तवा निग्रह बढ़ता है
वैसे-वैसे मोक्ष निकट आता है ॥१८५८॥

यथा यथा निर्वेद उपशमो वैराग्य दया चित्तनिग्रहश्च प्रवर्तते तथा तथा समीपतर भवति निर्वाणं पुरुषस्य ॥१८५८॥

धर्मं स्तोति—

मम्मद्दसणत्तुं दुवालसगारय जिणिंदाण ।

वयणेमिय जगे जयइ धम्मचक्र तपोधार ॥१८५९॥

‘सम्मद्द सणत्तुं’ सम्मग्दसननुम्ब द्वादशाङ्गारक् व्रतनेमिक् तपोधार विनेन्द्राणा धर्मचक्र जगति जयति ॥१८५९॥ धम्म ।

बोधिदुल्लभानुप्रेक्षा कथ्यते—

दमणसुदत्तवचरणमडयम्मि धम्मम्मि दुल्लहा बोही ।

जीवस्स कम्मसत्तस्म ससरत्तस्स ससारे ॥१८६०॥

‘दमणसुदत्तवचरणमडयम्मि’ दशनश्रुततपश्चरणमये धर्मे दुल्लभा बोधिजीवस्य कमसत्तस्य समारे ससरत्त ॥१८६०॥

तस्या दुल्लभता प्रकटयन्त्युत्तरप्रवचनेन—

मसारम्मि अणते जीवाण दुल्लह मणुस्सच ।

जुगममिलाम जोगो जह लवणजले समुद्धम्मि ॥१८६१॥

‘ससारम्मि अणते’ अनन्तमसारे जीवाना अनुष्यत्व दुल्लभं पूर्वपरिमृदुनिक्षिप्तपुनस्तवधिकाष्ट-संयोग इव ॥१८६१॥

गा०—जिनेन्द्रका धर्मचक्र जगत्मे जयशील होता है । सम्मग्दशन उसकी नाभि है, द्वादशांग उसके अर है, व्रत नेमि है और तप धारा अर्थात् दूसरी नाभि है ॥१८५८॥

विशेषार्थ—जैसे गाड़ीके चक्केमे अर होते हैं, बीचमे उसकी नाभि होती है । उसी प्रकार जिनेन्द्रके धर्मचक्र की नाभि सम्मग्दशन है । द्वादशांगवाणी या बारह तप उसके डण्डे हैं । और व्रत नेमि है । इनके आधारपर वह धर्मचक्र गतिशील होता है ॥१८५९॥

धर्मानुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

अब बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन करने हैं—

गा०—मगारमे भटकते हुए कर्मलिप्त जीवके सम्मग्दशन, सम्मग्ज्ञान और सम्मक् तपश्चरणमयी धर्ममे बोधि अर्थात् ग्लान्यकी प्राप्ति दुर्लभ है ॥१८६०॥

जागे उसकी दुर्लभता बतलाते हैं—

गा०—जैसे लवणामुद्रके पूर्व भागमे जुआ और पश्चिम भागमे उसकी लकड़ी ढाठ देनेपर दोनोंका संयोग दुर्लभ है । उसी प्रकार अनन्त सगारमे मनुष्य भवका पाना दुर्लभ है ॥१८६१॥

मनुजनाया दुर्लभत्वे कारणमाह—

असुहपरिणामबहुलत्तण च लोगस्स अदिमहल्लत्त ।

जोणिबहुत्त च कुणदि सुदुल्लह माणुस जोणी ॥१८६२॥

‘असुहपरिणामबहुलत्तण च’ अशुभपरिणामानां मिथ्यात्वात्तयमवपायप्रमादनां परिणामानां बहुत्व मनुजयोनिदुर्लभतां करोति । मनुजरहितलोकस्पर्शानिमहत्त्वं च तत् दुर्लभतां करोति । असत्येया हि द्वीपसमुद्रना नारकावासाः, स्वर्गपटलानि, इतरश्च लोकाकाशमतिमहत् । योनीनां बहुत्व चेताराणां निवन्धनं तदुर्लभ-
ताया ॥१८६२॥

अपरामपि दुर्लभतापरम्परा दर्शयत्वुत्तराया—

‘देसकुलरूपमारोगमाउग बुद्धिसवणगहणाणि ।

रुद्धे वि माणुसत्ते ण ह्रुति सुलभाणि जीवस्स ॥१८६३॥

‘देसकुलरूपमारोग’ ‘देसकुलरूपमारोग्य’ । आयुगमायुष्क । ‘बुद्धिसवणगहणाणि’ बुद्धिध्वजगहणाणि । लब्धेऽपि मनुष्यत्वे मनुष्यगतिनामकमोक्षयात्, जिनप्रणीतधर्मप्रगल्भमानवबहुलो देशो दुर्लभ । अन्तर्द्वीपानां पाक्यवनकिरातबबरपारसीकसिंहलादिदेशानां धर्मज्ञमानवरहितानामतिबहुलत्वात् । लब्धेऽपि देशो मुजनावासे

मनुष्य पर्यायकी दुर्लभताका कारण कहते हैं—

गा०—टी०—मिथ्यात्व, असयम, कपाय और प्रमादरूप अशुभ परिणामोकी बहुतायतक कारण मनुष्य योनि दुर्लभ है । तथा मनुष्य रहित लोक अतिमहान् है इससे भी मनुष्ययोनि दुर्लभ हो क्योंकि असम्यात् द्वीप समुद्रो तक तो नरकावास है, ऊपर स्वर्गपटल । शेष लोकनवादा भी महान् है । तथा जीवोकी योनिया बहुत हैं । इससे भी मनुष्य योनि दुर्लभ है ॥१८६२॥

विशेषार्थ—लोकके मध्यमे पैतालीम लाख योजन प्रमाण क्षेत्र ही मनुष्य लोक है । अर्थात् द्वीपकेबाहर सब तिर्यञ्च ही रहते हैं । नारकी रहते हैं । ऊपर देव रहते हैं । तथा जीवोका योनिया भी बहुत हैं इसके साथ ही अशुभ परिणामोकी भी बहुलता है । शुभ परिणाम होनेसे ही मनुष्यगतिमे अच्छा क्षेत्र, जाति, कुल आदि उपलब्ध होते हैं तभी तो मनुष्य होकर धर्मलाभ हो सकता है । मनुष्य पर्याय भी पाई किन्तु देश, कुल, जाति ठीक नहीं मिले तो मनुष्य पर्याय पाकर भी क्या लाभ हुआ । अतः धर्मसाधनके योग्य मनुष्य पर्याय दुर्लभ है ॥१८६२॥

आगे और भी दुर्लभताके कारण कहते हैं -

गा०—जीवके मनुष्य पर्याय प्राप्त करने पर भी देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, ध्वज, ग्रहण सुलभ नहीं हैं ॥१८६३॥

टी०—मनुष्यगति नाम धर्मके उदयसे मनुष्यपर्याय पानेपर भी जिन भगवान्‌के द्वारा कहे गये धर्ममे दत्त मनुष्योमे भरा हुआ देश प्राप्त होना दुर्लभ है । क्योंकि धर्मके ज्ञाता मनुष्योसे रहित अन्तर्द्वीप तथा नव, यवन, किरात, बबर, पारसीक और सिंहल आदि देश अनेक हैं ।

१ ‘देसकुल जइ रूप, आगेमा आउग च पुण्य च ।

बुद्धिसवणगहणाणि रुद्धे णत्तेहि दुल्लह होई ॥’—आ० ।

ब्राह्मणशत्रियवैश्यादिक कुल दुरधिगमनीय सुकुलानामल्पत्वात् असकृन्नीचर्गात्रवन्धनान् । मिथ्यात्वोदयात् प्रायेण प्राणिनो गुणान् गुणिजन च निन्दन्त्याक्रोशन्ति, निर्गुणोऽपि कुलभिमानमतिमहदुद्वहति, तेन नीचर्गात्रमुप-
चिनोति, गुणे गुणिजने धानुराग कुलभिमानतिरस्करण वा कदाचिदेव भवति इति शोभन कृत कदाचिदेव
लभ्यते । चारित्र्यमोहोदयान् पद्मजीवनिकायवाधारणे सततमुखतः तदीयरूपशोभोन्मूलनपादनेनोपाजितेनानुभ-
रूपनामकर्मणा विरूपो बहुशो भवति । जीवदया कदाचिदेव कदाचिदेव करोति । प्रशस्तस्वनामवर्मलस्य मौल्यमपि
केशेन लभ्यते । परजोवमतापकरणे कृतोन्माह भवदेवेति रोगो भवति बहुद्व, परमतापपरिहार वैयावृत्य च
कदाचिदेव करोति । इति नीरोगतापि काशचिर्ली दुर्लभा । परेषा प्रायेणामुनिद्वन्तीति स्वत्यामुखाय जनी
जायते । कदाचिदेवाहिमाव्रतपरिपालनाच्चिरजीविता सदा न लभ्यते । समीचीनज्ञानिजनदूषणान् तन्मात्सर्यान्
तद्विभक्तकरणात्तदासादनाच्छसुरादीन्दिशोपघातकरणाच्च मतिभ्रुतज्ञानावरणे वराको दध्नातीति दुर्मेधा
भवति । बहुप जन्मजनमहत्वेपु मतिश्रुतज्ञानावरणसंयोपशमान शुभपरिणामोपनीतान् कदाचिदेव विवेक-
कारिणी वृद्धिभवति । सत्यमपि वृद्धी हिताहितविचारणक्षम धर्मश्रवणमतिदुर्लभ, यतीना विरागद्वेषाणा,
समीचीनज्ञानप्रकाशानामूलितदुर्मेधमोहान्प्रयतना, अशेषजीवनिर्वायदयाक्रियोक्ताना अमौलम्यान्, तीव्रमिथ्या-
दशानोपनीतगुणिजनद्वेषेण मिथ्याज्ञानलवलाभदुर्विदग्धतया स्वगृहीततत्त्वपरवधानया आलस्येन वा यतीना

धर्मज्ञजानोमे वसा हुआ देग मिलनेपर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वंश्य आदि कुल मिलना कठिन है
नयीकि अच्छे कुल बहुत कम हैं । और इसका कारण यह है कि जीवोंके निरन्तर नीच गोत्रका
बन्ध हुआ करता है । मिथ्यात्वके उदयसे प्राय प्राणी गुण और गुणीजनोंकी निन्दा करते हैं, उनके
सम्बन्धमें दया करते हैं । गुणहीन भी अपने कुलका नव अभिमान रखते हैं । उससे वे नीच
गोत्रका वन्द्य करते हैं । गुणोंमें और गुणीजनोंमें अनुराग तथा कुलके अभिमानका निरस्कार कम
ही देखा जाता है । इसलिये जीवोंको अच्छा कुल कम ही मिलता है । चारित्र्यमोहके उदयमें जीव
छद्म कायके जीवोंको बाधा देनेमें निरन्तर लगे रहते हैं वे उनके रूपकी शोभाको विनष्ट करते
हैं । उसमें उपाजित अशुभ नामकर्ममें जीव अधिकतर विरूप होते हैं । जीवोंपर दया कम ही
लोग करते हैं । अतः प्रशस्त रूपनामकर्मके द्वारा प्राप्य सुन्दर रूप भी दहे कष्टमें प्राप्त होता है ।
प्राणी सर्वदा दूसरे जीवोंको मताप देनेका उत्साह रखते हैं । इसलिये अधिकतर रोगी होते हैं ।
दूसरोंका कष्ट दूर करनेवाली वैयावृत्य कम ही करते हैं । इसलिये नीरोगता भी दुर्लभ है । प्राणी
प्राय दूसरोंकी आयुका घात करते हैं उन्हें मार देते हैं । इसमें वे अल्प आयुवाले होते हैं ।
कदाचिन् ही अहिमाव्रतका पालन करनेमें चिरजीवि होते हैं, सदा चिरजीवी नहीं होते । मच्चे
ज्ञानिजनोंको दूषण लगानेसे, उनमें डाह करनेसे, उनके ज्ञानागपनमें विघ्न डालनेमें, उनकी
आनादना करनेमें तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंका धात करनेसे प्राणी मतिज्ञानावरण और भ्रुतज्ञाना-
वरण कर्मों का वन्द्य करनेसे वृद्धिहीन होते हैं । लाखों जन्मोंमें कुछ ही जन्मोंमें शुभपरिणामवश
मतिज्ञानावरण और भ्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशान होनेमें विवेकशील वृद्धि प्राप्त होती है । वृद्धि
प्राप्त होनेपर भी हिम अह्निके विचारमें समर्थ धर्मका सुनना दुर्लभ है । क्योंकि गणद्वेषसे
रहित, मच्चे ज्ञानके प्रकाशमें दुर्मेध मोहान्यकारका उन्मूलन करनेवाले और ममस्त जीवोंपर
दया करनेवाले मुनिगण दुर्लभ हैं । नया तीव्र मिथ्यादर्शनके कारण गुणीजनोंमें द्वेष करनेवाले
या घोहाना मिथ्याज्ञान प्राप्त करने अपनेको बड़ा विद्वान् माननेवाले या अपने जाने हुए तत्त्वके

स्वपरोक्षरणप्रवीणतापरिज्ञानाच्च न ढीवते यतिजनमिति धर्मश्रवणस्य दुर्लभता । वदन्निदेव पापोपशमायनि-
जानु'ढीकनेऽपि नयप्रस्सरे सप्रश्ने प्रसस्तवागनुयायिनि गुरुजने चाभिमुखे सति श्रवण भवतीति दुर्लभता
श्रवणस्य । किञ्च यतिजननिकैतनमुपगतोऽपि यदुच्छया निद्राति, स्वयं परेषा यत्किंचिदसारं वदति, मुग्धाना
वा वचनं धृणोति न विनयेन ढीकत इति वा दुर्लभं श्रवण । श्रुतेऽपि धर्मे तत्परिज्ञानमतिदुर्लभं श्रुतज्ञाना-
वरणोदयात् । दुः करत्वं मनः प्रणिधानस्य कदाचिदप्यधुतपूर्वत्वात्, सूक्ष्मत्वाच्च जीवादितैस्त्वस्य । श्रुतज्ञाना-
धिकरणे क्षयोपशमे मनः प्रणिधानं वक्तुर्वचनसौष्ठवं चेति सकलमिदमसुलभमिति धर्मज्ञानं दुर्लभं । ज्ञातेऽपि
धर्मे अस्ति धर्मो जीवपरिणामसम्यक्त्वज्ञानचरणतपोदानपूजात्मनोऽभ्युदयनिश्चये सफलदायो जिनैर्व्यविशितरूप-
इति श्रद्धानं न मुषेन लभ्यते, दर्शनमोहोदयात् । उपदेशकालकरणलब्धयश्च कदाचित्का इति ॥१८६३॥

लद्धेसु वि तेसु पुणो बोधी जिणसामणम्मि ण ह्मु सुलहा ।

कुपघाकुलो य लोगो ज बलिया रागदोसा य ॥१८६४॥

'लद्धेसु वि तेसु पुणो' लब्धेष्वपि तेषु मनुजभवादिषु बोधिर्दीक्षाभिमुता बर्द्धनं सुलभा प्रचलत्वात्म-
यमघातिकमण । कुपघाकुलत्वात् लोकस्य बहूनामाधरणमेव प्रमाणयन् यत्किंचनान्वरति, वरुणस्तश्च रागदोषा
ज्ञानश्रद्धानोपेतमपि न सम्भाष्य ढीकितुं ददति ॥१८६४॥

परवशं मनुष्योके कारणं या यतिगणके आलस्यसे अथवा अपना और दूसरोका उद्धार करनेमें
दक्ष न होनेसे यतिजन भी नहीं आते हैं इससे भी धर्मश्रवणकी दुर्लभता है । कदाचित् पापका
उपशम होनेसे यतिजनके पधारनेपर भी विनयपूर्वक प्रश्न करनेपर और प्रसास्त वचन बोलनेवाले
गुरुके सम्मुख होनेपर धर्म सुननेको मिलता है इसलिये धर्मश्रवणकी दुर्लभता है । अथवा मुनिगणके
वास स्थानपर जाकर भी सोता है स्वयं जो कुछ असार वचन बोलता है या सूत्रों के वचन
सुनता है, विनय पूर्वक वर्तव्य नहीं करता । इससे भी धर्म श्रवण दुर्लभ है ।

धर्म सुननेपर भी श्रुतज्ञानावरणका उदय होनेसे उसको समझना अतिदुर्लभ है । तथा
ममज्ञानेपर भी उसमें मन लगाना दुष्कर है क्योंकि पहले वही नहीं सुना था । तथा जीवादि तत्त्व
भी सूक्ष्म है । श्रुतज्ञानका क्षयोपशम, मनका लगना, वक्ताका वचन सौष्ठवं ये सब दुर्लभ होनेसे
धर्मज्ञान दुर्लभ है, धर्मका ज्ञान होनेपर भी 'जिन भगवान्के द्वारा कहा हुआ स्वर्ग और मोक्षरूप
फलको देनेवाला जीवके सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्र्य तप दान पूजा भावरूप धर्म है' ऐसा श्रद्धानं
दुर्लभ है क्योंकि जीवोंके दर्शनमोहका उदय रहता है । उपदेशलब्धि, काललब्धि और करणलब्धि
भी सदा नहीं होती, कदाचित् ही होती है ॥१८६३॥

गा०-टी०-मनुष्यभव आदिके प्राप्त होनेपर भी 'बोधि' अर्थात् जिन दोषोंकी ओर
अभिमुख दुष्टिका होना मुख्य नहीं है क्योंकि जीवोंके समयको घातनेवाला धर्म प्रयत्न होता है ।
तथा यह लोक मिथ्यामतोंसे भरा है । अतः बहुत लोग जिन्हें धर्मका आचरण करते हैं उन्हीं ही
प्रमाण मानकर जो कुछ मनमें आता है, करते हैं । रागद्वेषके बलवान होनेसे ज्ञान और श्रद्धानसे
धुक् भी मनुष्य सन्मार्गपर नहीं चलता ॥१८६४॥

इय दुल्लहाए बोहीए जो पमाइज्ज कइ वि लद्धाए ।

मो उल्लड्ड दुक्खेण रदणगिरिसिहरमारुहिय ॥१८६५॥

‘इय दुल्लहाए बोहीए’ उक्तेन क्खमेण दुल्लभाया दीक्षाभिमुखत्वाया बुद्धो लब्धायासि य प्रमादतत्त्वतो रत्नगिरिशिखरमारुह्य तत पतति प्रमादो ॥१८६५॥

फिडिदा सती बोधी ण य सुलहा होइ ससरवस्स ।

पडिद समुदमज्जे रदण व तमघयारम्मि ॥१८६६॥

‘फिडिदा सती’ बोधिबिन्दुता सती दीक्षाभिमुखा बुद्धि पुनर्न सुलभा भवति ससरत । अन्धकारे समुद्रमध्ये पतित रत्नमिव ॥१८६६॥

ते धण्णा जे जिणवरदिट्ठे घम्मम्मि होति सबुद्धा ।

जे य पवण्णा घम्म भावेण उवड्ढिदमदीया ॥१८६७॥

स्पन्दोत्तरा माया । बोधिति ॥१८६७॥

प्रस्तुतमयमुपसहरति—

इय आलगमणुपेहाओ घम्मस्स होति ज्ञाणस्स ।

ज्ञायतो ण वि णस्मदि ज्ञाणे आलवणेहि मुणी ॥१८६८॥

‘इय आलवण’ एवमालम्बन भवन्त्यनुप्रेक्षा धर्मध्यानस्य । ध्याने प्रवृत्तो न विप्रणश्यति ध्याननिमित्तालम्बनेभ्यो यति । यो हि यद्वस्तुस्वरूपे प्रणिहितचित्तं सततं वस्तुयापारम्भान्न प्रच्यवते तस्याविस्मरणात् ॥१८६८॥

गा०—इस प्रकार उक्त क्रमानुसार दीक्षाके अभिमुख दुर्लभ बुद्धि प्राप्त होनेपर भी जो प्रमाद करता है वह प्रमादो सुमेरुके शिखरपर चढ़कर भी उससे गिरता है ॥१८६५॥

गा०—जैसे अन्धकारमें समुद्रके मध्यमें गिरा पाना दुर्लभ है वैसे ही एक बार प्राप्त होकर नष्ट हुई दीक्षाभिमुख बुद्धिरूप बोधि सत्तारमें भ्रमण करनेवाले जीवको प्राप्त होना दुर्लभ है ॥१८६६॥

गा०—जो जिन भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट धर्ममें प्रवृद्ध होते हैं वे धन्य हैं । तथा जो दीक्षाभिमुख बुद्धिको प्राप्त करके भावपूर्वक धर्मको अपनाते हैं वे तो महाधन्य हैं ॥१८६७॥

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त हुआ ।

प्रस्तुत चर्चाका उपसंहार करते हैं—

गा०—इस प्रकार अनुप्रेक्षा धर्मध्यानका आलम्बन होती है । ध्यान करनेवाला माधु ध्यानमें निमित्त आलम्बनको आश्रय लेनेसे ध्यानसे च्युत नहीं होता । जो जिस वस्तुके स्वरूपमें अपने मनको लगाता है वह उस वस्तुके यथार्थस्वरूपमें च्युत नहीं होता, क्योंकि वह उसे भ्रूता नहीं है ॥१८६८॥

ध्यानुरालम्बनबाहुस्य दर्शयत्युत्तरा गायी—

आलवण च वायण पुच्छणपरिवट्टणाणुपेहाओ ।
धम्मस्स तेण अविस्सुद्धाओ सव्वाणुपेहाओ ॥१८६९॥
आलवणेहि भरिदो लोगो झाइदुमणस्स खवयस्स ।
जं ज मणसा पिच्छदि त तं आलवण हवइ ॥१८७०॥

‘धम्मस्स आलवणेहि भरिदो’ ध्यानस्यालम्बनं पूर्णं लोको ध्यातुकामस्य क्षपकस्य यद्यन्मनसा पश्यति तत्तदालम्बनं भवति ॥१८६९॥१८७०॥

धर्मध्यान व्याख्याय ध्यानान्तरं व्याख्यातुमुत्तमप्रवण्य —

इच्छेवमदिवक्तो धम्मज्झाणं जदा हवइ खवओ ।
सुक्कज्झाणं ज्ञायदि ततो सुविसुद्धलेस्माओ ॥१८७१॥

‘इच्छेवमदिवक्तो’ धर्मध्यानमेव व्याख्यानितरूपमतिक्रान्तो यदा भवेत् क्षपकं सुक्कज्झाणमसौ ध्याति सुविसुद्धलेस्याममन्वित । परिणामधेय्या हि उत्तरोत्तरानुगुणतया स्थित क्लेशैर्न प्रवर्तते । न हि प्रथमे सोपानेऽव्यापितवर्ण द्वितीयादिकं सोपानमारोहं प्रभवति । एवमप्रमत्तो धर्मध्याने प्रवृत्त एव शुक्लध्यानं महतीति सूत्रेणानेन ज्ञापित ॥१८७१॥

धनुविधधनुषध्याना नामतो दर्शयति गाथाप्रथमम्—

ज्झाणं पुथत्तमवितक्कसवीचार हवे पढमसुक्क ।
सवितक्केक्कत्तावीचार ज्झाणं विदियसुक्क ॥१८७२॥

आगेकी गायामें ध्यान करनेवालेके अनेक आलम्बन बतलाते हैं—

गा०—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना तथा अनुप्रेक्षाएँ नामक स्वाध्याय धर्मध्यानके आलम्बन हैं । अतः सब अनुप्रेक्षा धर्मध्यानके अनुकूल आलम्बन हैं अर्थात् उनको लेकर धर्मध्यान किया जाता है ॥१८६९॥

ध्यान करनेके इच्छुक क्षपणके लिये यह लोक आलम्बनोमें भरा हुआ है । वह मनको जित ओर लगाता है वही आलम्बन हो जाता है ॥१८७०॥

धर्मध्यानका कथन करके शुक्लध्यानका कथन करते हैं—

गा०—टी०—इस प्रकार ऊपर कहे धर्मध्यानको जब क्षपक पूर्ण कर लेता है तब वह अति विमुद्ध लेस्याके साथ शुक्लध्यानको ध्याता है । क्योंकि परिणामोको पक्ति उत्तरोत्तर निर्मलताको लिये हुए स्थित है अतः वह क्रमसे ही होता है । जिसने पहली सीढ़ीपर पैर नहीं रखा वह दूसरी सीढ़ीपर नहीं चढ़ सकता । अतः धर्मध्यानमें परिपूर्ण हुआ अप्रमत्त भयभी ही शुक्लध्यान करनेमें समर्थ होता है, यह बात इस गायिका द्वारा कही है ॥१८७१॥

आगे दो गायिकाओंके द्वारा चार प्रकारके शुक्लध्यानोके नाम कहते हैं—

गा०—पहला शुक्लध्यान पृथक्त्व सवितकं सविचार नामक है । दूसरा शुक्लध्यान सवितकं एकत्व अविचार नामक है ॥१८७२॥

‘ज्ज्ञाण पुनस्तसविनश्चमवीचार’ ध्यान पूयस्त्वसवितर्कसवीचार प्रथममुक्तं भवति । ‘सविनश्चेककता-
वीचार’ मविनर्कैकरवावीचार द्वितीयं शुक्लध्यान ॥१८७२॥

सुहृमस्मिरिय तु तदिय सुक्कज्झाणं जिणेहिं पण्णत्त ।

वेति चउत्थ सुक्क जिणा समुच्छिण्णकिरियं तु ॥१८७३॥

‘सुहृमस्मिरिय तु तदिय तृतीयं शुक्लध्यानं त्रिणं प्रज्ञप्तं सूक्ष्मक्रियमिति । ‘वेति चउत्थ सुक्क’ ध्वने
चतुर्थं शुक्लं जिना समुच्छिन्नक्रिय ॥१८७३॥

पूयस्त्वमविनश्चमवीचार व्याचष्टे गायान्त्रयेण—

दव्वाड अणेयाड तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्झायति ।

उवमतमोहणिज्जा तेण पुघत्त चि त मणिया ॥१८७४॥

‘दव्वाड अणेयाड तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्झायति’ द्रव्याभ्यन्तेकानि विधियौ परावर्तमाना येन
चिन्तयन्त्युपान्तमोहनीयान्तेन पूयस्त्वमिति प्रथमध्यानमुक्तम्, एतदर्थं कथयति—अन्यदन्त्यद्रव्यमवलम्ब्य
प्रवृत्तवान्तेनात्यन्तेन योगेन प्रवृत्तस्यात्मनो भवतीति पूयस्त्वज्यप्रदेशो ध्यानस्येति ॥१८७४॥

अम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगदअत्थकुसलो य ।

ज्झायदि ज्झाणं एदं सवितक्कं तेण त ज्ञाण ॥१८७५॥

‘अम्हा सुदं वितक्कं’ यस्मान् श्रुतं वितर्कं यस्यान् पूर्वगत्यङ्कुशलो ध्यानमेतत्प्रवर्तयति । तेन तन्
ध्यानं भवितर्कं । चतुर्दशपूर्वाङ्गा श्रुत्यास्तत्पुनरिदोऽर्थं साहचर्यान् विवर्कशब्देनोच्यते । तेन विवर्कणार्थभूतेन

गा०—जिन भगवान्ने तौसरा शुक्लध्यानं सूक्ष्मक्रियं कहा है और चतुर्थं शुक्लं समुच्छिन्न-
क्रियं कहा है ॥१८७३॥

आगे तीन गायान्त्रोमे पूयस्त्वं भवितर्कं सविचारका कथन करते हैं—

गा०—उपशान्त मोहनीय गुणस्थानवाले यन् तीन योगोंके द्वारा अनेक द्रव्योंको बदल
बदलकर ध्यान करने हैं इमने इमे पूयस्त्व कहते हैं ॥१८७४॥

विशेषार्थ—प्रथमं शुक्लध्यानका नाम पूयस्त्व है क्योंकि इममे योगपरिवर्तनके माप ध्येयका
भी परिवर्तन होता रहता है इसलिये इमको पूयस्त्व कहते हैं । धर्मध्यान और शुक्लध्यानके
स्वानिद्रोहो लेकर मनभेद पाया जाता है । तत्त्वार्यसूत्रमे श्रीगोमे नीचे धर्मध्यान और योगीमे
शुक्लध्यान कहा है । श्रीगो आठवें गुणस्थानमे प्राग्भूत होनी है । अन् आठवेंसे ही पूयस्त्व शुक्ल-
ध्यान कहा है । किन्तु यहाँ ग्याह्वं गुणस्थानमे पूयस्त्व शुक्लध्यान कहा है । श्वेताम्बर परम्परा-
मे भी ऐसा ही माना गया है । बोरमेन स्वामीने धवला टीका (१३, पृ० ७४) मे भी ऐसा ही
लिखा है । उनका कथन है कि कपायमहित जीवोंके धर्मध्यान होता है और कपायमहित जीवोंके
शुक्लध्यान होता है । क्योंकि कपायका अभाव होनेमे ही उमका नाम शुक्लध्यान है । इस प्रथम
शुक्लध्यानमे योगका और ध्येयका परिवर्तन होने रहनेमे इमे पूयस्त्व नाम दिया है ॥१८७४॥

गा०—टी०—यन् धुतज्ञानको वितर्क कहते हैं और यन् चौदह पूर्वों मे आये अर्थमे कुशल
१०५

ध्येयेन सह वर्तत इति श्रुतज्ञानमेवावलम्ब्य सवितर्कमित्युच्यते । अथवा वितर्कान् श्रुत तद्वदेतुत्वात् । श्रुतज्ञान ध्यानसंज्ञित सह कारणेन श्रुतेन वर्तत इति सवितर्क ॥१८७५॥

अत्याण वजणाण य जोगाण य सकमो हु वीचागे ।

तस्स य भावेण तयं सुत्ते उच्चं सवीचारं ॥१८७६॥

‘अत्याण वजणाण य जोगाण य सकमो हु वीचारो’ अर्थात् ये व्यञ्जना शब्दास्तेषामिति, वैयाकरणेन सम्बन्ध, न पुनरर्थानां व्यञ्जनानां चेति समुच्चय । अयंपृथक्त्वस्य पृथक्त्वशब्देनोपादानात् । योगानां च सकमो वीचार ‘तस्स य भावेण’ वीचारस्य सङ्काशेन । ‘तयं’ तद्वि शुकलध्यान मूत्रे सवीचार-मित्युक्त । ‘अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला’ इत्येवमादिपरिमितानेकद्रव्यप्रत्ययैरमश्रुतवाक्योद्भूत ध्यानमिति पृथग्भूतद्रव्यालम्बनत्वेन रूपेण एकद्रव्यालम्बनान् एकत्ववितर्काद्भिद्यते योगनयसहायत्वादेकयोगाद्विचाराद्वितीयध्यानाद्भिद्यते । उपशान्तमोहनीयस्वामिकत्वात् शोणकपायस्वामिकाद्विधानाद्भिद्यते । सवितर्कत्वेन अद्वितर्कस्य तृतीयवस्तुपर्याया विलक्षण । अत एव नामनिर्देशनैव ध्यानान्तर्गविलक्षण पृथक्त्वमवितर्क-सवीचारमिति लक्षणमुक्त ॥१८७६॥

अर्थात् चौदह पूर्वों का ज्ञाता साधु ही इस शुक्लध्यानको ध्याता है इससे इस प्रथम शुक्लध्यानको सवितर्क कहते हैं । अर्थात् चौदह पूर्व श्रुतरूप होनेसे उसमें जो वस्तुविवेचन है उसको भी वितर्क शब्दसे कहते हैं । प्रथम शुक्लध्यानमें उस अयंश्रुतरूप वितर्कका ध्यान किया जाता है इससे उसे सवितर्क कहते हैं । अथवा श्रुतका कारण होनेसे वितर्क शब्दका अर्थ श्रुत है । ध्यान श्रुतज्ञानकी सज्ञा है उसका कारण श्रुत है । तो अपने कारण श्रुतके साथ रहनेसे उसे सवितर्क कहते हैं ॥१८७५॥

गा०—टी०—तथा अर्थोंके वाचक जो शब्द हैं उनके मक्रम अर्थात् परावर्तन को और योगोंके परिवर्तनको विचार कहते हैं । ‘अत्याण वजणाण य’ का अर्थ अर्थों के और व्यजनोंके परिवर्तनको वीचार कहते हैं इस प्रकारसे समुच्चयरूप नहीं लेना चाहिये क्योंकि पृथक्त्व शब्दसे अर्थका पृथक्त्व ग्रहण किया है । इस वीचारके होनेसे इस शुक्लध्यानको आगममें सवीचार कहा है ।

‘अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गला’ इत्यादि परिमित अनेक द्रव्योंका ज्ञान करानेमें समर्थ श्रुतके वचनोसे उत्पन्न हुआ यह ध्यान भिन्न-भिन्न द्रव्योंका आलम्बन करना है अत एक ही द्रव्यका आलम्बन करनेवाले एकत्व वितर्क शुक्लध्यानमें भिन्न होता है । तथा पृथक्त्व वितर्क शुक्लध्यान तीनों योगोंकी सहायतासे होता है और एकत्ववितर्क एक ही योगकी सहायतामें होता है । इससे भी वह इसमें भिन्न पड़ता है । पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यानका स्वामी उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती होता है और एकत्ववितर्कका स्वामी शोणकपाय गुणस्थानवर्ती होता है । इसमें भी वह इससे भिन्न है । पृथक्त्ववितर्क वितर्क सहित होता है और तीसरा तथा चतुर्थ शुक्लध्यान वितर्क रहित होते हैं । अत वह तीसरे और चतुर्थ शुक्लध्यानसे विलक्षण है । अत पृथक्त्ववितर्क सवीचार नामसे ही अन्य ध्यानोंमें इसकी विलक्षणता प्रकट होती है । इस प्रकार प्रथम शुक्लध्यानका लक्षण कहा है ॥१८७६॥

जेगेमेव द्रव्य जोगेगेगेण अण्णदरगेण ।

क्षीणकमाओ ज्ञायदि तेगेगत्त तय मणिय ॥१८७७॥

‘जेगेमेव द्रव्य जोगेगेगेण अण्णदरगेण’ येनैकमेव द्रव्य अन्यतरण योगेनेवेन सह वृत्त, क्षीणकपायो ध्याति तेनैकत्वं तद्वर्णित एकद्रव्यालम्बनत्वान् । अन्यतरयोगवृत्तरेवात्मन उत्पत्तरेकत्वं ध्यान क्षीणकपाय-स्वामिक भवेत् ॥१८७७॥

जम्हा सुद वितक्क जम्हा पुव्वगदअत्थकुमलो य ।

ज्ञायदि ज्ञाणं एव सवितक्क तेण त ज्ञाणं ॥१७७८॥

अत्थाण वज्जणाय य जोगाण सकमो हु वीचारो ।

तस्म अभावेण तय ज्ञाण अविचारमिति वुत्त ॥१८७९॥

एकद्रव्यालम्बनत्वेन ‘परिमितानेकसत्पर्यायद्रव्यालम्बनान् प्रथमध्यानान्तरमस्तवस्तुविषयाम्ना तृतीय-चतुर्थीत्या च विलक्षणता द्वितीयस्यानया गायया निबन्दिता । क्षीणकपायग्रहणेन उपशान्तमोहस्वामि-त्वान् । सयोग्ययोगवैवल्लिस्वामिकाम्ना च भेद । सवितक्ता पुनर्वदेव । पूर्वव्यावर्तिनवीचाराभावाद्-वीचारत्व ॥१८७८-७९॥

विशेषार्थ—महापुराणके इक्कीसवें पवमें ध्यानका वर्णन करते हुए कहा है—अनेकपनेको पूज्यकत्व कहते हैं और श्रुतको वितर्क कहते हैं । तथा अर्थ, व्यजन और योगोंके परिवर्तनको वीचार कहते हैं । इन्द्रियोको वशमें करनेवाला मुनि एक अर्थसे दूसरे अर्थको, एक वाक्यसे दूसरे वाक्यको और एक योगसे दूसरे योगको प्राप्त होता हुआ इस ध्यानको ध्याता है । यत् तीनो योगोंके धारक और चौदह पूर्वोंके ज्ञाता मुनिराज इस ध्यानको करते हैं अतः प्रथम शुद्धध्यान सवितर्क और सवीचार होता है । श्रुतस्वन्वरूपी समुद्रमें जितना वचन और अर्थका विस्तार है वह इस शुद्धध्यान में घ्येय होता है और इसका फल मोहनीय कर्मका उपशम या क्षय है । यह ध्यान उपशान्त मोह और क्षीणमोह गुणस्थानमें तथा उपशमश्रेणि और दापकश्रेणिके शेष गुण-स्थानोंमें माना गया है ॥१८७६॥

शा०-टी०—दूसरे शुद्धध्यानका नाम एकत्ववितर्क है क्योंकि इसमें एक ही योगका अवलम्बन लेकर एक ही द्रव्यका ध्यान किया जाता है । अतः एक द्रव्यका अवलम्बन लेनेसे इने एकत्व कहते हैं । यह ध्यान किसी एक योगमें स्थित आत्माके ही होता है । इसका स्वामी क्षीण कपाय गुणस्थानवर्नी मुनि होता है ॥१८७७॥

विशेषार्थ—यहाँ एक शब्दका अर्थ है ‘प्रधान’ और समस्त छह द्रव्योंमें प्रधान एक आत्मा ही है । सोमदेव उपनिषद्धार्ययन (श्लोक ६०३) में कहा है—मनमें किसी विचारके न होने हुए जब आत्मा आत्मामें लीन होता है उसे निर्जीवध्यान कहते हैं । यह निर्जीवध्यान एकत्ववितर्क ही है । अतः एक द्रव्य और एक योगका अवलम्बन करनेसे प्रथम शुद्धध्यानमें भिन्न है ॥१८७७॥

शा०—यत् श्रुतको वितर्क कहते हैं और यत् चौदह पूर्वगत अर्थमें कुशल मुनि ही इस ध्यानका ध्याता है । इसमें दूसरा शुद्धध्यान सवितर्क है । तथा अर्थ, व्यजन और योगोंके परि-

तृतीयध्यानमाचष्टे—

अवितर्कमवीचार सुहृमकिरियत्तप्रधण तदियसुवक ।

सुहमम्मि कायजोगे भणिद त सव्वभावगद ॥१८८०॥

‘अवितर्कमवीचार’ श्रुतानालम्बनत्वादवितर्क स्वयं श्रुतज्ञानं भवतीति वा अवितर्क । पूर्वमालम्बी-
कृतादर्थादर्शान्तरालम्बनस्य नाम बोधारो नास्त्यविवारः । ‘सुहृमकिरियत्तप्रधण’ सूक्ष्मक्रियायैति सूक्ष्मक्रिय
आत्ममन्वन्धनमाध्यायीष्येति सूक्ष्मक्रियाबन्धनं तृतीयशुक्ल । ‘सुहमम्मि कायजोगे’ सूक्ष्मवाययोगे सति प्रवृत्ते
भणितं सूक्ष्मक्रियमिति । ‘त सव्वभावगद’ तृतीय शुक्लध्यानं त्रिबालगोचरानन्तसामान्यविदोपात्मकद्रव्यपटक-
युगपत्प्रकाशनस्वरूप, द्रव्यपटकसमस्तस्वरूपयुगपत्प्रकाशनमेकमत्र मुखमस्येति एवमुक्ततापि विद्यत इति
ध्यानशब्दस्यार्थोऽभिमुखे विद्यते । ‘एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमित्यत्र’ सूत्रे विताशब्दो ज्ञानमामान्यवचन । तेन
श्रुतज्ञानं क्वचिद्धान्यमित्युच्यते, क्वचित्केवलज्ञानं क्वचिच्छ्रुतज्ञानं क्वचिन्मतिज्ञानं मय्यज्ञानं वा, यतोऽविव-
लत्वमेव ध्यानं, ज्ञानस्य तस्याविवलत्वसाधारण्यं सर्वज्ञानोपयोगिना ॥१८८०॥

धर्तनको वीचार कहते हैं । उसके न होनेसे दूसरा शुक्लध्यान अवोचार कहा है ॥१८७८७९॥

विशेषार्थ—प्रथम शुक्लध्यान परिमित अनेक द्रव्यों और पर्यायोंका अवलम्बन लेता है और दूसरा शुक्लध्यान एक ही द्रव्यका अवलम्बन लेता है । तथा तीसरे और चतुर्थ शुक्लध्यानोका विषय समस्त वस्तु है क्योंकि केवलज्ञानका विषय सब द्रव्य और सब पर्याय है । अतः दूसरा शुक्लध्यान शेष तीनोंमें विलक्षण है । प्रथम शुक्लध्यानका स्वामी उपशान्तमोह होता है और दूसरेका क्षोणकपाय होता है तथा तीसरेका स्वामी सयोग केवली और चतुर्थका स्वामी अयोग केवली होता है । अतः स्वामीकी अपेक्षा भी दूसरा शुक्लध्यान शेष तीनोंसे भिन्न है । किन्तु प्रथम शुक्लध्यानकी तरह दूसरा भी सवितर्क है । और पूर्व कथित वीचारका अभाव होनेसे अवोचार है ॥१८७८-७९॥

अब तीसरे शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं—

गा०—टी०—तीसरे शुक्लध्यानका आलम्बन श्रुत नहीं है अथवा वह स्वयं श्रुतज्ञानरूप होता है इसलिये वितर्कसे रहित होता है । पूर्वमें आलम्बन किये हुए अर्थको छोड़कर अर्थान्तरके आलम्बन करनेको वीचार कहते हैं । वह भी इसमें नहीं होता । अतः यह अवोचार है । इसमें स्वामीच्छद्वासादिक्रिया सूक्ष्म हो जाती है । तथा यह सूक्ष्मकाययोगके होनेपर होता है इसलिये इसे सूक्ष्मक्रिय कहते हैं । यह तीसरा शुक्लध्यान त्रिकालवर्ती अनन्त सामान्यवित्तपारमक वशों से युक्त छह द्रव्योंको एक साथ प्रवर्तन करता है अतः सर्वगत है । एक साथ समस्त छह द्रव्योंके समस्त स्वरूपको प्रकाशन करना ही इसका एकमात्र मुख होनेसे ध्यानका लक्षण ‘एकाग्रचिन्ता निरोध’ इसमें रहता है । एकाग्रचिन्तानिरोधमें चिन्ता शब्द ज्ञान सामान्यका वाचक है । अतः कही श्रुतज्ञानको ध्यान कहते हैं, कही केवलज्ञानको ध्यान कहते हैं, कही श्रुतज्ञानको ध्यान कहते हैं । वही मतिज्ञान या मतिअज्ञानको ध्यान कहते हैं । क्योंकि निश्चलनाका ही नाम ध्यान है । अतः ज्ञानकी निश्चलता सब ज्ञानोपयोगीमें साधारण है । आशय यह है कि ज्ञानकी निश्चलताका ही नाम ध्यान है । अतः ध्यानका यह लक्षण सब निश्चल ज्ञानोपयोगीमें घटित होता है । केवलीका ध्यान केवल ज्ञान मूलक होता है । अतः वह तो सर्वथा निश्चल ही होता है । इससे सूक्ष्मक्रिय नामक ध्यानमें भी ध्यानका लक्षण घटित होता है ॥१८८०॥

सुहृमस्मि कायजोगे वदन्तो केवली तदियसुक्क ।

झायदि णिरुमिदु जे सुहृमच्च कायजोगपि ॥१८८१॥

‘सुहृमस्मि कायजोगे’ मूढमे काययोगे प्रवर्तमान केवली तृतीय सुक्क ध्याति निरोद्धु तमपि सूक्ष्म वा काययोग ॥१८८१॥

अवियक्कमवीचार अणियट्ठिमकिरिय च सीलेसि ।

ज्झाण गिरुद्धयोग अपच्छिम उत्तम सुक्क ॥१८८२॥

‘अवियक्कमवीचार’ पूर्वोक्तवितर्कवीचाररहितत्वात् अवितर्कमवीचार, ‘अणियट्ठि’ सकलकर्ममातनम-
कृत्वा न निवर्तत इत्यनिवर्ति । अकिरिय’ समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारमवकायवाङ्मनोयोगपरिस्फुरनक्रियाव्यापा-
रत्वात् अक्रिय । ‘सीलेसि’ शीलानामोश शीलेश यथाभ्यातचारित्र । शीलेशस्य भाव शैलेश्य, तस्यहचारि
ध्यानमपि शैलेश्य । ‘निरुद्धयोग’ अपश्चिम न विद्यते पश्चाद्भावविध्यान्तमस्यादित्यपश्चिम । ‘उत्तम सुक्क’
परम सुक्क ॥१८८२॥

त पुण गिरुद्धजोगो सरीरतियणामण करेमाणो ।

सवण्हु अपडिवादी ज्झायदि ज्झाण चरिमसुक्क ॥१८८३॥

‘त पुण’ तच्चतुर्थं सुक्कध्यान । निरुद्धयोगे सर्वज्ञ अप्रतिपातिध्यान ध्याति ‘शरीरत्रिकनाश कुर्वन्,’

गा०—अत सूक्ष्मकाययोगमे स्थित केवली उस सूक्ष्म भी काययोगको रोकनेके लिये तीसरा सुक्कध्यान ध्याता है ॥१८८१॥

गा०-टी०—यह तीसरा सुक्कध्यान पूर्वोक्त वितर्क और वीचारमे रहित होनेसे अवितर्क और अवीचार होता है । समस्त कर्मों को नष्ट किये दिना समाप्त नहीं होता इसलिये अनिवर्ति है । इसमे प्राण अपान श्वास उच्छ्वासका प्रचार, समस्त काययोग मनोयोग वचन योगरूप हलन-
चलन क्रियाका व्यापार नष्ट हो जाता है । इसलिये यह अक्रिय है । शीलेशके स्वामीको शीलेश कहते हैं । उसके भावको शैलेशीभाव कहते हैं वह है यथाभ्यात चारित्र । उसके साथ होनेवाले ध्यानको भी शैलेशी कहा है । उससे सब कर्मों का आलव रुक जाता है अत उसे निरुद्धयोग कहा है । इसके अनन्तर कोई ध्यान नहीं होता इससे इसे अपश्चिम कहा है । तथा यह परम सुक्कध्यान है ॥१८८२॥

विशेषार्थ—शीलेशीभाव से यथाभ्यात चारित्र लिया है किन्तु यथाभ्यात चारित्र तो ग्यारहवें बारहवें गुणस्थानमे भी होता है किन्तु उसे शैलेशी नहीं कहा । क्योंकि शैलेशीपना तीसरे सुक्कध्यानकी अवस्थासे पहले नहीं होता, इसका कारण है कर्मोंका आत्मव होना । तथा तीसरेके पश्चात् भी चतुर्थं सुक्कध्यान होता है फिर भी तीसरेकी विवक्षा मेदमे अपश्चिम कहा है ॥१८८२॥

गा०—काययोगत्रा निरोध करके अयोग केवली ओदारिक तैजस और कामेण शरीरो

अयोगात्मपरिणाम केवलज्ञान चतुर्थशुक्ल, तृतीय तु सूक्ष्मकाययोमात्मपरिणाम केवलमिति भेदस्तृतीय-
चतुर्थया ॥१८८३॥

इय सो खवओ ज्ञाण एयग्गमणो स'मस्मिदो सम्म ।

विउलाए णिज्जराए वट्ठदि गुणसेट्ठिमारूढो ॥१८८४॥

'इय सो खवओ' एवमतो क्षपक, एकाग्रचित्त सम्यग्ध्यान समाधित्य विपुलाया कर्मनिर्जराया वर्तते
'गुणसेट्ठिमारूढो' गुणध्रेणीमारूढ उपशान्तकपायादिका ॥१८८४॥

ध्यानमहात्म्यस्तवगार्थ उत्तरप्रबन्ध —

सुचिर वि सकिलिद्ध विहरत ज्ञाणसवरविहूण ।

ज्झाणेण सवुडप्पा जिणदि अतोमुहुत्तेण ॥१८८५॥

'सुधिरमवि सकिलिद्ध विहरत' पूर्वकोटिकाल दशोम क्लेशसहितचारिभौद्यत 'ज्ञाणसवरविहूण'
ध्यानाभ्येन सवरेण विहीनः । 'जिणदि' जयति । क ? 'अहोरक्षसेतेण ज्ञाणेण सवुडप्पा' अहाराग्रमात्रेण
ध्यानेन मयुतात्मा ॥१८८५॥

एव कसायजुद्धमि हवदि खवयस्स आउधं ज्ञाण ।

ज्झाणविहूणो खवओ 'रगेव अणाउडो मल्लो ॥१८८६॥

का नाश करता हुआ अन्तिम शुक्ल ध्यानको ध्याता है । सूक्ष्मकाय योग रूप आत्म परिणाम
वाला अयोगकेवली तीसरे शुक्ल ध्यानको ध्याता है और अयोगरूप आत्मपरिणाम वाला
अयोगकेवली चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है । यह तीसरे और चतुर्थ शुक्ल ध्यान में भेद
है ॥१८८३॥

विशेषार्थ—महापुराणमें कहा है—तीसरेके पश्चात् योगका निरोध करके आश्रय से रहित
अयोगकेवली समुचित्त्वन क्रिय अनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याता है । एक अन्तर्मुहूर्त
काल तक अनिनिर्मल उम ध्यानको करके शेष चार अघातिकर्मोंका विनाशकर मोक्षको प्राप्त
होता है । अयोगकेवलीके उपान्त्य समय में वासठ और अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियाँ नष्ट हो
जाती हैं । उसके पश्चात् वह शुद्धात्मा कृष्णगमन स्वभावके कारण एक ही समयमें लोकके अन्त
पर्यन्त जाकर सिद्धालयमें विराजमान हो जाता है ॥१८८३॥

गा०—इस प्रकार वह क्षपक एकाग्रमन से सम्यक् ध्यान को ध्याकर उपशान्त कपाय
आदि गुण स्थानों की श्रेणि पर बारूढ होकर विपुल कर्म निर्जरा करता है ॥१८८४॥

आगे ध्यानके महात्म्यको कहते हैं—

गा०—एक अन्तर्मुहूर्त मात्र या एक दिन रात मात्र ध्यान रूप सवरमें युक्त मुनि, कुछ
कम एक पूर्व कोटि काल तक ध्यानरूप सवरमें रहित तथा सबलेशमहित चारित्र का पालन करने
वाले माधुमें श्रेष्ठ है ॥१८८५॥

१ समण्डो—अ० । २ अहोस्तमितेण अन्तोमुहूर्तेन कर्म जयति । अहाराग्रमात्रेण ज्ञाणेण सवुडप्पा
ध्यानेन मयुतात्मा कर्मकाण्डवोर्षेण न जयति—आ० । ३ रणभाव—आ० । जुद्धेण निरावृथा होदि—म० ।

‘एव कसायबुद्धहि’ कपायसंप्रहारे ध्यानमायुज क्षपकस्य भवति । ध्यानहीन क्षपक बुद्धे निरायुष इव न प्रतिपन्न प्रहृतुमल । कपायमिनाकारित्व ध्यानस्यानया कथित ॥१८८६॥

रणभूमीए कवच व कसायरणे तय हवे कवचं ।

जुद्धे व गिरावरणो झाणेण विणा हवे खवओ ॥१८८७॥

‘रणभूमीए’ युद्धभूमी कवचवत्कपाययुद्धे ध्यान कवचो भवति । एतेन कपायपीडारक्षा करोति ध्यान-मित्याख्यान । ध्यानाभावे दाणभाष्यते । ‘जुद्धे व गिरावरणो’ युद्धे निरावरण इव भवति ध्यानेन विना क्षपक ॥१८८७॥

ज्झाण करेइ खवयस्मोवट्ठमं सु हीणचेट्ठस्म ।

थेरस्स जहा जतस्स कुणदि जट्ठी उवट्ठमं ॥१८८८॥

‘ज्ञाण करेवि’ ध्यान करोति क्षपकस्योपट्ठम् हीनचेष्टस्य स्वविरस्य गच्छतो यथा करोति पट्टि-स्पट्ठम् ॥१८८८॥

मल्लस्स णेहपाण व कुणइ खवयस्स दट्ठवल झाणं ।

झाणविहीणो खवओ रगे व अपोसिओ मल्लो ॥१८८९॥

‘मल्लस्स णेहपाण व’ मल्लस्य स्नेहपाणमिव क्षपकस्य ध्यान करोति । ध्यानहीन क्षपको रङ्गे अपोपितो मल्ल इव न प्रतिपन्न जयति ॥१८८९॥

वइर रदणैसु जहा गोमीसं चटण व गन्धेसु ।

वेरुलिय व मणीणं तह ज्झाणं होइ खवयस्म ॥१८९०॥

गा०—टी०—इम प्रकार कपायोंके साथ युद्ध करनेमें अर्थात् कपायोंका सहार करनेमें ध्यान क्षपकके लिये आयुष्य होना है । अर्थात् ध्यानके द्वारा कपायोंका विनाश किया जाता है । जैसे विना अस्त्रके युद्धमें शत्रुका घात करना मभव नहीं है, उसी प्रकार ध्यान हीन क्षपक कपायों को नहीं जीत सकता । इसमें ध्यानको कपायोंका विनाश करने वाला कहा है ॥१८८६॥

गा०—टी०—जैसे युद्ध भूमिमें कवच होता है वैसे ही कपायोंसे युद्ध करनेमें ध्यान कवचके समान है । इसमें कहा है कि ध्यान कपायसे रक्षा करता है । ध्यानके अभावमें दोष कहते हैं । जैसे युद्ध में कवचके विना योद्धा होता है वैसे ही ध्यान के विना क्षपक होता है । अर्थात् युद्धमें विना कवचके योद्धाको जो स्थिति है वही स्थिति ध्यानके विना क्षपक को होती है । वह भी उसी को तरह मारा जाता है ॥१८८७॥

गा०—जैसे चलनेमें अममयं वृद्ध पुरुषको गमन करते समय लाठी सहायक होती है वैसे ही अममयं क्षपकका सहायक ध्यान होना है ॥१८८८॥

गा०—जैसे दुग्धपात्र मल्ल पुरुषके बलको दृढ करता है वैसे ही ध्यान क्षपकको शक्ति को दृढ करता है । जैसे अयुष्ट मल्ल अवाडेमें हार जाता है वैसे ही ध्यानमें रहित क्षपक कपायोंमें हार जाता है ॥१८८९॥

‘वैर रदणेषु जथा’ यथा रत्नेषु यच्च गन्धद्रव्येषु गोशीर्षं चन्दन । भणिषु वैडूर्यमिव क्षपकस्य ध्यान
सर्वेषु दर्शनचरित्रतपस्सु सारभूत ॥१८९०॥

ज्ञाणं किलेमसावदरक्खा रक्खाव भावदभयम्मि ।

ज्ञाण किलेसवसणे मित्त मिचेव वसणम्मि ॥१८९१॥

‘ज्ञाणं किलेससावदरक्खा’ ध्यान दुःखस्वापदानां रक्षा, स्वापदभये रक्षेव ध्यान क्लेशव्यसने मित्र,
व्यसने मित्रमिव ॥१८९१॥

ज्झाण कसायवादे गम्भधरं मारुदेव गम्भधरं ।

ज्ञाण कसायउण्हे छाही छाहीव उण्हम्मि ॥१८९२॥

ज्ञाण कसायडाहे होदि चरदहो दहोव डाहम्मि ।

ज्ञाण कमायसीदं अग्गी अग्गीव सीदम्मि ॥१८९३॥

ज्ञाण कमायपरचक्रुभए बलवाहणङ्गओ राया ।

परचक्रुभए बलवाहणङ्गओ होइ जह राया ॥१८९४॥

ज्ञाण कसायरोगेषु होदि वेज्जो तिगिछदे कुसलो ।

रोगेषु जहा वेज्जो पुरिमस्स तिगिछओ कुसलो ॥१८९५॥

ज्ञाण विसयछुहाए होइ य छुहाए अण्णं वा ।

ज्ञाण विसयतिसाए उदय उदयं व तण्हाए ॥१८९६॥

स्पष्टार्थोत्तराया ॥१८९२॥१८९३॥१८९४॥१८९५॥१८९६॥

गा०—जैसे रत्नोमें हीरा, सुगन्धित द्रव्योमें गोशीर्षं चन्दन और भणियोंमें वैडूर्यमणि
सारभूत है। वैसे ही क्षपकके दर्शन चारित्र और तपमें ध्यान सारभूत है ॥१८९०॥

गा०—जैसे हिमक जन्तुओंसे भय होने पर उनसे रक्षा बचाव करती है वैसे ही ध्यान
दुःखरूपी हिमक जन्तुओंसे रक्षा करता है। तथा जैसे सकट में मित्र सहायक होता है वैसे ही
दुःखरूपी सकटमें ध्यान महायक होता है ॥१८९१॥

गा०—जैसे गर्भगृह वायुसे रक्षा करता है वैसे ही ध्यान कपायरूपी वायुके लिये गर्भगृह
है। जैसे धामसे बचनेके लिये छाया है वैसे ही कपायरूपी धामसे बचावके लिये ध्यान छायाके
समान है ॥१८९२॥

गा०—जैसे दाहके लिये उत्तम सरोवर है वैसे ही कपायरूपी दाहके लिये ध्यान उत्तम
सरोवर है। जैन शीतमें बचावके लिये आग है वैसे कपायरूपी शीतसे बचावके लिये ध्यान आग
के समान है ॥१८८३॥

गा०—जैसे मेना और वाहनोसे समृद्ध राजा शत्रु मेनाके आक्रमणके भयसे रक्षा करता है
वैसे ही कपायरूपी शत्रु मेनाका भय दूर करनेके लिये ध्यान बल वाहनमें समृद्ध राजाके समान
है ॥१८९४॥

इय ज्ञायतो खवओ जइया परिहीणवायिओ होइ ।

आराधणाए तइया इभाणि लिगाणि दंसेई ॥१८९७॥

‘इय ज्ञायतो खवओ’ एव ध्यानेन प्रवर्तमान क्षपक । यदा वक्तुमसमर्थो भवति तदा ‘आराधणाए’ रत्नत्रयपरिणतेरात्मनो लिङ्गादीनां दर्शयति ॥१८९७॥

हुकारजलिभमुहगुलीहिं अन्छीहिं वीरमुट्ठीहि ।

सिरचालणेण य तहा सण्ण दावेदि सो खवओ ॥१८९८॥

‘हु कारजलिभमुहगुलीहिं अन्छीहिं’ हुकारेण वा अञ्जलिरचनया, भ्रूसंश्लेषेण, अञ्जुलिपञ्चकदर्शनेन उप-
देष्टार प्रति प्रसन्नतया (त्रया) दृष्टया किं समाहितचित्तोऽभीत्युक्ते सिर कम्पनेन सज्ञा दर्शयति क्षपक ॥१८९८॥

तो पडिचरया खवयस्स दिति आराधणाए उवओग ।

जाणति सुदरहस्सा कदसण्णा कायउवएण ॥१८९९॥

‘तो पडिचरया’ तत् प्रतिचारकास्तस्य क्षपकस्याराधनायामुपयोगं जानन्ति सुतरहस्या क्षपकेन कृतसंकेता । जाणति ॥१८९९॥

लेश्याया सबन्ध करोति—

इय समभावमुवगदो तह ज्ञायतो पसच्चज्ञाण च ।

लेस्साहिं विसुज्झंतो गुणसेहिं सो समारुहदि ॥१९००॥

गा०—जंमे बंध पुरूपके रोगो की चिकित्सा मे कुशल होता है वैसे ही ध्यान कपायरूपी रोग की चिकित्सा करने मे कुशलबंध है ॥१८९५॥

गा०—जैसे अन्न भूखको दूर करता है वैसे ही विषयोंकी भूख दूर करनेके लिये ध्यान अन्नके समान है । तथा जैसे प्यास लगने पर पानी उमे दूर करता है वैसे ही विषयरूपी प्यासके लिये ध्यान पानीके समान है ॥१८९६॥

गा०—इस प्रकार ध्यानमे सलग्न क्षपक जब बोलनेमे असमर्थ होता है तब मैं रत्नत्रयमे मलग्न हूँ यह बात आगे कहे चिन्होमे प्रकट करता है ॥१८९७॥

गा०—निर्यापकाचार्यके पृष्ठनेपर कि तुम्हारा चित्त सावधान है, वह क्षपक हुकारसे, हाथों की अञ्जलि द्वारा, या भाँ के सचालनसे अथवा पाँचों अँगुलियोंकी मुट्ठी बनाकर या मिर हिलाकर प्रसन्न हृष्टिसे संकेत करता है ॥१८९८॥

गा०—तब क्षपकके द्वारा पहलेमे ही संकेत ग्रहण करने वाले और आगमक रहस्यको जानने वाले परिचारक मुनिगण यह जान लेते हैं कि क्षपकका उपयोग आराधनामे है ॥१८९९॥

विशेषार्थ—क्षपक पहले ही बह रहता है या परिचारक पहले ही क्षपकसे कह देते हैं कि बोलनेमे असमर्थ होनेपर मैं अपनी परिणतिको हुकार आदि मन्त्रोमे बह दूँगा ॥१८९९॥

आगे क्षपककी रेश्याविशुद्धिका कथन करते हैं—

गा०—इस प्रकार समताभावको प्राप्त वह क्षपक प्रशस्त ध्यान ध्याना है और विशुद्ध

‘इयं समभावमुदगदो’ एव समचित्तता यतः प्रगस्तप्यायान् “वतवन्”, लेश्यानिर्विगुहगुणश्रेणी-
मारोहति ॥१९००॥

जह बाहिरलेस्साओ किण्हादीओ इवति पुरिसस्स ।

अब्भन्तरलेस्साओ तह किण्हादी य पुरिसस्स ॥१९०१॥

किण्हा णीला काओ लेस्साओ तिण्णि अप्पसत्थाओ ।

पजइह विरायकरणो सवेगमणुत्तरं पत्तो ॥१९०२॥

जह बाहिरलेस्साओ’ कृष्णनीलकापोतादिवति तिस्रः अग्ररास्ताः प्रजहाति ईराम्यनावतावान् सत्तार-
नीस्ता परामुपागतः ॥१९०१-१९०२॥

लेश्यापूर्वक अर्थात् क्रमसे पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यारूप परिणमन करता हुआ गुणश्रेणिपर
अर्थात् उपशम या क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥१९००॥

गा०—जैसे पुरुषके शरीरमें कृष्ण वादि द्रव्य लेश्या—शरीरका रंग काला गोरा होता
है । वैसे ही अभ्यन्तरमें कृष्ण वादि भावलेश्या होती है ॥१९०१॥

विशेषार्थ—लेश्याके दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या । मिथ्यात्व आदिके कारण
जीवके जो तीव्रतम आदि भाव होते हैं वह भावलेश्या है । आगममें कहा है कि मिथ्यात्व, अवि-
रति, कपाय और योगसे प्राणिजोंके जो सत्कार होते हैं वह भावलेश्या है । लेश्या छह हैं—कृष्ण,
नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल । इनमेंसे प्रारम्भकी तीन लेश्या अशुभ हैं और शेष तीन शुभ हैं ।
अशुभ लेश्याओंमें तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम रूपमें तथा शुभलेश्याओंमें मन्द, मन्दतर और
मन्दतमरूपसे हानिवृद्धि होती रहती है । जैसे अशुभ लेश्याओंमें कापोत लेश्या तीव्र है, नीललेश्या
तीव्रतर है और कृष्णलेश्या तीव्रतम है । इसी तरह शुभलेश्याओंमें पीतलेश्या मन्द, पद्मा मन्दतर
और शुक्ला मन्दतम है । उदाहरणके रूपमें जो व्यक्ति फलसे भरे वृक्षको जड़में काटकर फल
खाना चाहता है उसके कृष्णलेश्या है । जो जड़को छोड़ केवल तना काटकर फल खाना चाहता
है उसके नीललेश्या है । जो एक शाखा काटकर फल खाना चाहता है उसके कापोत लेश्या है ।
जो एक उपशाखा तोड़कर फल खाना चाहता है उसके पीतलेश्या है । जो केवल फल ही तोड़कर
खाना चाहता है उसके पद्मलेश्या है । और जो जमीनपर गिरे हुए फलोंको ही उठाकर खाना
चाहता है उसके शुक्ललेश्या होती है । जो रागी, द्वेषी, अनन्तानुदन्धी क्रोध मान माया लोभसे
युक्त है, निर्दय है, कलहप्रिय है, मद्य मासके भवनमें आसक्त है वह कृष्णलेश्या वाला होता है ।
जो घमण्डी, मायावी, विषयलम्पट, अनेक प्रकारकी परिग्रहमें आसक्त प्राणी है वह नीललेश्यावाला
होता है । जो परकी निन्दा और अपनी प्रशंसा करता है, अपनी प्रशंसासे प्रसन्न होता है, फिर
हानि लाभको भी नहीं देखना, लड़ाई होनेपर मरने मारनेकी तैयार रहता है वह कापोतलेश्या
वाला है । जो सर्वत्र समदृष्टि है कृत्य अकृत्य, हित अहितको जानना है दयादानका प्रेमी है वह
पीतलेश्यावाला होता है । जो त्यागशील, क्षमाशील, नम्र और साधुजनकी पूजामें तत्पर रहता
है वह पद्मलेश्यावाला होता है । जो माया और निदान नहीं करता, ग्राह्य नहीं करता वह
शुक्ल लेश्यावाला है ॥१९०१॥

तेओ पम्मा सुक्का लेस्माओ तिणिण वि दु पसत्थाओ ।

पडिवज्जेइ य कममो सवेगमणुत्तर पत्तो ॥१९०३॥

‘तेओ पम्मा सुक्का’ तेज पञ्चगुल्लेस्या प्रतिपद्यते परिपाटया ॥१९०३॥

एदेमि लेस्साण विसोघण पडि उवक्कमो इणमो ।

सन्वेसिं सगाणं विवज्जणं सन्वहा होइ ॥१९०४॥

‘एदेसिं लेस्साण’ एतामा गुगलेस्याना शुद्धिं प्रत्ययमुपक्रमं बाह्याभ्यन्तरसर्वपरिग्रहत्याग ॥१९०४॥

लेस्सासोधी अज्झवमाणविसोधीए होइ जीक्कम् ।

अज्झवमाणविसोधी मन्दकसायस्स णादन्वा ॥१९०५॥

‘लेस्सासोधी’ लेस्याना शुद्धिः । ‘अज्झवमाणविसोधीए होइ’ परिणामविशुद्धया भवति । ‘अज्झव-
माणविशुद्धी’ परिणामविशुद्धिश्च । ‘मन्दकसायस्स’ मन्दकपायस्य भवतीति ज्ञातव्या ॥१९०५॥

कपायाणा मन्दता कथमित्याह—

मदा हुति कमाया बाहिरसगविज्जडस्स सन्वस्स ।

गिणहड कसायगुल्लो चेव हु सन्वपि गयकलिं ॥१९०६॥

‘मदा हु ति कमाया’ कपाया मन्दा भवन्ति, इतिवाह्यसगपरित्यागस्य । कपायबहुल एवाय सर्वो जीव
सर्वं ग्रन्थकलिं गृह्णाति ॥१९०६॥

जह इयणेहिं अग्गी वट्टइ विज्झाइ इधणेहिं विणा ।

गधेहिं तह कसाओ वट्टइ विज्झाइ तेहिं विणा ॥१९०७॥

वही कहते हैं—

गा०—क्षपक कृष्ण, नील, कापोत, इन तीन अप्रदास्त लेश्याओंको त्यागकर वैराग्य
भावनासे युक्त होता है और सत्सारसे अत्यन्त भयभीत रहता है ॥१९०३॥

गा०—तथा पीत, पद्म, शुक्ल, इन तीन प्रदास्त लेश्याओंको क्रमसे स्वीकार करके उत्तृप्त
सर्वगभावको धारण करना है ॥१९०३॥

गा०—इन लेश्याओंकी विशुद्धिका उपक्रम यह है कि समस्त परिग्रहोंका संबंधा त्याग
होता है अर्थात् परिग्रहके त्यागसे लेश्यामें विशुद्धि आती है ॥१९०४॥

गा०—परिणामोंकी विशुद्धि होनेसे लेश्याकी विशुद्धि होती है । और जिसको कपाय मन्द
है उसके परिणामोंमें विशुद्धि होती है ॥१९०५॥

गा०—कपायोंकी मन्दता कैसे होती है, यह बतलाते हैं—

जो बाह्य परिग्रहका त्याग करता है उसकी कपाय मन्द होती है । जिसकी कपाय तीव्र
होती है वही रात्रि परिग्रह रूप पापको स्वीकार करता है ॥१९०६॥

‘जह इधणेहि आणी’ इन्धनैर्यागिनिर्वर्तते तैविना प्रशाम्यति । अन्यैस्तथा कपायो वदन्ते, तैविना मन्दो भवति ॥१९०७॥

जह पत्थणे पडंतो खोमेइ दहे पसण्णमवि पक ।

खोमेइ पसण्णमवि कमाय जीवस्स तह गथो ॥१९०८॥

‘जह पत्थरो पडतो’ यथा पापाण पतन् हृदे प्रशान्तमपि पट्क क्षोभयति, तथा जीवस्य कपाय मन्दा भवति ॥१९०८॥

अब्भतरसोधीए मधे णियमेण चाहिरे चयदि ।

अब्भतरमइलो चेव चाहिरे गेण्हदि हु गधे ॥१९०९॥

‘अब्भतरसोधीए’ अभ्यन्तरगुडया नियमेन बाह्यान्परिग्रहास्त्यजति, अभ्यन्तरमलिन एव बाह्यान् गृह्णाति परिग्रहान् ॥१९०९॥

अब्भतरसोधीए बाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।

अब्भतरदोसेण हु कुणदि णरो चाहिरे दोसे ॥१९१०॥

‘अब्भतरसोधीए’ अभ्यन्तरगुडया बाह्यगुडिनियमेन भवति । अभ्यन्तरदोषेणैव बाह्यान्कायगतान् दोषान् करोति ॥१९१०॥

जघ तइलस्स कोण्डयसोधी सतुसस्स तीरदि ण कादु ।

तह जीवस्स ण मक्को लिस्सासोधी ससगम्स ॥१९११॥

‘जह तइलस्स’ यथा तन्दुलस्य अभ्यन्तरमलगुडि कर्तुं न शक्यते बाह्यतुपसहितस्य । तथा जीवस्य न शक्या लेस्यागुडि कर्तु सपरिग्रहस्य ॥१९११॥

इत उत्तर लेस्याश्रयेणाराधनाविकल्पो निरूप्यते—

सुक्काए लेस्साए उक्कस्स अंसय परिणमिच्चा ।

जो मरदि सो हु णियमा उक्कस्माराधओ होई ॥१९१२॥

गा०—जैसे ईधनसे आग बढती है और ईधनके अभावमे बुझ जाती है वैसे ही परिग्रहसे कपाय बढती है और परिग्रहके अभावमे मन्द हो जाती है ॥१९०७॥

गा०—जैसे जलमे पत्थर फेंकनेसे नीचे बैठे हुए कीचड़ ऊपर आ जाती है । वैसे ही परिग्रहसे जीवकी दबी हुई कपाय उदयमे आ जाती है ॥१९०८॥

गा०—अन्तरगमे कपायकी मन्दता होनेपर नियमसे बाह्य परिग्रहका त्याग होता है । अभ्यन्तरमे मलिनता होनेपर ही जीव बाह्य परिग्रहोंको ग्रहण करना है ॥१९०९॥

गा०—अभ्यन्तरमे विगुडि होनेपर बाह्य विगुडि नियमसे होती है । अभ्यन्तरमे दोष होनेसे ही मनुष्य शारीरिक दोष करना है ॥१९१०॥

गा०—जैसे बाह्यमे तुप (छिलका) रहते हुए चावलकी अभ्यन्तर गुडि मभव नहीं है । वैसे ही परिग्रही जीवके लेस्याकी विगुडि मभव नहीं है ॥१९११॥

‘सुक्काए लेस्साए’ शुक्ललेश्याया उत्कृष्टाण परिणतो यो मृतिमुपैति स नियमादुत्कृष्टाराधको भवति ॥१९१२॥

खाइयदसणचरण खओवसमियं च णाणमिदि मग्गो ।

तं होइ क्षीणमोहो आराहिता य जो हु अरहत्तो ॥१९१३॥

जे सेमा सुक्काए दु असया जे य पम्मलेस्साए ।

तन्लेस्मापरिणामो दु मज्झिमाराधणा मरणे ॥१९१४॥

‘जे सेमा सुक्काए दु असया’ उत्कृष्टाशादन्ये ये शुक्ललेश्याया अशा ये चापि पद्मलेश्याया अशा तत्र परिणामो मरणे मध्यमाराधना ॥१९१३॥१९१४॥

तेजाए लेस्साए ये असा तेसु जो परिणमिता ।

काल करेइ तस्स हु जहणियागघणा भणिदा ॥१९१५॥

‘तेजाए लेस्साए’ तेजोलेश्याया ये अशास्तेषु परिणतो यदि काल कुर्यात् तस्य जघन्याराधना भवति ॥१९१५॥

जो जाए परिणिमिता लेस्साए सजुदो कुण्ड काल ।

तन्लेमो उववज्जइ तन्लेसे चेव सो सग्गे ॥१९१६॥

‘जो जाए’ जो यया लेश्याया परिणत काल करोति, स तल्लेश्य एवोपजायते, तल्लेश्यासमन्विते स्वर्गे ॥१९१६॥

अथ तेउपउमसुक्कं अदिच्छिउदो णाणदसणममग्गो ।

आउक्खया दु सुद्धो गच्छदि सुद्धिं चुपफिलेमो ॥१९१७॥

आगे लेश्या के आश्रयसे आराधनाके भेद कहते हैं—

गा०—जो क्षपक शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंश रूपसे परिणत होकर मरण करता है वह नियमसे उत्कृष्ट आराधक होता है ॥१९१२॥

गा०—क्षामिक सम्पत्त्व, यथाख्यात चारित्र और क्षायोपगमिक ज्ञानकी आराधना करके क्षीणमोह होता है और वह बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोह तदनन्तर अरहत होता है ॥१९१३॥

गा०—शुक्ललेश्याके शेष मध्यम और जघन्य अंश तथा पद्मलेश्याके उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य अंश रूपसे परिणत होकर मरण करने वाला क्षपक मध्यम आराधक होता है ॥१९१४॥

गा०—तेजोलेश्याके अंशरूपसे परिणत होकर यदि मरण करता है तो वह जघन्य आराधक होता है ॥१९१५॥

गा०—जो क्षपक जिम लेश्यारूपसे परिणत होकर मरण करता है वह उसी लेश्यावाले स्वर्गमें उसी लेश्यावाला ही देव होता है ॥१९१६॥

गा०—जो पीत पद्म और शुक्ललेश्याको भी छोड़कर लेश्यारहित अयोग अवस्थाको प्राप्त होता है वह सम्पूर्ण केवलज्ञान और केवल दर्शनसे युक्त होकर आयुका क्षय होनेपर मोक्ष प्राप्त

‘अथ तेजउपममुक्क’ अथ तेज पद्मशुक्ललेइथा अतिवान्त बल्लेइयतामुपगत ज्ञानदर्शनसमग्र आद्युप
शयात् सिद्धि गच्छति कर्मलेपापगमाद्विरुद्धो निरस्तारोपकलेत् । लेस्तेत्ति ॥१९१७॥

एवं सुभाविदप्पा ज्ञाणोवगओ पसत्थलेस्साओ ।

आराधणापढाय हरइ अविग्घेण सो खवओ ॥१९१८॥

‘एव सुभाविदप्पा’ एव सुष्ठु भावितात्मा ध्यानमुपगत प्रशस्तभेद्यापरिणत आराधनापताका
हरत्यविघ्नेन ॥१९१८॥

तेल्लोक्कमन्वसारं चउगइससारदुक्खणासयर ।

आराहण पवण्णो सो भयव मुक्खपडिमुत्तल ॥१९१९॥

‘तेल्लोक्कमन्वसार’ त्रैलोक्ये सर्वस्मिन्मारभूता चतुर्गतिससारदुःखनाशकरी आराधना प्रपन्नोन्मी
भगवान् मोक्षप्रतिमौल्य ॥१९१९॥

एवं जयाक्खादविधिं मपचा सुद्धदमणचरिणा ।

केइ खवति खवया मोहावरणतरायाणि ॥१९२०॥

‘एव जयाक्खादविधिं’ एव यथाख्यातविधिं संप्रत्या शुद्धदर्शनचारिणा नेचित्तक्षपका पातकमणि
क्षययन्ति ॥१९२०॥

केवलकप्प लोमं सपुण्णं द्रव्यपज्जयविधीहिं ।

ज्झायता एयमणा जहति आराहया देह ॥१९२१॥

‘केवलकप्प’ केवलज्ञानस्य परिच्छेद्यत्वेन योग्य लोक संपूर्ण द्रव्यपर्यायविकल्पं परिच्छिन्दन्त जहति ते
स्वदेह ॥१९२१॥

करता है । वह समस्त कर्मलेपके चले जानेसे विमुक्त होता है तथा समस्त क्लेशोंसे छूट जाता
है ॥१९२०॥

गा०—इस प्रकार वह क्षपक अच्छी तरहसे आत्माकी भावना भाकर प्रशस्त लेंदयापूर्वक
ध्यान करके, किमी विघ्न बाधाके बिना आराधना पताकाको धारण करता है ॥१९१८॥

गा०—वह भगवान् तीनो लोकोमे सारभूत तथा चार गतिरूप ससारके दुःखोका नाश
करनेवाली आराधनाको प्राप्त करता है जो उस मोक्षका प्रतिमूल्य है अर्थात् आराधनारूपी मूल्य
प्रदान करके ही मोक्षको खरीदा जा सकता है ॥१९१९॥

गा०—इम प्रकार कोई-कोई चरमशरीरी क्षपक यथाख्यात चारित्रकी विधिके द्वारा शुद्ध
सम्यग्दर्शन और चारित्रको प्राप्त करके मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका
क्षय करते हैं ॥१९२०॥

गा०—केवलज्ञानके द्वारा जाननेके योग्य सम्पूर्ण लोकको द्रव्य पर्यायोंके भेदोंके साथ
एकाग्रमनमे जानते हुए आराधक अपना शरीर छोड़ते हैं ॥१९२१॥

सव्वुक्कम जोग जुजता दसणे चरित्ते य ।

कम्मरयविप्पमुक्का हवति आराधया मिद्धा ॥१९२२॥

‘सव्वुक्कस्स’ सर्वोत्कृष्ट दर्शनचारित्र्योपयोग प्रतिपद्यमाना कर्मरजोभ्यो विप्रमुक्ता आराधका सिद्धा भवन्ति ॥१९२२॥

इयमुक्कस्मियमाराधणमणुपलित्तु केवली भविया ।

लोगग्गसिहरवासी हवति सिद्धा धुयकिलेमा ॥१९२३॥

‘इय उत्तस्सिध’ एवमुत्कृष्टामाराधनामनुपाय केवलित्तो भूत्वा निरस्तकलेना लोकाग्रणिश्वरसिद्धा सिद्धा भवन्ति ॥१९२३॥

अह सावसेसकम्मा मलियकमाया पण्डुमिच्छता ।

हासरइअरइभयसोगदुगुछावेयणिम्महणा ॥१९२४॥

‘अह सावसेसकम्मा’ अथ मावसेपकर्माणो मयितकपाया’ प्रणष्टमिध्यात्वा हास्यररयरतिममसोकजुगुप्सा-वेदविकमयना ॥१९२४॥

पचसमिद्धा तिगुत्ता सुसवुडा मव्वमगउम्मुक्का ।

धीरा अदीणमणसा समसुहदुक्खा असमूढा ॥१९२५॥

‘पचसमिद्धा’ समितिपचकोपेता गुप्तिप्रयोपेता सुसवुता अपाङ्कतसर्वमया धीरा अशीतमनसा समसुह-दुक्खा असमूढा ॥१९२५॥

सव्वसमाधाणेण य चरित्तजोगो अधिदुद्धा मम्म ।

धम्मं वा उवजुत्ता ज्ञाणे तह पढमसुक्के वा ॥१९२६॥

‘सव्वसमाधाणेण’ सर्वेण समाधानेन चारित्र्ये सम्यग्बन्धित्वा धर्मध्याने प्रथमसुक्के वा उपपुत्ता ॥१९२६॥

गा०—सवसे उत्कृष्ट अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यक् चारित्र्यको प्राप्त करके वे आराधक कर्मरुग्गे रजने अर्थात् शेष चार अधाति कर्मोंमें छूटकर सिद्ध हो जाते हैं ॥१९२२॥

गा०—इस प्रकार उत्कृष्ट आराधनाका पालन करके केवलज्ञानी होकर सम्पूर्ण क्लेशोंमें छूट जाते हैं और लोकके शिखर पर विराजमान होते हैं ॥१९२३॥

गा०—किन्तु जिनके कर्मबन्धन शेष रहना है वे मिथ्यात्वको नष्ट करके तथा कपायोका और हास्य रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, तीनों वेदोका भयन करके, पाँच ममिति और तीन गुणियोके द्वारा सम्यक् रूपमें मवर करके समस्त परिग्रहमें रहित होकर धीरतापूर्वक, मनमें दोनताका भाव नहीं लाते । मोहरहित होकर मुख और दुःखमें समभाव रखने हैं । मन, वचन, वायको ममाहित करके चारित्र्यमें सम्यक्निष्ठ रहते हैं तथा धर्मध्यान या प्रथम शुबलध्यानमें उपयोग लगाने हैं ॥१९२४-२६॥

इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरपजहित्ता ।

हुति अणुचरवामी देवा सुविमुद्धलेस्सा य ॥१९२७॥

‘इय मज्झिम’ एव मध्यमाराधनामनुपाल्य शरीर त्यक्त्वा विमुद्धलेद्याधरा अनुत्तरवामिनो देवा भवन्ति ॥१९२७॥

दसणणाणचरित्ते उक्किट्ठा उत्तमोपघाणा य ।

डरियावहपट्टिवण्णा हवति लवसत्तमा देवा ॥१९२८॥

‘दसणणाणचरित्ते’ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्येषु उत्कृष्टा उत्तमाभिग्रहा ईयपिथ प्रपन्ना लवसत्तमा देवा भवन्ति ॥१९२८॥

कप्पोवगा सुरा ज अच्छरसहिया सुह अणुहवति ।

तत्तो अणतगुणिद सुह दु लवमत्तमसुराण ॥१९२९॥

‘कप्पोवगा सुरा ज’ कल्पोपपन्ना सुरा अप्यगोभिस्सहिता यत्सुखमनुभवन्ति ततोऽन्यनन्तगुणित लवसत्तमदेवाना ॥१९२९॥

णाणम्मि दसणम्मि य आउत्ता सज्जे जहक्खादे ।

वड्ढिट्ठतवोवघाणा अवहियलेस्सा सददमेव ॥१९३०॥

‘णाणम्मि दसणम्मि य’ ज्ञानदर्शनयोर्ययास्याते च सयमे आयुक्ता वड्ढिततपोऽभिग्रहा सतत विमुद्धलेद्या धरका ॥१९३०॥

पजहिय सम्म देह सदद सव्वगुणावड्ढिट्ठगुणड्ढा ।

देविदचरमठाण लहति आराधया खवया ॥१९३१॥

‘पजहिय देह’ विहाय देह सम्यक्प्रदा सर्वगुणवर्धितगुणाढपा देवेन्द्रचरमस्थान लभन्ते ॥१९३१॥

गा०—इस प्रकार मध्यम आराधनाका पालन करके शरीर त्याग कर विमुद्ध लेद्याके धारक अनुत्तरवामी देव होते हैं ॥१९२७॥

गा०—वे मध्यम आराधनाके पालक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और मम्मक्चारित्र्यमे उत्कृष्ट होते हैं। अर्थात् कल्पोपपन्न देवोमे उत्पन्न कराने वाले रत्नप्रयुक्त आराधकोसे उत्कृष्ट होते हैं। उनकी तपश्चर्या उत्तम होती है, वे ईयपिथ आसवके धारी होते हैं अर्थात् कपायरहित कायकी क्रियासे होनेवाला शुभास्रव ही उनके होता है। वे मरकर लवसत्तम अर्थात् भवेयक या अनुदिम विमानवामी देव होते हैं ॥१९२८॥

गा०—कल्पवासी देव अपनी देवागनाओंके साथ जिस सुखको भोगते हैं उससे अनन्तगुणा गुप्त अहमिन्द्रदेव भोगते हैं ॥१९२९॥

गा०—जो धरक ज्ञान दर्शन और यथाग्यान चारित्र्यमे लीन रहते हैं, अपनी तपश्चर्याको निगन्तर वृद्धते हैं, वे विमुद्ध लेद्यावाले होते हैं ॥१९३०॥

गा०—वे आराधक धरक सम्यक् भावना पूर्वक शरीर त्यागकर अनन्तगुणी अणिमा आदि ऋद्धियोंसे सम्पन्न उपरिम स्वर्गमे स्थान प्राप्त करते हैं ॥१९३१॥

सुयभक्तीए विसुद्धा उग्गतवणियमजोगससुद्धा ।
 लोगतिया सुरवरा हवति आराधया वीरा ॥१९३२॥
 जावदिया रिद्धिओ हवति इदियगदाणि य सुहाणि ।
 ताड लहति ते आगमेसिं महा सया खवया ॥१९३३॥

‘जावदिया रिद्धिओ’ यावन्त्य ऋद्धयो भवन्ति यावन्तोन्द्रियसुखानि च भवन्ति तानि सर्वाणि लप्स्यन्ते भद्राद्या क्षपका ॥१९३२-१९३३॥

जे वि हु जहणिय तेउलेस्ममाराहणं उवणमति ।
 ते वि हु सोघम्माडसु हवति देवा ण हेड्डिन्ला ॥१९३४॥

‘जे वि हु जहणिय’ जेऽपि जघन्यामाराधना तेजोलेश्याप्रवृत्तामुपभमन्ति तेऽपि सौघर्मादिषु देवा भवन्ति, नाथोभाविनो देवा ॥१९३४॥

किं जपिएण बहुणा जो सारो केवलस्स लोगस्म ।
 त अचिरेण लहते फासिताराहण णिहिलं ॥१९३५॥

‘किं जपिएण बहुणा’ किं बहुनोक्तं यत्तद्वैस्यास्य लोकस्य सारभूत तदचिरेण लभन्ते आराधना प्रपन्ना ॥१९३५॥

भोगे अणुत्तरे भुंजिऊण तचो जुदा सुमाणुस्से ।
 इडिद्धीमतुलं चइत्ता चरति जिणदेमिय घम्म ॥१९३६॥

‘भोगे अणुत्तरे’ भोगानुत्कृष्टान् भुक्त्वा स्वर्गंभ्युता मनुष्यभवेऽपि प्राप्य सकलामृदि ता च त्यक्त्वा जिनाभिहित धर्मं चरन्ति ॥१९३६॥

गा०—श्रुतभक्तिसे विशुद्ध, उग्रतप, नियम और आतापन आदि योगसे शुद्ध धीर आराधक लोकान्तिक देव होते हैं ॥१९३२॥

गा०—जितनी ऋद्धियाँ हैं और जितने भी इन्द्रिय सुख हैं उन सबको भद्रपरिणामी क्षपक आगामी कालमें प्राप्त करते हैं ॥१९३३॥

गा०—तेजोलेश्यासे युक्त जो क्षपक जघन्य आराधना करते हैं वे भी सौघर्म आदि स्वर्गमें देव होते हैं, नीचेके देव नहीं होते । अर्थात् भवनत्रिक्रमे जन्म नहीं लेते ॥ १९३४॥

गा०—अधिक कहनेसे क्या ? जो समस्त लोकका सारभूत है उस सबको आराधना करने वाले शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं ॥१९३५॥

गा०—स्वर्गके उत्कृष्ट भोगोंको भोगकर स्वर्गसे च्युत होनेपर मनुष्य भवमें जन्म लेते हैं और वहाँ भी समस्त ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं । फिर उसे त्यागकर जिन भगवान्‌वे ढाग वहे हुए धर्मका पालन करते हैं ॥१९३६॥

सदिमंतो धिदिमंतो सद्दासवेगवीरियोवगया ।

जेदा परीसद्धानं उवसग्गारं च अभिभविय ॥१९३७॥

‘सदिमंतो’ स्मृतिमन्त घृतिसमन्विता थद्दामवेगवीर्यमहिता परीषद्धाना विजेतार उपमर्गणामभि-
भवितार ॥१९३७॥

इय चरणमधक्खादं पडिवण्णा सुद्धदसणमुवेदा ।

सोधिंति ज्ञाणज्जा लेस्साओ संकिलिट्ठाओ ॥१९३८॥

‘इय चरणमधक्खादं’ एव यथाख्यातचारित्र्य प्रतिपत्ता शुद्धदर्शनमुपगता ध्यानयुक्ता सविल्लिट्ठेइया
विनाशयन्ति ॥१९३८॥

सुक्क लेस्समुवगदा सुक्कज्झाणेण खविदसंसारा ।

उग्गुक्ककम्मकवया उविति सिद्धिं घुदकिलेसा ॥१९३९॥

‘सुक्क लेस्समुवगदा’ शुक्ललेइयामुपगता शुक्लध्यानेन सर्पितमसारा उन्मुक्तकर्मकवया दूरीकृत
क्लेशा सिद्धिमुपमान्ति ॥१९३९॥

एव सधारगदो विसोघइत्ता वि दसणचरित्त ।

परिवड्दि पुणो कोई झायतो अट्ठरुद्धानि ॥१९४०॥

‘एव सधारगदो’ उक्तेन प्रकारेण सस्तरमुपगतोऽपि कृतदर्शनचारित्र्यशुद्धिरपि वदित्तमंगौरवादात्-
रौद्रपरिणतं पतति । तत्र दोषमाचष्टे ॥१९४०॥

उझायतो अणगारो अट्ठं रुद्धं च चरिमकालम्भि ।

जो जहइ सयं देहं सो ण लहइ सुग्गदिं खवओ ॥१९४१॥

गा०—वे शास्त्रोका अनुचिन्तन करते हैं, धैर्यशाली होते हैं, श्रद्धा, सवेग और शक्तिसे
युक्त होते हैं । परीषद्दोको जीनते हैं और उपसर्गोंको निरस्त करते हैं, उनसे अभिभूत नहीं
होते ॥१९३७॥

गा०—इस प्रकार शुद्ध सम्यग्दर्शन पूर्वक यथाख्यात चारित्र्यको प्राप्त करके ध्यानमें मग्न
होकर सबलेशयुक्त अगुम लेइयाओका विनाश करते हैं ॥१९३८॥

गा०—शुक्ललेइयासे सम्पन्न होकर शुक्लध्यानके द्वारा सत्साराका क्षय करते हैं और
कर्मोंके कवचसे मुक्त हो, सब दुःखोंको दूर करके मुक्तिको प्राप्त होते हैं ॥१९३९॥

गा०—इस प्रकार सस्तरपर आरुढ़ होकर और सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र्यको निर्मल
करके भी कोई-कोई क्षणक कर्मोंको गुरुता होनेसे आतंरोद्ध ध्यानपूर्वक रत्नत्रय रूप आराधनासे
गिर जाता है ॥१९४०॥

गा०—जो क्षणक साधु मग्नते समय आतंरोद्ध ध्यानपूर्वक अपने शरीरको छोड़ता है वह
सुगति प्राप्त नहीं करता ॥१९४१॥

‘ज्जापतो अण्णासो’ मरणकाले आनंदोदयो परिणतो भूत्वा य स्वदेहं जहानि तामो क्षपकं सुगतिं लभते ॥१९४१॥

जदि दा मुमाविदप्पा वि चरिमकालम्मि सकिलेसेण ।

परिवडदि वेदणट्ठो खवओ मंथारमारुढो ॥१९४२॥

‘जदि दा मुमाविदप्पा वि’ यदि तावन्मुमावितात्मापि सस्तरमाह्वं वेदनाव क्षपकं सकलेद्येन हेतुना सम्मार्गात्परिपठति ॥१९४२॥

किं पुण जे ओसण्णा णिच्चं जे वा वि णिच्चपासत्था ।

जे वा सदा कुसीला संसत्ता वा जहाछदा ॥१९४३॥

‘किं पुण’ किं पुनर्न परिपठन्ति ये नित्यमवसन्ना ये च नित्यं पादवस्थं ये वा सदा कुसीला संसत्ता वा स्वच्छन्दा ॥१९४३॥

तत्र अवमन्ना निष्पन्ने—

गेच्छहि केइ पुरिमा पक्खी इव पजरतगणिरुद्धा ।

सरणपजरचक्रिदा ओसण्णागा पावहरति ॥१९४४॥

यथा कर्दमे क्षुण्णं मार्गादीनोज्वसन्नं द्रव्युच्यते स द्रव्यतोऽवमन्नः । भावावमन्नं अमुद्धचरित्रं सीदति उपकरणे, वसति मस्तरप्रतिलेखने, स्वाध्याये, विहारभूमिशोधने, गोचारशुद्धौ, ईर्ष्यामित्यादिषु, स्वाध्यायकालावलोकने, स्वान्यायविमर्शे, गोचारे, च अनुष्ठितं, आवश्यकं प्लवसं, जगत्तिरिक्ते वा जनाधिकं करोति कुर्वन्वचं मयोक्तमावश्यकं वाक्कायाम्ना करोति न भावनं एवमूहद्वारिबेज्जमीदतीत्यवमन्नं । पन्थानं पश्यन्ति

गा०—यदि अपनी आत्माकी सम्यक् भावना करने वाले भी मस्तरपर आरुढ़ हों, मबलेदा-के कारण मरते समय मन्मार्गसे गिर जाते हैं ॥१९४२॥

गा०—सो जो नित्य अवसन्न, नित्य पादवस्थ, सदा कुसील संसक्त और स्वच्छन्द साधु हैं उनका कहना ही क्या है ? ॥१९४३॥

गा०—टी०—अवमन्न आदिका स्वरूप कहते हैं—

जैसे कोई पुरुष कीचडमें फँस गया या मार्गमें थक गया तो उसको अवसन्न कहते हैं । वह द्रव्यरूपसे अवसन्न है । उसी प्रकार जिसका चरित्र अमुद्ध होता है वह भाव अवमन्न होता है । वह उपकरणमें, वसतिकामें, मस्तरके शोधनेमें, स्वाध्यायमें, विहार करनेकी भूमिके शोधनेमें, गोचरीकी शुद्धतामें, ईर्ष्यामिति आदिमें, स्वाध्यायके कालका ध्यान रखनेमें और स्वाध्यायकी समाप्तिमें तत्पर नहीं रहता । छह आवश्यकतामें आनन्दस्य करता है । या दूसरोंमें करता तो अधिक है किन्तु वचन और कायसे करता है, भावमें नहीं करता । इस प्रकार चरित्रका पालन करते हुए सेदसिन्न होता है इससे उसे अवसन्न कहते हैं ।

१ इस गाथा पर किसी प्रति में ब्रमाक्ष नहीं दिया है । न इस पर किसी की टीका हो है । स०

तत्समीपेऽप्येन कश्चिद् गच्छति, यथानो मार्गपार्श्वस्थ, एवं निरतिचारसमयमार्गे जानन्नपि न तत्र वर्तते, किंतु समयमार्गपार्श्वे तिष्ठति नैकान्तेनाग्रयत, न च निरतिचारसमयं सोऽभिधीयते पार्श्वस्थ इति । शय्याधरपिण्डमभिहितं नित्यं च पिण्ड भुङ्क्ते, पूर्वापरकालयोर्दातुसंस्त्व करोति, उत्पादनपणादोषदुष्टं वा भुङ्क्ते, नित्यमेकस्या वसतीवमति, एकस्मिन्नेव सस्तरे शेते, एवस्मिन्नेव क्षेत्रे वसति । गृहिणा गृहाम्भन्तरे निपद्या करोति, गृहदोष-करणैर्व्यवहरति, दु प्रतिलेखमप्रतिलेखं वा ब्रूहति, सूचोर्कर्तोरनसच्छेदसदानपट्टिकाशुरर्कणशोधनाजिनप्राप्ती, मीवनप्रसालनावधूननरञ्जनादिवहूपरिकर्मव्यापुतश्च वा पार्श्वस्थ । क्षारचूर्णं सोऽदोरलवणसंस्तरित्यादिक अनागादकारणेऽपि गृहोत्था स्थापयन् पार्श्वस्थ । रात्रौ यथेष्टं शेते, सस्तरं च यथाकामं बहुतर करोति । उपकरणवकुशो देहवकुश — दिवसे वा शेते च य पार्श्वस्थ । पदप्रसालनं भ्रमणं वा मत्कारण-मन्त्रेण करोति, यश्च गणोपजीवी तृणपञ्चकक्षेवापरश्च पार्श्वस्थ । अपमत्र संक्षेप — अयोग्यं सुखशीलतया यो निषेवते काटनमन्तरेण स सर्वथा पार्श्वस्थ । कुत्सितशीलं कुशील । यद्येव अवसन्नाशोना कुशीलत्व प्राप्नोति, नैव लोकप्रकटकुत्सितशीलं कुशील इति विवेकोऽत्र ग्राह्यः । स च कुशीलाऽनेकप्रकारं कश्चित्कौ-तुकशील औपप्रविलेपनविद्याप्रयोगैश्च, सोभाग्यकरणं राजद्वारिकौतुकमादरयति य स कौतुककुशील ।

जैसे कोई मार्गको देखते हुए भी उस मार्गसे न जाकर अन्य उसके समीपवर्ती मार्गसे जाता है, उसे मार्ग पार्श्वस्थ कहते हैं । इसी प्रकार जो निरतिचार समयका मार्ग जानते हुए भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करता किन्तु समयके पार्श्ववर्ती मार्गमें चलता है, वह न तो एकान्तसे असमयी है और न निरतिचार समयी है । उसे पार्श्वस्थ कहते हैं । शय्याधरपिण्डका स्वरूप पहले कहा है उस भोजनको नित्य करता है । भोजन करनेसे पहले और भोजन करनेके पश्चात् दाताकी स्तुति करता है । अथवा उत्पादन और एषणा दोषसे दूषित भोजन करता है । नित्य एक ही वसतिकामे रहता है । एक ही सस्तरपर सोता है । एक ही क्षेत्रमें रहता है । गृहस्थोंके परके भीतर बैठता है । गृहस्थोंके उपकरणोंका उपयोग करता है । बिना प्रतिलेखनाके वस्तुको ग्रहण करता है या दुष्टता पूर्वक प्रतिलेखना करता है । सुई, कैंची, नख काटनेके लिये नहिनी, छुरा, कानका मेल निकालनेकी सीक, चम आदि पासमें रखता है । और सीता, धोना, रगना आदि कामोंमें लगा रहता है, वह पार्श्वस्थ है । क्षारचूर्ण, सुर्मा, नमक, घी इत्यादि बिना कारण ग्रहण करके पासमें जो रखता है वह पार्श्वस्थ है । जो रातमें मनमाना माता है, मस्तरा इत्यादिनुसार लम्बा चौड़ा बनाता है वह उपकरण वकुश है । जो दिनमें सोता है वह देहवकुश है । ये भी पार्श्वस्थ हैं । जो बिना कारण पैर धोता है और तेल लगाता है तथा जो गणोपजीवी है वह पार्श्वस्थ है । मागदा यह है कि सुखशील होनेके कारण जो बिना कारण अयोग्यका सेवन करता है वह सर्वथा पार्श्वस्थ है ।

जिसका शील कुत्सित है वह कुशील मुनि है

शङ्का—यदि ऐसा है तो अवसन्न आदि भी कुशील कहलायेंगे ।

समाधान—नहीं, क्योंकि लोकमें जिसका कुत्सित शील प्रकट है वह कुशील है, यह में भेद ग्रहण करना चाहिये । वह कुशील अनेक प्रकारका होता है । कोई कौतुक कुशील होता है जो औपग्रहण लगानेकी विद्याके प्रयोग द्वारा सौभाग्यके कारण राजद्वारमें कौतुक दिखलाना है ।

कश्चित् भूतिकर्मकुशील भूतिग्रहणमुपलक्षण भूत्या, धूम्या, सिद्धार्थके, पुष्पे, फलैश्चकादिभिर्वा मन्त्रितं रक्षा वशीकरण वा य करोति स भूतिकुशील । उक्तं च—

भूदीयव धूलोय वा सिद्धत्यप पुष्पफलदकादीहि ।

रक्ष्य वसिपराण वा करेदि ओ भूदियकुशीलो ॥

कश्चित्प्रमेनिकाकुशील, अमुष्प्रमेनिका, अक्षरप्रमेनी, शशिप्रमेनी, सूर्यप्रमेनी स्वप्नप्रमेनीत्येवमारिमिर्जन् रञ्जयति य सोऽभिधीयते प्रमेनिकाकुशील इति । कश्चिन्निमित्तकुशील विद्याभिर्मन्त्रैरौषध प्रयोगैर्वा असयत चिकित्सा करोति सोऽप्रमेनिकाकुशील । कश्चिन्निमित्तकुशील अष्टाङ्गनिमित्त ज्ञात्वा यो लोकास्पादेष करोति स निमित्तकुशील । आत्मनो जाति कुल वा प्रकाश्य यो भिक्षादिकमुत्पादयति स आजीवकुशील । केनचिदुपद्रुत पर शरण प्रविशति, अनाथशाला वा प्रविश्य आत्मनेचिकित्सा करोति स वा आजीवकुशील । विद्यायोगादिभिः परब्रह्मापहरणदम्भप्रदर्शनपर कवचकुशील । इन्द्रजालादिभिर्विजयं जन विस्मापयति सोऽभिधीयते कुहनकुशील इति । वृक्षगुल्मादीनां पुष्पाणां, फलाणां च समवमुपवर्शयति गर्भस्थापनादिकं च करोति य स समूहनाकुशील । असजाना, कीटादीनां, वृक्षादीनां, पुष्पफलादीनां, गर्भस्य परिशातनं आभिचारिकं च य करोति शापं च प्रयच्छति स प्रपातनकुशील ॥ उक्तं च—

काओतिकभूदिकश्मे पतिणा पतिणे षिमित्तमाशोभे ।

कवचकुहन समूच्छन पपादगादीकुशीलो बु ॥ इति ॥

कोई भूतिकर्मकुशील होता है । यहाँ भूति शब्दसे भस्म, धूल, सरसो, पुष्प, फल, अथवा जल आदिसे मन्त्र पढ़कर रक्षा या वशीकरण जो करता है वह भूतिकर्म कुशील है । कहा है—

जो भस्म, धूल, सरसो, पुष्प, फल, जल आदिके द्वारा रक्षा या वशीकरण करता है वह भूतिकर्म कुशील है । कोई प्रमेनिकाकुशील होता है जो अगुष्ठप्रमेनिका, अक्षरप्रमेनिका, शशिप्रमेनिका, सूर्यप्रमेनिका, स्वप्नप्रमेनिका आदि विद्याओंके द्वारा लोगोंका मनोरजन करता है । कोई अप्रमेनिका कुशील होता है जो विद्या, मन्त्र और औषध प्रयोगके द्वारा असयमी जनोंका इलाज करता है । कोई निमित्तकुशील होता है जो अष्टाङ्ग निमित्तोंको जानकर लोगोंको इष्ट अनिष्ट बतलाना है । जो अपनी जाति, अथवा कुल बतलाकर भिक्षा आदि प्राप्त करता है वह आजीवकुशील है । जो किसीके द्वारा सताये जानेपर दूसरेकी शरणमें जाता है अथवा अनाथशाला में जाकर अपना इलाज करता है वह भी आजीव कुशील होता है । जो विद्या प्रयोग आदिके द्वारा दूसरोंका द्रव्य हरने और दम्भप्रदर्शनमें तत्पर रहता है वह कवचकुशील होता है । जो इन्द्रजाल आदिके द्वारा लोगोंको आश्चर्य उत्पन्न करता है वह कुहनकुशील है । जो वृक्ष, शादो, पुष्प और फलोंको उत्पन्न करके वताता है तथा गर्भस्थापना आदि करता है वह समूच्छनाकुशील है । जो असजातिके कोट आदिका, वृक्ष आदिका, पुष्प फल आदिका तथा गर्भका विनाश करता है, उनकी हिंसा करता है, शाप देता है वह प्रपातन कुशील है । कहा है—

कोतुक कुशील, भूतिकर्म कुशील, प्रमेनिका कुशील, अप्रमेनिका कुशील, निमित्तकुशील, आजीव कुशील, कवचकुशील, कुहनकुशील, समूच्छनकुशील, प्रपातन कुशील आदि कुशील होते

आदिशब्दपरिग्रहीता कुशीला उच्यन्ते—क्षेत्र हिरण्य चतुष्पद च परिग्रह ये गृह्णन्ति हरितकन्दफल-
भोजिन कृतकारितानुमतपिण्डोपधिबसतिनेवापरा, स्त्रीकधारतय, मैथुनसेवापरायणा, विवेकास्रवादि
अधिकरणोद्यताश्च कुशीला । घृष्ट प्रमत्त विवृतवेषद्वय कुशील । ससक्त निरूप्यते—प्रियचारित्र्ये प्रिय-
चारित्र्य अप्रियचारित्र्ये दृष्टे अप्रियचारित्र्य, नटवदनेकरूपग्राही ससक्त । पञ्चेन्द्रियेषु प्रमत्त त्रिविधगौरव-
प्रतिबद्ध, स्त्रीविषये सवेद्यसहित गृहस्थजनपियद्वय ससक्त । 'अवसण्णो अवसन्न । पार्श्वस्थसमर्गात्स्वय-
मपि पार्श्वस्थ, कुशीलसमर्गात्स्वयमपि कुशील, यः स्वच्छन्दमपकात्स्वयमपि स्वच्छन्दवृत्ति । यथाछन्दो
निरूप्यते—उत्प्लूत्रमनुपदिष्ट स्वेच्छाविकल्पित यो निरूपयति साऽभिधीयते यथाछन्द इति । तथापि वर्षे पतति
जलधारणमसयम मुरकत्तिकादिभिः वैशाखमयनप्रसन्न आत्मविराघनान्यथा भवतीति भूमिद्वया तृणपुञ्जे
वसत अवस्थितानामावाधेति, उद्देशिकादिके जनेऽदोष ग्राम सकल पथेऽतो महती जीवनिर्वायविराघनेति,
'गृहामत्रेषु भोजनमदोष इति कथन, पाणिपात्रिकस्य परिशातनदोषो भवतीति निरूपणा, सप्रति यथोक्तकारी न
विद्यत इति च भाषण एवमादिनिरूपणापरा स्वच्छन्दा इत्युच्यन्ते ॥१९४४॥

है । गायामे आये आदि शब्दसे ग्रहण किये कुशीलोको कहते हैं—जो क्षेत्र, सुवर्ण, चीपाये आदि
परिग्रहको स्वीकार करते हैं, हरे कद, फल खाते हैं, कृत कारित अनुमोदनामे युक्त भोजन, उपधि
वसतिकाका सेवन करते हैं, स्त्रीव्यामे लीन रहते हैं, मैथुन सेवन करते हैं, आस्रवके अधिकरणोमे
लगे रहते हैं वे सब कुशील है । जो घृष्ट, प्रमादी और विकारयुक्त वेष धारण करता है वह
कुशील है ।

अब ससक्तका स्वरूप कहते हैं । चारित्र्य प्रेमियोमे चारित्र्यप्रेमी, और चारित्र्यसे प्रेम न
करनेवालोमे चारित्र्यके अप्रेमी, इस तरह जो नटकी तरह अनेक रूप धारण करते हैं वे ससक्त मुनि
हैं । जो पञ्चेन्द्रियोके विषयोमे आसक्त होते हैं गृद्धिगारव, सातगारव और रसगारवमे लीन होते
हैं, स्त्रियोके विषयमे रागरूप परिणाम रखते हैं, और गृहस्थजनोंके प्रेमी होते हैं वे ससक्त मुनि
हैं । वे पार्श्वस्थके ससगमे पार्श्वस्थ, कुशीलके समगसे कुशील और स्वच्छन्दके सम्पक्से स्वय भी
स्वच्छन्द होते हैं ।

अब यथाछन्दका स्वरूप कहते हैं—जो बात आगममे नहीं कही है, उसे अपनी इच्छानु-
सार जो कहता है वह यथाछन्द है । जैसे वर्षामे जलधारण करना अर्थात् वृक्षके नीचे बैठकर
ध्यान लगाना अमम है । लुरे कैंची आदिसे वेद्य काटनेकी प्रवृत्ति करना और कहना कि केश-
लाच करनेसे आत्माकी विराघना होती है । पृथ्वीपर मोनेमे तृणोमे रहनेवाले जन्तुओंको धाया
होती है । उद्दिष्ट भोजनमे कोई दोष नहीं है क्योंकि भिक्षाये लिये पूरे ग्राममे भ्रमण करनेमे
जीव निर्यामकी महती विराघना होती है । घरके पात्रोमे भोजन करनेमे कोई दोष नहीं है ऐसा
कहना । जो हाथमे भोजन करना है उसे परिशातन दोष लगता है ऐसा कहना । आजकल
आगमानुसार आचरण करनेवाले नहीं हैं ऐसा कहना । इत्यादि कहने वाले मुनि स्वच्छन्द बहे
जाते हैं ॥१९४४॥

अविसुद्धभावदोषा कसायवमगा य मंदसवेगा ।

अच्चासादणमीला मायापहुला निदानकदा ॥१९४५॥

‘अविसुद्धभावदोषा’ भावा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामा, तेषा दोषा शङ्कादय ते अविसुद्धा अनिराहता येन्ते अविसुद्धभावदोषा । ‘कसायवसिगा’ कषायवसवतिन । यन्दसवेगा । ‘अच्चासादणमीला’ गुणाना गुणिना चापमानवरिण । प्रचुरमायानिदान यता ॥१९४५॥

सुहसादा किमज्झा गुणसायी पावसुत्तपडिसेवी ।

विसयामापडिबद्धा गारवगरुया पमाइल्ला ॥१९४६॥

‘सुहसादा’ सुखास्वादनपरा । ‘किमज्झा’ कि मह्य केनचिदिति सर्वेषु सकर्माप्यवनादुगा । ‘गुणसायी’ गुणेषु सम्यग्दर्शनादिषु शेरत इव निरुत्साहा । ‘पावसुत्तपडिसेवी’ आत्मन परेषा वा अगुमपरिणामस्य मिथ्या-त्वासयमक्षपायाणा प्रवर्तक शास्त्र पापमूत्र निमित्त, वैद्यक, कौटिल्य, स्त्रीपुरुषलक्षण, धातुवाद, काव्यनाट-कानि, चोरशास्त्र, शम्भोका, प्रहरपाविद्याचित्रकलागान्वर्बगन्धयुक्त्यादिक एतस्मिन् पापमूत्रे कृतादिराम्यामा ‘विसयामापडिबद्धा’ अभिमतविषयपरिप्राप्यर्था या आगा तस्या प्रतिबद्धा, ‘हियारवगुरुया’ गारवत्रयगुरुव । ‘पमाइल्ला’ विव्यादिपञ्चदशप्रमादमहिता ॥१९४६॥

ममिदीसु य गुत्तीमु य अभाविदा सीलसंजमगुणेमु ।

पगतत्तीसु य तत्ता अणाहिदा भावसुदीए ॥१९४७॥

‘ममिदीसु य’ ममिनिषु गुत्तिषु च सम्यगुणेषु भावनारहिता परव्यापारेषु प्रवृत्ता भावगुदा यनादुगा ॥१९४७॥

उक्त प्रकारके क्षपक मन्ते ममय सम्मार्गसे क्यो च्युत हो जाते हैं यह सात गायामोसे कहते हैं—

गा०-टी०—वे क्षपक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्ररूप परिणामोंके जो शका आदि दोष हैं उन्हें दूर नहीं करते हैं कषायोंके बशवर्ती होते हैं, उनका सवेगभाव मन्द होता है, गुणोंका और गुणीजनोका वे अपमान करते हैं, तथा माया और निदानगल्पकी उनमें प्रचुरता होती है ॥१९४५॥

गा०-टी०—वे मुखशील होते हैं, मुझे किसीमें क्या, ऐसा मानकर वे मधके मव कार्योंमें अनादरभाव रखते हैं, सम्यग्दर्शन आदि गुणोंमें उनका उत्साह नहीं होता । अपने और दूसरोंके अगुम परिणामको तथा मिथ्यात्व, असयम और क्षपायको बढानेवाला शास्त्र पापमूत्र है । निमित्त शास्त्र, वैद्यक, कौटिल्यशास्त्र (राजनीति), स्त्री पुरुषके लक्षण बतलानेवाला कामशास्त्र, धातुवाद (भौतिकी), काव्य नाट्य, चोरशास्त्र, शम्भोका लक्षण बतलानेवाला शास्त्र, प्रहार करनेकी विद्या, चित्रकला, गायन (नाच गाना), गन्धशास्त्र, युक्तिशास्त्र आदि पापशास्त्रोंमें उनका आदर होता है उसीका वे अध्ययन करते हैं । इष्ट विषयोंकी आशामें लगे रहते हैं, तीन गारवमें आनक्त होते हैं । विव्या आदि पन्द्रह प्रमादोंमें युक्त होते हैं ॥१९४६॥

गा०—ममिनि, गुत्ति और नील तथा सम्यके गुणोंमें भावनासे रहित होते हैं । लौकिक कार्यों में लग्न रहते हैं भावोंकी शुद्धिकी ओर ध्यान नहीं देते ॥१९४७॥

गंधाणियत्ततण्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी ।

सहरसरुवगघे फासेसु य मृच्छिदा षडिदा ॥१९४८॥

‘गयाणियत्ततण्हा’ अतृप्तपरिग्रहतृष्णा, ‘बहुमोहा’ अज्ञानबहुला । सबलसेवनापरा, गन्धादिपु विषयेषु मूर्छिता तवघटिता ॥१९४८॥

परलोगणिप्पिवासा इहलोगे चैव जे सुपडिवद्धा ।

मज्झायादीसु य जे अणुट्ठिदा संकिलिट्ठमदी ॥१९४९॥

‘परलोगणिप्पिवासा’ परलोकनिस्पृहा, ऐहिकेष्वेव कार्येषु प्रतिबद्धा, स्वाध्यायादिष्वनुद्यता, मविलट्ठमनय ॥१९४९॥

सव्वेसु य मूलुत्तरगुणेषु तइ ते सदा अइचरता ।

ण लहति खवोवसम चरित्तमोहस्म कम्मस्म ॥१९५०॥

मूलोत्तरगुणेषु सदा सानिचारा न लभन्ते चारित्रमोहस्य क्षयोपशम ॥१९५०॥

एव मूढमदीया अवतदोसा करेति जे काल ।

ते देवदुग्भगत मायामोसेण पावति ॥१९५१॥

‘एव मूढमदीया’ एव मूढबुद्धयो जनपास्तवापा ये काल दुर्वन्ति ते देवदुर्भगता प्राप्नुवन्ति मायया ॥१९५१॥

किंमज्झ गिरुच्छादा हवति जे सव्वसधक्कजेसु ।

ते देवसमिदिवज्झा कप्पंते हुति मुरमिच्छा ॥१९५२॥

‘किं मज्झगिरुच्छादा’ किं मह्यमिति ये सर्वसधकार्येष्वनादृतास्ते देवममितिवाह्या कल्पानामन्ते मुरमिच्छा भवन्ति ॥१९५२॥

गा०—उनकी परिग्रहकी तृष्णा कभी तुप्त नहीं होती । अज्ञानमें डूबे रहते हैं । गृहस्थोंके आरम्भमें फँसे होते हैं, शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्शमें ममत्वभाव रखते हैं ॥१९४८॥

गा०—परलोककी चिन्ता नहीं करते । इसी लोक सम्बन्धी कार्यों में लगे रहते हैं । स्वाध्याय आदिमें उद्यम नहीं करते । उनकी मति सबलेशमय होती है ॥१९४९॥

गा०—सदा मूलगुणों और उत्तरगुणोंमें अतिचार लगाते हैं । इसमें उनके चारित्रमोहका क्षयोपशम नहीं होता ॥१९५०॥

गा०—इस प्रकार दोषोंको दूर न करनेवाले वे मूढबुद्धि जब मरते हैं तो मायाचारके कारण अभागे देव होते हैं ॥१९५१॥

गा०—वे मुनि श्रवस्थायी ‘मूले इससे क्या’ ऐसा मानकर मघके मग्न कार्योंमें अनादर

कदप्पभावणाए देवा कदप्पिया मदा होंति ।
 खिन्मिसयभावणाए कालगदा होंति खिन्मिसया ॥१९५३॥
 अभिजोगभावणाए कालगदा आभिजोगिया हुति ।
 तह आसुरीए जुत्ता हवन्ति देवा असुरकाया ॥१९५४॥
 सम्मोहणाए काल करिचु दुदुगा सुरा हुति ।
 अण्णपि देवदुग्गाह उवयति विराधया मरणे ॥१९५५॥

स्पष्टार्थमुत्तरयायात्रय ॥१९५३॥१९५४॥१९५५॥

इय जे विराधयित्ता मरणे असमाधिणा मरेज्जण्ह ।
 त तेसि बालमरण होइ फल तस्स पुञ्चुत्त ॥१९५६॥

‘इय जे विराधयित्ता’ एव वे रत्नत्रय विनाश्य मरणकाले असमाधिना मृतिमुपवान्ति तत्तेया बाल-
 मरण भवति । तस्य बालमरणस्य फल पूर्वमुक्तमेव ॥१९५६॥

जे सम्मत्त खवया विराधयित्ता पुणो मरेज्जण्ह ।
 ते भवणवासिजोदिसभोमेज्जा वा सुरा होति ॥१९५७॥

‘जे सम्मत्त खवया’ वे क्षपका सम्यक्त्व विनाश्य त्रिपन्थे भवनवासिनो ज्योतिष्का व्यन्तरा वा
 भवन्ति ॥१९५७॥

दंसणणाणविहूणा तदो चुदा दुक्खवेदणुम्मीए ।
 संमारमण्डलगदा भमति भवसागरे मूढा ॥१९५८॥

भाव रखनेके कारण देवोकी समितिसे बहिष्कृत सीवर्मादि कल्पोके अन्तमे बसनेवाले घाण्डाल
 जातिके देव होते हैं ॥१९५३॥

गा०—कन्दर्प भावनासे मरकर कन्दर्प जातिके देव होते हैं । किंत्विपभावनामे मरकर
 किंत्विपक जातिके देव होते हैं ॥१९५३॥

गा०—आभियोग्य भावनासे मरकर आभियोग्य जातिके देव होने हैं । तथा आसुरी
 भावनासे मरकर असुर जातिके देव होते हैं ॥१९५४॥

गा०—सम्मोहन भावनासे मरकर दुदुग जातिके देव होते हैं । अन्य भी विराधना
 करके मरनेवाले मुनि देवगतिमे हीन देव होते हैं ॥१९५५॥

गा०—इस प्रकार जो क्षपक मरते समय रत्नत्रयको नष्ट करके असमाधिपूर्वक मरते हैं
 उनका वह मरण बालमरण होता है और उन बालमरणका फल पूर्वमे कहा है ॥१९५६॥

गा०—जो क्षपक सम्यक्त्वको नष्ट करके मरते हैं वे मरकर भवनवासि, व्यन्तरा या
 ज्योतिषीदेव होते हैं ॥१९५७॥

गा०—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमे रहित वे मूढदेव स्वर्गमे च्युत होकर दुःखकी वेदना-
 रूपी लहरोसे भरे ससारसमदमे भ्रमण करते हैं ॥१९५८॥

‘दसगणाविहोणा’ सम्यग्दर्शनज्ञानहीनास्ततः स्वर्गाच्च्युता दुःखवेदनोर्मावे भवसागरे मूढा भ्रमन्ति,
ससारमण्डल गता ॥१९५८॥

जो मिच्छत गतूण किण्हलेस्सादिपरिणदो मरदि ।

तल्लेस्सो भो जायइ जल्लेस्सो कुणदि सो कालं ॥१९५९॥

‘जो मिच्छत गतूण’ य कृष्णलेस्यादिपरिणतो मिथ्यात्व गत्वा अग्रयते तल्लेदयो जायते । परव च
जल्लेदय काल वृत्तवान् । फलति ॥१९५९॥

विजहणा निरुप्यते—

एवं कालगदम्स दु सरीरमतोच्च होज्ज चाहिं वा ।

विज्जावच्चकरा त सय विक्किंचति जटणाए ॥१९६०॥

‘एवं कालगदस्य’ एवं कालगतस्य शरीरमन्तर्बहिर्वाचन्यत वैयावृत्यकरा स्वयमेवापनयन्ति
यत्नेन ॥१९६०॥

समणाण ठिदिक्खो वासावासे तहेव उडुवधे ।

पडिलिहिदक्खा णियमा णिसीहिया सन्वसाधुहिं ॥१९६१॥

‘समणाण ठिदिक्खो’ श्रमणाना स्थितिवत्सो वर्षावासे ऋतुप्रारम्भे च नियमेन सर्वे साधुनिर्निषेधिका
नियमेन प्रतिलेखनीया ॥१९६१॥

तस्या लक्षणमाचष्टे—

एगता सालोगा णादिविकिट्ठा ण चावि आसण्णा ।

विस्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा ॥१९६२॥

गा०—जो क्षपक मिथ्यादृष्टि होकर कृष्ण आदि लेस्याके साथ मरता है वह जिस लेस्याके
साथ मरता है उसी लेस्यावाला होकर जन्म लेता है ॥१९५९॥

गा०—इस प्रकार नगर आदिके भ्रम्यमे या नगरमे बाहर मरणको प्राप्त उम क्षपकके
शरीरको वैयावृत्य करनेवाले परिचारक मुनि स्वयं ही मावधानतापूर्वक हटा देते हैं ॥१९६०॥

गा०—वर्षा ऋतुके चार मासोमे एक स्थानपर वास प्रारम्भ करते समय और ऋतुके
प्रारम्भमे मग साधुओंको नियममे निषेधिकाकी प्रतिलेखना करना चाहिये, यह साधुओंका
स्थितिकल्प है ॥१९६१॥

विशेषार्थ—मुमुक्षु साधुगण तो अपने शरीरमे भी निरीह होते हैं वे मृत क्षपकके शरीरको
हटानेका प्रयत्न क्यों करते हैं ? ऐसी शका होनेपर आचार्य उत्तर देने हैं कि पूर्वमे साधुओंके जो
दस स्थितिवत्सोका वचन किया है, उसमे एक माम और पञ्जोसम्य कल्प भी हैं । उसके अनुसार
जब साधु वर्षा योग धारण करते हैं या ऋतुका प्रारम्भ होता है तब उन्हें निषेधिका दर्शन करना
आवश्यक होता है । जहाँ क्षपकके शरीरको स्थापित किया जाना है उस स्थानको निषेधिका
कहते हैं । इसलिये निषेधिका दर्शन साधुओंका आवश्यक बर्तव्य होनेमे मुमुक्षु साधु निषेधिका
निर्माणके लिये स्वयं प्रयत्न करते हैं ॥१९६१॥

‘एगता सानेगा’ एकाता परै प्रायेणादृत्या नाविदुरा नात्यासन्ना विस्तीर्णा विध्वग्ता दूरमव-
गाटा ॥१९६२॥

‘अविमुय असुमिर अधमा सा उज्जोवा बहुममा असिणिद्धा ।

णिज्जंतुमा अरहिदा अविला य तद्वा अणावाधा ॥१९६३॥

जा अवरदक्खिणाए व दक्खिणाए व अहव अवराए ।

वमचीदो ‘विग्गज्जइ णिशीधिया मा पसत्थत्ति ॥१९६४॥

‘जा अवरदक्खिणाए’ अपरदक्षिणाशाया, दक्षिणस्या, अपरस्या वा दिति वसतित निपीधिका
प्रशस्ता ॥१९६३॥१९६४॥

मन्वममाधी पडमाए दक्खिणाए इ मत्तमो सुलभ ।

अवराए सुविहारो होदि य सं उवाधिलाभो य ॥१९६५॥

‘सत्त्वममानी पडमाए’ सर्वेषा समाधिर्भवति पडमाए’ अपरदक्षिणदिग्बन्धिताया निपीधिकाया,
दक्षिणदिग्बन्धितायामाहार सुलभ । पश्चिमाया सुविहार उपकरणलाभश्च ॥१९६५॥

जदि तेमिं वाधादो दडुव्वा पुव्वदक्खिणा होइ ।

अवरुत्तरा य पुव्वा उदीचिपुव्वुत्तरा कममो ॥१९६६॥

‘जदि तातिं वाधादो’ यदि ता निपीधिका न लभ्यन्ते, पूर्वदक्षिणनिपीधिका द्रष्टव्या, अपरोत्तरा वा
पूर्वा वा उदीची वा पूर्वोत्तरा वा क्रमेण ॥१९६६॥

निपधाका लक्षण कहते हैं—

गा०—निपीधिका एकान्त स्थानमे होना चाहिये जहाँ दूसरे लोग उसे न देख सकते हो ।
नगर आविसे न अति दूर और न अति निकट होनी चाहिये । त्रिम्नोर्ण होनी चाहिये । प्रामुक्
होनी चाहिये तथा अतिदृष्ट होनी चाहिये ॥१९६२॥

गा०—वह चीटियोंमे रहित होनी चाहिये । अन्दर प्रवेश कराने वाले छिद्रोंमे रहित होनी
चाहिये । प्रकाशवात्रो होनी चाहिये । ममभूमि होनी चाहिये । गोत्री नहीं होनी चाहिये, जन्तु
रहित होनी चाहिये । तिग्गे छिद्रवाली नहीं होनी चाहिये तथा वायारहित होनी चाहिये ॥१९६३॥

गा०—तथा वह निपीधिका क्षपक्वे स्थानसे पश्चिम-दक्षिण दिशामे या दक्षिण दिशामे
या पश्चिम दिशामे हो तो उत्तम होती है ॥१९६४॥

गा०—यदि निपीधिका पश्चिम दक्षिण दिशामे हो तो सर्व मघको समाश्रित्य होना
है । यदि दक्षिण दिशामे हो तो मघको आहार लाभ सुलभ होता है । यदि पश्चिम दिशामे हो
तो मघका विहार सुखपूर्वक होता है तथा उपकरणोंका लाभ होना है ॥१९६५॥

गा०—यदि उक्त दिशाओंमे निपीधिका निर्माणमे वात्रा हो तो क्रमशः पूर्व दक्षिणमे,
पश्चिम-उत्तरमे, पूरवमे या उत्तरमे या पूर्वोत्तरमे होना चाहिये ॥१९६६॥

१ एगता टोकावागे नेच्छन्ति । अतिमुद-आ०, अतिमुद्रा-मु० । २ अरहिदा मु० । ३ अन्ना वा० ।
४ उवाधिवद वा०, वणिग्वदि-मु० ।

एदासु फलं कमसो जाणेज्ज तुमतुमा य कलहो य ।

मेदो य गिलाण पि य चरिमा पुण कडूढे अण्ण ॥१९६७॥

‘एदासु’ एतासु निषेधिकासु फलं कमसो विजानोयान् । ‘तुमतुमा य’ पूर्वदिशिगत्या स्पर्धा अप-
त्तरस्या कलह, पूर्वस्या मेदो उदोच्या व्याधि, पूर्वोत्तरस्या अन्यो-येनापहृज्यते ॥१९६७॥

ज वेल कालगदो भिक्खु त वेलमेव णीहरण ।

जगणवधणछेदणविधी अवैलाए कादव्वा ॥१९६८॥

‘ज वेल कालगदो भिक्खु ॥ वेलमेव णीहरण’ यस्या वेलया मृतो भिक्षु तस्या वेलायानेवापनयनं
कर्तव्य, अवैलाया मृतवधेन जागरण बन्धन छेदन वा कर्तव्य ॥१९६८॥

वे जागरण कुर्वन्तीत्यावष्टे—

बाले बुद्धे सीसे तवस्सिभीरुगिलाणए दुहिदे ।

आयरिए य विक्किंचय घीरा जगति जिदणिदा ॥१९६९॥

‘बाले बुद्धे’ बालबुद्धान्, शिक्षकान्, तपस्विन, श्रीरन्, व्यापितान्, दु स्त्रितानाचार्यान् अपाङ्गस्य
घीरा जितनिद्रा जागरण कुर्वन्ति ॥१९६९॥

वे बध्न्तीत्यावष्टे—

गीदत्था कदकरणा महाबलपरक्कमा महामत्ता ।

यधति य छिदति य करवरणगुह्यपदेसे ॥१९७०॥

गा०—किन्तु पूर्व-दिशि दिशामे होनेसे ‘मै ऐसा हूँ, तुम ऐसे हो’, इत्यादि रूप सशर्ष
होता है। पश्चिमोत्तर दिशामे होनेसे कलह होता है। पूर्व दिशामे होनेसे मधमे मेद पड़ता
है। उत्तर दिशामे होनेसे व्याधि होती है। पूर्वोत्तर दिशामे होनेसे परस्परमे स्त्रीचातानी
होती है। यह क्रमसे उक्त दिशाओंमे निपद्या बनानेका फल है ॥१९६७॥

विशेषाथ—प० आशाधर जीने अपनी टीकामे लिखा है कि पूर्वोत्तर दिशामे निपद्या
करनेसे दूसरे मुनिकी मृत्यु होती है ॥१९६७॥

गा०—जिस समय साधु मरे उसी समय उसे वहाँसे हटा देना चाहिये। यदि असमयमे
मरा हो तो जागरण, बन्धन या छेदन करना चाहिये ॥१९६८॥

जागरण कौन करते हैं यह कहते हैं—

गा०—बालमुनि, बुद्ध मुनि, शिक्षक मुनि, तपस्वी मुनि, डग्गोका मुनि, रोयो मुनि और
दुस्सित हृदय आचार्यों के मित्राणि मिन्द्रा को जीतनेवाले घोर मुनि जागरण करते हैं ॥१९६९॥

बांधते कौन हैं, यह कहते हैं—

गा०— जो मुनि गृहीतार्थ होते हैं, जिन्होंने अनेक बार क्षणकोका कर्म किया है, महाबल-

‘गोदत्या’ गृहीतार्या, कृतररणा महाबलपराक्रमा महासत्त्वा वृष्णन्ति छिन्दन्ति च करचरण बहुष्ठ-
प्रदेश वा ॥१९७०॥

एवमकरणे को दोष इत्याद्यङ्गाया दोषमाचष्टे—

जदि वा एस ण कीरेज्ज विधि तो तत्थ देवदा कोई ।

आदाय त कलेवरमुट्टिज्ज रमिज्ज वाघेज्ज ॥१९७१॥

‘जदि वा एस’ यद्येव विधिर्न त्रित्यने कदाचिद्देवता क्रीडनशीला मृतकमादाय उत्तिष्ठेन् प्रधावेद्रमेत वा
वाघपेडा तद्दर्शनात् बालादीना चित्तमलोभ पलायन मरण वा भवेत् ॥१९७१॥

‘उयसयपडिदावण्ण उवण्णगहिद तु तत्थ उवकरण ।

सागारिय च दुविह परिहारियमपरिहारिय वा ॥१९७२॥

जदि विक्खादा भत्तपइण्णा अज्जा व होज्ज कालगदो ।

देउलसागारिणि व सिवियाकरण पि तो होज्ज ॥१९७३॥

‘जदि विक्खादा भत्तपइण्णा’ यदि सर्वजनप्रकटा सत्त्वैज्जना आयिका वा भवेत् कालगता स्थानरक्षका
गृहस्था वा तत्र शिविका कस्य्या ॥१९७२॥१९७३॥

तेण पर सठाविय सथारगद च तत्थ वधिन्ता ।

उट्टेतरक्खणहं गाम ततो मिरं किच्चा ॥१९७४॥

तेन पर सत्थाप्य तेन मृतवैन सस्तरवन्धात्ततो मृतकबन्धन कृत्वा प्रामाणिमुख शिर हत्वा उत्थान-
रक्षणार्थ ॥१९७४॥

शाली, महापराक्रमी, महासत्त्वशाली वे मुनि मृतकके हाथ, पैर या अंगूठेको बाँधते या छेदते
हैं ॥१९७०॥

ऐसा नहीं करनेमें दोष कहते हैं—

गा०—यदि यह विधि न की जाये तो कोई मनो-विनोदी देवता मृतकको उठाकर दौड
सकता है, क्रीडा कर सकता है, बाधा पहुँचा सकता है और उसे देखकर बालक आदि का चित्त
चबल हो सकता है, वे डरकर भाग सकते हैं और उनका मरण भी हो सकता है ॥१९७१॥

क्षपकके उपचारके लिये उपकरणोंके प्रकार बतलाते हैं—

गा०—कुछ उपकरण तो वसतिकामे सम्बद्ध होते हैं। कुछ उपकरण गृहस्थ सम्बन्धी
होते हैं। उनमेंसे कुछ त्याग्य होते हैं और कुछ त्यागने योग्य नहीं हैं ॥१९७२॥

अन आर्याकाओकी सन्याम विधि कहते हैं—

गा०—यदि भक्त प्रतिज्ञा मग्न करने वाली विध्यात् आर्याका हो या कोई गृहस्था हो या
स्थान की रक्षिका हो तो उसके लिये शिविका बनाना चाहिये ॥१९७३॥

गा०—शिविका बनानेके पश्चात् उसके शवको शिविकामे रखकर सस्तरके साथ उसे

‘पुञ्चाभोगिय मग्गेण आसु गच्छन्ति तं समादाय ।
अट्ठिदमणियच्च ता य पिट्ठदो अणिम्मता ॥१९७५॥

‘पुञ्चाभोगियमग्गेण’ पूर्वालोक्तिने मार्गेण आसु गच्छन्ति तत्समादाय अस्थित अनिवर्तमाना पृष्ठत आलोचन मुक्त्वा ॥१९७५॥

कुसमुट्ठि घेत्तूण य पुरदो एगेण होइ गतच्च ।
अट्ठिदअणियत्ततेण पिट्ठदो लोयण मुच्चा ॥१९७६॥

‘कुसमुट्ठि घेत्तूण’ कुसमुट्ठि गृहीत्वा पुरस्तादेकेन गन्तव्य, अस्थित अनिवर्तमानेन अपृष्ठावलोकित्वा ॥१९७६॥

तेण कुसमुट्ठिधाराए अब्बोच्छिण्णाए समणिपादाए ।
सथारे कादव्वो मव्वत्थ समो सर्गि तत्थ ॥१९७७॥

‘तेण कुसमुट्ठिधाराए’ तेन पुरस्ताद्गतं पूर्वनिष्पित्तनिषोधिकास्थाने कुसमुट्ठिधारया अब्बुच्छिन्नया समनिपातया सवत्र सम सस्तर कार्यं सट्ठत्तत्र ॥१९७७॥

जत्थ ण होज्ज तणाइ चुण्णेहिं बि तत्थ केमरेहिं वा ॥
सथरिदव्वा लेहा सव्वत्थ समा अवुच्छिण्णा ॥१९७८॥

‘जत्थ ण होज्ज तणाइ’ यत्र न लभ्यन्ते कुसतूणानि तत्र चूर्णं वा केसरं वा सस्तर कार्यं सर्वत्र समोऽवुच्छिन्न ॥१९७८॥

बाँध देना चाहिये जिसमें वह उठ न सके । उसका मिर गाँवकी ओर रहना चाहिये ॥१९७५॥

गा०—उम धिविकाको लेकर पहले देखे हुए मार्गसे शीघ्र जाते हैं । न तो मार्गमें रुकते हैं और न पीछेकी ओर देखते हैं ॥१९७५॥

गा०—उमके आगे एक मुट्ठीमें कुस लेकर कोई मनुष्य जाना चाहिये । उमकी भी न तो मार्ग में रुकना चाहिये और न पीछे देखना चाहिये ॥१९७६॥

गा०—उम आगे गये पुरपकी पहलेसे देखे गये निषोधिकके स्थानमें जाकर लगातार मुट्ठीसे एक समान कुस डालते हुए एक सस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७७॥

गा०—जहाँ कुस न मिले हो वहाँ प्रासुक चावल आदिके चूर्णसे अथवा प्रासुक केसरसे सस्तर बनाना चाहिये जो सर्वत्र सम हो ॥१९७८॥

विशेषार्थ—गायामे ‘लेहा’ पाठ है उसका अर्थ रेखा होता है । अत आगाधर जीने उसका यह अर्थ किया है कि चूर्ण या केसरमें मस्तकसे लेकर पेर तक समान रेखा बनाना चाहिये । हमारी समझके अनुसार यह वह क्रिया है जिसे चौक पूरना कहते हैं । जो सर्वत्र शुभ क्रियामें किया जाता है ॥१९७८॥

अममरवे दोषमाचष्टे—

जदि विसमो सथारो उवरिं मज्झे व होज्ज हेट्ठा वा ।

मरण गिलाणय वा गणिवसमज्जदीण णायच्चा ॥१९७९॥

‘जदि विसमो सथारो’ यदि विषम मस्तर उपरिष्टान् मध्ये अवस्तादा । उपरिवैषम्ये गणिनो मरण व्याधिर्वा, मध्य विषमरचेन् वृषभस्य मरण व्याधिर्वा, अवस्ताद्विषमत्वे यतीना मरण व्याधिर्वा ॥१९७९॥

जत्तो दिमाए गामो तत्तो सीस करिचु सोवधिय ।

उड्ड तरक्खणड्ड बोसरिद्व सरीर त ॥१९८०॥

‘जत्तो दिमाए गामो’ यस्या दिशि ग्राम तत शिर कृत्वा सपिण्डक शरीर व्युत्पद्य, उत्थानरक्ष-
णाय शमाद्रिगमभिमुखतया शिरोरचना ॥१९८०॥

उपकरणस्थापनाया सत्र गुणमाचष्टे—

जो वि विराधिय दमणमते काल करिचु होज्ज सुरो ।

मो वि विवुज्झटि दट्ठण सदेह मोवधिं सज्जो ॥१९८१॥

‘जो वि विराधिय’ योऽपि दर्शन विनाशयन्ते कालगतस्मुरो भवेत् सोऽपि जानाति गोपकरण स्वदेह
दृष्ट्वा प्रागृह समय इति ॥१९८१॥

णत्ता माए रिक्खे जदि कालगदो सित्र तु ‘सव्वेसि ।

‘एक्को दु समे खेत्ते दिवड्ढखेत्ते मरति दुवे ॥१९८२॥

सस्तरैके विषम होनेपर दोष कहते हैं—

गा०—यदि मस्तर ऊपर मध्यमे या नीचे विषम होता है तो ऊपरमे विषम होनेपर आचार्य
का मरण या उन्हें रोग होता है । मध्यमे विषम होनेपर एलानार्थका मरण या उन्हें रोग होता
है । और नीचे पैरके पास विषम होनेपर अन्य माधुओंका मरण या उन्हें रोग होता है ॥१९७९॥

विशेषार्थ—आचार्य जो ने लिखा है कि उक्त व्याख्यान टीकाकारोका है । किन्तु
टिप्पणकमे कहा है—ऊपरमे विषम होनेपर गणिका मरण होता है । मध्यमे विषम होनेपर
एलाचार्यको रोग होता है और नीचेमे विषम होने पर साधुओंको रोग होता है ॥१९७९॥

गा०—जिम दिनामे ग्राम हो, उस ओर मिर करके पीछीके साथ उस शवको रख देना
चाहिये । शवके उठनेके भयमे उसका सिर गाँवको ओर किया जाना है ॥१९८०॥

उपकरण (पीछी) स्थापित करनेके गुण कहते हैं—

गा०—जो मध्यकक्षकी विराचना करके मरकर देव होता है वह भी पीछीके साथ अपना
शरीर (शव) देखकर ही यह जान लेता है कि मैं भी पूर्वभवमे सयमो था ॥१९८१॥

• गा०—अल्पनक्षत्रमे यदि शपकका मरण होता है तो सबका कल्याण होता है । यदि

१ सव्वेहि—अ० आ० । २ एक्को दु गो मरिज्ज वत्ते दिट्ठु मित्ते मरिति दुपो—आ० ।

सदभिसमरणा अह मादा असलेस्म जिह्म अवरवरा ।

रोहिणिविसाहपुणवसु चिउत्तग मज्झिमा सेमा ॥१९८३॥

‘गन्ता भगो रिक्खे’ अन्यनक्षत्रे यदि सप्तक कालं गतं सर्वेभ्यः शिवं भवति, मध्यमनक्षत्रे यदि मृतं अन्येष्वेको मृतिमुपैति, महानक्षत्रे यदि मृतो द्वयोर्भवति मरणं ॥१९८२-१९८३॥

गणरक्खणत्थ तम्हा तणमयपाडिविवय खु कादूण ।

एककं तु समे खेत्ते दिवददखेत्ते दुवे देज्ज ॥१९८४॥

‘गणरक्खणत्थ’ गणरक्षणार्थं तस्मात्तृणमयं प्रतिदिम्बकं कृत्वा मध्यमनक्षत्रे एकं दद्यात् । उत्तमनक्षत्रे प्रतिदिम्बद्वयं ॥१९८४॥

प्रतिदिम्बदानमाचष्टे—

तट्ठाणसावणं चिय तिक्खुत्तो ठविय मडयपासम्मि ।

विदियवियप्पिय भिक्खु कुज्जा तह विदियतदियाण ॥१९८५॥

‘तट्ठाणसावणं’ मृत्कपादौ तत्प्रतिदिम्बं स्याप्य त्रिकमुर्ध्वधोपयेत्, तस्मिन्स्थाने द्वितीयोर्ध्वत इति एकापणेष्वेकम् । द्वयोः प्रतिदिम्बयोरपणे द्वितीयतृतीयौ दत्ताविति त्रिं यावयेत् ॥१९८५॥

मध्यम नक्षत्रमे मरण होता है तो शेष साधुजोमेंमे एकका मरण होता है । यदि महानक्षत्रमे मरण होता है तो दो का मरण होता है ॥१९८२॥

गा०—शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा ये अथर्व नक्षत्र हैं । रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तरा भाद्रपद, उत्तराषाढा ये उत्कृष्ट नक्षत्र हैं । शेष नक्षत्र मध्यम है ॥१९८३॥

विशेषार्थ—प० आशाधर जो ने कहा है, अल्प नक्षत्रमे मतलब है जो पन्द्रह मुहूर्त तक रहते हैं । ऐसे शतभिषक्, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा इन छहमेंमे एक नक्षत्र या उसके अंशमे मरण होनेपर सबका कल्याण होता है । जो नक्षत्र तीस मुहूर्त तक रहते हैं ऐसे अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, पूर्वफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल, पूर्वाषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, पूर्वभाद्रपद, रेवती, इनमेंमे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमे मरण होनेपर एक अन्य भुक्तिकी भी मृत्यु होती है । जो नक्षत्र पैंतालिस मुहूर्त तक रहते हैं ऐसे उत्तर फाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपदा, पुनर्वसु, रोहिणी, विशाखामेमे किसी एक नक्षत्र या उसके अंशमे मरण होनेपर दो अन्य भुक्तियोंकी भी मृत्यु होती है ॥१९८३॥

गा०—इस लिये मधकी रक्षाके अग्निप्रायमे तृणोका पुतला बनाकर यदि मध्यम नक्षत्रमे मरण हुआ है तो उसके साथ एक पुतला देवे । यदि उत्तम नक्षत्रमे मरण हुआ तो उसके साथ दो पुतले देवे ॥१९८४॥

गा०—टी०—मृतकके पाममे उस पुतलेकी स्थापित करके तीन बार उच्च स्वरमे धोपना करे कि मैंने उस दूसरेके स्थानमे यह दूसरा स्थापित किया है । जिसके स्थानमे यह पुतला स्थापित

असदि तणे चुण्णेहिं च केसरञ्जारिद्रियादिचुण्णेहिं ।
कादचोथ ककारो उवरिं हिट्ठा तकारो से ॥१९८६॥

‘असदि तणे’ प्रतिविम्बकरणार्थमिति तूणे चूणं पुण्यनेसरैर्वा मग्ना इष्टकाचूर्णैर्वा उपरि ककार लिखित्वा तस्याधस्तात् तकार कुर्यात् ‘क्व इति लिखेदित्यर्थः ॥१९८६॥

उवगहिद उवकरण हवेज्ज ज तत्थ पाडिहरिय तु ।
पडिवोधिच्चा सम्म अप्पेदव्व तय तेसिं ॥१९८७॥

‘उवगहिद उवकरण’ मृत्कणयने यद्गृहीतमुपकरण वस्त्रकाष्ठादिक गृहस्थपाञ्चा कृत्वा तनोपकरणेन यत्प्रतिनिवर्तनीय वस्त्रादिक तस्याडिहारिकमित्युच्यते । तदर्थयितव्यं तेषां गृहस्थानां सम्यक्प्रति-
बोध्य ॥१९८७॥

आराधणपत्तीय काउसग्ग करेदि तो सघो ।
अधिउत्ताए इच्छागार खवयस्स वसघीए ॥१९८८॥

‘आराधणपत्तीय’ आराधनास्माकमित्येव यथा स्यादिति सघं वायोत्सर्गं करोति, क्षपकस्य वसतो
अधिमुक्तदेवता प्रति इच्छाकार काय युष्माकमिच्छया सघोऽनासितुमिच्छतीति ॥१९८८॥

सगणत्थे कालगदे खमणमसन्झाइय च तद्विवस ।
णज्झाइ परगणत्थे भयणिज्ज खमणकरुणं पि ॥१९८९॥

‘सगणत्थे कालगदे’ आत्मीयगणत्थे यती काल गते उपवाम कार्यं स्वाध्यायद्वयं न कर्तव्यस्तस्मिन्

किया है वह चिरकाल तक जीवित रहकर तपस्या करे । यह एक पुतला देनेका विधान है ।
दो पुतले स्थापित करने पर तीन बार घोषणा करे कि मैंने दूमरा और तीसरा पुतला स्थापित
किया है । ये दोनों जिनके बदलेमें स्थापित किये हैं वे दोनों माघु चिरकाल तक जीवित रहकर
तप करें ॥१९८५॥

गा०—यदि पुतला बनानेके लिये तूण न हो तो डैट पत्थर आदिके चूर्णसे अथवा, केशर,
क्षार वगैरहमें ऊपर ककार लिखकर उसके नीचे तकार लिखे । इस प्रकार ‘क्व’ अक्षर
लिखे ॥१९८६॥

गा०—टी०—मृत्कणकी शय्याके निर्माणके लिये गृहस्थोंने जो वस्त्र काष्ठ आदि लिया गया
हो, उनमेंसे जो लौटा देने योग्य हो उसे पाडिहारिक कहते हैं । उस पाडिहारिकको गृहस्थोको
सम्पक् रीतिमें समझा बुझाकर लौटा देना चाहिये ॥१९८७॥

गा०—हमें भी इसी प्रकार आराधनाकी प्राप्ति हो इस भावनामें मघ एक कायोन्मर्ग करे ।
तथा क्षपककी वसंतिकाकी जो अधिष्ठात्री देवता हो उसके प्रति इच्छाकार करे कि आपकी
इच्छासे मघ इस स्थानपर बैठना चाहता है ॥१९८८॥

गा०—टी०—अपने मघके माघुका स्वर्गवास होनेपर उस दिन उपवाम करना चाहिये और

दिने । परगणन्ये काल गते पठन्ति उपवासकरणमपि भाज्य । अन्ये तु पठन्ति, 'न ज्ञातुः परगणन्ये' स स्वाध्याय वर्तव्य परगणन्ये मूने उपवासकरणीय भाज्यमिति तेषां व्याख्या ॥१९८०॥

एव पडिद्विचिा पुणो वि तदियदिवसे उवेक्खंति ।

सघस्स सुहविहार तस्म गदी चेव णादु जे ॥१९९०॥

'एव पडिद्विचिा' उन्तेन क्रमेण क्षपकशरीर प्रतिप्याप्य पुनन्तृतीये दिवसे गत्वा पश्यन्ति, सघस्य सुखविहार तस्य च गतिं ज्ञातु ॥१९९०॥

जदि दिवसे सचिद्विदि तमणालद्ध च अक्खद मडय ।

तदिवासाणि सुभिक्षं खेमसिव तम्हि रज्जम्मि ॥१९९१॥

'जदि दिवसे' यावन्तो दिवसा न वृत्तादिभिरस्पृष्टमक्षन च तन्मृतक तदिवासाणि तावन्ति वषाणि सुभिक्ष क्षेम शिव च तस्मिन् राज्ये ॥१९९१॥

ज वा दिसमुवणीद मरीरयं खगचदुप्पदगणेहिं ।

खेमं सिव सुभिक्ष विहरिज्जो तद्वदिस सघो ॥१९९२॥

'ज वा दिसमुवणीद' या वा दिनामुपनीत शरीर पक्षिभिश्चतुष्पदैर्वा ता दिना सघो विहरेत् क्षेमादिषु तत्र ज्ञात्वा ॥१९९२॥

जदि तस्स उत्तमंगं दिस्सदि दंता च उवरिगिरिसिहरे ।

कम्ममलविप्पमुक्को मिद्धिं पत्तोत्ति णादज्जो ॥१९९३॥

'जदि तस्स उत्तमंग' यदि तस्य शिरो दृश्यते दन्ता वा गिरिशिखरस्योपरि वर्ममलविप्रमुक्त सिद्धिमसौ प्राप्त इति ज्ञातव्य ॥१९९३॥

स्वाध्याय नहीं करना चाहिये । दूसरे मधके साधुका मरण होनेपर स्वाध्याय तो नहीं ही करना चाहिये । उपवास कर भी सकते हैं, नहीं भी करते । अन्य ऐसा पढ़ते हैं कि दूसरे मधके साधुका मरण होनेपर स्वाध्याय करना चाहिये । उपवास कर भी सकते हैं नहीं भी करते ॥१९८९॥

गा०—उक्त प्रकारसे क्षपकका शरीर स्थापित करके तीसरे दिन जाकर देखते हैं कि सघका विहार सुखपूर्वक होगा या नहीं । तथा मृतककी गति अच्छी हुई या बुरी ॥१९९०॥

गा०—जितने दिनों तक वह शव गीदह आदिसे सुरक्षित रहता है उतने वर्षों तक उस राज्यमें सुभिक्ष और शान्ति रहती है ॥१९९१॥

गा०—अथवा पक्षी और पशुओंके द्वारा वह शरीर जिस दिशामें ले जाया गया हो क्षेम-सुभिक्ष आदि जानकर उसी दिशामें सघको विहार करना चाहिये ॥१९९२॥

गा०—यदि उमका गिर और दात पर्वतके शिखरके ऊपर दिखाई दे तो वह मुक्तिनको प्राप्त हुआ है, ऐसा जानना चाहिये ॥१९९३॥

वेमाणिओ थलगदो समम्मि जो दिसि य वाणवितरओ ।

गङ्गाए भवणवासी एस गदी से ममासेण ॥१९९४॥

‘वेमाणिओ थलगदो’ वैमानिको देवो जात उत्तमभूमिस्ये उत्तमाङ्गे, समभूमिदेशे यदि दृश्यते ज्योतिष्का व्यन्तरो जात, गते यदि दृश्यते भवनवासी देवो जात, एषा गतिस्तस्य सक्षेपेण निम्पिता । विजहणति सूत्र-पद गत । विजहणा ॥१९९४॥

आराधकस्तवनमुत्तर ते सुरा भगवतो—

ते सुरा भयवतो आहञ्चइदूण सधमज्झम्मि ।

आराधणापढाया चउप्पयारा धिदा जेहि ॥१९९५॥

‘ते सुरा भगवत आहञ्चइदूण’ प्रतिज्ञा कृत्वा सधमध्ये चतुष्पकाराधना पताका धैरागृहीता ॥१९९५॥

ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहिं मञ्चेहि ।

आराधणा भयवदी पडिबण्णा जेहि सपुण्णा ॥१९९६॥

‘ते धण्णा’ पुण्यवन्त । ते ज्ञानिन, ते लङ्घलामा, सर्वेभ्यो धैराराधना भगवती संपूर्णा प्रति-पन्ना ॥१९९६॥

किं णाम तेहिं लोगे महाणुभावहेहिं हुज्ज ण य पत्त ।

आराधणा भगवदी सयला आराधिदा जेहिं ॥१९९७॥

‘किं णाम तेहिं लोगे’ किनाम तैलकिं महाणुभावेरप्राप्त धैराराधिता सकला आराधना भगवती ॥१९९७॥

विशेषार्थ—आराधरजो ने ‘कर्ममल विप्रमुक्त’ का अर्थ मिथ्यात्व आदि स्तोक कर्मों से मुक्त किया है । तथा लिखा है कि जयनन्दिके टिप्पणमें ‘सिद्धि’ का अर्थ सवार्थसिद्धि किया है । किन्तु प्राकृतटीकामें सिद्धिका अर्थ निर्वाण किया है ॥१९९३॥

गा०—टी०—यदि मूलतका मस्तक उन्नत भूमिभागमें दिखाई दे तो वह मरकर वैमानिक देव हुआ जानना । यदि सम भूमिभागमें दिखाई दे तो वह ज्योतिष्क देव या व्यन्तर हुआ जानना । यदि गडमें दिखाई दे तो वह भवनवासी देव हुआ जानना । इस प्रकार यह उसकी गति सक्षेपमें कही है ॥१९९४॥

आगे आराधक क्षपकका स्तवन करते हैं—

गा०—जिन्होंने सधके मध्यमें प्रतिज्ञा करके चार प्रकारकी आराधना रूप पताकाको ग्रहण किया वे शूरवीर और पूज्य हैं ॥१९९५॥

गा०—जिन्होंने भगवती आराधनाको सम्पूर्ण किया वे पुण्यशाली और जानी हैं और उन्होंने जो प्राप्त करने योग्य था उसे प्राप्त कर लिया ॥१९९६॥

गा०—जिन्होंने सम्पूर्ण भगवती आराधनाका आराधन किया उन महाणुभावोंने लोकमें क्या प्राप्त नहीं किया ॥१९९७॥

निर्यापकस्तवनमुत्तर—

ते वि य महाणुभावा घण्णा जेहि च तस्स खवयस्म ।

सच्चादरसत्तीए उवविहिदाराधणा मयला ॥१९९८॥

'ते वि य महाणुभावा' तेऽपि च महाभागा धन्या येस्तथा तस्य क्षपकस्य सर्वादरेण राक्खमा च सर्व-
लाराधना उपविहिता ॥१९९८॥

निर्यापकाना फलमाचष्टे—

जो उवविधेदि सच्चादरेण आराधण सु अण्णस्म ।

मयज्जदि णिविग्घा सयला आराधणा तस्स ॥१९९९॥

'जो उवविधेदि' जो डीकयति सर्वादरेण अन्यस्याराधना तस्य आराधना सकला निविघ्ना
सपद्यते ॥१९९९॥

ये क्षपकप्रेक्षणाय धान्ति तानपि स्तौति—

ते वि कदत्था घण्णा य हुति जे पावकम्ममलहरणे ।

ण्हायति खवयतित्थे सच्चादरभत्तिसजुत्ता ॥२०००॥

'ते वि कदत्था' तेऽपि वृत्तार्था धन्याश्च भवन्ति ये क्षपकतीर्थे पापकर्ममलपहरणे सर्वादिप्रभियुक्ता
स्तान्ति ॥२०००॥

क्षपकस्य तीयता व्याचष्टे—

गिरिणदियादिपदेसा तित्थाणि तवोघणेहि जदि उमिदा ।

तित्थ कथ ण हुज्जो तवगुणरासी मय खवउ ॥२००१॥

आगे निर्यापकको प्रशंसा करते हैं—

गा०—वे महाणुभाव भी धन्य हैं जिन्होंने सम्पूर्ण आदर और श्रवितसे उस क्षपकको
आराधना सम्पन्न की ॥१९९८॥

निर्यापकको प्राप्त होनेवाले फलको कहते हैं—

गा०—जो निर्यापक सम्पूर्ण आदरके साथ अन्यकी आराधना करता है—उसको समस्त
आराधना निविघ्न पूर्ण होती है ॥१९९९॥

जो क्षपकको देखने जाते हैं उनकी भी प्रशंसा करते हैं—

गा०—टी०—क्षपक एक तीर्थ है क्योंकि ससारमे पार उतारनेमे निमित्त है । उसमे स्नान
करनेमे पापकर्म रुपी मल हर होना है । अत जो दशक समस्त आदर भक्तिके साथ उस महा-
तीर्थमे स्नान करते हैं वे भी वृत्तकृत्य होते हैं तथा वे भी सौभाग्यशाली हैं ॥२०००॥

क्षपकके तीर्थ होनेका समर्थन करते हैं—

गा०—यदि तपस्विमोक्ष द्वारा सेवित पहाड नदी आदि प्रदेश तीर्थ होते हैं तो तपस्यारूप
गुणोकी रानि क्षपक स्वयं तीर्थ क्यों नहीं है ॥२००१॥

‘गिरिणविद्यादिपदेता’ गिरिणद्यादिप्रदत्ता यदि तपोधनैरुपितानि तीर्थानि तीर्थं स्वयं कथं न भवेत् क्षपस्तपोगुणराशि ॥२००१॥

पुष्परिमीण पडिमाओ वदमाणस्स होइ जदि पुण्ण ।

खवयस्स वदओ किह पुण्णं विउल ण पाविज्ज ॥२००२॥

‘पुष्परिमीण पडिमाओ’ पूर्वेषा ऋषीणा प्रतिमा वदमानस्य यदि पुण्य भवति क्षपके वन्दनोद्यत कथं विपुल पुण्यं न प्राप्नुयान् ॥२००२॥

जो ओलगादि आराधय सदा तिप्पवत्तिसज्जुत्तो ।

सपज्जजि पिप्पिग्घा तस्स वि आराहणा मयला ॥२००३॥

‘जो ओलगादि आराधय’ यस्मेवते आराधक सदा तीव्रमक्तिमयुक्त, सपद्यते निर्विघ्ना तस्याभ्याराधना सकला ॥२००३॥

मविचारभत्तबोसरणमेवमुववणिणं मवित्थारं ।

अविचारभत्तपक्कम्पणां एत्तो पर वुच्छ ॥२००४॥

‘सविचारभत्तबोसरण’ सविचारभक्तप्रत्याख्यानमेवमुपवर्णित सविस्तर अविचारभक्तप्रत्याख्यान अत पर प्रवक्ष्यामि ॥२००४॥

तत्थ अविचारभत्तपडण्णा मरणम्मि होइ आगाढो ।

अपरक्कम्मस्स मुणिणो कालम्मि असपुहुत्तम्मि ॥२००५॥

‘तत्थ अविचारभत्तपडण्णा’ अविचारभक्तप्रत्याख्यानं सङ्गतोपस्थिते मरणे भवति । अपराक्रमस्य भवे सविचारभक्तप्रत्याख्यानस्य काले अस्ति ॥२००५॥

तत्थ पढम णिरुद्ध णिरुद्धतरय तहा हवे विदिय ।

तदियं परमणिरुद्ध एव तिविघ अवीचार ॥२००६॥

‘तत्थ पढम णिरुद्ध’ तत्र अवीचारभक्तप्रत्याख्याने प्रथम निरुद्ध, द्वितीय निरुद्धतरक, तृतीय परम-निरुद्ध एव त्रिविधमवीचारभक्तप्रत्याख्यान ॥२००६॥

गा०—यदि प्राचीन ऋषियोकी प्रतिमाओकी वन्दना करनेवालेको पुण्य होता है तो क्षपक की वन्दना करने वालोंको विपुल पुण्य कथो नही प्राप्त होगा ॥२००२॥

गा०—जो तीव्र भक्तिपूर्वक क्षपककी सेवा करता है उसकी भी सम्पूर्ण आराधना सफल होती है ॥२००३॥

गा०—इस प्रकार विस्तारसे विचारपूर्वक किये गये भक्तप्रत्याख्यानका कथन क्रिया । आगे अविचार भक्तप्रत्याख्यानका कथन करते हैं ॥२००४॥

गा०—जब विचार पूर्वक भक्तप्रत्याख्यान करनेका समय न रहे, और मूर्त्त सा मरण उपस्थित हो जाये तो कुछ करनेमें अममथं मुनि अविचार भक्त प्रत्याख्यान स्वीकार करता है ॥२००५॥

गा०—अविचार भक्तप्रत्याख्यानके तीन भेद है—प्रथम निरुद्ध, दूसरा निरुद्धतर और तीसरा परमनिरुद्ध ॥२००६॥

निरुद्धमेव नूतनस्य भवतीत्याचष्टे—

तस्स निरुद्धं भणितं रोगादकेहिं जो समभिभूदो ।

जघावलपरिहीणो परगणगमणम्मि ण गमत्थो ॥२००७॥

तस्स निरुद्ध भणितं' तस्य निरुद्धमुक्त रोगेण आतड्डेन वा यस्समभिभूत जघ्हावलपरिहीना वा परगणगमनाममर्थो य ॥२००७॥

जावय चलविरिय से सो विहरदि ताव निप्पडीयारो ।

पच्छा विहरदि पडिजग्गिज्जतो तेण सगणेण ॥२००८॥

जावय चलविरिय' यावदलवीय चास्ति । 'से' तस्य । 'सो विहरति' स तावद्गणे प्रवर्तते निष्प्रतीकार यदा शक्तिंस्तीव्रन्यूना तदा पश्चाद्विहरति तेन स्वगणेन क्रियमाणोपकार ॥२००८॥

इय मण्णिरुद्धमरण भणिय अणिहारिम अवीचार ।

मो चेव जघाजोग्ग पुच्चुत्तविधी हवदि तस्म ॥२००९॥

'इय मण्णिरुद्धमरण भणितं' एव सन्निरुद्धमरण भणित, जघ्हावलपरिहीनतया व्याध्यभिभवेन वा स्वस्मिन्गणे निरुद्धो यन्तस्य मरण निरुद्धमरण । 'अणिहारिम' सविचारभक्तप्रत्याख्यानोक्तपरित्यागाभावात्, परित्यागहीन अनियतविहारविधिविचारणाभावादवीचार । आग्नीय एव गणे आचार्यस्य समीपे प्रव्रज्याती-चार उक्त्वा निन्दागर्हापण इतप्रतिष्ठा इतप्रायश्चित्तो यावद्दीर्घमस्ति तादन्निष्प्रतीकारो विहरति, यदा हीनसर्वचेष्टन्तदा परैरनुगृह्यमाणो विहरति ॥२००९॥

निरुद्ध किसके होता है, यह कहते हैं—

गा०—जो रोगमे ग्रस्त है, पैरोंमे चलनेकी शक्ति न होनेसे दूसरे सधमे जानेमे असमर्थ है उसके निरुद्ध नामक अविचार प्रत्याख्यान होता है ॥२००७॥

गा०—जयतक उसमे शक्ति रहती है तवतक वह अपने सधमे रहते हुए किसीसे परिचर्या नहीं कराता । पीछे शक्तिहीन होनेपर अपने सधके द्वारा परिचर्या कराता हुआ विहरता है ॥२००८॥

गा०—टी०—पैरोंमे चलनेकी शक्ति न होनेसे तथा रोगसे ग्रस्त होनेके कारण जो अपने ही सधमे निरुद्ध है—रका है उसके मरणको निरुद्धमरण कहते हैं । इस प्रकार निरुद्धमरणका स्वरूप कहा है । सविचार भक्तप्रत्याख्यानमे जिस प्रकार मध आदिका त्याग किया जाता है वह इसमे संभव न होनेसे यह मरण पणित्यागसे रहित है । और इसमे अनियत बिहार आदि विधिका विचार न होनेसे यह अवीचार है । अर्थात् अपने ही सधमे आचार्यके समीपमे दीक्षा लेकर उनसे अपने दोष कहकर अपनी निन्दा और गर्हा करता है, प्रतिक्रमण करता है, प्रायश्चित्त लेता है । और जब तक शक्ति रहती है तब तक दूसरेकी सहायताके बिना अपनी आराधना करता है । जब शक्ति अत्यन्त हीन हो जाती है तब दूसरेसे सहायता लेकर अपनी आराधनाओंका पालन करता है ॥२००९॥

दुविधं तं पि अणीहारिम पगास च अप्पगाम् च ।

जणणादं च पगाम इदर च जणेण अण्णाद ॥२०१०॥

‘दुविधं तं पि अणीहारिम’ द्विविधं तदपि अणीहारयजितं भक्तप्रत्याख्यानं प्रकाशरूपप्रकाशरूपमिति ।

ज्ञातं प्रकाशरूपमित्युक्तं प्रकाशात्मकं ॥२०१०॥

खवयस्स चित्तमागं खिच्च काल पडुच्च सज्जण वा ।

अण्णम्मि य तारिसयम्मि कारणे अप्पगाम तु ॥२०११॥

‘खवयस्स चित्तसार’ क्षपकस्य वृद्धिः, बलः, क्षेत्रः, कालः, स्वजनः वा प्रतिपद्य भग्यस्मिन्वा तादृशे कारणे जाने अप्रकाशभक्तप्रत्याख्यानं, यदि क्षपकः सुखादिपरीपहासहः, वसतिर्वा अविविक्ता, कालो वा अतिरुद्धो, बधवो वा यदि परित्यागविघ्नं कुर्वन्ति न प्रकाशः कार्यः । निरुद्धं गतं ॥२०११॥

निरुद्धतरणं व्याचष्टे—

बालगिगवग्धमहिसगयरिछपडिणीय तेण मिच्छेहिं ।

मुच्छाविसुचियादीहिं होज्ज सज्जो हु वावची ॥२०१२॥

‘बालगिगवग्धमहिम्’ व्याघ्रेणाग्निना, व्याघ्रेण, महिषेण, यजेन, ऋक्षेण, शत्रुणा, स्तेनेन, म्लेच्छेन, मूर्च्छया, विमूचिकादिभिर्वा मद्यो व्यापत्तिर्भवत् ॥२०१२॥

जाव ण वाया विस्सयदि बल च विरिय च जाव कायम्मि ।

तिव्वाए वेदणाए जाव य चित्त ण विस्सिञ्च ॥२०१३॥

‘जाव ण वाया विस्सयदि’ यावद्वाग्नं विनश्यति बलं वीर्यं च यावदस्ति काये तीव्रया वेदनया यावच्चित्तं न व्यासिञ्च भवति तावत् ॥२०१३॥

गा०—टी०—वह अनिहार नामक भक्तप्रत्याख्यान, जिसमें अपना मद्य नहीं छोड़ा जाता है, और इमीलिये जिसे स्वगणस्थ भी कहा जाता है, दो प्रकार है—एक प्रकाशरूप और दूसरा अप्रकाशरूप । जो लोगोके द्वारा ज्ञात होता है वह प्रकाशरूप है और जिसकी लोगोको खबर नहीं होती, वह अप्रकाशरूप है ॥२०१०॥

गा०—टी०—क्षपकके मनोबल, क्षेत्र, काल अथवा स्वजन तथा इस प्रकारके अन्य कारणके होनेपर उसे दृष्टिमें रखकर अप्रकट भक्तप्रत्याख्यान होता है । अर्थात् यदि क्षपक भूत प्याम आदिकी परीपह महनेमें असमर्थ होता है, या, वसति एकान्तमें नहीं होनी, या प्रीत्य आदि शत्रु होती हैं या परिवारके लोग विघ्न कर सकते हैं तो ममाधिको प्रकट नहीं किया जाता ॥२०११॥

अत्र निरुद्ध समाधिवी विधि कहे हैं—

गा०—सर्प, आग, व्याघ्र, भैंसा, हाथी, रौठ, शत्रु, चोर, म्लेच्छ, मूर्छा या विमूचिका आदि रोगसे तत्काल यदि मरण उपस्थित हो ॥२०१२॥

गा०—तो जब तक बोली वन्द न हो, जब तक शरीरमें बल और शक्ति रहे, और जब तक तीव्र वेदनावे कारण चित्त व्याकुल न हो ॥२०१३॥

णच्चा संवट्टिज्जंतमाउग सिग्घमेव तो भिक्खु ।

गणिपादीण सण्णिहिदाण आलोचए सम्म ॥२०१४॥

णच्चा संवट्टिज्जंत आउग' ज्ञात्वा सह्यमाणमायु शीघ्रमेव ततो भिक्षुराचार्यादीना सन्निहितानामा-
लोचना सम्यक् कुर्यात् स्तत्रयाराधनाया परिणत । व्युत्सृजेत् वमति, गस्तरमाहारमुषधि शरीर परिचारकान्,
बलवीर्य हाने परगणगमनासमर्था निरुद्धा प्रदत्ता प्रफर्पेण निरुद्धतरक इत्युच्यते ॥२०१४॥

एव निरुद्धदरय विदिय अणिहारिम अवीचार ।

सो चेव जवाजोग पुब्बुत्तविधी हवदि तस्स ॥२०१५॥

स्पष्टार्यगाथा । निरुद्ध ॥२०१५॥

वालादिएहिं जडया अक्खित्ता होज्ज भिक्खुणो वाया ।

तडया परमणिरुद्ध भणिद मरण अवीचार ॥२०१६॥

'वालादिएहिं' व्यालादिभि पूर्वोक्तं यदोष्णहृतस्य वाग्निपट्टा तदा पग्निनिरुद्धमरण । वाग्निरो-
धोऽत्र परमशब्देनोच्यते ॥२०१६॥

णच्चा संवट्टिज्जंतमाउग सिग्घमेव तो भिक्खु ।

अरहतसिद्धसाहूण अविग सिग्घमालोचे ॥२०१७॥

'णच्चा संवट्टिज्जंत आउग' ज्ञात्वोष्णसह्यमाणमायु अहंता सिद्धाना मायूना चान्तिके शीघ्र
मालोचना कुर्यात् ॥२०१७॥

गा०—माधु, अपनी आयुको शीघ्र ही समाप्त होती हुई जानकर जो निकटवर्ती आचार्य
आदि हो, उनके सन्मुख अपने दोषोंकी सम्पत्करूपसे आलोचना करे । तथा स्तत्रयकी आराधनामें
तत्पर होता हुआ वमति, ममत्तर, आहार, उर्गधि, शरीर और परिचारकोंसे ममत्वका त्याग कर दे ।
बल और वीर्यके क्षीण होनेसे जिनके प्रदेश अन्य सधमें जानेमें अत्यन्त असमर्थ होते हैं उन्हें
निरुद्धतरक कहते हैं ॥२०१४॥

गा०—इस प्रकार विहार रहित अत्यन्त निरोध रूप अविचार भक्तप्रत्याख्यानके दूसरे
भेद निरुद्धतरका कथन किया । पूर्वमें भक्त प्रत्याख्यानकी जो विधि कही है वही विधि यथायोग्य
यहाँ भी जानना ॥२०१५॥

गा०—जत्र पूर्वोक्त भर्ष आदिसे उसे जानेके वा ण क्षणककी वाणी नष्ट हो जाती है, वह
बोल नहीं सकता तत्र उसके परम निरुद्ध नामक अविचार भक्तप्रत्याख्यान होता है । यहाँ परम
शब्दमें वाणीका रक्ता कहा है ॥२०१६॥

गा०—तब वह साधु शीघ्र ही अपनी आयुको समाप्त होनी हुई जान अहंतो, मिद्धो और
साधुजनके पासमें तत्काल आलोचना करे ॥२०१७॥

आराधणाविधी जो पुर्वं उववणिणदो सर्वित्यारो ।

सो चैव जुज्जमाणो एत्थ विही होदि णादब्बो ॥२०१८॥

‘आराधणाविधी’ आराधनाया विधेयं पूर्वं विस्तारो व्यावर्णितः स एवात्रापि मुख्यमानो जातव्यः ॥२०१८॥

एव आसुक्कारमरणे वि सिज्जति केइ धुदकम्मा ।

आराधयित्तु केई देवा वेमाणिया होंति ॥२०१९॥

‘एव आसुक्कारमरणे वि’ एव सहसा मरणेऽपि मिष्यन्ति विधुतकर्मसहस्रयः । केचिदाराध्य वैमानिका देवा भवन्ति ॥२०१९॥

आराधणाए तत्थ दु कालस्स बहुत्तण ण हु पमाण ।

बहवो मुहुत्तमत्ता ससारमहण्णव तिण्णा ॥२०२०॥

अथमल्पेन कालेन निर्वृतिर्मान्येत्याद्यङ्का न कार्येति वदति—‘आराधणाए तत्थ दु’, तस्याः आराधनायाः कालस्य बहुत्वं न प्रमाणः । बहवो मुहूर्तमात्रेणाराध्य ससारमहर्णवः शीर्णाः ॥२०२०॥

खणमेत्तेण अणादियमिच्छादिट्ठी वि वट्ठणो राया ।

उसहस्स पादमूले सबुज्झित्ता गदो सिद्धि ॥२०२१॥

‘खणमेत्तेण’ क्षणमात्रेणानादिमिथ्यादृष्टिरपि वर्द्धननामधेयो राजा ऋषभस्य पादमूले सबुद्धो गतः सिद्धिः ॥२०२१॥

‘सोलसतित्थयराण तित्थुप्पण्णस्स पढमदिवसम्मि ।

सामण्णणाणसिद्धी भिण्णमुहुत्तेण सपण्णा ॥२०२२॥

परमणिषड ॥२०२२॥

गा०—पूर्वमे जो आराधनाकी विधि विस्तार पूर्वक कही हैं वही यहाँ भी यथायोग्य जानना ॥२०१८॥

गा०—इस प्रकार सहसा मरण होनेपर भी कोई-कोई मुनि कर्मोंको नाश करके मुक्त होते हैं और कोई आराधना करके वैमानिक देव होते हैं ॥२०१९॥

गा०—थाड़े ही समयमे मोक्ष कैसे हो सकता है ऐसी आज्ञा नही करनी चाहिये, क्योंकि आराधनामे कालका बहुत्तण प्रमाण नही है । बहुत्तसे मुनि एक मुहूर्त मात्रमे आराधना करके ससारसमुद्रको पार कर गये हैं ॥२०२०॥

गा०—अनादि मिथ्यादृष्टि भी वर्द्धन नामका राजा भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमे बोध को प्राप्त होकर मोक्षको गया ॥२०२१॥

गा०—भगवान् ऋषभदेवसे शान्तिनाथ तीर्थंकर पर्यन्त सोलह तीर्थंकरोंके तीर्थकी उत्पत्ति होनेके प्रथम दिन ही बहुत्तसे माधु दीक्षा लेकर एक क्षणमुहूर्तमे केवलज्ञानको प्राप्तकर मुक्त हुए ॥२०२२॥

१ एता टीकात्रागे चेच्छ्रित ।

११०

एसा भक्तपडण्णा वाससमासेण वण्णिदा विधिणा ।

इत्तो इगिणिमरण वाससमासेण वण्णेसि ॥२०२३॥

‘एसा भक्तपडण्णा’ एतद्भक्तप्रत्याख्यान व्यामन मक्षेपेण च वर्णित । अत्र ऊर्ध्वं सान्ध्यासि-
क इगिणीमरण व्यामममाद्या व्याम वर्णयिष्यामि ॥२०२३॥

जो भक्तपडिण्णाए उवक्कमो वण्णिदो भविथारो ।

सो चेव जधाजोग्गं उवक्कमो इगिणीए वि ॥२०२४॥

‘जो भक्तपडिण्णाए’ जो भक्तप्रत्याख्यानस्य उपक्रमो व्यावर्णित सविस्तार स एव यथासम्भवमुपक्रमो
इगिणीमरणेऽपि ॥२०२४॥

पव्वज्जाए सुद्धो उवसपज्जित्तु लिगक्कप्प च ।

पव्वयणमोगाहिच्चा विणयममाधीए विहरित्ता ॥२०२५॥

‘पव्वज्जाए सुद्धो’ प्रव्रज्याया सुद्धो दोषाग्रहणयोग्य इत्यर्थ । एतेन अर्हता निरूपिता । ‘उव-
सपज्जित्तु’ प्रतिपद्य । ‘लिगक्कप्प च’ योग्य लिङ्ग ‘लिग’ इत्यनेन सूचितम् । पव्वयणमोगाहिच्चा’ श्रुतमवगाह्य
एतेन शिक्षा उपन्यस्ता । ‘विणयसमाप्पोए विहरित्ता’ विनयसमाप्पो विहरत्य ॥२०२५॥

णिप्पादित्ता सगण इगिणिविधिसाधणाए परिणमिया ।

सिदिमारुहित्तु भाविय अप्पाण सत्त्तिहिच्चाण ॥२०२६॥

‘णिप्पादित्ता सगण’ योग्य वृन्दा स्वगण । इगिणीविधिसाधनाय परिणतो भूत्वा, ‘सिदिमारुहित्तु’
परिणामार्थे निमाद्य । ‘भाविय’ भावना प्रतिपद्य । ‘अप्पाण सत्त्तिहिच्चाण’ आत्मान सत्त्व्य ॥२०२६॥

गा०—इम भक्तप्रत्याख्यानका विस्तार और मक्षेपसे विधिपूर्वक कथन किया । आगे
इ गिनीमरण का विस्तार और मक्षेपसे वर्णन करेंगे ॥२०२३॥

गा०—जो भक्त प्रत्याख्यानकी विधि विस्तारसे बहो है वही विधि इगिनीमरणकी यथा-
योग्य जाननी चाहिये ॥२०२४॥

वही विधि कहते हैं—

गा०—जो दोषा ग्रहणके योग्य है वह निग्रन्थ लिग धारण करके श्रुतका अभ्यास करे
तथा विनय और समाधिमें विहार करे ॥२०२५॥

विशेषार्थ—दोषा ग्रहण योग्यसे अर्हताका कथन किया है, लिगमे लिगकी सूचना की है ।
और श्रुतान्याससे शिक्षाका ग्रहण किया है । इस प्रकार भक्तप्रत्याख्यानमें जो कहा या उसीको
यहाँ कहा है ॥२०२५॥

गा०—अपने सपको इगिणीमरणकी विधिकी भाषनामें योग्य करके अपने चित्तमें यह
निश्चय करे कि मैं इगिणीमरणको साधना करूँगा । फिर भूम परिणामोकी ध्येय पर आरोहण
करके तप आदिकी भावना करे और अपने शरीर और कर्पायोंको कृत्र करे ॥२०२६॥

परियाङ्गमालोचय अणुजाणिता दिम महजणस्म ।

तिविधेण खमावित्ता मवालवुद्धाउल गच्छ ॥२०२७॥

‘परियाङ्गमालोचय’ क्रमेण रत्नत्रयाचारमालोच्य । ‘अणुजाणिता’ अनुज्ञाय । ‘दिम’ गणपर । ‘महजणस्म’ महाजनस्य चतुर्विधसमष्टयेत्यर्थ । ‘तिविधेण खमावित्ता’ त्रिविधेन दामा ग्राहयित्वा । सवाल-वृद्धाकुल गच्छ ॥२०२७॥

अणुमट्टि टाट्ठण य जावज्जीवाय विप्पओगच्छी ।

अब्भदिगजादहासो णीदि गणादो गुणसमग्गो ॥२०२८॥

‘अणुमट्टि टाट्ठण य’ शिक्षा दत्त्वा गणपतेर्गणस्य च । ‘जावज्जीवाय विप्पओगच्छी’ दावज्जीव विप्र-योगार्थी । ‘अब्भदिगजादहासो’ कृताद्योऽस्माति आवहृष्ट । ‘णीदि गणादो’ नियतिं यतिवपान् । ‘गुणसमग्गो’ संपूर्णगुण ॥२०२८॥

एव च णिक्कमित्ता अतो वाहि व थडिले जोगे ।

पुढवीसिलामए वा अप्पाण णिज्जवे एक्को ॥२०२९॥

‘एव च णिक्कमित्ता’ एव विनिष्क्रम्य । ‘थडिले जोगे’ समे समुन्वते कठिने जीवरहिततया योग्ये । ‘अतो वाहि व’ अतर्वर्तिना । ‘पुढवीसिलामए वा’ पृथ्वीसत्त्वरे शिखामये वा । ‘अप्पाण णिज्जवे एक्को’ आत्मान निर्जयेद् देहसहाय ॥२०२९॥

पुव्वुत्ताणि तणाणि य जाचित्ता थडिलम्मि पुव्वुत्ते ।

जदणाए सथरित्ता उच्चरसिरमधव पुव्वसिर ॥२०३०॥

‘पुव्वुत्ताणि तणाणि य’ पूर्वोक्तानि तृणानि निस्सवि मि छिद्रत्रतुरहितानि शरीरस्थितिसाधनमा-
त्राणि मूत्रनि प्रतिलेखनायोग्यानि ग्राम नगर वा प्रविश्य यात्रया गृहीतानि पूर्वोक्ते स्थण्डिले कोज्जी सालाव

गा०—रत्नत्रयमे लगे दोषोकी क्रमसे आलोचना करे और अपने स्थान पर अन्य आचार्य-
की स्थापना करके उन्हें सब बतला दे । तथा चतुर्वि-वृद्ध मुनियोगे भरे अपने गच्छको शिक्षा
देकर जीवनपर्यन्तके लिये मधसे अलग होनेकी इच्छा करता हुआ प्रसन्न होता है कि मैं कृतार्थ
हुआ और इस प्रकार वह सम्पूर्ण गुणोंसे विशिष्ट होकर मुनिमधसे बला जाता है ॥२०२७-२८॥

गा०—इस प्रकार मधसे निकलकर गुफा आदिके अन्दर या बाहर जीवरहित तथा समान
रूपसे ऊँचे कठिन भूमिप्रदेशमें पृथ्वीरूप सत्त्व पर या शिलामय मत्तर पर एकाकी आश्रय
लेता है । अपने शरीरके सिवाय उसका अन्य कोई महायक नहीं होता ॥२०२९॥

गा०—टी०—वह गाँव या नगरमें जाकर तृणोकी याचना करता है जो तृण छिद्ररहित,
जन्तुरहित, कोमल तथा शरीरकी स्थितिके लिये साधन मात्र और प्रतिलेखनाके योग्य होने
चाहिये उन तृणोंको वह उक्त भूमि प्रदेश पर प्रतिलेखनापूर्वक मावधानसामे पृथक्-पृथक् करके

विस्तीर्णों विध्वस्त अमुपिरोषविल निर्जन्तुवस्तस्मिन्मण्डले । 'जदणाए सपरित्ता' यन्नेन सस्तर वृत्ता यत्न ७ तृणाना पृथक्करण मस्तरभूमिप्रतिरक्षण, 'उत्तरसिरमधव पुत्तसिर सधार सपरित्ता य' पूर्वात्-माङ्गमुत्तरोत्तमाङ्ग वा रुस्तर मस्तीर्य सिर प्रमृति काय पादौ च यत्नेन प्रमाय्य ॥२०३०॥

पाचोणाभिमुद्धो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा ।

सीसे कदजलिपुद्धो भावेण विसुद्धलेस्सेण ॥२०३१॥

'पाचोणाभिमुद्धो वा उदीचिहुत्तो व तत्थ सो ठिच्चा' प्राङ्मुखो उदङ्मुखो वा भूत्वा तत्र मस्तरं सत्पित्वा । 'सीसे कदजलिपुद्धो' मस्तके न्यस्तवृताङ्गलि । 'भावेण विसुद्धलेस्सेण' विगुडलेक्ष्यामन्विनेन भावेन ॥२०३१॥

अरहादिअतिग तो किच्चा आलोचण सुपरिसुद्ध ।

दमणणाणचरित्त परिसारेदूण णिस्सेस ॥२०३२॥

'अरहादिअतिग' अ 'दावन्तिग' । 'तो' पश्चात् आलोचना कृत्वा सुपरिसुद्ध दमणणाणचरित्त पश्चि-सारेदूण' दर्शनशानचारिणाणि मस्तृत्प निरवशेष ॥२०३२॥

सच्च आहारविधिं जावज्जीवाय वोसरित्ताण ।

वोमरिदूण असेम अन्भतरवाहिरे गधे ॥२०३३॥

सर्वं आहारविधिं सर्व आहारविकल्प । जावज्जीव परित्यज्य बाह्याभ्यन्तरानुरोपान् परिग्रहाश्च त्यक्त्वा ॥२०३३॥

सच्चे विणिज्जगतो परीपहे धिदिदलेण सजुत्तो ।

लेस्माए विरुज्जतो घम्म उज्जाण उवणमित्ता ॥२०३४॥

सच्चे विणिज्जगतो' सर्वाश्च जयन् परिपहान् धृतिबलमन्वित लेक्ष्याभिनिगुड सन् घर्मध्यान प्रतिपद्य ॥२०३४॥

पेला देता है । वह भूमिप्रदेश भी प्रकाश सहित, विस्तीर्ण, ठिद्ररहित तथा अन्तुरहित होना चाहिये । उसपर मस्तर ऐसा होना चाहिये जिसमें मित्र पूर्वदिशा या उत्तर दिशाकी ओर रहे । तब मित्रमें लेकर पर तब शरीरका मावधानीने परिमार्जन करके पूरव या उत्तरकी ओर मुख करके उम मस्तर पर बैठता है और हाथोंकी अजली बनाकर मस्तकमें लगाता है तथा विगुड लेक्ष्या पूर्वक अहन्त आदिके सामने अपने दोषोंकी आलोचना करके सम्म्यग्दर्शन, सम्म्यग्ज्ञान और सम्म्यक्चारित्र को पूर्ण रूपमें निर्मल करता है ॥२०३०-२०३२॥

गा०—समस्त प्रकारके आहारके विकल्पको जीवनपर्यन्तके लिये त्याग देता है तथा समस्त अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रहको त्याग देता है ॥२०३३॥

गा०—घैर्यक बलने युक्त वह सपक् सब परीपहोको जोतता है और लेक्ष्या विगुडिमें सम्मन्ने हो, घर्मध्यान करता है ॥२०३४॥

ठिच्चा णिसिद्धिच्चा वा तुवद्धिदूण व मकायपडिचरणं ।
 सयमेव णिरुवसग्गे कुणदि विहारम्मि मो भयव ॥२०३५॥
 मयमेव अप्पणो सो करेदि आउटणादि किरियाओ ।
 उच्चारदीणि तथा मयमेव विक्किचिदे विधिणा ॥२०३६॥
 जाधे पुण उवसग्गा देवा माणुस्सिया व तेरिच्छा ।
 ताधे णिप्पडियम्मो ते अधियासेदि ।वगदमओ ॥२०३७॥
 आदितियसुसघडणो सुभसठाणो अभिज्जघिदिक्खचो ।
 जिदकरणो जिदणिहो ओघरलो ओघसग्गे य ॥२०३८॥

‘ठिच्चा’ स्थिरत्वा आसित्वा शयन वा कृत्वा स्वकायपरिकर स्वयमेव निरूपसर्गे विहारे करोति ।
 स्वमेवात्मन करोत्याकुचनादिका क्रिया उच्चारकादिक च निराकारोर्जित प्रतिष्ठापनासमितिसमन्वित । यदि
 पुण उवसग्गा’ यदा पुनरुपसर्गा दवमनुष्यतिर्यक्कृता भवन्ति तदा निष्पत्तीकारस्तान् सहते विगठभय ।
 ‘आदितियसुसघडणो’ आर्येषु त्रिषु सहननेषु अत्यन्तममहनन शुभसस्थानोऽभेदेषु तिर्यक्चो जितकरणो जितनिद्रो
 महाबल्यो निनरा क्षूर ॥२०३५-२०३८॥

धीमत्थभीमदरिसणविगुत्विदा भूदरखसपिसाया ।
 खोभिज्जो जाद वि तय तघवि ण सो सभम कुणइ ॥२०३९॥

‘धीमत्थभीमदरिसणविगुत्विदा’ धीमत्सभीमदर्शनविक्रिया भूतरागसपिसाया यद्यपि क्षोभ दुर्बन्ति तथा
 प्यसौ न सभम करोति ॥२०३९॥

इड्ढिमत्तुल विउव्विय किण्णरकिपुरिसदेवरुण्णाओ ।
 ‘लोलति जदिवि तगं तघवि ण सो विम्भय जाई ॥२०४०॥

गा०—वह कायोत्सर्गसे स्थित होकर अथवा पर्यङ्कासन आदिसे बैठकर अथवा एक पादव-
 से शयन करते हुए धर्मध्यान करता है । तथा उपसर्गरहित दशमे स्वय ही अपने शरीरकी
 परिचर्या—हाथ-शेरोका सकोचन, फैलाना आदि करता है । स्वय ही प्रतिष्ठापना समिन्निपूर्वक
 शौच आदि करता है ॥ यदि देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यञ्चकृत उपसर्ग होता है तो उसका
 प्रतिकार नहीं करता है और निर्भय होकर उसे सहन करता है ॥ क्योंकि उसके व्यतिके
 वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच नामक तीन शुभ सहनभोमसे कोई एक सहनन होता
 है, समचतुरस्र मस्थान होता है । न भेदने योग्य धर्मरूपो कवच होता है । वह इन्द्रियो और
 मित्रा पर विजय प्राप्त करता है । महाबली और शूरवीर होता है ॥२०३५-३८॥

गा०—यदि अत्यन्त भयकर विक्रियाके द्वारा भूत, राक्षस और पिशाच जातिके व्यन्तरदेव
 उमे डरावें तो भी वह विचलित नहीं होता ॥२०३९॥

'इन्द्रिमतुल विगुहिय' ऋद्रिमतुल विहृत्य तन्निरकिपुरषादिदेवकन्या यद्यप्युपलालन कुर्वन्ति तदाप्यसौ न बिम्बय मति ॥२०४०॥

सख्यो पोग्गलकाओ दुक्खत्ताए जदिवि तमुवणमेज्ज ।

तधवि य तस्स ण जायदि ज्ञाणस्स विसोत्तिया को वि ॥२०४१॥

'सख्यो पोग्गलकाओ' सर्वं पुद्गलद्रव्य दुःखतया यदि तमभिहन्ति तयापि तस्य न जायते ध्यान-
स्यान्यथावृत्ति ॥२०४१॥

सख्यो पोग्गलकाओ सोक्खत्ताए जदिवि तमुवणमेज्ज ।

तध वि हु तस्स ण जायदि ज्ञाणस्स विसोत्तिया को वि ॥२०४२॥

स्पन्दोत्तरगाथा ॥२०४२॥

मच्चित्ते साहरिदो तत्थ उक्खत्ति विपत्तसव्वंगो ।

उवमग्गे य पसते जदणाए थडिलमुवेदि ॥२०४३॥

'सच्चित्ते साहरिदो' व्याघ्रादिभिः सचित्ते निक्षिप्तं भ तत्रैवोपेक्षते स्वकनसर्वाङ्गः । उपसर्गं प्रशाते
यत्नेन स्पण्डिलमुपैति ॥२०४३॥

एवं उवमग्गविधि परीसहविधि च सोधिया सतो ।

मणवयणकायगुत्तो सुणिच्छिदो णिज्जिदकसाओ ॥२०४४॥

'एव उवसग्गविधि' एवमुपगन्तुं परिपहाद्वय सहमानस्त्रिगुप्त सुनिश्चितो निश्चितवपाय ॥२०४४॥

इहलोए परलोए जीविदमरणे सुहे य दुक्खे य ।

णिप्पडिबद्धो विरहदि जिददुक्खपरिस्ममो धिदिम ॥२०४५॥

गा०—किन्नर किपुरष जातिके अन्तर देवकी देवागनाएँ अतुल ऋद्रिरूप विक्रियाके द्वारा यदि उसे लुभाती हैं तो भी वह उनके लोभमें नहीं जाता ॥२०४०॥

गा०—यदि तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गल द्रव्य दुःखरूप परिणत होकर उसे दुःखी करें तब भी वह ध्यानमें विचलित नहीं होता ॥२०४१॥

गा०—तथा तीन लोकवर्ती समस्त पुद्गलद्रव्य सुखरूप परिणत होकर उसे सुखी करें तब भी वह ध्यानमें विचलित नहीं होता ॥२०४२॥

गा०—यदि व्याघ्र आदिने द्वारा वह हरित तृणोंसे भरे हुए प्रदेशमें डाल दिया जाता है तो अपने शरीरका मोहत्याग शान्तभावसे बड़ी स्थिर रहता है और उपसर्ग दूर होनेपर सावधानता पूर्वक तृणरहित भूमिप्रदेशमें चला जाता है ॥२०४३॥

गा०—इस प्रकार उपसर्गों और परीषहोंको सहन करते हुए वह मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्तिका पालन करता है । तथा स्थिरतापूर्वक कषायोंकी जीतता है ॥२०४४॥

गा०—दुःख और परिश्रमपर विजय प्राप्त करने वाला वह धीरे धीरे क्षपक इस लोक,

‘इहलोके परलोक’ इह परत्र च जीविने मरणे सुखे दुःखे च अप्रतिबन्धो विहरति जितकु क्षप्रश्चिन्म
धृतिमान् ॥२०४५॥

वायणपरियट्टणपुच्छणाओ मोत्तूण तथय धम्मथुदिं ।

सुत्तथपोरिसीसु वि सरेदि सुत्तथमेयमणो ॥२०४६॥

‘वायणपरियट्टणपुच्छणाओ’ वाचना, परिर्वर्तन, प्रश्न च मुक्त्वा च तथा धर्मोपदेश सूत्रस्यायम्य वा
स्मरत्येकचित् ॥२०४६॥

एव अट्टवि जामे अनुवट्टो तच्च ज्ञादि एयमणो ।

जदि आधच्चा णिहा हविज्ज सो तत्थ अपदिण्णो ॥२०४७॥

‘एव अट्टवि जामे’ एवमेवात्सु यामेषु निरन्तरशयनक्रियो व्यायेकचित्, यथाहृत्य निद्रा भवेन तत्र
अप्रतिज्ञोऽसौ ॥२०४७॥

सज्झायकालपडिलेहणादिकाओ ण मति किरियाओ ।

जम्हा ममाणमज्झे तस्स य ज्ञाण अपडिसिद्ध ॥२०४८॥

‘सज्झायका-पडिलेहणादिकाओ’ स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिका क्रिया न भन्ति यस्मान् धम्मज्ञानमध्योऽपि
तस्य ध्यान न प्रतिपिद्ध ॥२०४८॥

आवासग च कुणदे उवधोकालम्मि जं जहिं कमदि ।

उवकरणपि पडिलिहइ उवधोकालम्मि जदणाए ॥२०४९॥

‘आवासग च कुणदे’ आवश्यक च करोति कालद्वयेऽपि यस्मिन्काले प्रवर्तते, उपकरणप्रतिलेखनमपि
यत्नेन कालद्वये करोति ॥२०४९॥

परलोक, जीवन, मरण, सुख और दुःखमें रागद्वेष रहित होकर विहरता है अर्थात् न जीवन
आदिसे राग करता है और मरण आदिसे द्वेष करता है ॥२०४५॥

भा०—स्वाध्यायके पाँच भेदोंमेंसे वाचना, आम्नाय, पुच्छना और धर्मोपदेशको त्यागकर
वह अस्वाध्यायकालमें भी एकाग्रमनसे सूत्रके अर्थका ही अनुविन्तन करता है । अर्थात् सतत
अनुप्रेक्षारूप स्वाध्यायमें ही लीन रहता है ॥२०४६॥

भा०—इस प्रकार वह दिन रातके आठों पहरोमें निद्राको त्यागकर एकाग्र मनसे ध्यान
करता है । यदि कभी बलात् निद्रा आ जाती है तो सो लेता है ॥२०४७॥

भा०—अन्य भुनिकोंकी तरह न तो उनका स्वाध्यायकाल ही नियत होना है और न उन्हें
प्रतिलेखना आदि क्रिया करना ही आवश्यक होना है । उनके लिये स्पृहानामे भी ध्यान करना
निषिद्ध नहीं है ॥२०४८॥

भा०—किन्तु दिन रातमें जब जो आवश्यक करनेका विधान है वह अवश्य करते हैं और
माध्यानना पूर्वक दोनों कालोंमें अपने उपकरणोंकी प्रतिलेखना भी करते हैं ॥२०४९॥

महसा चुक्करकलिदे णिसीधियादीसु मिच्छकारे सो ।

आसिअणिसीधियाओ णिग्गमणपवेसणे कुण्ड ॥२५००॥

‘सहसा चुक्करकलिदे’ सहसा स्थलने जाते मिथ्या मया वृत्तमिति ब्रवीति, निष्कर्मणप्रवेशयो आमि-
कानिर्पोधिकान्दप्रयोग करोति ॥२०५०॥

पादे कटयमादिं अच्छिम्भि रजादिय जदावेज्ज ।

गच्छदि अघाविधिं सो परणीहरणे य तुण्हिक्को ॥२०५१॥

‘पादे कटयमादिं’ पादयो कटवप्रवेशे नेत्रयो रज प्रमृतिप्रवेशेऽपि तूष्णीमास्ते, परनिराकरणेऽपि स
तूष्णीमास्ते ॥२०५१॥

वेउव्वणमाहारयचारणसीरासवादिल्लदीसु ।

तवमा उप्पण्णासु वि विगगभावेण सेवदि सो ॥२०५२॥

‘वेउव्वणमाहारय’ विज्रियाऋद्धौ आहारकऋद्धौ चारणऋद्धौ सीरासवादिल्लघिषु वा तपमोत्पन्ना-
स्वपि विरागनया न किञ्चित्करोति स ॥२०५२॥

भोणाभिग्गहणिरदो रोगादंकादिवेदणाहेदु ।

ण कुणदि पडिकार सो तहेव तण्हाछुहादीण ॥२०५३॥

‘भोणाभिग्गहणिरदो’ मौनव्रतोपपन्न रोगातद्वादिवेदनानिमित्त प्रतीकार न करोति तथैव तुडा-
दीनामपि ॥२०५३॥

उवएसो पुण आहरियाण इगिणिगदो वि छिण्णकधो ।

देवेहि माणुसेहिं व पुट्ठो धम्म कधेदिचि ॥२०५४॥

गा०—यदि उसमें स्वचिन् चुक जाते हैं तो भिरा दोष मिथ्या हो’ ‘मैंने गलत किया’ ऐसा
बोलते हैं । तथा बाहर जाने और भीतर प्रवेश करनेपर ‘आसही, निसही’ शब्दोंका उच्चारण भी
करते हैं ॥२०५०॥

गा०—यदि पैरमें काँटा घुस जाता है या आँकमें धूल आदि चली जाती है तो चुप रहते
हैं स्वयं उसे दूर नहीं करते । यदि दूसरा दूर करता है तब भी चुप ही रहते हैं ॥२०५१॥

गा०—यदि तपके प्रभावसे उन्हें विक्रिया ऋद्धि, आहारक ऋद्धि या चारण ऋद्धि अथवा
सीरास्त्र आदि ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं तो निराशी होनेमें उनका किञ्चित् भी सेवन नहीं
करते ॥२०५२॥

गा०—वह मौनका पालन करनेमें लीन रहते हैं, रोग आदिमें होनेवाले कष्टको दूर करनेका
प्रयत्न नहीं करते । इसी प्रकार भूख प्यास आदिका भी प्रतीकार नहीं करते ॥२०५३॥

‘उदएसो पुण आइरियाण’ उपदेश पुन आचार्याणा इङ्गिणीगतोऽपि धम कययति देवमनुष्यैर्वा पृष्ट ।
कथ कययति टिन्निक्क प्रवर्तनेन मत्ता ॥२०५४॥

एवमद्यक्कादविधि साधित्ता इगिणीं धुदकिलेमा ।

मिज्झति केड केई हवति देवा विमाणेसु ॥२०५५॥

‘एवमद्यक्कादविधि’ एव यदाध्यातक्रमेण इङ्गिणी प्रमाय निरन्तरकेशा केचित्मिच्चन्ति, केचित्तुमानिक्-
देवा भवन्ति ॥२०५५॥

एद इगिणिमरण वासममासेण चण्णिद विधिणा ।

पाओगमरणमित्तो समामदो चेव वण्णेमि ॥२०५६॥

स्पष्टार्थ गाथा । इङ्गिणी ॥२०५६॥

पाओवगमणमरणस्य होदि मो चेव उवक्कमो मव्वो ।

वुत्तो इगिणिमरणस्सुक्कमो जो मवित्थारो ॥२०५७॥

स्पष्टार्थ ॥२०५७॥

णवरिं तणमथारो पाओवगठस्स होदि पडिमिदो ।

आठपण्णओगेण य पडिमिद मव्वपरियम्म ॥२०५८॥

‘णवरिं तणमथारो’ णवर तृणसस्तर प्रायोपगमनगतस्य प्रतिपेद, आत्मपरप्रयोगेण धम्मास्प्रतिपिद्ध
सर्व प्रतीकार । स्वपरसपाद्यप्रतीकारापेक्ष भूतप्रत्याख्यानविधि, परनिरपेक्षमादमपाद्यप्रतीकारमिगिणी-
मरण, सर्वप्रतीकाररहित प्रायोपगमनमित्यमीषा भेद ॥२०५८॥

गा०—अन्य आचार्यों का मत है कि इगिणीमरण करते हुए भी क्षपक देवो या मनुष्योंके
द्वारा पूछे जानेपर बोडामा धर्मोपदेश भी करता है किन्तु अधिक नहीं करता ॥२०५४॥

गा०—इस तरह ऊपर कहे अनुसार इगिणीमरणकी माधना करके कोई तो समस्त
बन्धनोंसे छूटकर मुक्त हो जाने है और कोई मरकर वैमानिकदेव होते हैं ॥२०५५॥

गा०—इस इगिणीमरणका विस्तार और मक्षेपमे विधिपूर्वक कथन किया । आगे प्रायोप-
गमनका मक्षेपमे कथन करेंगे ॥२०५६॥

गा०—ऊपर इगिणीमरणकी जो विस्तारमे विधि कही है वही सब विधि प्रायोपगमन
मरणकी होती है ॥२०५७॥

गा०—किन्तु इनका विशेष है कि प्रायोपगमनमे तृणोंके मथरेका-तृणशय्याका निषेध
है । क्योंकि उसमे स्वयं अपनेमे और दूसरोंमे भी मत्र प्रकारका प्रतीकार करना करना निषिद्ध
है ॥२०५८॥

टी० - भूतप्रत्याख्यानमे तो अपनी सेवा स्वयं भी कर सकता है और दूसरोंमे भी
करा सकता है । इगिणीमे अपनी सेवा स्वयं कर सकता है, दूसरोंमे नहीं करा सकता । किन्तु

सो सल्लेहिददेहो जम्हा पाओवगमणमुबजादि ।

उच्चारादिचिकिचणमवि णत्थि पओगदो तम्हा ॥२०५९॥

‘सो सल्लेहिददेहो’ स भय्यत्तुट्टित्तारीरो यस्मात्प्रायोपगमनमुपयाति तस्मादुच्चारानि निराकरणमपि नास्ति प्रयोगतः ॥२०५९॥

पुठवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो ।

बोमट्ट चत्तदेहो अघाउग पालए तत्थ ॥२०६०॥

‘पुठवी आऊतेऊवणप्फदितसेसु जदि वि साहरिदो’ पृथिव्यादिषु जीवनिर्वायेषु यद्यपि केनचिदावृष्ट-
स्तथापि व्युत्पद्यन्तरीरसस्कारस्वरूपदेह स्वमायु पालयेत् ॥२०६०॥

मज्जणयगघपुप्फोवपारपडिचारणे वि कीरंते ।

बोसट्टचत्तदेहो अघाउग पालए तथवि ॥२०६१॥

‘मज्जणयगघपुप्फोवपारपडिचारणे वि कीरंते’ यद्यपि कश्चिदभिप्रेक्ष्येत् गन्धपुष्पादिभिर्वा सन्तुयान्
तथापि व्युत्पद्यन्तरीरसस्कारस्वरूपदेह न रम्यति न तुष्यति न निवारयति ॥२०६१॥

बोमट्टचत्तदेहो दु णिक्खिवेज्जो जहिं जघा अगं ।

जावज्जीव तु सय तहि तममं ण चालेदि ॥२०६२॥

‘बोमट्टचत्तदेहो’ व्युत्पद्यन्तरीरसस्कारस्वरूपदेहो निक्षिपेन कश्चिदप्यस्मिन्मन्ययाङ्ग यावज्जीव स्वय तस्मिन्स्वदङ्ग न
चालयति ॥२०६२॥

एव णिप्पडियम्म भणति पाओवगमणमरहता ।

णियमा अणिहार त मिया य णीहारमुबसग्गे ॥२०६३॥

प्रायोपगमनमे अपनी सेवा न स्वय करता है और न दूसरोंसे कराता है। यही इन तीनोंमें
मेव है ॥२०५८॥

गा०—यत जो अपने शरीरको सम्यक् रूपसे कृत्र करता है अर्थात् अस्थि चर्ममात्र रोप
रहता है वही प्रायोपगमन भरण करता है। अत मल भूत्रके स्वय या दूसरोंके द्वारा त्याग
करानेका प्रश्न ही नहीं रहता ॥२०५९॥

गा०—यदि कोई उन्हें पृथ्वी, जल, तेज, वनस्पति और श्रम आदि जीवनिर्वायोमे फेंक
देता है तो शरीरमें भ्रमत्व त्यागकर अपनी आयुके समाप्त होने तक वही पड़े रहते हैं ॥२०६०॥

गा०—यदि कोई उनका अभिषेक करे या गन्ध पुष्प आदिमें पूजा करे तब भी शरीरसे
भ्रमत्व त्यागकर न रोप करते हैं, न प्रमत्त होते हैं और न उसे ऐसा करनेमें रोक्ते हैं ॥२०६१॥

गा०—शरीरसे भ्रमत्वका त्याग करने वाला वह प्रायोपगमनका धारी क्षपक जिम शेषमें
जिम प्रकारसे शरीरका कोई अंग रखा गया हो, उसको वेसा ही पड़ा रहने देता है, स्वय अपने
अंगको हिलाना डुल्लता नहीं है ॥२०६२॥

गा०—इस प्रकार अर्हतदेव प्रायोपगमनकी स्व और परवृत्त प्रतीकारसे रहित रहते हैं।

‘एव शिपिडिधार’ एव स्वरकृतप्रतीकाररहित प्रायोपगमन जिना वदन्ति, निश्चयेन तत्प्रायोपगमन-
मनीहारमचल स्याच्चलमपि उपसर्गं परकृत चलनमपेक्ष्य ॥२०६३॥

एतदेवोत्तरगायया स्पष्टयति—

उवसग्गेण वि साहरिदो सो अण्णत्थ कुणदि ज काल ।

तम्हा वुत्त णीहारमदो अण्ण अणीहार ॥२०६४॥

एतदेव स्पष्टयति ॥२०६४॥

पडिमापडिवण्णा वि हु कर्त्ति पाओवगमणमप्पेगे ।

दीहद्ध विहरता इगिणिमरणं च अप्पेगे ॥२०६५॥

‘पडिमापडिवण्णा वि हु’ प्रतिमाप्रतिपन्ना अपि एके प्रायोपगमन कुर्वन्ति, एके इङ्गिणिमरण ।
पाठ्य ॥२०६५॥

आगाढे उवसग्गे दुब्बिमक्खे मच्चदो वि दुत्तारे ॥

कदजोगि ममधियासिय कारणजादेहिं वि मरति ॥२०६६॥

‘आगाढे उवसग्गे’ उपसर्गं महति दुब्बिसे वा दुस्तरं जाते कृतपोषित परीपहसहा कारणजातमा-
धित्य मरणे कृतोत्साहा भवन्ति । तस्यैव वस्तुन उदाहरणानि उक्तगायानिम्नोच्यन्ते ॥२०६६॥

निश्चयसे प्रायोपगमन अचल होता है । किन्तु उपसर्ग अवस्थामे मनुष्यादिके द्वारा चलायमान
किये जानेपर चल भी होता है अर्थात् स्वयं शरीरको न हिलानेमे तो अचल हो है किन्तु दूसरेके
द्वारा हिलाने पर चल होता है ॥२०६३॥

आगेकी गायाने इसीको स्पष्ट करते हैं—

गा०—उपसर्ग अवस्थामे एक स्थानमे उठाकर दूसरे स्थानमे डाल दिये जाने पर यदि वह
बही मरण करता है तो उसे नीहार कहते हैं, और ऐसा नहीं होनेपर पूर्व स्थानमे ही मरण हो
तो वह अनीहार कहाता है ॥२०६४॥

गा०—जिनकी आयुका काल अल्पशेष रहता है वे प्रतिमा योग धारण करके प्रायोपगमन
करते हैं । और कुछ दीर्घकाल तक विहार करते हुए इगिनीमरण करते हैं ॥२०६५॥

विशेषार्थ—आशानर जो ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—कुछ तो सल्लेखना न
करके ही कायोत्सर्ग पूर्वक प्रायोपगमन करते हैं और कोई चिरकाल तक उपवास करके प्रायोप-
गमन करते हैं । इसी प्रकार इगिणी भी जानना । अर्थात् उन्होंने दोनों मरणोके दोनो प्रकार
कहे हैं । ऊपरके अर्थके अनुसार अल्प आयु वाले प्रायोपगमन करते हैं इसीमे वे अपने शरीरकी
सेवा न स्वयं करते हैं न दूसरेसे कराते हैं । दीर्घ आयु शेष रहने वाले इगिनीमरण करते हैं अन
वे अपने शरीरकी सेवा स्वयं तो करते हैं दूसरेमे नहीं कराते । उन्हें स्वयं मलमूत्रादि का त्याग तो
करना होना ही है ॥२०६५॥

गा०—महान् उपसर्ग अथवा अमानक दुर्भिन्न होनेपर परीपहोको महान् वर्णनेमे समय
मृति अल्प भी मरणके कारण उपस्थित होनेपर उत्साहपूर्वक मृत्युका आलिङ्गन करते हैं ॥२०६६॥

कोमलय घम्ममीहो अट्ट साधेदि गिद्धपुट्टेण ।
 णयरम्मि य कोल्लगिरे चटसिग्गि विप्पजहिदूण ॥२०६७॥
 पाडलिपुत्ते धूदाहेदु मामयकदम्मि उवसग्गे ।
 साधेदि उममसंणो अट्ट विक्खाणम किच्चा ॥२०६८॥
 अहिमारण णिवदिम्मि मारिदे गहिदममणलिंणेण ।
 उट्ठाहपसमणत्थं मत्थग्गहण अकामि गणी ॥२०६९॥
 सगडालएण वि तधा सत्तग्गहणेण साधिदो अत्थो ।
 वररुडपओमहेदु रुट्ठे णदे महापउमे ॥२०७०॥
 एव पण्डियमरण मच्चियप्प वणिणद सच्चित्थारि ।
 वुच्छामि बालपडियमग्गं एत्तो समासेण ॥२०७१॥

आगेकी गायामीने इसीके समर्थक उदाहरण देने हैं—

गा०—अथोद्धा नगरीमें धर्मसिंह नामक राजाने अपनी चन्द्रधा नामक पत्नीको त्यागकर दीक्षा धारण की । और अपने श्वसुरके भयसे कोल्लगिरि नगरमें हाथीके बल्लेवरमें प्रवेश करके भाराधनाकी साधना की ॥२०६७॥

विशेषार्थ—वृ० क० कोदाम इसकी कथाका नम्बर १५४ है ।

गा०—पाटलीपुत्र नगरमें ऋषभसेन नामक श्रेष्ठोंने अपनी पत्नीको त्यागकर दीक्षा ली । अपनी पुत्रीके स्नेहवश श्वसुरके द्वारा उपमर्ग किये जानेपर ऋषभमेनने श्वास रोककर साधना की ॥२०६८॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमांक १५५ है ।

गा०—श्रावस्तो नगरीके राजा जयसेनन बौद्धधर्म त्यागकर जैनधर्म धारण किया था । इसमें कृपित होकर अहिमात्र नामक बौद्धने उसे उस समय मार डाला जब वह आचार्य यति-वपभवो नमस्कार कर रहा था । तब मुनिने अपना अपवाद दूर करनेके लिये शस्त्रसे अपना घात करते हुए साधना की ॥२०६९॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका क्रमांक १५६ है ।

गा०—पाटलीपुत्रमें नन्दराजाका मंत्री शकटाल था । उसने महापद्म भूरिमें जिन दीक्षा ग्रहण की । उसने विगोधी वररुचिने राजा महापद्मको रष्ट करके शकटालको मारनेका प्रयत्न किया तो शकटाल मुनिने पक्ष नमस्कार मन्त्रका ध्यान करते हुए छुरीमें अपना पेट फाड़ डाला और इस प्रकार भाराधनाकी साधना की ॥२०७०॥

विशेषार्थ—इसकी कथाका नम्बर १५७ है ।

गा०—इस प्रकार भेद सहित पण्डितमरणका विस्तारसे क्या किया । जाने मक्षेपमे बाल-

पण्डितमरण । एव पण्डितमरण सविकल्प सविस्तर व्यावर्णिन, वक्ष्यामि बालपण्डितमरणमित उध्वं
संक्षेपेण ॥२०६७-२०७१॥

देसैक्कदेसविरदो सम्मादिट्ठी मरिज्ज जो जीवो ।

त होदि बालपण्डितमरण जिणसामणे दिट्ठ ॥२०७२॥

देसिक्कदेसविरदो' सर्वासयमग्रन्याख्यानम्याममर्थं हिंसाग्रेकदेशाद्विरत स्थूलभूतप्राणातिपातादि-
*पञ्चकादेशविरत इत्युच्यते । एकदेशविरतो नाम देशविरमणेऽपि एव देशाद्व्यावृत्त सम्यग्दृष्टिर्षो म्रियते तस्य
तदालपण्डितमरण ॥२०७२॥

एतदेव स्पष्टयति—

पच य अणुव्वदाड सच्चयसिक्खाड देसजदिधम्मो ।

सच्चेण य देसेण य तेण जुदो होदि देसजदी ॥२०७३॥

'पच य अणुव्वयाड' पञ्चाणुव्वयानि शिक्षाव्रतानि वा सत्त्व प्रकाराणि देशयतेधर्म । तेन समस्तैर्न धर्मेण
पुन स्वभाव्या वा तदेकदेशेन युतोऽपि देशयतिरेव । द्वादशावधगृहधमप्रत्यायनपराणि सूत्राभ्युत्तराणि
प्रमिद्वार्यानि ॥२०७३॥

पाणवधमुमावादादत्तादाणपरदारगमणेहि ।

अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाडं विरमणाड ॥२०७४॥

ज च दिसावेरमण अणत्थदडेहिं ज च वेरमण ।

देसावगामिय पि य गुणव्वयाड भवे ताड ॥२०७५॥

पण्डितमरणका कथन करेंगे ॥२०७१॥

गा०—टी०—जो समस्त असयमका त्याग करनेमें असमर्थ है स्थूल हिंसा, स्थूल झठ, स्थूल
चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह आदि पाँच पापोंका त्याग करता है उसे देशविरत कहते
हैं । और जो देशविरतिके भी एक देशमें विरत होता है अर्थात् अपनी शक्तिके अनुसार हिंसादिका
त्याग करता है ऐसा सम्यग्दृष्टि एक देशविरत कहा जाता है । इस प्रकार जो समस्त या एकदेश
गृहस्थ धर्मका पालक आवश्यक होता है उसके मरणको जिनागममें बालपण्डितमरण कहा
है ॥२०७२॥

उसीको स्पष्ट करते हैं—

गा०—पाच अणुव्वत और सात शिक्षाव्रत ये देशसयमी आवश्यकका धर्म है । जो उस
सम्पूर्ण आवश्यक धर्मका पालक है अथवा अपनी शक्तिके अनुसार उसके एक देशका पालक है वह
भी देशसयमी ही है ॥२०७३॥

आगे वारह प्रकारके गृहीधर्मको कहते हैं जो प्रमिद्व हैं—

गा०—हिंसा अमन्य, त्रिना दी हुई वस्तुका ग्रहण, पर स्त्री गमन और इच्छाका अपरि-
माण इनमें विग्निरूप पाच अणुव्वन हैं ॥२०७४॥

गा०—दिग्ग्विरति, अनर्थदण्डविरति, देशाववाधिक ये तीन गुणव्वन हैं ॥२०७५॥

भोगाण परिसखा सामाड्यमतिहिसविभागो य ।
 पोसहविधि य सव्वो चटुरो सिक्खाउ वुत्ताओ ॥२०७६॥
 आसुक्कारे मरणे अब्बोच्छिण्णाए जीविदासाए ।
 पादीहि वा अमुक्को पच्छिमन्लेहणमकामी ॥२०७७॥

‘आसुक्कारे मरणे’ सहसा मरणे अच्छिन्नाया जीवितासाया बन्धुभिर्वा न मुक्त पश्चिममन्लेहणम
 कृत्वा कृतालोचनो निश्चल्य स्वगृह एव सस्तरमारुह्य देशविरतस्य मृतिर्बालपण्डितमित्युच्यते ॥२०७६-७७॥

आलोचिदणिस्सल्लो मयरे चेवारुद्धितु सथार ।
 जदि मरदि देमविरदो त वुत्तं बालपण्डिय ॥२०७८॥
 जो भत्तपदिण्णाए उवक्कमो वित्थरेण णिद्धो ।
 सो चेव बालपण्डितमरणे णेओ जहाजोगो ॥२०७९॥
 वेमाणिएसु कप्पोवगेसु णियमेण तस्स उववादो ।
 णियमा सिज्जदि उक्कस्मएण वा सत्तमम्मि भवे ॥२०८०॥
 इय बालपण्डिय होदि मरणमरहतसासणे दिट्ठ ।
 एत्तो पण्डितपण्डितमरणं वोच्छं समासेण ॥२०८१॥

स्पष्टार्था त्रयो गाय । बालपण्डित ॥२०७८-२०८१॥

गा०—भोगपरिमाण, सामायिक, अतिथिसविभाग और प्रोपधोपवास ये चार शिक्षाव्रत
 कहे हैं ॥२०७६॥

गा०—महसा मरण उपस्थित होनेपर, जीवनकी आशा रहनेपर, अथवा परिजनोके द्वारा
 मुक्त न किये जानेपर अन्तिम सल्लेखना धारण न करके, अपने दोषोकी आलोचना पूर्वक शल्य
 रहित होकर अपने घरमें ही सस्तरपर स्थित होकर देगविरत थावकके मरणको बालपण्डित
 मरण कहते हैं ॥२०७७॥

गा०—विधिपूर्वक आलोचना करके, माया मिथ्यात्व और निदान शल्यमें मुक्त होकर
 अपने घरमें सस्तरपर आरुह्य होकर यदि थावक देगविरत भरता है तो उसे बालपण्डित मरण
 कहा है ॥२०७८॥

गा०—मत्तप्रत्यास्थानमें जो विधि विस्तारसे कही है वही सब विधि बालपण्डितमरणमें
 मयायोग्य जानना ॥२०७९॥

गा०—वह थावक मरकर नियमसे सौधमादि कल्पोपपन्न वैमानिक देवोंमें उत्पन्न होता
 है और नियमसे अधिक से अधिक सात भवोंमें मुक्त होता है ॥२०८०॥

गा०—द्वय प्रकारके मरणको अरहन्त भगवान्के धर्ममें बालपण्डित कहा है । आगे सशेष
 पण्डित पण्डितमरणको कहते हैं ॥२०८१॥

साहू जहुत्तचारी वडू'तो अप्पमत्तकालम्मि ।

ज्झाण उवेदि धम्म पविट्ठुकामो खवगसेदि ॥२०८२॥

‘साहू जहुत्तचारी’ शास्त्रीकोन मागें प्रवर्तमानसाधुरप्रमत्तगुणस्थानवाले धर्म्य ध्यानमुपति सपक्खेणि प्रवेष्टुकाम ॥२०८२॥

ध्यानपरिकर बाह्य प्रतिपादयति—

सुचिए समे विवित्ते देसे णिज्जतुए अणुण्णाए ।

उज्जुअआयददेहो अचल वधेत्तु पल्लिक ॥२०८३॥

‘सुचिए समे’ शुची समे एकान्तदेगे निर्जन्तुके अनुशाते तत्त्वामिभिः शृङ्खलपतदेह पल्लिकमचल बद्ध्वा ॥२०८३॥

वीरासणमादीयं आसणममपादमादियं ठाण ।

सम्म अधिद्विदो वा सिज्जमुत्ताणमयणादि ॥२०८४॥

‘वीरासणादिग’ वीरामनादिकमामन बद्ध्वा समपादादिना स्थिता वा अथवा उत्तानशयनादिना वा बृत्त ॥२०८४॥

पुव्वमणिदेण विधिणा ज्झादि ज्झाण विसुद्धलेस्माओ ।

पवणसमिण्णमदी मोहस्स खयं करेमाणो ॥२०८५॥

‘पुव्वमणिदेण विधिणा’ पूर्वोक्तेन क्रमेण ध्याने प्रवर्तते विगुहलंसेन । प्रवचनार्थमनुप्रविष्टमति मोहनोय क्षय नेतुमुद्यत ॥२०८५॥

सजोयणाहमाए खवेदि झाणेण तेण मो पढम ।

मिच्छत्त सम्मिम्म कमेण मम्मत्तमवि य तदो ॥२०८६॥

‘सजोयणाहमाए’ अनन्तानुबन्धिन् क्रोधमानमायालोभान् सपयति ध्यानेन, सेनानी प्रथम निष्प्यात्,

गा०—शान्त्रोक्त मागसे प्रवृत्तिं कर्तारं हुवा साधु क्षपक श्रेणिपर आम्ह होनेकी इच्छासे अप्रमत्त गुणस्थानमे धर्मध्यान करता है ॥२०८२॥

ध्यानकी बाह्य सामग्री कहते हैं—

गा०—पवित्र और जन्तुरहित एकान्त प्रदेशमे, उस स्थानके स्वामीकी आज्ञा प्राप्त करके, समभूमिभागमे शरीरको सीधा रखते हुए पल्यकामन बाजकर अथवा वीरासन आदि लगाकर, अथवा दोनों पैरोंको समरूपमे रखते हुए खड़े होकर अथवा ऊपरको मुखकर शयन करते हुए या एवं करवटमे लेटकर पूर्वमे कही विधिके अनुसार विगुह लेश्यापूर्वक मोहनोय कमका क्षय करनेमे नत्पर होता हुआ ध्यान करता है तथा चतुर्दश पूर्वोंका अर्थ श्रवण करनेसे उसकी बुद्धि निर्मल होनी है अर्थात् उसके श्रुतज्ञानावरणका प्रबल क्षयोपशम होता है ॥२०८३-२०८५॥

गा०—प्रथम ही वह उस ध्यानके द्वारा अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभना क्षय

सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व च क्रमेण एव प्रकृतिसप्तक विनाश्य क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा क्षपकश्रेण्यधिरोहणा-
भिमुखोऽथ प्रवृत्तकरण जप्रमत्तस्थाने प्रतिपद्य ॥२०८६॥

अथ स्वयसेदिर्माधिगम्म कुण्ड साधू अपुव्वकरण सो ।

होइ तमपुव्वकरण कयाइ अप्पत्तपुव्वति ॥२०८७॥

‘अथ स्वयसेदिर्माधिगम्म’ अथ क्षपकश्रेणीमधिगम्म करोति माधुरपूर्वकरणमभौ । किं तदपूर्व-
करणमित्याशङ्क्यामुच्यते । ‘होइ तमपुव्वकरण’ नवनि तदपूर्वकरण ‘कदाइ अप्पत्तपुव्वति’ कदाचिदप्राप्त-
पूर्वमिति ॥२०८७॥

अणिचित्तिकरणणाम णवम गुणठाणय च अधिगम्म ।

णिहाणिहा पयलापयला तद्य थीणगिद्धि च ॥२०८८॥

‘अणिचित्तिकरणणाम णवम गुणठाणमधिगम्म’ अनिवृत्तिगुणस्थानमुपगम्य णिहाणिहा पयलापयला
निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला स्थानगृद्धि च ॥२०८८॥

णिरयगदियाणुपुव्वि णिरयगदिं धावर च सुहुमं च ।

साधारणादवुज्जोवतिरयगदिं आणुपुव्वीए ॥२०८९॥

‘णिरयगदियाणुपुव्वि’ नरकगत्यानुपूर्वि, नरकगति, स्यावर, सूक्ष्म माधारण, आतप, उद्योत
तिर्यग्गगत्यानुपूर्वि ॥२०८९॥

करता है फिर मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतियोंका क्षय करके क्षायिक
सम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणिने अभिमुख होनेके लिये जप्रमत्त गुणस्थानमें अथ प्रवृत्तकरण करता
है ॥२०८६॥

दा०—अनन्त मसारका कारण होनेसे मिथ्यात्वको अनन्त कहते हैं । उसके माधु बन्धनेसे
अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि चार यहाँ संयोजना शब्दसे लिये गये हैं । मिथ्या पदार्थों के अभिनिवेश-
में जो निमित्त होता है वह मिथ्यात्व नामक दर्शन मोहनीय है । जिस मिथ्यात्वका स्वरस अर्ध-
शुद्ध हो जाता है उसे सम्यक् मिथ्यात्व कहते हैं । और जिस मिथ्यात्वका शुभ परिणामके द्वारा
स्वरस क्षोण हो जाता है उसे सम्यक्त्व दर्शन मोहनीय कहते हैं । इसके उदय रहते हुए भी
तत्त्वार्थकी श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन होता है । किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन इन मानोंके अभावमें ही
होता है । और क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही क्षपक श्रेणिपर आरोहण करता है ॥२०८६॥

गा०—क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर वह क्षपक श्रेणिपर आरोहण करके प्रथम अपूर्वकरण
करता है । उसे अपूर्वकरण इसलिये कहते हैं कि उसमें इस प्रकारके परिणाम कभी भी नीचेके
गुणस्थानोंमें प्राप्त नहीं किये थे ॥२०८७॥

गा०—उमके पश्चान् वह माधु अनिवृत्ति करण नामक नवम गुणस्थानको प्राप्त करके
निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्थानगृद्धि, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकगति, स्यावर, सूक्ष्म, माधारण,

इगविगतिगचदुरिदियणामाड तथ तिरिक्खगदिणाम् ।

खवयित्ता मज्झिल्ले खवेदि सो अट्ठवि कमाए ॥२०९०॥

‘इगविण’ एकद्वित्रिचतुरिद्रियजाती, तिर्यग्गति, अप्रत्याख्यानचतुष्क, प्रत्याख्यानचतुष्क च क्षपयति ॥२०९०॥

तत्तो णपुसगित्थीवेद हासादिछक्कपुवेद ।

क्रोध माण माय लोभ च खवेदि सो कममो ॥२०९१॥

‘तत्त णपुस’ ततो नपुमक वेद, स्त्रीवेद, हास्यादिपट्क, पुवेद, सज्ज्वलक्रोधमानमाया क्षपयति । पश्चात्लोभमज्ज्वलन ॥२०९१॥

अथ लोभसुहुमकिट्ठी वेदतो सुहुमसपरायत्त ।

पावदि पावदि य तथा तण्णाम सजम सुद्ध ॥२०९२॥

‘अथ लोभसुहुमकिट्ठी’ अथ पश्चाद्वादरकृष्टेरत्तरकाळ लोभमूढमर्कटि वेदयमान । ‘सुहुमसपरायत्त पावदि’ सूक्ष्मसापरायता प्राप्नोति । ‘पावदि य तथा’ प्राप्नोति च तथा तन्नामक सयम शुद्ध सूक्ष्मसापरायता अधिगच्छति ॥२०९२॥

तो सो खीणक्खसाओ जायदि खीणासु लोभकिट्ठीसु ।

एय^१ चवितक्कावीचार तो ज्झादि मो ज्झाण ॥२०९३॥

आप्तप, उद्योत, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, ऐकेन्द्रिय जाति, दो इन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, तिर्यग्गति, इन सोलह कर्मप्रकृतियोंका क्षय करके मध्यकी आठ कपाय अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभका क्षय करता है ॥२०८८-२०९०॥

गा०—फिर क्रमसे उसी नवम गुणस्थानमें नपुमक वेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, पुरुषवेद और सज्ज्वलन, क्रोध मान मायाका क्षय करता है । अन्तमें सज्ज्वलन लोभका क्षय करता है ॥२०९१॥

विशेषार्थ—क्षयका क्रम इस प्रकार है—हास्यादि छह नोकपायोंको पुरुषवेदमें क्षेपण करके नष्ट करता है । पुरुषवेदको क्रोध सज्ज्वलनमें क्षेपण करके क्षय करता है । इसी प्रकार क्रोधसज्ज्वलनको मानसज्ज्वलनमें मानसज्ज्वलनको मायासज्ज्वलनमें और मायासज्ज्वलनको लोभमज्ज्वलनमें क्षेपण करके क्षय करता है । अन्तमें बादर कृष्टिके द्वारा लोभमज्ज्वलन को कृदा करके सूक्ष्म लोभसज्ज्वलन कपाय शेष रहती है ॥२०९१॥

गा०—बादर कृष्टिके पश्चात् सूक्ष्मकृष्टिरूप लोभका वेदना करता हुआ दमवे सूक्ष्म साम्पराय नामक गुणस्थानको प्राप्त करना है और वहाँ उसी सूक्ष्मसाम्पराय नामक सयमको प्राप्त करता है ॥२०९२॥

‘तो सो क्षीणकसाओ जायदि’ तन सूक्ष्ममपरायत्वादनतर ‘क्षीणकसाओ जायदि’ क्षीणकपायो जायने । ‘क्षीणासु लोभकृष्टीसु’ सत्त्वलनलोभमूढमकृष्टीषु शीणासु । तो’ तत ‘एकत्ववितर्काविचारज्ञान तो भावि’ एकत्ववितर्काविचार ध्यान ध्याति ॥२०९३॥

ज्ञाणेण य तेण अधक्खादेण य संजमेण घादेदि ।

मेसा घादिकम्माणि ‘सम अवरज्जणाणि तदो ॥२०९४॥

‘ज्ञाणेण य तेण’ तेन ध्यानेन । ‘तो’ तेनैकत्ववितर्काविचारेण यथाक्यातेन चारियेण दोषघातिवर्माणि समकालमेव क्षययति । ‘अवरज्जणाणि’ जीवस्यान्यथाभावकारणानि ॥२०९४॥

मत्थयसूचीए जघा हदाए कसिणो हदो भवदि तालो ।

कम्माणि तथा गच्छति खय मोहे हदे कसिणे ॥२०९५॥

‘मत्थयसूचीए जघा हदाए’ मस्तकसूच्या यथा हस्ताया । ‘कसिणो तालो हदो भवति’ कृष्णस्तालद्रुमो हतो भवति । ‘कम्माणि तथा’ कर्माण्यपि तथैव ‘खय गच्छति’ क्षयमुपयाति । ‘मोहे हदे कसिणे’ मोहे हते कृष्णे ॥२०९५॥

णिहापचलाय दुवे दुचरिमसमयम्मि तस्म खीयत ।

सेसाणि घादिकम्माणि चरिमसमयम्मि खीयन्ति ॥२०९६॥

‘णिहा पचला य दुवे’ निद्राप्रचला च द्वे तस्य क्षीणकपायस्य उपान्यसमये नश्यत । ‘सेसाणि घादिकम्माणि’ अवशिष्टानि घातिकर्माणि त्रीणि तस्य चरमसमये मस्यति, पच ज्ञानावरणानि, चत्वारि दर्शनावरणानि, पचातरायाश्च ॥२०९६॥

तत्तो णतरममए उप्पज्जदि मव्वपज्जयणिवध ।

केवलणाण सुद्ध तथ केवलदसण चेव ॥२०९७॥

गा०—सूक्ष्म लोभकृष्टीका क्षय होनेपर सूक्ष्म साम्प्रगम्यके पश्चात् क्षीण वपाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती होता है । वहाँ वह एकत्व वितर्क विचार नामक ध्यानको ध्याता है ॥२०९३॥

गा०—उस ध्यान तथा यथारथान चाग्रिके द्वारा वह जीवके अन्यथाभावमे कारण दोष घातिकर्मोंका एक माय क्षय करता है ॥२०९४॥

गा०—जैसे ताड़के वृक्षकी मस् क सूची, ऊपरका शाखाभार टूट जानेपर समस्त ताड़वृक्ष ही नष्ट हो जाता है वैसे ही समस्त मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥२०९५॥

गा०—उम क्षीणकपाय गुणस्थानके उपान्य समयमे निद्रा प्रचला नष्ट होती है । और दोष घातिकर्म—पाच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाच अनुराग अन्तिम समयमे नष्ट होते हैं ॥२०९६॥

निद्रानिद्रा, मध्यम—पृ०, मूला० १

ततो ज्ञानदर्शनावरणान्तरामशयान् अनन्तरमग्रे उत्पद्यते केवलज्ञानं सर्वपर्यायनिवृद्धं, सर्वेषां द्रव्याणां त्रिकालगोचरा ये पर्याया विशेषरूपाणि तत्र प्रतिरुद्धं परिच्छेदकत्वेन ज्ञानस्वातिशयो वस्तुगतविशेषरूपं परिच्छेदो नाम सामान्यरूपस्य सुगमत्वादियास्यात् भवति । केवल इन्द्रियसहायानपेक्षत्वात् केवलमसहाय्यं ज्ञानं रागादिमलाभावान् शुद्धं तथा केवलदर्शनं च ॥२०९७॥

अव्याधादमसदिद्वमुत्तमं सव्वदो अमकुडिदं ।

एयं सयलमणत्वं अणियत्तं केवलं णाणं ॥२०९८॥

‘अव्याधार’ न विद्यते प्रत्ययात्तरं व्याधाता वाचास्त्येत्यव्याधात् । निश्चयात्मकत्वादमदिन्यं । सर्वेभ्यो ज्ञानेभ्य उत्तमं प्रधानं श्रुतादिभिरिदं केवलं साध्यत इति । ‘असकुडिदं’ न मत्स्यादिवदल्पविषयमिति । ‘एशक’ एकस्मिन्नात्मनि स्वयमेव प्रवर्तत इति । ‘सकल’ संपूर्णमात्मन स्वरूपमिति । मत्स्यादोनि दद्यान्मपूर्णानि न तपोद । ‘अणत्त’ अन्तःप्रमाणावच्छेदः । ‘अणियत्त’ न विद्यते निवृत्तिविनाशोऽप्येत्यनिवृत्तं केवलज्ञानं ॥२०९८॥

चित्तपट्टं व विचित्तं त्रिकालमहिदं तदो जगमिणं सो ।

मव्वं जुगव पस्सट्ठिं सव्वमल्लोगं च मव्वंत्तो ॥२०९९॥

‘चित्तपट्टं व विचित्तं’ चित्रपटवद्विचित्रं विचित्रद्रव्यपर्यायरूपेण प्रत्यवभासनात् । ‘त्रिकाल महिदं’ कालत्रयमहितं ‘जगदिदं’, तत् तेन केवलज्ञानेन सर्वं युगपत्पश्यत्यलोकं कृत्स्नं ‘सर्वत’ समतान् ॥२०९९॥

वीरियमणतरायं होइ अणत्तं तथेव तस्मिं तदा ।

कप्पातीदस्सं महाभुणिस्सं विग्घमिं खीणमिं ॥२१००॥

गा०—टी०—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका क्षय होनेके अनन्तर समयमें शुद्ध केवलज्ञान और शुद्ध केवल दर्शन उत्पन्न होता है । वह केवल ज्ञान सब द्रव्योंको त्रिकालगोचर सब पर्यायोंको जानता है । वस्तुगत विशेषरूपको जानना ही ज्ञानका अतिशय है सामान्यरूपको जानना तो सुगम है । इसीमें केवल ज्ञानको सर्वपर्यायनिवृद्ध कहा है । केवलका अर्थ है असहाय । केवल ज्ञान इन्द्रियोंकी महायताने रहित है इसीसे उसका नाम केवल है । तथा रागादिमलसे रहित होनेसे शुद्ध है । व्याधातसे रहित है क्योंकि कोई अन्य ज्ञान उसमें बाधा नहीं डाल सकता । निश्चयात्मक होनेसे मन्वेह रहित है । श्रुत आदि अन्य सब ज्ञानोंमें प्रधान होनेसे उत्तम है । सब द्रव्य और पर्यायोंमें प्रवर्तमान होनेसे मतिज्ञान आदिकी तरह उसका विषय अल्प नहीं है । तथा एक आत्मामें स्वयं ही होनेसे एक है । सम्पूर्ण आत्मस्वरूप होनेसे सकल है । जैसे मति आदि ज्ञान असम्पूर्ण है उसी तरह वह सम्पूर्ण नहीं है । अनन्त प्रमाण वाला होनेसे अनन्त है । अविनाशी है, उसका कभी विनाश नहीं होता । विचित्र द्रव्य पर्यायरूपमें प्रतिभाममान होनेसे चित्रपट्टकी तरह विचित्र-नानारूप है । उस केवलज्ञानमें वह तीन काल सहित इस ममस्त जगतको और सर्वं अलोकको एक माय जानता है ॥२०९७-२०९९॥

गा०—दृश्यस्य अवस्थामे रहित उम महाभुनिके अन्तराय कर्मका विनाश होनेपर अन्तराय

‘वारियमपतराय होदि’ निविघ्न वीर्यं भवति । क्षयोपशमिवस्य हि वीर्यस्य पुन वीर्यांतरायोदये सति विघ्नो भवति, न तथा तस्य निरवरोधस्ये । ‘अनत’ । ‘क्षयातीदस्य’ छद्मस्थकपना अतीतस्य महामु-
नेविघ्ने विनष्टे ॥२१००॥

तो सो वेदयमाणो विहरइ सेसाणि ताव कम्माणि ।

जावसमत्ती वेदिज्जमाणस्माउगस्स भवे ॥२१०१॥

‘तो सो वेदयमाणो’ केवलज्ञानादिपरिप्राप्यनंतरकाल वेदयमानो विहरति, ‘सेसाणि ताव कम्माणि’ अवशिष्टाणि तावत्कर्मणि । ‘जावसमत्ती’ वायत्परिसमाप्ति । ‘वेदिज्जमाणस्स आउगस्स भवे’ अनुभूयमानस्य मनुष्यायुषो भवेत् ॥२१०१॥

दसणणासमग्गो विरहदि उच्चावय तु परियाय ।

जोगणिरोध पारभदि कम्मणिल्लेवणट्ठाए ॥२१०२॥

‘दसणणासमग्गो’ क्षायिकेन ज्ञानेन दर्शनेन च समग्रो, विरह्य ‘उच्चावय परियाय’ उच्चावच पर्याय, चारित्र्यमभिवद्धं यन् योगनिरोध प्रारभते, कर्मणामघातिनामपहरणार्थं ॥२१०२॥

उक्कस्सएण छम्मासाउगस्सेमम्मि केवली जादा ।

वच्चति समुग्घाद सेसा मज्जा समुग्घादे ॥२१०३॥

‘उक्कस्सएण’ उत्कर्षेण षण्मासावदोषे आयुषि जाते केवलिनो जातास्ते समुद्धातमुपयाति । वीपा समुद्धाते भाग्या ॥२१०३॥

रहित अनन्तवीर्यं होता है । अर्थात् क्षयोपशमिक वीर्यमे तो वीर्यान्तरायका उदय होनेपर विघ्न आ जाता है । किन्तु समस्त वीर्यान्तरायका क्षय होनेपर प्रकट हुए अनन्त वीर्यमें कोई विघ्न नहीं आता ॥२१००॥

गा०—केवल ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर जबतक शेष कर्मों की तथा अनुभूयमान मनुष्यायु-
को समाप्ति नहीं होती तब तक वह केवल ज्ञानी विहार करता है ॥२१०१॥

गा०—क्षायिक ज्ञान और क्षायिक दर्शनसे परिपूर्ण वह केवल ज्ञानी चारित्र्यको बढ़ाता हुआ उत्कृष्ट कुछ कम एक पूर्वकोटि तक और जघन्य अन्तर्भूतं मात्र बाल तक विहार करता है । फिर अघातिकर्मों को नष्ट करनेके लिये सत्यवचन योग, अनुभयवचन योग, सत्यमनोयोग अनुभय मनोयोग, औदारिक वाययोग, औदारिक मिथ्र काययोग तथा कामर्ष काययोगका निग्रह प्रारम्भ करता है ॥२१०२॥

गा०—उत्कर्षमें छह मास आयु शेष रहनेपर जो केवल ज्ञानी होते हैं वे अवश्य समुद्धात-
जीवके प्रदेगोवा शरीरमें बाहर दण्ड आदिके आकार रूपमें निकलना-करते हैं । शेष समुद्धात
करते भी हैं और नहीं भी करते, उनके लिये कोई नियम नहीं है ॥२१०३॥

जेसि आउसमाइ णामगोदाइ वेदणीय च ।

ते अकदसमुग्घादा जिणा उवणमति सेलेसिं ॥२१०४॥

‘जेसि आउसमाइ’ येपायपि आयु समानि शेपाय्यधातिकर्माणि तेऽकृतसमुद्धाता एव शैलेश्य प्रतिपद्यते ॥२१०४॥

‘जेमि हवति विसमाणि णामगोदाउवेदणीयाणि ।

ते दु कदसमुग्घादा जिणा उवणमति सेलेसिं ॥२१०५॥

ठिदिसतकम्मसमकरणत्थ सच्चेसि तेमि कम्माण ।

अतोमुहुत्त सेसे जति समुग्घादमाउम्मि ॥२१०६॥

‘ठिदिसतकम्म’ सत्कर्मणा म्यति समीकृतु चतुणा अतर्मुत्तविशेषे आयुपि समुद्धात याति ॥२१०५-२१०६॥

ओल्ल मत वत्थ विरल्लिदं जह लहु त्रिणिव्वादि ।

सवेडिय तु ण तथा तथेव कम्म पि णादव्व ॥२१०७॥

‘ओल्ल मत’ आद्रे मद्यथा वस्त्र विप्रसीर्णं लघु शुष्यति न तथा सवेष्टित एवमेव कमापि शातव्यम् ॥२१०७॥

ठिदिबधस्स तिणेहो हेदू खीयदि य मो ममुहदस्स ।

सडदि य खीणसिणेह सेस अप्पट्टिदी होदि ॥२१०८॥

‘ठिदिबधस्स’ स्थितिवन्धस्य स्नेहो हेतुविनश्यति । समुद्धात गते ‘सट्ठि’ च क्षीणस्नेह शेष कर्मान्पस्थितिक भवति ॥२१०८॥

गा०—जिनके नामकर्म, गोत्रकर्म, वेदनीयकर्मकी स्थिति आयुर्कर्मके समान होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्धात किये बिना शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं ॥२१०४॥

गा०—किन्तु जिनकी आयुकी स्थिति कम होती है और नामगोत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति अधिक होती है वे सयोगकेवली जिन समुद्धात करके ही शैलेशी अवस्थाको प्राप्त होते हैं अर्थात् अयोगकेवली होते हैं ॥२१०५॥

गा०—अन्तमुहूर्त आयु शेष रहनेपर चारो कर्मों की स्थिति समान करनेके लिये समुद्धात करते हैं ॥२१०६॥

गा०—जैसे गोला वस्त्र फैला देनेपर वह शीघ्र सूख जाता है उसनी शीघ्र इकट्ठा रखा हुआ नहीं सूखता । कर्मों की भी वैसी ही दशा जानना । आत्म प्रदेशोंके फैलावसे सम्बद्ध कर्मरज-की स्थिति बिना भोगे घट जाती है ॥२१०७॥

गा०—समुद्धात करनेपर स्थितिवन्धका कारण जो स्नेहगुण है वह नष्ट हो जाता है । और स्नेहगुणके क्षीण होनेपर शेष कर्मों की स्थिति घट जाती है ॥२१०८॥

चटुहि ममएहि दड-कवाह-पदरजगपूरणाणि तदा ।

कममो करेदि तह चैव णियत्तीदि चटुहि ममएहि ॥२१०९॥

‘चटुहि’ चतुर्निस्समयैदण्डादिन कृत्वा क्रमो निवर्तते चतुर्निरेव समये ॥२१०९॥

काउणाउसमाड णामागोदाणि वेदणीय च ।

सेलेमिमब्भुवेतो जोगणिरोधं तदो कुणदि ॥२११०॥

‘काऊण’ नामगोत्रवेदनीयाना आशुषा साम्य कृत्वा भुक्ति मन्त्रुपनयनं योगनिरोध कर्त्तेति ॥२११०॥

योगनिरोधक्रममाचष्टे—

वाटरवाचिगजोगं वाटरकायेण वाटरमणं च ।

वाटरकायपि तथा रुमदि सुहुमेण काएण ॥२१११॥

वाटरौ वाटमनोयोगौ वाटरकायेन दर्शयति । वाटरकाययोगं सूत्रेण काययोगेन ॥२१११॥

तथ चैव सुहुममणवचिजोग सुहुमेण कायजोगेण ।

रुभित्तु जिणो चिट्ठदि’ मो सुहुमकायजोगेण ॥२११२॥

‘तथ चैव’ तर्पणं सूक्ष्मवादननोयोगौ सूक्ष्मकाययोगेन दर्शयति ॥२११२॥

सुहुमाए लेम्माए सुहुमकरियवंधगो तगो ताधे ।

काडयजोगे सुहुमम्मि सुहुमकिरियं जिणो झादि ॥२११३॥

गा०-२१०—मयोगवेवली जिन चार समयोमे दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुदाति करके क्रमसे चार ही समयोमे उसका सकोच करता है अर्थात् प्रथम समयमे दण्डाकार, दूसरे समयमे कपाटके आकार, तीसरे समयमे प्रतर रूप और चतुर्थ समयमे समस्त लोकमे व्याप्त हो जाते हैं। पाचवे समयमे पुन प्रतररूप, छठे समयमे कपाटरूप, सातवें समयमे दण्डाकार आठवें समयमे मूल शरीरका आत्म प्रदेग हो जाते हैं ॥२१०९॥

गा०—इस प्रकार नाम, गोन और वेदनीय कर्मों की स्थिति आयुके समान करके मुक्तिकी ओर बटनेवाले मयोगवेवली जिन योगोंका निरोध करते हैं ॥२११०॥

योगनिरोधका क्रम वृत्ते है—

गा०—स्थूल काययोगमे स्थित होकर वाटर वचनयोग और वाटर मनोयोगको रोकते हैं और सूक्ष्म काययोगमे स्थित होकर स्थूल काययोगको रोकते हैं ॥२१११॥

गा०—उसी प्रकार सूक्ष्मकाययोगके द्वारा सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोगको रोककर सयोगवेवली जिन सूक्ष्म काययोगमे स्थित होते हैं ॥२११२॥

सूक्ष्मया लेक्ष्यया सूक्ष्मक्रियया बन्धकस्तदायां सूक्ष्मक्रियं ध्यानं ध्याति ॥२११३॥

सुहृमकिरिएण ज्ञाणेण णिरुद्धे सुहृमकायजोगे वि ।

सेलेमी होदि तदो अवधगो णिच्चलपदेसो ॥२११४॥

‘सुहृमकिरियेण’ तेन ध्यानेन निरुद्धे सूक्ष्मकाययोगे निश्चलप्रदेशोऽव्ययका भवति । वधनिमित्तानाम-
भावान् ॥२११४॥

माणुसगदितज्जादिं पज्जत्तादिज्जसुभगजसक्तिं ।

अण्णादरवेदणीय तसमादरमुच्चगोदं च ॥२११५॥

‘माणुसगदि’ मनुष्यगतिं पञ्चेन्द्रियजातिं, पर्याप्तिमादेयसुभग, यथास्वीतिमन्यतरवेदनोप, त्रसदादर,
उच्चगोत्रं च वेदयते ॥२११५॥

मणुसाउम च वेदेदि अजोगी होदूण चेव तक्काल ।

तित्थयरणासहिदो ताओ वेदेदि तित्थयगे ॥२११६॥

मनुष्यायुश्च वेदयते अयोगी भूत्वा तीर्थकरलाममहितास्तीर्थकरो वेदयते ॥२११६॥

देहतियधधपरिमोक्खत्थं तो केवली अजोगी मो ।

उवयादि ममुच्छिण्णाकिरिय तु ज्ञाण अपडिवादी ॥२११७॥

देहतिप देहत्रिवन्धपरिमोक्षार्थं समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिध्यानं ध्याति ॥२११७॥

सो तेण पचमचाकालेण खवेदि चरिमज्झाणेण ।

अणुटिण्णाओ दूचरिमसमये मव्वाओ पपडीओ ॥२११८॥

गा०—सूक्ष्म लेख्याके द्वारा सूक्ष्मकाययोगमे वह सातावेदनीय कर्मका बन्ध करना है तथा
सूक्ष्मक्रिय नामक तीसरे शुबलध्यानको ध्याता है ॥२११३॥

गा०—उम सूक्ष्मक्रिय नामक शुबलध्यानके द्वारा सूक्ष्म काययोगका निरोध करके वह
शीलोका स्वामी होना है तथा आत्माके प्रदेशोंके निश्चल हो जानेमे उन्हे कर्मबन्धन नहीं होता,
क्योंकि कर्मबन्धके निमित्तोका अभाव है ॥२११४॥

गा०—उम समय अयोगकेवली होकर वह मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रिय जगति, पर्याप्ति, आदेय,
सुभग, यथा कीर्ति, साना या अमानावेदनीय, त्रम, वादर, उच्चगोत्र और मनुष्यायु इन ग्यारह
कर्म प्रकृतियोंके उदयका भोग करने है । और यदि तीर्थकर होने है तो तीर्थकर सहित धारह
प्रकृतियोंका अनुभवन करते है ॥२११५-१६॥

गा०—उमने पश्चात् अयोगकेवली परम औदारिक, तंजम और वामरंण इन तीन शरीरोंके
बन्धनमे छूटनेके लिये समुच्छिन्नक्रिय अप्रति पातो नामक चतुर्थ शुबलध्यानका ध्याने है इसका
दूसरा नाम व्युपरवक्रिया निवर्त्ती है ॥२११७॥

‘सो तेन’ स तेन पञ्चमानाकालेनानेन ध्यानेन क्षपयति द्विचरमसमये अनुदीर्घा सर्वा प्रवृत्तौ ॥२११८॥

चरिमसमयमि तो सो खवेदि वेदिज्जमाणपयडोओ ।

बारस तित्थयरजिणो एक्कारम सेम सव्वण्ह ॥२११९॥

‘चरिमसमयमि’ अत्ये समये क्षपयति वेद्यमाना प्रवृत्तीर्द्वादश तीर्थचरजिन । सोपसर्वता एकादश ।

‘नामक्खएण’ नाम्ना विनाशेन तैजसरोरवन्धो नश्यति । आयुष क्षयेण औदारिकवन्धनात् ॥२११९॥

णामक्खएण तेजोसरीरवधो वि हीयदे तस्स ।

आउक्खएण ओरालियस्स वधो वि हीयदि से ॥२१२०॥

त सो वधणमुक्को उड्ढ जीवो पओगदो जादि ।

जह एरण्डयधीय वधणमुक्क ममुप्पददि ॥२१२१॥

स्पष्टोत्तरायाद्वय ॥२१२०—२१२१॥

सग विजहणेण य लहुदयाए उड्ढ पयादि मो जीवो ।

जध आलाउ अलेओ उप्पददि जले णियुड्ढो वि ॥२१२२॥

‘सगजहणेण’ सगत्यागाल्पयुतयोर्द्धं प्रयाति जलनिमग्ननिर्लेपालानुवन ॥२१२२॥

झाणेण य तह अप्पा पओगदो जेण जादि सो उड्ढ ।

वेगेण पूरिदो जह ठाड्ढुकामो वि य ण ठादि ॥२१२३॥

‘झाणेण य’ ध्यानेनात्मा प्रयुक्तो यात्तूष्वं वेगेन पूरितो यथा न तिष्ठति स्यात्तुक्वामोपि ॥२१२३॥

गा०—दी०—इम ध्यानका काल ‘अ इ उ ऋ लृ’ इन पाच मात्राओंके उच्चारणमें जितना काल लगता है उतना है । इतने कालवाले उस अन्तिम ध्यानके द्वारा अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमें विना उदीरणाके सब ७२ कर्म प्रकृतियोंको खपाते हैं, उनका क्षयकर देते हैं, और अन्तिम समयमें तीर्थकर केवली बारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं तथा सामान्य केवली ग्यारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं ॥२११८-१९॥

गा०—उनके नामकर्मका क्षय होनेसे तेजस शरीर बन्धका भी क्षय हो जाता है । और आयुक्रमका क्षय होनेसे औदारिक शरीर बन्धका क्षय हो जाता है ॥२१२०॥

गा०—इस प्रकार बन्धनमें मुक्त हुआ वह जीव वेगमें ऊपरको जाता है जैसे बन्धनसे मुक्त हुआ एरण्डका बीज ऊपरको जाता है ॥२१२१॥

गा०—समस्त बर्म नोकर्मरूप भारमें मुक्त होनेके कारण हल्का हो जानसे वह जीव ऊपर को जाता है । जैसे मिट्टीके लेपमें रहित तूम्बी जलमें डूबनेपर भी ऊपर ही आती है ॥२१२२॥

गा०—जैसे वेगमें पूर्ण व्यक्ति ठहरना चाहते हुए भी नहीं ठहर पाता है वैसे ही ध्यानके

१. क्षीयदे मु० । २. भीयदि —मु० । ३. भगम्म विजहणेण —आ० ।

जह वा अग्निस्स सिंहा सहावदो चैव होहि उड्डगदी ।
जीवस्म तह सभावो उड्डगमणमप्पवसियस्स ॥२१२४॥

स्पष्टोत्तराया ॥२१२४॥

तो मो अविग्गहाए गदीए समए अणतरे चैव ।
पावदि जयस्स सिंहर खित्तं कालेण य फुसतो ॥२१२५॥

‘तो सो अविग्गहाए’ ततोऽज्ञावविग्रहया गत्या अनंतरसमय एव जगत्शिखर प्राप्नोति ॥२१२५॥

एव इहइ पजहिय देहतिग सिद्धखेत्तमुवगम्म ।
सन्वपरियायमुक्को सिज्झदि जीवो सभावत्यो ॥२१२६॥

‘एव इहइ’ एवमिह देहतिक विहाय सिद्धलक्ष्मणमप्य सर्वप्रचारविमुक्त सिध्यति जीव स्वभावत्य ॥२१२६॥

तस्याथ स्थानमाचष्टे—

ईसिप्पम्भाराए उवरिं अत्थदि सो जोयणम्म सीदाए ।
धुवमचलमजरठाण लोगसिंहरमस्सिदो सिद्धो ॥२१२७॥

‘ईसिप्पम्भाराए’ ईषत्प्राग्भाराया उपरि ग्यूनयोजने ध्रुवमवल स्थान लोकशिखरमास्थित सिद्ध ॥२१२७॥

प्रयोगसे आत्मा ऊपरको जाता है ॥२१२३॥

गा०—अथवा जैसे आगकी लपट स्वभावसे ही ऊपरकी जाती है वैसे ही कर्मरहित स्वाधीन आत्माका स्वभाव ऊर्ध्वगमन है ॥२१२४॥

गा०—कर्मों का क्षय होते ही वह मुक्त जीव एक समयवाली मोडे रहित गतिसे सात राजप्राण आकाशके प्रदेशोंका स्पृशं न करते हुए अर्थात् अत्यन्त तीव्रवेगसे लोकके शिखरपर विराजमान हो जाता है ॥२१२५॥

गा०—इस प्रकार इसी लोकमें तैजस, कर्मण और औदारिक शरीरोंको त्यागकर सप्त प्रकारके प्रचारसे मुक्त हुआ जीव, सिद्धिक्षेत्रमें जाकर अपने टकोत्कीर्ण ज्ञापक भाव स्वभावमें स्थित होकर मुक्त हो जाता है ॥२१२६॥

गा०—उस सिद्धिक्षेत्रके नीचे स्थित आठवी पृथिवीको कहते हैं—ईषत्प्राग्भार नामकी आठवी पृथ्वीके कुछ ऊपर एक योजन पर लोकका शिखर स्थित है जो ध्रुव, अचल और अजर है । उसपर सिद्ध जीव सिष्ठता है ॥२१२७॥

विशेषार्थ—आठवी पृथिवीका नाम ईषत्प्राग्भार है । मध्यमें उसका बाहुल्य आठ योजन है । दोनों ओर क्रमसे हीन होता गया है । अन्तमें अगुलके अमस्यातर्वे भाग प्रमाण अत्यन्त सूक्ष्म बाहुल्य रह जाता है । इस तरह ऊपरकी उठे हुए विशाल गोल श्वेत छत्रके समान उमका आकार है । उसका विस्तार पैंतालीस लाख योजन है । उसके ऊपर तीन वातवलय हैं । उनमेंसे तीन

धम्माभावेण दु लोमगो पडिहम्मदे अलोमेण ।

गदिमुचकुणदि हु धम्मो जीवाण पोम्मलाण च॥ २१२८॥

‘धम्माभावेण दु’ धर्मास्तिकायस्याभावे लोकाग्रं प्रतिहन्यते अलोकेन, यतो जीवपुद्गलानां गतेरूप-
कारको धर्मः स चोपरि नास्ति ॥२१२८॥

‘अ जस्स दु सठाणं चरिसरीरस्म जोगजहणम्मि ।

त सठाण तस्म दु जीवघणो होइ सिद्धस्स ॥२१२९॥

दसविधपाणाभावो कम्माभावेण होइ अच्छत्तं ।

अच्चतिगो य सुहदुक्खाभावो विगटदेहस्स ॥२१३०॥

दसविधानां प्राणानामत्यताभावेन भवति आत्यतिदुःखं सुखदुःखाभावः ॥२१२९-२१३०॥

अ गत्थि वधहेदु देहग्गहणं ण तस्स^१ तेण पुणो ।

कम्मकलुसो हु जीवो कम्मकदं देहमादियदि ॥२१३१॥

‘अ गत्थि वधहेदु’ यन्नास्ति वधकारणं तेन न मुक्तस्य देहग्रहणं, कर्मवृत्तीकृतो हि जीवः कर्म-
वृत्तदेहमादत्ते ॥२१३१॥

कज्जाभावेण पुणो अच्छत्त गत्थि फदण तस्म ।

ण पओगदो वि फदणमदेहिणो अत्थि सिद्धस्स ॥२१३२॥

कोस विस्तार वाले दो वातवलयोंके ऊपर एक हजार पाच सौ पिचहत्तर धनुष विस्तार वाला तीसरा तनुवातवलय है। उसके पाच सौ पच्चीस धनुष मोटे अन्तिम भाग में सिद्ध भगवान् विराजते हैं ॥२१२७॥

गा०—धर्मद्रव्य लोकके अग्रभाग तब ही है। अतः मुक्तजीव लोकाग्रमे आगे अलोकमे नहीं जाता, क्योंकि धर्मद्रव्य गति करते हुए जीवों और पुद्गलोकी गतिमे उपकार करता है ॥२१२८॥

गा०—मन वचन काययोगोका त्याग करते समय ध्योगी गुणस्यानमे जैमा अन्तिम शरीरका आकार रहता है, उस आकाररूप जीवके प्रदेसोका, धनरूप सिद्धोका आकार होता है ॥२१२९॥

गा०—मिद्ध भगवान्के कर्मोंका अभाव होनेसे दस प्रकारके प्राणोका संवंधा अभाव है। तथा शरीरका अभाव होनेसे इन्द्रिय जनित सुखदुःखाका अभाव है ॥२१३०॥

गा०—मुक्तजीवके कर्मबन्धका कारण नहीं है। अतः वह पुनः शरीर धारण नहीं करता। क्योंकि कर्मों से बद्ध जीव ही कर्मवृत्त शरीरको धारण करता है ॥२१३१॥

गा०—मिद्ध जीवोको कुछ करना शेष न होनेसे उनमे हलन चलनका अत्यन्त अभाव है।

१ एवा दीराकारी नेच्छति । २ स होदि पुणो -अ०, आ० ।

‘कञ्जाभावेण पुणो’ कार्याभावेन तत्स्पदन नास्ति तत्त्व न च परप्रयोगगतमपि स्पदनमस्त्यदेहस्य सिद्धस्य ॥२१३३॥

कालमणतमधम्मोपगहिदो णदि गयणमोगाहो ।

मो उवकारो इहो ठिदिसभावो ण जीवाणं ॥२१३३॥

‘कालमणत’ अनन्तकाल अधर्मास्तिसाधोपगृहीत गणतमनुप्रविष्ट तिष्ठति । ‘उवकारो इहो’ अधर्मा-
न्तिकार्येण सपाद्यउपकार अधम्यान्लक्षण इदं यस्मान् जीवस्य स्थितिव्यभावइवेनन्यादिवन् ॥२१३३॥

तेलोक्कमत्थयत्थो तो सो सिद्धो जग णिरवसेस ।

सव्वेहिं पज्जएहिं य सपुण्ण सव्वदव्वेहिं ॥२१३४॥

‘तेलोक्कमत्थयत्थो’ त्रैलोक्यमस्तकम्य ततोऽप्यो जगन्निरवसेय सर्वे पर्यायस्त्वैर्द्रव्यैस्सपूण ॥२१३४॥

पस्सदि जाणदि य तहा तिणिं वि काले सपज्जए मव्वे ।

तह वा लोमममेस पस्सदि भयव विगदमोहो ॥२१३५॥

‘पस्सदि जाणदि’ पश्यति जानाति च कालत्रये पर्यायमहितानयोपास्तथा चालोकमसोप पश्यति भगवान्
विगतमोह ॥२१३५॥

भावे मगविसयत्थे सरो जुगव जहा पयासेइ ।

सव्वं वि तथा जुगव केवलणाण पयासेदि ॥२१३६॥

‘भावे मगविसयत्थे’ आत्मगोचरस्थान् भावान् सर्वो युगपदया प्रकाशयति तथा सर्वमपि ज्ञेय
युगपत्केवलज्ञान प्रकाशयति ॥२१३६॥

गदरागदोसमोहो विमओ विमओ णिरुस्सओ विरओ ।

घुघजणपरिगोदगुणो णममणिज्जो तिलोगस्स ॥२१३७॥

और वे शरीर रहित हैं । अत वायु आदिके प्रयोगसे भी उनमें हलन चलन नहीं होना ॥२१३२॥

गा०—सिद्ध जीव जो अनन्तकाल तक आकाशके प्रदेशोंको अवपाहित करके ठहरा रहता है सो यह अवस्थान रूप उपकार अधर्मास्तिसाधका माना गया है, क्योंकि जैसे जीवका स्वभाव चैनन्य आदि है उस प्रकार जीवका स्वभाव स्थिति नहीं है ॥२१३३॥

गा०—तीनों लोकोंके अस्तकपर विगजमान वह सिद्ध परमेष्ठो समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायोंसे सम्पूर्ण जगतको जानते देखते हैं । तथा वे मोहरहित भगवान् पर्यायोंसे सहित तीनों कालोंको और अमन्त अलोकको जानते हैं ॥२१३४-३५॥

जैसे मूल अपने विषयगोचर सब पदार्थों को एक साथ प्रकाशित करता है वैसे ही वेवत ज्ञान सब पदार्थोंको एक साथ प्रकाशित करता है ॥२१३६॥

‘गदरागदोसमोहो’ दूरीकृतरागद्वेषमोह, ‘विभजो’ विगतभय ‘विमजो’ विगतमद, क्वचिदप्यनुत्सुका
निरस्तकर्मरज पटल, बुधजनपरिगोतगुण’ विष्टपत्रयेण नमस्करणीय ॥२१३७॥

णिव्वावइत्तु ससारमहग्गि परमणिव्वुदिजलेण ।

णिव्वादि सभावयो गदजाडजरामरणरोगो ॥२१३८॥

‘णिव्वावइत्तु’ क्षयमुपनीय ससारमहाग्नि परमनिर्वृतिजलेन तृप्यति स्वरूपस्यो विनष्टवार्ति-
जरामरणरोग ॥२१३८॥

जावं तु किञ्चि लोए सारीर माणस च सुहदुक्खं ।

त सव्व णिज्जिण्णं असेमदो तस्स सिद्धस्स ॥२१३९॥

‘जावं तु किञ्चि लोए’ यावत् किञ्चित्लोदे शारीर मानस वा यत्सुख दुःख च तत्सर्वं निर्जीर्ण निरव-
शेष । प्रकारवासन्यनिरासायमशेषग्रहण ॥२१३९॥

ज णत्थि सव्वबाधाओ तस्स सव्व च जाणइ जदो से ।

ज च गदज्झवसाणो परमसुही तेण सो सिद्धो ॥२१४०॥

‘ज णत्थि सव्वबाधाओ’ यन् सन्ति सर्वबाधा, सब च यतो जानाति, यच्चापगदाध्यवसान, तैदामी
निद्ध परमसुखी भवति ॥२१४०॥

परमिद्धिपत्ताणं मणुगाण णत्थि त सुह लोए ।

अन्वायाधमणोवमपरमसुह तस्स सिद्धस्स ॥२१४१॥

‘परमिद्धिपत्ताणं’ परमार्थि चक्रलाघ्नतादिका प्राप्तानामपि मनुजाना नास्ति उत्सुख लोके यदनु-
पन तस्य सिद्धस्य सुखमन्वायाधम् ॥२१४१॥

गा०—जिन्होने रागद्वेष मोहको दूरकर दिया है, जो भय रहित, मदरहित, उत्कण्ठा
रहित और कर्मरूप धूलिपटलसे रहित है तथा जानीजन जिनका गुणगान करते हैं वे सिद्ध भगवान्
तीनों लोकोंके द्वारा वन्दनीय हैं ॥२१३७॥

गा०—परम निर्वृतिरूप जलसे मसाररूपो महान् अग्निको बुझाकर तथा जन्म-जरा-मरण
रोगोको नष्ट करके अपने स्वरूपमें स्थित मुक्तात्मा निर्वाणको प्राप्त करते हैं ॥२१३८॥

गा०—मसारमें जितना भी शारीरिक और मानसिक सुखदुःख है वह सब पूर्णरूपसे उस
सिद्ध परमेष्ठीके नष्ट हो चुका है ॥२१३९॥

गा०—क्योंकि निद्ध परमेष्ठीके समस्त बाधाएँ नहीं हैं, और वह समस्त वस्तुओंको जानने
है तथा अध्यवसान-विवल्यवासनाने रहित है । अतः वे परमसुखी हैं ॥२१४०॥

गा०—उन सिद्धोंके जो बाधा रहित अनुपम परम सुख है वह सुख इस लोकमें परमार्थि
चक्रवर्तित्व आदिको प्राप्त मनुष्योंके भी नहीं है ॥२१४१॥

देविंदचक्रवर्ती इदियसोक्तं च ज अणुहवति ।

सद्वसंरुवगधष्करिसप्पयमुत्तम लोए ॥२१४२॥

‘देविंदचक्रवर्ती’ देवेन्द्राश्चक्रवर्तिनश्च यदिन्द्रियसुखमनुभवति दम्बरगरूपगन्धस्पर्शात्मक लोने प्रयात ॥२१४२॥

अव्वावाध च सुह सिद्धा ज अणुहवति लोगगे ।

तस्म हु अणतभागो इंदियसोक्क तय होज्ज ॥२१४३॥

‘अव्वावाध सुह’ अव्वावाधात्मक सुख यत्सिद्धा लोकाग्नेज्जुभवति तस्यानतभागो भवति तदिन्द्रियसुख पूर्वव्यापितम् ॥२१४३॥

ज सव्वे देवगणा अच्छरमहिंया सुह अणुहवति ।

तत्तो वि अणत्तगुण अव्वावाह सुह तस्स ॥२१४४॥

‘ज सव्वे देवगणा’ यत्सुखमनुभवति साप्सरोगणा सर्वे दवास्तदोऽप्यनन्तगुण तस्य सिद्धस्या-
यावाधसुखम् ॥२१४४॥

तीसु वि कालेसु सुहाणि जाणि माणुमतिरिक्खदेवाण ।

सव्वाणि ताणि ण समानि तस्म रागमित्तसोक्खेण ॥२१४५॥

‘तीसु वि कालेसु’ त्रिष्वपि कालेषु यानि मानवाना, तिरस्त्रा, दवाना च सुखानि सर्वाणि तानि न
समानि सिद्धस्य क्षणमात्रेण सुखेन ॥२१४५॥

ताणि हु रागविवागाणि दुक्खपुण्वाणि चैव मोक्खताणि ।

ण हु अत्थि रागमभवहत्थिदूण किं वि वि सुह णाम ॥२१४६॥

‘ताणि रागविवागाणि’ तानि रागविवाकानि रागस्य दुःखहेतोजनकानि, एतेन दुःखानुगृहितं

गा०—इस लोकमें देवेन्द्र और चक्रवर्ती शब्द रस रूप गन्ध और स्पर्श अन्य जिस उत्तम
इन्द्रिय सुखको भोगते हैं, तथा लोकके अग्रभागमें स्थित सिद्ध जिस बाधा रहित सुखको भोगते
हैं उनके मामले वह इन्द्रिय सुख उसका अनन्तवां भाग भी नहीं है ॥२१४२-४३॥

गा०—अप्सरारोंके साथ सब देवगण जिस सुखको भोगते हैं उसमें भी अनन्तगुण बाधा
रहित सुख सिद्धोंको होता है ॥२१४४॥

गा०—सब मनुष्यों त्रियंशो और देवोंको तीनो कालोंमें जितना सुख होता है वह सब
सुख सिद्धोंके एक क्षणमात्रमें होनेवाले सुखके भी बराबर नहीं है ॥२१४५॥

गा०—मनुष्यादिके होनेवाला सुख रागका जनक है और राग दुःखका कारण है जत

नामैन्द्रियसुखानां दायोर्ग्राहित । दुःखपूर्वाणि न हि क्षुधादिदुःखमन्तरेण अगनादिकं प्रीतिं जनयति । न चास्ति रागमनपाकृत्य सुखं नाम किञ्चित् ॥२१४६॥

इन्द्रियसुखस्वरूपमभिधाय अतिन्द्रियसुखं व्यावर्णयति—

अनुत्तमममेयमवख्यममलमजरमरुजमभयमभव च ।

एयतियमच्चतियमन्वावाध सुहमजेय ॥२१४७॥

‘अनुत्तमममेय’ तत्समानस्य तदधिकम्याभावात् सुखस्य तदनुपम, छद्मस्थज्ञानैर्मातुमशक्यत्वादमेय, प्रतिपदाभूतस्य दुःखस्याभावादभय, रागादिमलभावादमल, जरारहितत्वादजर, रोगाभावादरुज, भयाभावादभय, भवाभावादभव, ऐकान्तिक दुःखस्य सहायस्याभावादैकान्तिकमसहाय अन्वावाधरूपं तत्सुख ॥२१४७॥

विमर्हि से ण कज्ज ज णत्थि छुदादियाओ बाधाओ ।

रागादिया य उवभोगहेदुगा णत्थि ज तस्स ॥२१४८॥

‘विमर्हि से ण कज्ज’ शब्दादिभिर्विपर्ययं न कार्यं यतः सिद्धस्य न सति क्षुधादिना बाधा, रागादयश्च विषयोपभोगहेतवो न सन्ति यस्मात्तस्य ॥२१४८॥

एदेण चेव भणिदो भासणचक्रमणचित्तणादीण ।

चेट्ठाण सिद्धमि अभावो हदसव्वकरणमि ॥२१४९॥

‘एदेण चेव भणिदो’ एतेनैकोक्तः भाषण-चक्रमण-चित्तनादीनां चेष्टानामभावः सिद्धे हतसर्व-क्रिये ॥२१४९॥

इन्द्रियमुख दुःखको लानेवाला है तथा दुःखपूर्वक होता है। अर्थात् पहले दुःख होता है तब वह मुख होता है क्योंकि भूय व्यास आदिका दुःख हुए बिना भोजनादि प्रिय नहीं लगते। रागभावके बिना मसारमे किञ्चित् भी मुख नहीं है ॥२१४६॥

इन्द्रिय मुखका स्वरूप कहकर अतीन्द्रिय मुखको कहते हैं—

गा०—टी०—उसके समान या उसमें अधिक सुखका अभाव होनेसे अतीन्द्रिय मुख अनुपम है। छद्मस्थ जीवोंके ज्ञानके द्वारा उसका माप करना अवश्य होनेसे अमेय है। उसके विराधी दुःखका अभाव होनेसे वह अक्षय है—उसका कभी नाश नहीं होता। उसमें रागादिमलका अभाव होनेसे वह अमल है। उसमें जरा रागका भय न होनेसे वह अजर है। रोगका अभाव होनेसे अरुज है। भयका अभाव होनेसे अभय है। पुनर्भव न होनेसे अव्यय है। उसके साथमें दुःख न होनेसे ऐकान्तिक है। अनन्तकाल तक रहनेसे आत्यन्तिक है—ऐसा वह अव्यावाधिरूप सुख होता है ॥२१४७॥

गा०—मिद्धोमे यद्वादि विषयोमे कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि सिद्धोको भूय व्यास आदि की बाधा नहीं होती तथा विषयोंके उपभोगके कारण राग आदि भी नहीं है ॥२१४८॥

गा०—इमीमे सब प्रकारकी क्रियाओंसे रहित मिद्धोमे बोलना, चलना-फिरना तथा विचारना आदि भी नहीं है ॥२१४९॥

इय सो खाड्यमम्मत्तमिद्धदाविरियदिट्ठणणेहिं ।

अच्चतिगेहि जुत्तो अच्चावाहेण य सुहेण ॥२१५०॥

‘इय सो खाड्य’ एवमसौ क्षायिकेण सम्यक्त्वेन सिद्धतया वीर्येण अनन्तज्ञानाद्यनन्तदर्शनेन चात्यन्तिकेन युक्तोऽप्यावाधेन मुक्तेन ॥२१५०॥

अकमायत्तमवेदत्तमकारकदा विदेहदा चेव ।

अचलत्तमलेवत्त च ह्ति अच्चतियाइ से ॥२१५१॥

‘अकसायत्व’ अकपायत्व, अवैदत्वमकारकता विदेहता अचलत्वमलेपत्व च आत्यन्तिकं तस्य भवति । क्लेशादिनिमित्तानां कर्मणा प्राक्तनानां विनाशादभिनवानां वाऽभावादकपायत्वमात्यन्तिक एवमेवावदत्त्व । साध्यस्यापरम्याभावादकारकत्व । प्राक्तनस्य शरीरस्य विलीनत्वाद्देहान्तरकारिण कर्मणोऽभावाद्विदहनया अवस्थान्तरप्राप्तिनिमित्तादभावादचलत्व । कमनिमित्तपरिणामाभावात् प्राक्तनानां च कर्मणा विनाशादलेपत्वमप्यात्यन्तिकम् ॥२१५१॥

जम्ममरणजलोपं दुक्खपरकिलेससोगीचीय ।

इय संसारसमुद् तरति चदुरगणावाए ॥२१५२॥

‘जम्ममरणजलोप’ जन्ममरणजलोप दुःखसकलेशजोऽवीचिक संसारसमुद्र सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्र-सप्तसंज्ञितचतुर्दशभावा तरन्ति ॥२१५२॥

एवं पण्डिदपण्डिदमरणेण करति मच्चदुक्खाण ।

अतं गिरतराया णिव्वाणमणुत्तर एत्ता ॥२१५३॥

शा०—इन प्रकार वह मिद्ध परमेष्ठी क्षायिक सम्यक्त्व, मिद्धत्व, अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अव्यावाध मुखमे युक्त होने हैं । ये सब आत्यन्तिक होते हैं, इनका कभी विनाश नहीं होता ॥२१५०॥

शा०—टी०—क्लेश आदिमे निमित्त पूर्व कर्मोंका विनाश होनेमे और नवीन कर्मोंका अभाव होनेसे मिद्धोमे आत्यन्तिक अकपायत्व है । इसी प्रकार आन्यन्तिक अवैदत्व है । उनके लिये कोई करने योग्य कार्य शेष न रहनेसे अकारकत्व भी सदा रहता है । पूर्व शरीरका विनाश होनेसे और नवीन शरीरको उत्पन्न करनेवाले कर्मका अभाव होनेसे सिद्धोमे सदा विदेहता है । अन्य अवस्थाको प्राप्त होनेमे निमित्तका अभाव होनेसे सदा अचल है । उनके कर्मके निमित्तमे होनेवाले परिणामोंका अभाव होनेसे तथा पूर्वके कर्मोंका विनाश होनेसे वे सदा लेपरहित होने हैं ॥२१५१॥

शा०—जिममे जन्म मरणरूपी जलका समूह भग है, दुःख सकलेश और शोकरूपी लहरें उठा करती हैं, उस समाररूपी समुद्रको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् स्वरूपी नावसे पार करते हैं ॥२१५२॥

‘एष पण्डितपण्डितमरणेण’ एवमुक्तेन ब्रमे” पण्डितपण्डितमरणेण सर्वदुःखानामन्तं बुवंति । निरन्तराया निविघ्ना निर्विघ्नमनुत्तरं प्राप्तादयः । एतेन पण्डित-पण्डितमरणं व्याख्यात । ‘पण्डितपण्डितमरणं गद’ ॥२१५३॥

एव आराधिता उक्कस्माराहणं चटुक्खंधं ।

कम्मरयविप्पमुक्का तणेव भवेण सिज्झंति ॥२०५४॥

‘एष आराधिता’ एवमाराध्य । ‘उक्कस्माराधय’ उत्कृष्टाराधना । ‘चटुक्खंध’ समीचीनदर्शननाम चरणतपोनिधानं चतुष्कत्वं । ‘कम्मरज्जविप्पमुक्का’ कमरज्जोविप्रमुक्तामस्तेनैव भवेन सिध्यन्ति ॥२१५४॥

आराधयित्तु धीरा मज्झिममाराहणं चटुक्खंधं ।

कम्मरयविप्पमुक्का तदिणं भवेण सिज्झंति ॥२१५५॥

आराधयित्तु धीरा अहण्णमाराहणं चटुक्खंधं ।

कम्मरयविप्पमुक्का सत्तमजम्भेण सिज्झंति ॥२१५६॥

आराधयित्तु धीरा’ आराध्य धीरा जयन्त्यामाराधनां चतुष्कथां कमरज्जोविप्रमुक्ता सप्तमेन जन्मना सिध्यन्ति ॥२१५५-२१५६॥

एव एमा आराधणा ममेदा ममामदो बुत्ता ।

आराधणाणिवद्दं सव्वपि हुं होदि सुदणाण ॥२१५७॥

‘एव एसा’ एवमेवा आराधना सप्रभेदा ममामदो निरूपिता । आराधनायामस्या निबद्धं सर्वमपि श्रुतज्ञानं भवति ॥२१५७॥

आराधणं असेमं वण्णेदुं होज्जं को पुणं ममत्थो ।

सुदकेवलीं वि आराधणं असेमं ण वणिज्जं ॥२१५८॥

गा०—इमं प्रकार वे क्षणिक पण्डितपण्डितमरणसे सब दुःखोका अन्त करतें हैं और बिना वाधावे उत्कृष्ट निर्वाणको प्राप्त करतें हैं ॥२१५३॥

गा०—इमं प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य और सम्यक् तत्पर चार प्रकारकी उत्कृष्ट आराधनाकी आराधना करके कमरूपी धूलिमें छूटकर उसी भवसे मुक्ति प्राप्त करतें हैं ॥२१५४॥

गा०—उक्त चार भेदरूप मध्यम आराधनाकी आराधना करके धीर पुण्य कमरूपी धूलिमें छूटकर तीसरे भवमें मुक्ति प्राप्त करतें हैं ॥२१५५॥

गा०—उक्त चार भेदरूप जयन्त्या आराधनाकी आराधना करके धीर पुण्य कमरूपी धूलिमें छूटकर सातवें भवमें मुक्ति प्राप्त करतें हैं ॥२१५६॥

गा०—इमं प्रकार इस भेदमय आराधनाका मध्येमे वचन दिया । इन आराधनामें जो कुछ कहा गया है वह सब श्रुतज्ञान है ॥२१५७॥

आराधन असेत निरवशेषामाराधना वर्णयितुं कस्मय्यो भवेत्, श्रुतवेत्तपि निरवशेष न वर्णयन् ॥२१५८॥

अञ्जलिगणिदिगणि-सच्चमुत्तगणि-अञ्जमित्तणदीण ।

अवगमिय पादमूले सम्म सुत्त च अत्थ च ॥२१५९॥

‘अञ्जलिगणिदि’ आचार्यजितनदिगणिन, सच्चमुत्तगणिन, आचार्यमित्रनदिनरत्न पादमूले सम्मगुप्त श्रुत वावगम्य ॥२१५९॥

पुष्पायरियणिवद्धा उवजीवित्ता इमा समचीए ।

आराधणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रहदा ॥२१६०॥

‘पुष्पायरिय’ पूर्वाचार्यवृत्तामिव उपजीव्य इय आराधना स्वराक्ष्या शिवाचार्येण रचिता पाणि-तलभोजिना ॥२१६०॥

छदुमत्थदाए एत्थ दु ज वद्ध होज्ज पवयणविरुद्ध ।

सोवेंतु सुगीदत्था पवयणवच्छलदाए दु ॥२१६१॥

‘छदुमत्थदाए’ छदस्यतया यदत्र प्रवचननिवर्तनवद्ध (विन्द) भवेत् तत्सुगृहीतार्था शोधयतु प्रवचन-वत्सलतया ॥२१६१॥

आराधणा भगवदी एव भत्तीए वणिणदा सत्ती ।

संघस्स शिवजस्स य समाधिवरमुत्तम देउ ॥२१६२॥

‘आराधणा भगवदी’ आराधना भगवती एव भक्त्या कीर्तिना मन्वगुप्तगणिन मधस्य शिवाचार्यस्य च विपुला सकलजनप्रार्थनीया अव्यावाधमुता मिद्धि प्रयच्छतु ॥२१६२॥

गा०—मेरे समान कौन अल्पश्रुतज्ञानी सम्पूर्ण आराधनाका वर्णन करनेमें समर्थ हो सकता है। श्रुतकेवली भी सम्पूर्ण आराधनाको नहीं कह सकते। अर्थात् भगवान् सर्वज्ञ हो आराधनाका सर्वस्व वर्णन कर सकते हैं ॥२१५८॥

गा०—आर्य जितनन्दिगुणि, सर्वगुप्त गणि, और आर्य मित्रनन्दीके पादमूलमें सम्यक् रूपमें धृत और उनके अर्थको जानकर पूर्वाचार्यके द्वारा रची गई आराधनाको आधार बनाकर हस्त-पुटमें आहार करनेवाले मुझ शिवाचार्यने अपनी शक्तिमें इस आराधना ग्रन्थको रचा ॥२१५९-६०॥

गा०—छदस्य अर्थात् अल्पज्ञानी होनेमें इसमें जो कुछ आगमके विरुद्ध लिखा गया हो, उसे आगमके अर्थको सम्यक् रूपसे ग्रहण किये हुए ज्ञानोजन मुद्राग्नेको कृपा करें ॥२१६१॥

गा०—इस प्रकार भक्तिपूर्वक वर्णनको हुई भगवती आराधना सर्वगुप्त गणीके मधको तथा रचयिता शिवाचार्यकी ममस्त जनोंमें प्रार्थनीय अव्याग्रथ मुख्य रूप मिद्धिको प्रदान करें अर्थात् उनके प्रमादमें हम सबको मुक्तलब्ध्यागकी प्राप्ति हो ॥२१६२॥

असुरसुरमण्युकिण्णररविसमिक्किपुरिसमहियवरचरणो ।
 दिसउ मम वोहिलाह जिणवरवीरो तिहुवणिंदो ॥२१६३॥
 खमदमणियमघराण धुदस्यसुहदुक्खविण्णुत्ताणं ।
 णाणुज्जोदियसल्लेहणम्मि सुणामो जिणवराणं ॥२१६४॥

गा०—जिनके पूजनीय चरणोंको असुर, सुर, मनुष्य, किन्नर, सूर्य, चन्द्र, और किम्पुत्य जातिके व्यन्तर पूजते हैं वे तीनों लोकोंके स्वामी वीर जिनेन्द्र मुझे बांधिलाभ प्रदान करें ॥२१६३॥

गा०—जिन्होंने स्वयं क्षमा, इन्द्रियदमन और नियमोंको धारण करके कर्ममलको नष्ट किया, तथा सासारिक सुख दुखसे रहित हुए और अपने ज्ञानके द्वारा सल्लेखनाको प्रकाशित किया उन जिन देवोंको नमस्कार हो ॥२१६४॥

भगवती आराधना समाप्त हुई ।

श्रीमदपराजितसूरेष्टीकाकृतः प्रशस्तिः

नमः सकलतत्त्वार्थप्रकाशनमहौजमे ।
 भव्यचक्रमहाचूडारत्नाय सुखदायिने ॥१॥
 श्रुतायाज्ञानतममः प्रोद्यद्भर्मशिवे तथा ।
 केवलज्ञानसाम्राज्यभाजे भव्यैक्यशिवे ॥२॥

चन्द्रनन्दिसहाकर्मभट्टाचार्यश्रिगण्येण आरातीयसूरिचूलागणिना नागनन्दिगणिपादपमोपनेषाजातमति-
 लवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिननामनोद्वरणधारेण सन्पयश प्रसरेण अपराजितसूरिणा श्रीनन्दिगणिनादबोधितेन
 रचिता आराधनाटीका श्रीविजयोदयानाम्ना समाप्ता ।

टीकाकार अपराजित सूरिकी प्रशस्ति

जो समस्त तत्त्वार्थोंको प्रकाशित करनेके लिये महान् प्रकाशरूप है, भव्य समुदायके लिये महान् शिरोमणि है, जिसे वे मिरपर धारण करते हैं, सुखको देनेवाला है, अज्ञानरूपी बन्धकारके लिये उगती हुई प्रकाश विरण है, जिसके द्वारा केवल ज्ञानरूपी साम्राज्य प्राप्त होता है तथा जो भव्य जीवोंका एकमात्र बन्धु है उस श्रुतको नमस्कार हो ।

जो चन्द्रनन्दि नामक महाकर्म प्रकृति आचार्योंके प्रशिष्य हैं, आरातीय आचार्यों के चूडा-
 मणि हैं, नागनन्दि गणिके चरण कमलोंकी सेवाके प्रसादसे जिन्हें ज्ञानका लेश प्राप्त हुआ, जो बलदेव सूरिके शिष्य हैं और जिन नामनका उद्धार करनेमें धीरवीर हैं, जिनका यश सर्वत्र फैला है, उन अपराजित सूरिने श्रीनन्दिगणिकी प्रेरणामें श्री विजयोदया नामक आराधना टीका रची ।

गाथानुक्रमणिका

अ	पृ० गा०		पृ० गा०
अकडुगमतित्तयमण	६९४ १८८५	अणुकपा सुद्धुवओगो	८१४ १८२८
अकदम्मि वि अवराये	५३० ९४१	अणुपालिदा य आणा	२८९ ३३८
अकसायत्तमवेदत्त	९०५ २१५१	अणुपालिदो य दीहो	१९७ १५६
अल्लिदममिडिदमव्वा	४३९ ६५१	अणुपुव्वेण य ठविदो	४५३ ६९८
अग्गिपरिक्खित्तादो	६४८ १३१६	अणुपुव्वेणाहार	२५७ २४९
अग्गिविसकिण्हसप्पा	४६३ ७२८	अणुवद्धरोमविग्गह	२२३ १८५
अग्गिविसकिण्हसप्पा	४६३ ७२९	अणुमाणेदूण पुक्क	६०७ ५७४
अग्गिविससत्तुसप्पा	७२५ १५०१	अणुलोमा वा सत्तू	११० ७१
अग्गो वि य ड्हिट्ठु जे	५३९ १८०	अणुवत्तणाए गुणवमणोहि	५३६ ९६२
अघमे समे अससिरे	४३४ ६४०	अणुवमममेयमक्खय	९०४ २१४७
अच्चेलक्क लोवो	११४ ७९	अणुसज्जमाणए पुण	४५३ ६९७
अच्छाहि ताव सुविहिद	३८३ ५१६	अणुसट्ठि दादूण	८७७ २०२८
अच्छिणिमेसणमित्तो	७४१ १६५७	अणुसुरो पडिसूरि	२४० २०४
अच्छीणि सघमिरिणो	४६३ ७३१	अण्णग्गि चावि एदा	११३ ७३
अज्ज जिणतदिगणि	९०७ २१५९	अण्णस्म अप्पणो वा	५०३ ८३०
अज्जवमाणट्ठाणत	७९३ १७७५	अण्णस्म अप्पणो वा	५४७ १०१७
अज्जवसाणविसुद्धीए	२६१ २५९	अण्ण अवरज्जतस्म	५१० ८५८
अज्जवसाणविसुद्धी	२६१ २६१	अण्ण इम सरीर	७४२ १६६५
अट्टे चउप्पमारे	७५५ १६९६	अण्ण मिण्हिदेह	७८९ १७६८
अट्ठपदेसे भुत्तूण	७९० १७७३	अण्ण च एवमादी य	४०१ ५६१
अट्ठदलिया छिगवक्क	८०७ १८१०	अण्ण पि तहा वत्थु	२९३ ३६०
अट्ठीणि होसि तिण्णि हु	५४८ १०२१	अण्ण व एवमादी	४०० ५५९
अडई गिरि दरि सागर	५१० ८५४	अण्णाणी वि य गोवो	८७४ ७५८
अणुण्णादग्गहण	६१० १०००	अण्णो वि वो वि ण गुणो	७३१ १६१९
अणसण अवमोयरिय	२३६ २१०	अत्यणिमित्तमदिभय	५७६ ११२३
अणिग्गहिद वलविरिया	२८१ ३००	अत्यम्मि हिंदे पुरिसो	५०९ ८५३
अणिदाणो ॥ मुणिवरो	६३८ १२७७	अत्याण वज्जणाण य	८३७ १८७९
अणिवित्तिकरणणाम	८९० २०८८	अत्याण वज्जणाण	८२६ १८७६
अणिद्वदपरगदहिदया	५३४ ९५४	अत्ये मतमिह मुह	५१० ८५५
अणिद्वदमणमा इदिय	८१० १८३२	अदिग्गहिदा वि दोसा	६७० १८०६

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
अदिल्लुयो वि दोमे	५०९	९३९	अन्मुजदचरियाए	३५९	४५८
अदिवडइ बल खिप्प	७६९	१७२१	अन्मुज्जदम्मि मरणे	४४२	६५९
अदिमयदाण दत्त	८९०	३२९	अन्मुद्दाण च रादो	२४४	२२९
अदिमज्जदो वि दुज्जण	२९९	३५०	अन्मुद्दाण किदियम्म	१६५	१२१
अद्धा णत्तेण-मावय	२८०	३०८	अभिजोमावणाए	८५९	१९५४
अद्धाणरोहणे जण	४२१	६१३	अभिगंदणादिया पच्च	७००	१५५०
अद्धाणमण सव्वा	२३६	२११	अभिभूदुल्लिगघ	५५२	१०४१
अद्धुवममरणमेगत्त	७६१	१७१०	अमणुण सपभोगे	७०५	१६०७
अध खवगसेटि	८९०	२०८७	अमुम्मि इच्चो काले	३९१	५३४
अध तेउ-पम्म-सुक्क	८४७	१९१७	अमुयतो सम्मत	८२२	१८३८
अध-ल्लोह सुहमकिट्ठि	८९१	२०९२	अम्मापिदुमरिमो मे	४५७	७१२
अधिगेमु वहुमु सनेमु	६७८	१४२३	अम्हे वि खमा वेमो	३०५	३८०
अपरिग्गहस्स भुणिणो	६११	१२०५	अयसंमणत्थ दुल्ल	५२०	९०१
अपरिस्माइ णिब्बावभो	३१९	४२०	अरन च अणवेला	२४०	२१८
अपरिस्माइ नम्म	२७३	२९६	अरहट्टपडो सरिमी	४१३	५९४
अप्पच्चओ जकित्ती	५०५	८४७	अरहतणमोवकाणे	४७२	७५४
अप्पपरियम्म उवधि	२११	१६५	अरहतसिद्ध आइरिय	५२०	९००
अप्पपमन परिहरह	२०९	३६१	अरहतमिद्धकेवलि	७३३	१६२८
अप्पाउगारोगिदया	४८८	७९७	अरहतसिद्धचेइय	८३	४५
अप्पा णिच्छरदि जहा	६९२	१४७७	अरहतमिद्धचेदिय	४६८	७४३
अप्पा दमिदो लोएण	१२४	९०	अरहतमिद्धभत्ती	२८५	३१९
अप्पायत्ता अज्जप्प	३३३	१२६३	अरहतसिद्धमाार	४०१	५६०
अप्पा य वचिजो तेण	६८५	१४४८	अरिहादि अनिातो	८७८	२०३२
अप्पो वि तवो वहुग	६८६	१४५८	अरिहे ल्लिगे मिक्खा	१०५	६६
अप्पो वि परम्म गुणो	३०४	३२५	अलिएहि हत्तिपवयणेहि	१३९	१६३
अवलत्ति हंदि ज मे	५३८	९७४	अलिय म क्विपि भणिय	५०९	८४१
अन्महियजादहानो	६५७	७१०	अवधिद्दाण णिरय	७३८	१६४४
अन्महादोहि विणा	५५३	१०४२	अवरण्ह स्कखटाहो	७६५	१७१९
अन्मतरवाहिग	५७०	११११	अववादियल्लिकदो	१२१	८६
अन्मतर वाहिरगे	६८४	१४४५	अवहट्ट अट्टरहे	७५५	१६९९
अन्मतरमोघोए	६५७	१३४३	अवहट्ट वायजोगे	७४९	१६८०
अन्मतरमोघोए	८४६	१९००	अविकत्थनो अणुणो	३०१	३६६
अन्मतर मोघोए	८४६	१९१०	अविगट्ट वि तव जो	२६१	२६०
अन्मावगाममयण	२४४	२२८	अवितक्कमवीचाए	८३८	१८८०

	पृ० गा०		पृ० गा०
अवियक्कमवीचार	८३९ १८८२	आ	
अवि य व्हो जीवाण	५२४ ९१६	आइरिय पादमूले	४१३ ५९५
अविरद सम्मादिट्ठी	६५ २९	आउघवामस्स उर	५७८ ११३०
अविरमण हिंसादो	८१० १८२०	आउज्वेदसमत्ती	४३० ६२६
अविसुद्ध भावदोमा	८५७ १९४५	आएसस्स तिरत्त	११७ ४१५
अविसुय असुत्तिर	८६१ १९६३	आएस एज्जत्त	३१४ ४१२
अब्बाघादममविद्ध	८९३ २०९८	आवपिय अणुमाणिय	४०३ ५६४
अब्बावाध च सुह	९०३ २१४३	आक्खेवणी कहा सा	४४० ६५५
अब्बोच्छित्तिणिमित्त	२६७ २७७	आक्खेवणी य सवे	४४० ६५४
असदि तणे चुण्णेहि	८६७ १९८६	आगमदो जो वालो	४१५ ६००
असमाधिणा व काल	४४८ ६७८	आगम माहप्पगओ	४४२ ६५८
असिधार व विम वा	७४२ १६६१	आगम सुदआणाघा	३५५ ४५१
असिजे दुविभक्खे वा	७०८ १५३७	आगतुगवच्छब्बा	३१५ ४१३
असुचि अपेच्छणिज्ज	५४६ १०१४	आगतुधरादीसु वि	४३४ ६३८
असुरसुरमणुसकिण्णर	६०८ २१६३	आगाढे उवसग्गे	८८५ २०६६
असुरपरिणामवहुलत्त	८३० १८५२	आगामभूमिउदधी	५३४ ९५७
असुहा अत्था कामा	८०६ १८०७	आगामम्मि वि पक्खी	७९३ १७७६
अह तिरियउड्डलोए	७६१ १७०९	आचेलक्कुहोसिय	३२० ४२३
अहव सुदिपाणय से	३४१ ४४७	आणक्खिदाय लोचेण	१२५ ९१
अहवा अप्प भासा	६३० १२५४	आणाभिक्खिणावज्ज	९३९ २१६
अहवा चारित्तारा	२४, ८	आणा मज्ज साखिल्लदा	२८२ ३१२
अहवा ज उम्भावेदि	५०१ ८२१	आणा हवत्तिपादीहि	४५४ ७०२
अहवा सण्हादिपरी	६९६ १४९६	आदट्टमेव चित्ते	३६९ ४८५
अहवा तल्लिच्छाइ	६४१ १२८७	आदपरसमुद्धारो	१४७ ११०
अहवा दसणाण्णच	२१३ १६९	आदहिदपइण्णा भाव	१३२ ९९
अहवा समाधिहेदु	४९६ ७०७	आदहिदमयाणतो	१३५ १०१
अहवा सयवुद्धोए	५०० ८१९	आदा कुल गणो	२५५ २४४
अहवा सरीरमेज्जा	२१५ १७१	आदाणे णिक्खेवे	८९७ ८१७
अहवा होइ विणामो	५८१ ११४८	आदाणे णिक्खेवे	५८२ ११५३
अह मावमेसरुम्मा	८४९ १९७४	आदित्तिय सुमघडणो	८७० २०३८
अहिमारएण णिवदिम्मि	८८६ २०६९	आदुर मल्ले मोमे	४७६ ६१८
अगमुदे य वट्ठविदे	३७७ ५०१	आपुच्छा य पडिच्छण	१०७ ६८
अतो वहि व मज्जे	५५३ १०६४	आवद्धाग्निदिदो वा	६७१ ११९७
अघलयरहिरमूतो	१७९ १३०	आमामण परिभासण	६३८ ६४८
		आमर्तण आणवणी	६०० ११८९

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
आमतेक्षण गर्ण	२६७	२७८	आलवणेहि भरिदो	८३४	१८७०
आमासयम्मि पक्का	५४४	१००६	आलोइद असेस	४०४	५६६
आयरिय उवज्झाए	५२०	८९७	आलोचणा गुणदोसे	३६५	४७६
आयरियत्तादिणिदाणे	६२३	१२३४	आलोयणाए सेज्जा	२१२	१९८
आयरियधारणाए	२८८	३०५	आलोयणापरिणदो	३१३	४०७
आयरियपादमूले	४१३	५९५	आलोयणापरिणदो	३१३	४०८
आयरियसत्थवाहेण	६४०	१२८४	आलोयणापरिणदो	३१३	४०९
आयरियाण बीसत्थदाए	३७३	८९०	आलोयणा हु दुविहा	३९२	५३५
आयविल्लिणव्वियणी	२६०	२५६	आलोचिदणिस्सल्लो	८०८	२०७८
आयविल्लेण सिअ	४५४	७००	आलोचिद अनेस	४१५	६०१
आयापायविदण्ह	१३८	१०५	आलोचिद असेस	४१५	६०५
आयार-जोद-कप्पगु	३१४	४११	आलोचेमि य सव्व	४०७	५७३
आयार-जोद-कप्पगु	१७१	१३२	आलोयण सुणित्ता	४२५	६१७
आयारत्थो पुण से	३३६	४०९	आलोयणादिया पुण	३९८	५५६
आयारवमादीया	३८८	५२८	आलोयणापरिणदो	३१३	४०६
आयारव च आधा-	३१८	४१९	आलोयणेण ह्रिदय	५६३	१०७९
आयार पचविह	३१९	४२१	आवडणत्थ जह ओ-	६२४	१२३७
आयासवेरभयदुव्व	३०३	३७२	आवडिया पडिक्कूला	७०१	१५१५
आरण्णओ वि नत्तो	४७६	७६२	आवसधे वा अप्पा	११४	७८
आरने जीववहो	४९७	८१४	आवादमेत्त सोक्खो	७४०	१६५५
आराधणपत्तोय	१५५	७०५	आवासयठाणादिमु	३१५	४१४
आराधणपत्तोय	८६७	१९८८	आवामय च कुणदे	८८१	२०४९
आराधण असेम	९०६	२१५८	आसयवसेण एव	२९८	३५८
आराधणाए तत्थ दु	८७५	२०२०	आसव मवर णिज्जर	७४	३७
आराधणापडाय	४७४	७५७	आमागिरिद्रुग्गाणि य	६४१	१२९८
आराधणापुरस्सर	४७०	७५२	आसादित्ता कोई	४५१	६९१
आराधणाविधी जो	८७५	२०१८	आसादिदा तथो होति	७३४	१६२९
आराधयित्तु धीरा	९०६	२१५५	आमी अणतम्बुत्तो	७२७	१६०१
आराधयित्तु धीरा	९०६	२१५६	आमोय महाजुद्धाड	५२९	९३६
आराहणाए कज्जे	४१	१९	आमीविसेण अवरद्धस्स	५१७	८८६
आराहणा भगवदी	९०७	११६२	आमीविमोव्व वुविदा	५३०	९४०
आल जणेदि पुरुमस्स	५३८	९७५	आमुक्कारे मरणे	८८८	२०७७
आलवण च वायण	७५९	१७०५	आहट्टिदूण चिरमवि	५२५	११९
आलगण च वायण	८३४	१८६९	आहागत्थ काळण	७३८	१६४६

पृ० गा०

७३७ १६४१
७३७ १६४२
७३६ १६३७
३३८ ४३७
७९८ १७९२

८९१ २०९०
८३४ १८७१
७४५ १६७५
६२३ १२३२
७२३ १५८२
३७५ ४९७
१६७ १२४
२४० २१९
६३८ १२७८
६९० १४७१
७३१ १६१७
७४७ १६८३
८७९ २०४०
७४२ १६६३
२२० १७९
५१४ ८७३
११५ ८०
६५९ १३४८
८०४ १७९८
३८० ५०९
३५९ ४५९
४१३ ५९३
८३३ १८६८
३९९ ५५५
६४६ १३०९
८०६ १८०५
१६९ १२८
४५८ ७१४

इय चरणमधक्ताद
इय जइ दोसे य गुणे
इय जो दोस लहुग
इय जे विराधयित्ता
इय ज्ञायतो खवओ
इय णिव्ववओ खवयस्स
इय दढ गुणपरिणामो
इय दुट्ठय मण जो
इय दुल्लहाए वोहोए
इय पच्छण पुच्छय
इय पण्णाविज्जमाणो
इय पपविभागयाए
इय पव्वज्जा भडि
इय पुव्वकद इणमज्ज
इय बालपडिय होदि
इय मज्झिममाराधण
इय मुक्खिमयमारा
इय समभावमुवगदो
इय सव्वसमिदकरणो
इय सणिरुद्धमरण
इय सामण्ण साहू
इय सो खवओ ज्ञाण
इय सो खाइयसम्मत्त
इय सव्वत्थवि सवर
इय सल्लीण मुवगदो
इरियादाणणिलेवे
इहइ परलोगे वा
इह परलोइय दुक्खाणि
इह परलोए जदि दे
इह य परत्त य लोए
इय य परत्त य लोए
इह य परत्त य लोए
इह य परत्त य लोए
इह य परत्त य लोए
इह य परत्त य लोए

पृ० गा०

८५२ १९३८
३६४ ४७४
४१० ५८३
८५९ १९५६
८४३ १८९७
३७९ ५०८
२८३ ३१६
१७७ १४१
८३३ १८६५
४११ ५८८
७४४ १६७३
४२४ ६१४
६३९ १२८२
७३२ १६२३
८८८ २०८१
८५० १९२७
६४९ १९२३
८४३ १९००
१२१ ८५
८७२ २००९
४२ २१
८८० १८८४
९०५ २१५०
८२३ १८३९
२४९ २३५
१२९ ९५
६३४ १२६६
७३७ १६४३
५६७ ११०१
६७५ १४१३
६७८ १४२१
६७८ १४२५
६८० १४३०
६८० १४३३
६८६ १४५३

इ

आहारत्थ पुरिसो
आहारत्थ मज्जा
आहारत्थ हिंसइ
आहारमओ जोवो
आहिइय पुरिसस्स य
इगविगतिगच्छरिदिय
इच्चेवमदिवकतो
इच्चेवमाइ कवच
इच्चेवमादि भविचित्तयदो
इच्चेवमादि दुक्ख
इच्चेवमादि दोसा
इच्चेवमादि विणओ
इच्चेवमादि विविहो
इच्चेवमेदमविचि
इच्चेव समणघम्मो
इच्चेव कम्मदओ
इट्ठेसु अणिट्ठेसु य
इड्ढिमतुल विउड्ढिय
इण्हि पि जदि ममात्ति
इत्तिरिय सव्वगण
इत्थि विणयाभिलासो
इत्थी वि य ज लिग
इदि पचहि पचहदा
इय किं पर लोगे वा
इय अट्ठगुणो वेदो
इय अप्प परिस्सममम
इय अव्वत्त जइ सा
इय आलवण मणुपेहा
इय उजुभावमुवगदो
इय एदे पचविधा
इय एस लोगवम्मो
इय एमो पच्चक्खो
इय स्वामिय चेरम

	पृ९ गा०		पृ० गा०
इह लोइय परलोइय	५०७ ८४५	इ दिय मामग्गीवि	७६४ १७१६
इह लोए परलोए	८८० २०४५	इ दियसुह साउलओ	२२७ १९१
इह लोए वि भह्ल्ल	५२७ ९२९		
इहलोग वधवा ते	७७५ १७४६	ई	
इहलोगिय परलोगिय	८०७ १८०८	ईसप्पम्भाराए	८९९ २१२७
इगालो धोव्वते	५५२ १०३८	ईमालुयाए गोवव	५३१ ९४४
इगालो धुव्वते	८०८ १८११		
इदियकसायउवधीण	२१४ १७०	उ	
इदियकसायगुरुगत्त	६४१ १२८९	उक्कूवेज्ज व सहसा	३३९ ४४१
इदियकसायगुरुगत्त	६४२ १२९४	उक्कस्सएण छम्मासाउग	८९४ २१०३
इदियकसायगुरुगत्त	६८४ १३०१	उक्कस्सएण भत्तप	२५१ २५४
इदियकसायगुरुगत्त	६४५ १३०६	उक्कस्सा केवल्लिणो	९५ ५०
इदियकसायचोरा	६७२ १४०१	उगम उप्पादण एसणा	२४५ २३२
इदियकसायजोगणि	७५६ १७००	उगम उप्पादणएसणा	३१८ ४१७
इदियकसायणिग्गह	६५६ १३३९	उगम उप्पादणएसण	४३२ ६३५
इदियकसायदुह तस्सा	६७० १३९१	उगम उप्पायणए	६०४ ११९१
उदियक्क तामदोमेहि	६४६ १३०७	उगगाहितस्सुदधि	५६८ ११०३
इदियकसायदोस	६५५ १३३८	उच्चत्तणम्मि पीदी	६२० १२२६
इदियकसायदुह तस्सा	६७० १३९०	उच्चत्तण व जो णीच	६२० १२२७
इदियकसायपणिषा	१४६ ११४	उच्चासु व णीचामु व	६१८ १२२३
इदियकसायपण्णग	६७० १३९२	उज्जस्सो तेजस्सी	३६८ ४८०
इदियकसायमइला	६५६ १३४०	उज्जुय भावम्मि असत्त	५३६ ९६७
इदियकसायमइओ	६५२ १३२६	उज्जावणमुज्जवण	७ २
इदियकसायवसगो	६१३ १३३०	उज्जति जत्थ हत्थी	७३० १६१३
इदियकसायवसगो	६५५ १३३६	उड्डहणा अदिच्चवला	६७२ १३९८
इदियकसायवसिया	६४६ १३०८	उड्डाहकरा येरा	३०७ ३८८
इदियकसायमग्णा	५६५ १०८८	उड्डे सअकवडिडय	३०९ ३९५
इ दियकसायहत्यो	६७३ १४०३	उण्ह वाद उण्ह	७०८ १५८३
इ दियकसायहत्यो	६७३ १४०४	उत्तग्गुण उज्जमणे	१५० ११८
इ दियकसायहत्यो	६७३ १४०५	उदए पवेज्जहि सिला	५३६ ९६६
इ दियकसायवग्घा	६७२ १४०२	उदयम्मि जायवडिडय	५६८ ११०२
इ दियमहोवसिट्ठो	६५२ १३२४	उद्धमणस्स ण रदो	७३९ १६५१
इ दियचोरपरद्धा	६४३ १२९५	उद्धमणस्स ण सुह	६३२ १०६१
इ दियदुह तस्सा	८१८ १८३१	उप्पाडिता धीरा	३६८ ८७३
इ दियमयमगेर	५८३ ११५७	उत्तमाग्गेज्ज व गुणमे	६९७ १४९८

पृ० गा०	पृ० गा०
उम्मगदेमणो मग	२२४ १८६
उम्मत्तो होइ णरो	५८२ ११५१
उयसय पडिदावण्ण	८६३ १९७२
उलाव समुवल्लावार्हि	५६३ १०८२
उल्लीणोल्लीणेहि	२५६ २०८
उवएमो पुण आयरि	८८२ २०५४
उवगहिद उवकरण	८६७ १९८७
उवगूहण ठिदिकरण	८१ ४४
उवगूहणादिया पुव्वुत्ता	१४६ ११३
उवसणेण वि माहरिदो	८८५ २०६४
उवममइ किण्ह मप्पा	४७५ ७६१
उवमम दयादमाउह	८१८ १८३०
उवमतवयणमगिहत्थ	१६८ १२६
उव्वादो तद्दिवम	३१८ ४१८
उस्मगियत्तिगकदस्म	११३ ७६
उत्सरइ जस्स चिरमवि	१११ ७४
उदुरकदपि सद्	५११ ८६३
ए	
एइदियेसु पच वि	७९५ १७८३
एए अणो य बहु	५४० ९८५
एक पदिव्वइ कण्णा	५४१ ९९१
एकम्मि वि जम्मि पदे	४७९ ७७४
एक्क पि अक्कवर जो	१०२ ६१
एक्क व दो व तिण्णि य	३११ ४०४
एगमवि भावसल्ल	३९४ ५४२
एकम्मि चैव देहे	६३५ १२६७
एगावगतिगचउ	७८८ १७६७
एगम्मि भवग्गहणे	४४९ ६८१
एगता सालोगा	८६० १९६२
एगुत्तमेटीए	२३८ २१४
एगो जइ णिज्जवओ	४४६ ६७३
एगो सयारगदो	३८५ ५२१
एदम्मि णवरि मुणिणो	२८७ ३१४
एदाउ अट्ठ पवग्गण	९७७ ११९९
एदाओ पच वि वज्जिय	२२५ १८८
एदारिमम्मि थेरे	४३० ६२८
एदासु फल कमसो	८६२ १९६७
एदाहि भावणाहि य	२१५ १८७
एदाहि भावणाहि हु	६१२ १२०७
एदाहि सदा जुत्तो	६०५ ११९४
एदे अत्थे सम्म	५५८ १०६३
एदे गुणा महल्ला	२९० ३३१
एदेण चैव भणिदो	९०४ २१४९
एदेण चैव पविट्ठा	६०५ ११९३
एदे दोमा गणिणो	३१० ३९८
एदे सव्वे दोसा	३१० ३९९
एदे सव्वे दोमा	५१३ ८६९
एदे सव्वे दोसा	५२७ ९३०
एदेसि दोमाण	५०७ ८४६
एदेसि दोसाण	५८५ ११६१
एदेमि लेस्माण	८४५ १९०४
एदेसु दससु णिच्च	३३५ ४२४
एद इगिणि मरण	८८३ २०५६
एयणेण मण	७५७ १७०३
एयत्त भावणाए	२३३ २०२
एयसमएण विघुणदि	४५८ ७१७
एयस्स अण्णो को	७०२ १५१९
एयाए भावणाए	२३५ २०६
एयाणेयमवगद	७६१ १७०८
एया वि मा समत्था	४६८ ७४५
एवमणुद्धदोसो	३९३ ५३०
एव जयाक्खादविधि	८४८ १९२०
एवमवक्खादविधि	८८३ २०५५
एवमवलायमाणो	२५० २३७
एवमवि दुल्लहपर	३३८ ४३४
एव अट्ठवि जामे	८८१ २०४७
एव अधियामेतो	७४६ १६७८
एव आउत्तिउत्ता	३०६ ३८६
एव आउत्तिउत्ता	६०७ १५०१

	पृ० गा०		पृ० गा०
एव आराविता	१०६ २१५४	एव पडियमरण	८८६ २०७१
एव आसुक्कारमरणे	८७५ २०१९	एव पि क्रीरमाणो	६९६ १४९५
एव इहइ पयहिय	८९९ २१२६	एव पिणद्धसवर	८२६ १८४९
एव उगम उप्पाद	२५६ २४७	एव भावमाणो	२३५ २०७
एव उवसग्गविधि	८८० २०४४	एव महाणुभावा	४४५ ६६९
एव एद सव्व	७२६ १५९७	एव मूढमदीया	८५८ १९५१
एव एदे अत्थे	५५८ १०६२	एव वासारत्ते	६३१ ६३०
एव एसा आराधणा	१०६ २१५७	एव विचारयित्ता	२०६ १५८
एव कदकरणिज्जो	५९० ११७५	एव विसग्गिभूद	५१५ ८७५
एव कदपरियम्मो	२६५ २७२	एव सदि परिणामो	२१० १६३
एव कदे णिमग्गे	३८२ ५१८	एव सम्म सहरस	६७५ १४१४
एव कसायजुद्धम्मि	८४० १८८६	एव सरीरसल्ले	२६० २५८
एव कालगदस्स दु	८६० १९६०	एव सव्वत्थेसु वि	७४९ १-९०
एव केई गिहिवा	६४९ १३१९	एव सव्वे देहम्मि	५५० १०३१
एव खवओ कवचेण	७४६ १६७७	एव सथारगदस्स	१९४ १४८८
एव खवओ सथारगओ	६९३ १४८४	एव सथारगदो	८५२ १९४०
एव खु बोसरित्ता	३९८ ५५३	एव सारिज्जतो	६९८ १५०३
एव च णिककमित्ता	८७७ २०२१	एव सुभाविदप्पा	८४८ १९१८
एव चदुरो चदुरो	८४६ ६७१	एव सुभाविदप्पा	७४८ १६८६
एव चेदट्ठस्मवि	५७९ ११३५	एस अखडियसोलो	३०४ ३७७
एव ज ज पस्सदि	५०८ ८४९	एस उवाओ कम्मा	६८६ १४४४
एव जाणतेण वि	३९० ५३१	एसणणिक्खेवादा	६०७ १२००
एव जो महिलाए	५६७ ११००	एसा गणघरथेरा	२७२ २९२
एव णादूण तव	६९० १४६९	एसा भत्तपइण्णा	८७६ २०२३
एव णिप्पडियम्म	८८४ २०६३	एसो सव्वसमासो	३०४ ३७६
एव णिप्पददरुण	८७४ २०१५		
एव तुज्ज उवएसेण	६९३ १४८०		
एव तु भावसल्ल	३६२ ४६८		
एव दसणमारुहत्तो	९३ ४७		
एव पडिअमणाए	४५९ ७१८		
एव पडिट्ठवित्ता	८६८ १९९०		
एव परजणदुक्खे	५२६ ९२४		
एव परिमगित्ता	३८० ५१०		
एव पययणमारसु-	४३० ६७७		
एव पडिदपडिद	९०५ २१५३		
		ओ	
		ओगादगाढणिचिदो	८१० १८१८
		ओग्घेण ण वृद्धओ	५४१ ९९३
		ओग्घेणालोचेदि दु	३९२ ५३६
		ओमोदरिए धोराए	७०७ १५३९
		ओल्ल मत वत्थ	८९५ २१०७
		ओसण्ण सेवणाओ	६४१ १२८८
		क	
		कवणसवयण णिट्ठुर	५०२ ८२४

पृ०	गाथा	पृ०	गाथा
कच्छुजर-खाम-मोसो	७०६ १५३७	काळण य किरियम्म	४०२ ५६३
कच्छुकडुयमाणो	६२८ १२४६	काळणाज समाइ	८९६ २११०
कज्जाभावे ण पुणो	९०० २१३२	काएमु णिरारमे	४९७ ८१३
कडुगम्मि अणिव्वलिट्ठिम्मि	४६४ ७३२	कामकदा इत्यीकदा	५१५ ८७६
कण्णोसु कण्णगूधो	५५१ १०३४	कामग्गिणा धग्गग्गतेण	५२८ ९३१
कण्णोट्ठमीसणासा	७२४ १५९०	कामग्गत्थो पुरिमो	५२० ८९८
कदजोगदाददमण	२५३ २४२	कामदुहा वरवेणू	६८८ १४६०
कदपावो वि मणुत्तो	४२५ ६२५	कामापमायग्गहिदो	५१९ ८९४
कप्पाकप्पे कु सला	४३८ ६४७	कामभुजगेण दट्ठा	५१७ ८८५
कप्पोवगा सुरा ज	८५० १९२९	कामादुग्गस्स गच्छदि	५१६ ८८०
कम वि परिणमिज्जइ	८२५ १८४६	कामादुरो णरो पुण	५१७ ८८३
कम्माइ वलियाइ	७३१ १६१६	कामी सुमज्जदाण वि	५१९ ८९६
कम्माणुभावदुहिदो	७९७ १७०८	कामुम्मत्तो महिल	५२४ ९१७
करणेहि होदि विगलो	७९५ १७८१	कामुम्मत्तो सतो	५१६ ८८२
कलभो गएण पका	६४८ १३१५	कायकिरियाणियत्तो	५९७ ११८३
कललगद दसरत्त	५४३ १००१	कायव्वमिणमकायव्व	२७ ९
कलह परिदावणादो	३०८ ३९२	कारी होइ अकारी	८०५ १८०३
कलहो बोलो ज्ञा	२४९ २३४	कालमणतमयम्मो	९०१ २१३३
कलुसो कदपि उदग	५६० १०६७	कालमणत णीचा	६१९ १२२४
कल्लाणपरपरय	४६७ ७४०	काल मभावित्ता	२६६ २७५
कल्लाणपावगाण	७६० १७०७	कालेण उवाएण य	८२४ १८४२
कल्लाणिइट्सुहाइ	६८८ १४५९	काले विणए उवघाणे	१४३ ११२
कल्ले परे व परदो	३९४ ५४३	किच्चा परस्स णिद	३०३ ३७३
कसिणा परीसहचमू	२३५ ३०४	किण्णु अघालद विघो	१९७ १५७
कह ठाइ मुक्कपत्त	७३० १५१५	किट्ठा णीला काथो	८४४ १९०७
कहमवि तमयमारै	५२५ ९७०	कित्ती मेतो माणस्स	१०२ १३३
कटक्कमल्लेण जहा	३६२ ४६७	किमिणो व वणो भरिद	९५० २०३०
कठ्ठगदेहि वि पाणेहि	१९५ १५३	किमिरागक्कल्लस्स व	४०६ ५६९
कदप्पकुक्कुमाइय	२२२ १८७	किह दा जीवो अणो	७०९ १७०९
कदप्पदेवविट्ठिम	२२१ १८१	किह दा रावो रजेदि	८११ १८२१
कदप्प भावणाए	८५९ १९५३	किह दा मत्ता कम्म-	७५७ १७०३
काइयमादो सब्ब	८४४ ६६४	किह पुण अणो वार्हिदि	७७९ १६११
काइयवाइय माणसिलो	१६४ १२०	किह पुण अणो मुच्चहि	७३० १६१४
काइय वाइय माणसिय	३९१ ५३३	किह पुण णवदममामे	५४६ १०१३
काइदि अभयघोणो	७०८ १५८५		

	पृ०	गाथा	पृ०	गाथा
विह पुण णवदसमासे	५४५	१००८	कूड हिरण्ण जह्णि चउएण	४१५ ६०२
किंचि व दिट्ठिमुपावत्त	७५६	१७०१	केई गहिदा इदिय चोरेहि	६४१ १२१०
किं जपिण्ण वहुणा	६९३	१४८७	केई अग्गीमदिगदा	७०३ १५२३
किं जपिण्ण वहुणा	८५१	१९३५	केई विमूत्तसगा	७०५ १५३२
किं णाम तेहि लोणे	८६९	१९९७	केट्ठण विस पुरिसो	४०४ ५६७
किं पुण अणयार महा	७१०	१५५४	केवलकण्ण लोग	८४८ १९२०
किं पुण अवसेत्ताण	२७८	३०५	केसा समज्जति ह	१२२ ८७
किं पुण कठपाणो	७४०	१६५३	कोई डहिज्ज जह्ण चदन	८१२ १८२४
किं पुण कुलगण सधस्स	७०५	१५२९	कोई तमादयित्ता	४५२ ६९४
किं पुण गुणसहिदाओ	५६०	९८९	कोई रहस्सभेद	३७४ ७९३
किं पुण छुहा व तण्हा	६९३	१६८२	को इत्थ मज्झ माणो	६७८ १४२२
किं पुण जदिणा मसा-	७०४	१५२६	को एत्थ विभओ दे	७६० १६५४
किं पुण जीवणिकाये	७२८	१६०७	कोट्ठी मतो लद्धूण	६१६ १०१७
किं पुण जे ओसण्ण	८५३	१९४३	को णाम अण्णसुखस्स	७११ १६५९
किं पुण तरणो अवहुस्सु	५६६	१०९३	को णाम णिरव्वेगो	६८३ १४४०
किं पुण तरणो अवहुस्सु	२९१	३३४	को णाम णिरव्वेगो	६८३ १४४१
किं मज्झ णिरच्छाहा	८५८	१९५२	को णाम भडो कुलजो	७०१ १५१३
किं मे जपदि किं मे	५६७	१०९८	को तस्स दिज्जइ तवो	४११ ५८७
कुट्टाकुट्टि चुण्णाचुण्णि	७१५	१५६६	कोध भय लोभ हस्स	६१० १२०१
कुणदि य माणो णीचा	६२१	१०३०	कोध खमाए माण	२६२ २६२
कुण वा णिहामोक्ख	६८८	१४४३	कोवो माणो माया	५७५ ११०१
कुणह अपमादभावात्तएसु	२७४	२९८	कोमो सत्तुगुणकरो	६६२ १३५९
कुणिमकुडिभवा लहुगत्त	८०७	१८०९	कोमवी ललिय घडा	७०७ १५४०
कुणिमकुडो कुणिमेहि य	५४८	१०००	कोमलय धम्मसीहो	८८६ २०६७
कुणिमरम कुणिमगध	५५८	१०६१	कोमि तुम किं णामो	६९७ १५००
कुडो वि अण्णसत्थ	६१५	१२१०	कोहस्स य माणस्स य	२६२ २६३
कुलगामणयररज्ज	२७३	२९५	कोहो माणो लोभो	६६७ १३८१
कुलजस्स जममिच्छन्	६५०	१३३७		
कुलम्बतेयभोगा	७९९	१७२६	खणणुत्तावणवालण	२३१ २००
कुलम्बाणात्तलमुद	६६४	१३६९	खणमत्तेण खणादिय	८७५ २०२१
कुविदो व विण्णप्पो	५३५	९६०	खमदमणियमधराण	९०८ २१६४
कुव्वतस्स वि जत्त	४८५	७८६	खवजो गिलामिदगो	३६० ८६०
कुसमुट्ठि घेतूण य	८६४	१९०६	खवग पडिज्जग्गणाए	४४६ ६७४
कुसुममगधमवि जहा	२९७	३५३	खवगस्स घरदुवार	६४४ ६६५
कुभोपाएसु तुम	७१६	१५६८	खवयस्स अण्णो वा	४४७ ६७५

ख

पृ० गा०	पृ० गा०
खवयस्म वहेदव्या	६४० ६५३
खवयस्म चित्तमार	८७३ २०११
खवयस्त जइ ण दोसे	३६९ ४८६
खवयस्म तीरपत्तम्स	३६० ४६१
खवयस्मिन्धा सपा	३४० ४४४
खवयस्मुदमपणम्म	३८३ ५१८
खवय पच्चवक्खावेदि	४५६ ७०६
खघेण भासणत्थ	६०५ १०६१
खाइयदमण चरण	८४७ १९१३
खामेदि मुम्ह खवमो	४५५ ७०४
खीर-दधि-मप्पि-तेल्ल	२३० २१७
खुट्ठाए खुट्ठियामो	३०९ ३९६
खुड्डे वेरे सेहे	३०८ ३९०
खेल पडिदमप्पाण	२९३ ३३८
खेलो पित्तो सिमो	५५१ १०३५
खोमेदि पत्थरो जह	५५९ १०६६
ग	
गच्छहि कैइ पुरिसा	८७३ १९४४
गच्छामुपालणत्थ	२६६ ७७६
गच्छिज्ज समुद्दम्स वि	५३७ ९६८
गच्छेज्ज एग्रादिय	३१२ ४०५
गणरक्खन्थ तम्हा	८६६ १९८४
गणिज्जवएसामयपा	६०१ १४७९
गणिणा मह मलाभो	२१९ १७६
गत्तापच्चागद उज्जु	२४० २२०
गदरागदोसमोहो	९०१ २१२७
गलए लाएदि पुरिमस्स	५३८ ०७३
गतूण णदणवण	८१३ १८२६
गयच्चाएण पुणो	५८८ ११६८
गयच्चाओ इदिय	५८५ ११६२
गयच्चाओ लाघव	११७ ८२
गयणिमित्तमदीदिय	५७८ ११३२
गयणिमित्त धोर	५७८ ११३४
गयपडियाए लुट्ठो	५८७ ११४३
गयस्स महणरक्ख	५८४ ११५८
गयाइवी चरत	६७१ १३९६
गय भणियत्तत्तप्हा	८५८ १९४८
गथेसु घडिदहिदमो	५८४ ११५९
गयो भय णराण	५७६ ११२२
गघव्वनट्टजट्टस्स	४३१ ६३२
गाढप्पहारविट्ठो	७०९ १५४८
गाढप्पहारसत्ताविदा	७०३ १५०१
गायदि णच्चदि धावदि	५२३ ९११
गावइ णच्चइ धावइ	५७७ ११२८
गिरिकदर च भट्ठवि	७७१ १७३१
गिरिणदियादिपदेमा	८७० २००१
गिहिदत्थो सविग्गो	७१ ३४
गीदत्थ पादमूले	३५४ ४४९
गीदत्था कंदकरणा	८६२ १९७०
गीदत्थो चरणत्थो	३११ ४०१
गीदत्थो पुण खवयस्म	३३९ ४४३
गुणकारिभोत्ति भुजइ	४०७ ५७५
गुणपरिणामादीहि	२८९ ३०७
गुणपरिणामादीहि	२९० ३३०
गुणपरिणामो सड्डा	२८१ ३११
गुणभरिद जदि गाव	६९५ १४९०
गुत्ति परिखाइहि गुत्त	८२१ १८३६
गोट्ठे पाबोवगवो	३१० १५५१
गोबभणित्यवघमेत्त	४८६ ७९१
घ	
घणकुड्डे मक्काडे	८३३ ६३७
घोडगलिडमभाणस्स	६५६ १३४१
घोसादकी य जह किमि	६२८ १२४७
च	
चक्कचरो वि सुमूमो	७३८ १६८५
चक्केहि कक्कनेहि य	७१७ १५७०
चक्कुम्म दम्मास्स य	३६ १२
चम्मु च दुव्वल जम्म	१११ ७०
चत्तारि जणा पाणय	४४३ ६६०
चत्तारि जणा भत्त	४४३ ६६१

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
चत्तारि जणा खल्वति	८४३	६६२	छेदणवचणवेडण	५८२	११५४
चत्तारि महावियडीओ	२३८	२१५	छेदणभेदणडहण	७२२	१५७८
चत्तारि सिराजालाणि	५४८	१०२३			
चदुरगाए सेणाए	४७३	७५६	ज		
चदुहि समएहि	८९६	२१०९	जइ कहवि कमायग्गी	२६२	२६५
चमगीवाल खगिगवि	५५३	१०४५	जइदा उच्चतादी णिदाण	६२३	१२३३
चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो	२९,	१०	जइदा सडसिलोगेण	४७८	७७१
चरमसमयम्मि तो सो	८९८	२११९	जइ दे कदा पमाण	७३६	१६३०
चरिगहि कल्यमाणो	३०२	३७०	जइ भाविज्जइ गधेण	२९४	३४४
चरिया छुहाव तण्हा	१९१	१४०	जच्चघवहिरमूओ	७९५	१७८२
चक्रमणे य द्ढाणे	४००	५८२	जणण भरणादि रोगा	६८७	१४५६
चदो हविज्ज उण्हो	५१०	०८४	जणणी वसततिलया	७९८	१७९४
चदो हीणो य पुणो	७६५	१७१७	जणपायडो वि दोसो	६७९	१८२८
चपाए मासखमण	७०७	१५४१	जणवदसम्मदि ठवणा	६७०	११८७
चायम्मि कीरमाणे	४४७	६७६	जतो दिसाए गामो	८६५	१९८०
चारणकोट्टगकल्लाल	६३२	६३३	जत्तासाधणचिह्नकरण	११६	८१
चालणिगय व उदय	१७४	१३५	जतो पाणवधादी	५०२	८२५
चिट्ठति जहा ण चिर	५३५	९५८	जत्य ण जादो ण मदो	७९०	१७७०
चित्तपड व विचित्त	८९३	२०९९	जत्य ण विसोत्तिग अत्थि दु	२४४	२३०
चित्त ममाहिद जस्स	१७३	१३४	जत्य ण होज्ज तणाइ	८६४	१९७८
चेयतो वि यं कम्मोदएण	६९८	१५०५	जत्येव चरइ वालो	६०६	११९७
चेलादि सब्बसगच्चाओ	५७२	१११६	जदणाए जोगपरिभाविदस्स	२२९	१९७
चेलादीया सगा	५८२	११५२	जदि अधिवाविज्ज तुम	६८१	१४३५
चोहसदसणवपुब्बी	३३६	४३०	जदि कोइ मेरुमत	७११	१५५८
चोरस्स णत्थि हियए	५१०	८५६	जदि तस्स उत्तमग	८६८	१९९३
चोरो वि तह सुवेगो	६६०	१३१२	जदि तारिसिया तण्हा	७२७	१६०७
			जदि तारिसाओ तुम्हे	७२६	१५९९
			जदि तेसि वाधादो	८६१	१९६६
			जदि दा अभूतपुब्ब	७३३	१६२५
			जदि दा एव एदे	७१०	१५५३
			जदि दा जणेइ मेहुण	५२६	१२२
			जदि दा तह अण्णाणी	७०४	१५२५
			जदि दा रोगा एकम्मि	५५४	१०४८
			जदि दाव विहिंसज्जइ	५४६	१०१५
			जदि दा विहिमादि णरो	५५३	१०४३
			जदि दा भवदि असतेण	६७५	१४१५

छ

छट्ठट्ठमदसमदुवा
 छट्ठट्ठमदममदुवा
 छट्ठिय ग्यणाणि जहा
 छत्तीसगुणममण्णा
 छदुमत्थदाए एत्थ दु
 छगल मुत्त दुद्ध
 छेतस्स वदी णयरस्स

पृ० गा०	पृ० गा०
जदि दा सुभाविदप्पा	८५३ १९४०
जदि दिवसे सचिट्ठदि	८६८ १९९१
जदि धरिसणमेरिसय	३७५ ४९६
जदि पवयणस्स सारो	४० १८
जदि मूलगुणे उत्तर	४११ ५८६
जदि वा एसण कोरेज्ज	८६३ १९७१
जदि वा सवेज्ज सतेण	६७६ १४१६
जदि वि कह्वि वि गया	५७९ ११३६
जदि विक्खादा भत्तप	८६३ १०७३
जदि वि य से चरिमते	७४८ १६८५
जदि वि विकिचदि जत्तू	५८३ ११५५
जदि विसमो सयारो	८६५ १९७९
जदि विसयगघहत्थी	६७३ १४०६
जदि वि सय धिरवुद्धी	२९२ ३०५
जदि सो तत्तय मरिज्जो	५७८ ११३१
जदि होज्ज मच्चिमापत्त	५५० १०३३
जघ इ घणेहि भग्गी	५७९ ११३७
जघ उग्गविसा उरगो	६६३ १३६२
जघ करिसयस्स घण्ण	६६३ १३६१
जघ कोडिसमिद्धो वि	६६६ १३७६
जघ तडुलस्स को-	८६६ १९११
जघ भिक्ख हिडत्तो	६५३ १३२९
जघ सण्णद्धो परगहिद	६५३ १३२८
जम्मणिच्छत्ती महिल	५२६ ९२५
जम्मण अभिणिक्खवणे	१८२ १४५
जम्मणभरणजलोम	९०५ २१५२
जम्मसमुद्वे वह्दोसवीचिए	८०९ १८१५
जम्हा असच्चवयणादिएहि	४८६ ७९०
जम्हा चरित्तसारो	३५ १४
जम्हा णिग्गयो सो	५८७ ११६६
जम्हा मुद वितक्क	८३५ १८७५
जम्हा मुद वितक्क	८३७ १८७८
जम्हि य वारिदमेत्ते	१७७ १४०
जलचदणसमिमुत्ता	५०३ ८२९
जल्लिदो हु कसायग्गी	२६४ २६८
जल्लविल्लितो देहो	१२८ ९४
जस्स पुण उत्तमट्ठम	४४९ ६८३
जस्स पुण मिच्छदिट्ठिस्म	१०२ ६०
जस्स य कदेण जीवा	१७७ १३९
जस्म वि अब्बमिचारी	११३ ७७
जह अप्पणो गणस्म य	६९२ १४७८
जह आइच्चमुदित	७७२ १७३५
जह इघणेहि भग्गी	६३१ १२५८
जह इघणेहि भग्गी	७३९ १६४९
जह इ घणेहि भग्गी	६४९ १९०७
जह कवचेण अभिज्जेण	७४५ १६७६
जह कटएण विद्धो	३९३ ५३८
जह कमिय भिगारो	४०९ ५८१
जह कुडयो ण सक्को	५७१ १११४
जह कोइ तत्तलोह	६६१ १३५६
जह कोइ लोहिदकय	४१६ ६०६
जह कोडिल्लो भग्गि	६२८ १२४५
जह गहिदवेयणो विय	६९० ११७०
जह जह गुणपरिणामो	२८४ ३१७
जह जह णिव्वेदसम	८१८ १८५८
जह जह भुज्ज भोगे	६३१ १२५६
जह जह मण्णेइ णरो	५३३ ९५२
जह जह वयपरिणामो	५५९ १०६५
जह जह सुदमोग्गाहदि	१३७ १०४
जह ण करेदि तिग्गिछ	३५८ ४५५
जह णाम दब्बसल्ले	३६२ ४६६
जह णीरस पि कडुय	६७४ १६०९
जह ते ण पिय दुक्ख	४८० ७७६
जहदि व णियय दोस	२०६ ३५२
जह परिमिदो इमो तह	३७४ ४०८
जह पक्खुभिदुम्मीए	३७८ ५०५
जह पत्थरो पडत्तो	८४६ १९०८
जह परमण्णस्म तिम	५०५ ८३९

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
जह पव्वदेसु मेरु	४८५	७८४	ज षणपरिभवणियडिप-	५२४	९१५
जह वालो जप्पतो	३९६	५४९	ज पाणयपरिम्मम्मि	४५६	७०८
जह वाहिरलेम्माओ	८४४	१९०१	ज वद्धमसखेज्जाहि	४५८	७१६
जह भेषज पि दोस	१००	५७	ज भज्जिदोमि भज्जिदगपि	९१७	१५६९
जह मक्कडओ खणमवि	४७६	७६३	ज वा गरहिदवयण	५०१	८२३
जह मक्कडओ घादो	५०८	८४८	ज वा दिसमुवणीद	८६८	१९९२
जह मारुओ पवडुइ	५०८	८५०	ज बेल कालगदो	८६२	१९६८
जह रायकुलपसूओ	४१	२०	ज मव्वे देवगणा	९०३	२१४४
जह वा अग्गिम्स सिहा	८९९	२१०४	ज होदि अण्णदिट्ठ	४०८	५७६
जह वाणियग्ग सागर	७४३	१६६८	जा अवरदक्खिणाए	८६१	१९६४
जह वाणिमा य पणिय	६०४	१२३८	जा उवरि उवरि गुणपडिवत्ती	२१७	१७३
जह वालुयाए अवडो	४०८	५७८	जागरणत्थ इच्चेवमादिक	६८३	१४३८
जह मौलरक्खयाण	७४०	१८८	जाणदि फासुयदव्व	३४०	४४६
जह सुकुमुलो वि वेज्जो	३८९	५३०	जाणह य मज्झ थाम	४०७	५७२
जह सुत्तवद्ध सउणो	६३६	१२७२	जाण तत्त्मादहिद	१३५	१०२
जं अण्णाणी कम्म	१४१	१०७	जाणइय मज्झ एसो	४१६	६०४
ज असमूदुब्भावन	५००	८२०	जादिकुल सवाम	५१९	८९३
ज अत्ताणी णिप्पडियम्मो	७०२	१५७९	जादो खु चारदत्तो	५६२	१०७६
ज अयद्धदो उप्पाडिदाणि	७१६	१५६७	जाधे पुण उवसग्गे	८७९	२०३७
ज एव तेल्लोक	४८४	७८२	जा रायादिणियत्तो	५९५	११८१
ज किंचि खादि ज किं	५४७	१०१८	जालस्स जहा अते	६३५	१२६९
ज कूडमामलीए दुक्ख	७१०	१५६२	जावइयाइ तणाइ	५३४	१५६
ज पाविओ मि अवमो	७१८	१५६५	जावइयाइ दुक्खाइ	४८८	७९९
ज गव्वभासदुणिम	७०६	१५९६	जावइया किर दोसा	५१५	८७७
ज नडवडित्तकरचरणो	७१८	१५८५	जावज्जीव मव्वाहार	४५५	७०३
ज च दिमावेग्गण	८८७	२०७५	जाव ण वाया खियदि	८७३	२०१३
ज छोडिओ मि ज मोडिओसि	७१७	१५७२	जावदियाइ कल्लाणाइ	८२७	१८५३
ज जस्स दु सठाण		२१२९	जावदियाइ सुहाइ	७९४	१७७९
ज जीवणिकायवहेण	४९६	८१०	जावदिया रिद्धोओ	८५१	१९३३
ज णत्थि सव्ववाधा	९०२	२१४०	जाव य खेममुभित्तव	२०८	१६१
ज णिज्जरेदि कम्म	२४९	२३६	जाव य सदी ण णस्मदि	२०७	१६०
ज णीलमडवतत्तलोह	७१४	१५६४	जावय वलविरिय मे	८७२	२००८
ज दुक्ख मपत्तो	७२५	१५९०	जावत्ति किंचि दुक्ख	७४०	१६६२
ज दीहकालमवासदाए	२६७	२७१	जावत्ति केइ भोगा	६३०	१२५५

	पृ० गा०		पृ० गा०
जावति केइ सगा	५९० ११७४	जे वि बहिंसादिगुणा	९९ ५६
जावतु किंचि लोए	००२ २१३९	जे वि ॥ जहणिय तेउ-	८५१ १९३४
जावति केइ सगा	२६३ २६६	जेसि ब्याउसमाइ	८९५ २१०४
जावतु केइ सगा	२२१ १८०	जेमि हवति विसमाणि	८९५ २१०५
जा सबसुदरगी	५५५ १०५०	जे मेमा सुक्काए	८४७ १९१४
जाहे मरीरनेदुठा	१६८ २६८७	जो जप्प सुक्खहेदु	६१५ १२१५
जिणपडित्तव विरियारो	११९ ८६	जो बमिलासो वसएमु	८१२ १८२३
जिणवपणममिदभूद	७१० १५५५	जो अवमाणणव रण दोम	६७८ १४२४
जिण-सिद्ध-माहु-धम्मा	२८७ ३२४	जो उवविधेदि सब्वा	८७० १९९९
जिदणिहा तल्लिच्छा	४४४ ६६६	जो ओलगादि आरा	८७१ २००३
जिदरागो जिददोसो	७५० १६९३	जो हु सदिविप्पहूणो	८२२ १८३७
जिन्नाए वि लिहूतो	३६८ ४८३	जो गच्छिज्ज विसाद	७०५ १५३०
जिन्नामूल बोलेइ	७४० १६५६	जोगाभाविदकरणो	४५ २२
जीवगदमजीवगद	४९२ ८०४	जोगेहि विचित्तोहि दु	२५९ २५५
जीववहो अप्पवहो	४८७ ७९३	जोगमकारिज्जतो	२२७ १९२
जीवस्स कुजोणिगदस्स	६३६ १२७१	जोग कारिज्जतो	२२८ १९४
जीवस्स णत्थि तित्ती	६३१ १२५७	जो जस्स वट्टदि हिदे	७८४ १७५८
जीवस्स णत्थि तित्ती	७३८ १६४८	जो जाए परिणमित्ता	८४७ १९१६
जीवाण णत्थि कोई	७७१ १७३०	जो जारिमओ कालो	४४५ ६७०
जीवोसु मित्त चित्ता	७४९ १६९१	जो जारिसीय मेत्ती	२९५ ३४५
जीवो अणादिकारा	४६२ ७२७	जो णिक्खवणपवेसे	३५९ ४५७
जीवो कसायवट्टलो सत्तो	४९७ ८११	जो पुण इच्छदि रमिदु	६३३ १२६२
जीवो वभा जीवम्मि	५१३ ८७२	जो पुण एव ण करिज्ज	६९८ १५०२
जीवो मोक्खपुरक्कड	८२७ १८५१	जो पुण धम्मो जीवेण	७७६ १७४७
जुण्ण पोच्चल मइल	५६५ १०९०	जो पुण मिच्छादिद्वी	९७ ५४
जुण्णो व दरिदो वा	५३२ ९५०	जो भत्तपदिण्णाए	८७६ २०२४
जुत्तस्म तवघुराए	४४२ ६६०	जो भत्तपदिण्णाए	८८१ २०७९
जुत्तो पमाणरइवो	४३६ ६४४	जो भावणमोवकारेण	४७३ ७५५
जूगाहि य लिक्खहि	१२३ ८८	जो महिलाससग्गो विसव	५६९ १०९६
जे आसि सुभा एण्हि	६७४ १४१०	जो मिच्छत्त गतूण	८६० १९५९
जे गारवो हि रहिदा	३९६ ५४६	जो रि य विणिप्पडत्त	१७९ १४०
जेठ्ठामूले जोणेहे	७१८ ८९०	जो वि य विराधियदसण	८६५ १९८१
जेणगेमेव दब्ब	८३७ १८७७	जो मघर पि पलित	२३० २८६
जे पुण सम्मन्नाओ	९७ ५३	जो सम्मत्त खवया	८५० १०५७
		जो होदि जयाछदो	६४५ १३०५

श	पृ०	गाथा	पृ०	गा०
ज्ञाण करेइ खवयस्सो	८४१	१८८८	४१७	६०९
ज्ञाण कसायवाहे	८४२	१८९३	५०४	८३२
ज्ञाण कसायपरचक्क	८४२	१८९४	७३५	१६३६
ज्ञाण कसायरोगेसु	८४२	१८९५	८६५	१९८२
ज्ञाण कसायवादे	८४२	१८९२	४८५	७८३
ज्ञाण किलेससावद	८४२	१८९१	७४२	१६६४
ज्ञाण पुधत्तसवितक्क	८३४	१८७२	१९२	१५०
ज्ञाण विसयछुहाए	८४२	१८९६	७५४	१६९५
ज्ञाणागदेहि इदिय	६७०	१३९३	७०४	१५२८
ज्ञाणेण म तह अप्पा	८९८	२१२३	३०१	३६४
ज्ञाणेण म तेण अधक्खा	८९२	२०९४	४७९	७७३
ज्ञायतो अणगारो	८५२	१९४१	६६५	१३७४
			५७४	१११८
			६२९	१२४९
			४१४	५९७
			५१८	८८९
			८०८	१८१४
			८८३	२०५८
			७४३	१६६७
			६५५	१३३७
			६६९	१३८९
			८७४	१८४४
			६९९	१५०६
			६९५	१४९३
			४७७	७५६
			२७१	२८८
			२७१	२८९
			८५०	१९३०
			२२२	१८३
			३१	११
			४७८	७६९
			६५४	१३३३
			६५४	१३३१
			४७८	७६८
			६५४	१३३२

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
णाण पि गुणे णामेदि	६५४	१३३४	णिद्ध मधुर हृदय	३६६	४७८
णाणदेसे कुसलो	१९२	१५०	णिघणगमणमेयभवे	७३५	१६३५
णाणुज्जोएण विणा	४७८	७७०	णिद्ध मधुर हृदयगम	४३९	६५२
णाणस्य केवलीण	२२२	१८३	णिच्च पि विसयहेदु	५२१	९०२
णाणुज्जोओ जोओ	४७७	७६७	णिघणगमण एयभवे	७२९	१६०९
णाणे दसणत्तववीरिये	४२०	६१२	णिप्पत्त कटइल्ल	४००	५५७
णाणेण सव्वभावा	१३३	१००	णिप्पादित्ता सगण	८७६	२०२६
णाणोवभोगरहिदेण	४७४	७५९	णिरएसु वेदणाओ	७११	१५५७
णामक्खयेण तेजो	८९८	२१२०	णिरयकडियम्मि पत्तो	७१२	१५६१
णावाए णिव्वुडाए	७०७	१५३८	णिरयगदियाणुपुव्वि	८९०	२०८९
णावागदाव बहुगइ	७६३	१७१३	णिरयत्तिरक्खगदोसु य	७११	१५५६
णासदि वुद्धी जिब्भावसस्स	७३६	१६३९	णिरुक्ककम्मस्स कम्मस्स	७७१	१७२९
णासदि मदी उदिण्णे	७६७	१७२४	णिलभो कलोए अलियस्स	५३८	९७६
णासेज्ज भगोदत्थो	३३७	४३१	णिवदि विहूण खेत्त	२७३	२९७
णासेदूण कसाय	६६२	१३५८	णिब्बवएण तदो से	३७६	५०७
णासो भत्यस्स खओ	५३९	९७८	णिब्बाणस्स य सारो	३५	१३
णिउण विउल सुद्ध	१३०	९८	णिब्बावइत्तु ससार	९०२	२१३८
णिक्खवणपवेसादिसु	१९३	१५२	णिसिदित्ता भप्पाण	४३६	६४५
णिक्खेवो णिव्वत्तो	४९५	८०७	णिस्सल्लस्सेव पुणो	६१२	१२०८
णिग्गहिंदियदारा	२८३	३१५	णिस्सल्लो कदमुद्धी	४५९	७२०
णिग्गय पव्वयण	७८	४२	णिस्सगो चेव सदा	५८८	११६९
णिच्च दिया य रत्ति	५११	८६२	णिस्सयी य अपोल्लो	४३६	६४३
णिच्च पि भमज्झत्थे	६७२	१३९९	णीचत्तण व जो उच्चत्त	६२१	१२२८
णिज्जवया आयरिया	४५९	७१९	णीच ठाण गीच	१६५	१२२
णिज्जवया य दोण्णिवि	४४६	६७२	णीचो व णरो बहुग	५१९	८९५
णिज्जूढ पि य पासिय	३४०	४४५	णीच णि कुणदि कम्म	५२१	९०३
णिद् जिणाहि णिच्च	६८१	१४३४	णीचो वि होइ उच्चो	६१८	१२२२
णिद्दजओ य दट्ठाणदा	२५४	२४३	णीयल्लवो व सुत्तवेण	६८७	१४५८
णिद्दा तमस्स सरिसो	६८३	१८४२	णीयल्लगोवि रट्ठो	६६३	१३६५
णिद्दा पचला य दुवे	८९२	२०९६	णीया अत्था देहादिया	७५५	१७४५
णिद्ध मधुर गभीर	३७८	५०४	णीया करत्ति विग्घ	७८४	१७५९
णिद्ध मधुर पल्हादणिज्ज	६९९	१५०९	णीया सत्तू पुरिसस्स	७८४	१७६०
णिद्ध मधुरगभीर	२६९	२८२	णोइदिय पणिघाण	१५०	११७
णिद्ध मधुर हृदय	३६५	४७७	ण्हारूण णवसंदाइ	५८८	१०२२

त	पृ०	गा०	तम्हा तिविह वोसरि	पृ०	गा०
तत्काल तदाकाल	७९१	१७७१	तम्हा तिविहेवि तुम	४५१	६८९
तद्गणसावण चिप	८६६	१९८५	तम्हा पडिचरियाण	५९८	११८४
तण-पत-कट्ठछारिप	४००	५५८	तम्हा पव्वज्जादी	३८६	५२३
तम्हा अणतम्बुत्तो	७२७	१६००	तम्हा मतूलमूल	३९६	५४८
तम्हा-द्युहादि-परिदाविदो	४८१	७७७	तम्हा सव्वे सगे	५८९	११७३
तम्हादिएसु सहणिज्जेमु	३०९	३९४	तम्हा मा पल्लवणा	५४१	१९६
तत्तो णपुसगित्थोवेद	८९१	२०९१	तम्हा सो उड्ढहणो	४७६	७६४
तत्तो णतरस्समए	८९२	२०९७	तरुणस्स वि बेरग्ग	५६२	१०७७
तत्तो दुक्खे पये	१७६	१३८	तरणेहि सह वसतो	५६१	१०७३
तत्तो मास वब्बुदभुद	५४३	१००२	तरणे वि वुड्ढसीलो	५६०	१०७०
तत्थ अवाओवाय	४५२	६९५	तवभावणाए पचेदियाणि	२२६	१९०
तत्थ अविचारभत्तप	८७१	२००५	तव भावणा य सुदसत्त	२२५	१८९
तत्थ णिदाण तिविह	६१३	१२०९	तवमकर्तितस्सेदो दोसा	६८६	१४५२
तत्थ पढम णिरुद्ध	८७१	२००६	तवसजमम्मि अण्णेण	४१२	५९०
तत्थ य कालमणत्त	३६३	४७०	तवसा चैव ण मोक्खो	८२६	१८४८
तत्थ वि साट्ठवकार	७०३	१५२४	तवसा विणा ण मोक्खो	८२३	१८४०
तत्थोवसमियसम्मत्त	६६	३०	तव्विवरीद मोत्त	६०२	११८८
तदिओ णाणुण्णादो	३८६	५२२	तव्विवरीद सव्व	५०३	८२८
तदिय असत्तवयण	५०१	८२२	तस्स अवाओपायविदसी	१६१	८६४
तथ चैव सुहममणवधि	८९६	२११२	तस्म ण कर्णाद भत्त	११२	७५
तथ रोमण सय पुव्वमेव	६६२	१३५७	तस्म णिरुद्ध भणिद	८७२	२००७
तम्हा इह-परलोए	४९७	८१५	तस्स ण भावो सुद्धो	६८५	१४४७
तम्हा कल्लेवरबुडो	७४४	१६७२	तस्स पदिण्णामेर	६९९	१५०८
तम्हा त्ववणाओपाय	३६४	८७५	तह अण्णाणी जीवा	७९४	१७७८
तम्हा गणिणा उप्पीलणेण	३७०	८८७	तह अण्णो कुलस्स य	७०२	१५२०
तम्हा चेट्ठिदु कामा	६०६	११९८	तह अप्प भोगमुह	६३०	१२५३
तम्हा जिणवयणरुई	३६४	४७२	तह आयरिओ वि	३६८	४८२
तम्हा ण उच्चोणोचत्तणाइ	६२१	१२२९	तह आवइपडिक्कलदाए	७७१	१५१६
तम्हा ण कोइ कस्सइ	७८३	१७५७	तह चैव णोक्कसाया	२६४	२७०
तम्हा णाणुवओगो	४७७	७६५	तह चैव देमकुलजाइ	३३७	४३३
तम्हा णिव्विमिदव्व	३५९	४५६	तह चैव पवयण नव्वमेव	३७५	४९५
तम्हा णीया पुरिमम्म	७८५	१७६२	तह चैव मच्चुवग्घपरद्धो	५५७	१०५८
तम्हा हु व मायग्गी	२६४	२६९	तह चैव य तद्देहो	७१०	१५५९

पृ० गा०	पृ० गा०
तह चेव सय पुव्व	७३२ १६२२
तह जाण अहिंसाए	४८५ ७८७
तह भाविद सामण्यो	४५ २३
तह मरइ एवकओ चेव	७७१ १७४४
तह मिच्छत्त कडुगिगे	४६४ ७३३
तह-मुज्झतो खवगो	६९७ १४०९
तह वि य चोरा चारमडा	५८१ ११४६
तह विसयामिसघत्त्यो	५२० ८९०
तह सजमगुणभरिद	३७९ ५०६
तह सामण्य किच्चा	६३७ १२७४
तह सिद्ध चेदिए पवयणे	४६८ ७४६
त एव जाणतो	३९६ ५४७
त णत्थि ज ण लडभइ	६९० १४६७
त ण खम तु पमादा	३६३ ४७१
६ पुण णिरुद्ध जोगो	८३९ १८८३
त मिच्छत्त जममइहण	९८ ५५
त वत्थु मोत्तब्बा	२६२ २६४
त सो बघणमुक्को	८९८ २१२१
ताडण तासण वघण	७२२ १५७७
ताणि हु रागविदागाणि	९०३ २१४६
तारिसओ णत्थि अरी	५३८ ९७२
तारिमयममेत्तमय	८०८ १८१३
ताव खम मे कादु	२०९ १६२
तिण्णि य वसजलीओ	५४९ १०२८
तिन्तीए असत्तीए	५७९ ११३९
तित्थयरचक्कघरवासुदेव	५४० ९९०
तित्थयर पवयणसुदे	७३१ १६३७
तित्थयराणा कोवो	२८१ ३१०
तित्थयरो चट्टुणाणी	२७८ ३०४
तियरण सव्वावासय	३८० ५११
तिरियगदि अणुपत्तो	७१८ १५७६
तिरियगदीए वि तहा	११२ ८६६
तिविह तु भावसल्ल	३९४ ५४१
तिविह पि भावसल्ल	३९५ ५४५
तिविहा सम्मत्ताराहणा	९४ ४८
तिहि चट्ठि पचहि वा	४९१ ८००
तोसु वि कालेमु सुहाणि	९०३ २१४५
तुज्झत्य वारमगमुद	३८१ ५१२
तुस्तेल्लपि पियतो	६४७ १३११
ते अदिसूरा जे ते	५६९ ११०६
ते अप्पणो वि देवा	७३० १६१२
तेओ वि इदघणु तेज	७६६ १७२०
तेओ पम्मा सुक्का	८४५ १९०३
ते चेव इदियाण	६५८ १३४५
तेजाए लेम्साए	८४७ १९१५
तेण कुममुट्ठिघाराए	८६४ १९७७
तेण पर अवियाणिय	३१७ ४१६
तेण पर मठाविय	८६३ १९७४
तेण भयणारोहइ	५८१ ११४५
तेण रहस्म भिदतएण	३७३ ४९१
तेणिवरमोमहिंसारवख	७५५ १६२८
ते तारिसया माणा	५२९ ९३५
ते धण्णा जे जिणवर	८३३ १८६७
ते धण्णा जिणधम्म	८०७ १८५४
ते धण्णा ते णाणी	८६९ १९९६
तेलोक्केण वि चित्तस्स	६६९ १३८६
तेलोक्कजोविदादो	४८४ ७८१
तेलोक्कमत्थयत्थो	९०१ २१३४
तेलोक्क सव्वसार	८४८ १९१९
तेल्लकसायादीहि य	४२० ६८७
तेल्लोक्काडविडहणो	५६० ११०९
ते वि वदत्था धण्णा	८७० २०००
ते वि य महाणुभावा	८७० १९९८
तेमि असदहवो	८१४ ५९८
तेसि आराधणपायगाण	४६९ ७४८
तेहि चेव वदाण	५९० ११७९
तेमि पचण्ह गि य	५९३ ११८०
ते सूरा भयवता	८६९ १९९५

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
ते आयरिय उवस्त्राय	४५६	७०९	द		
तो उप्पोलेदव्वा	३६६	४७९	दट्ठु वि अमेज्झमिद	५४२	९९९
तो एयत्तमुवगदो	३९९	५५४	दट्ठूण अण्णदोस	३०३	३७४
तो खवगवयण कमल	६९१	१४७२	दट्ठूण अप्पणादो	६६५	१३७०
तो जाणिऊण रत्त	५३६	९६५	दट्ठूण परकलत्त	५२५	९१८
तो गच्चा सुत्तविदू	४२९	६२५	दढसुप्पो सूलदहो	४७९	७७२
तो तस्स उत्तमदठे	३८३	५१७	दमण च हत्थिपादस्स	७२४	१५८९
तो तस्स तिणिच्छा जाणएण	६९५	१४९२	दव्वपयासमकिच्चा	४५१	६८८
तो ते कुसोलपडिसेवणा	६४३	१२९६	दव्वसिदि भावसिदि	२१८	१७५
तो ते सोलदरिद्दा	६४५	१३०३	दव्व खेत काल	३५६	४५२
तो दसणचरणाधारएहि	४१३	५९६	दव्वाइ अणेयाइ	८३५	१८७४
तो पच्छिममि काले	२२०	१७८	दसविघ पाणाभावो	९००	२१३०
तो पडिचरिया खवमस्स	८४३	१८९९	दसविहर्तिदकप्पे वा	३१९	४२२
तो पाणएण परिभाविदस्स	४५४	७०१	दडकसालट्ठमदाणि	७२४	१५८८
तो भट्टबोधिलाभो	३६३	४६९	दडण-मुडण-ताडण	७२४	१५८७
तो भावणादियत	६४०	१२८५	दडो जउणावक्केण	७०९	१५४९
तो वेदणावसट्ठो	६९६	१४९७	दताणि इ दियाणि य	२५१	२४०
तो सत्तमम्मि मासे	५४५	१०११	दतेहि चन्विद वीलण	५४५	१००९
तो साधु सत्य पथ	६४२	१२९१	दसणणाणचरित्त	७७४	१७४१
तो सो अविग्गहाए	८९९	२१२५	दसणणाणचरित्त	७५०	१६९२
तो मो एव भणिओ	३९७	५५१	द सणणाण चरित्ते	८५०	१९२८
तो सो खवओ त अणुसट्ठि	६९१	१४७५	दसणणाणचरित्ते	३९७	५५०
तो सो खीणकसाओ	८९१	२०९३	दसणाणादिचारे	३७०	४८९
तो सो वेदयमाणो	८९४	२१०१	दसणणाणविहूणा	८५९	१९५८
तो सो हीलणभीरु	३६७	४६३	दसणणाणसमगो	८९४	२१०२
यामापहार पासत्यदाए	४०७	५७१	दसणणाणे तवसज्जे	२८७	३२२
यूणाओ तिण्णि देहम्मि	५४९	१०२६	दसणभट्टो भट्टो	४६६	७३७
थेरस्स वि तवसिस्सवि	२९१	३३३	दसणभट्टो भट्ठो	४६६	७३८
थेरा वा तरणा वा	५५९	१०६४	दसणमाराहतेण	१२	४
थेरो बहुस्सुदो वा पच्चई	५६५	१०९२	दसणसुदत्तवचरण	८२९	१८६०
थोलाइदूण पुब्ब	३६०	४६२	दसण सोवी ठिदिकरण	१८१	१४४
थोलाइदूण पुब्ब माणी	७०१	१५१४	दसेहि य मसएहि य	७०८	१५४६
थोवाइयस्स बुलजस्स	७०२	१५१७	दाऊण जहा अत्य	६३७	१२७३
			दारिद् अडिदत्त	८०५	१८०२

पृ० गा०	पृ० गा०
दारैव दारवालो	८२२ १८३६
दास व मण अवस	१८० १४३
दिट्ठ पि ण सञ्भाव	५३७ ९७०
दिट्ठ व अदिट्ठ वा	४०८ ५७७
दिट्ठा अणादिमिच्छादिट्ठी	३९ १७
दिट्ठाणुभूदसुदविसयाण	५६५ १०९१
दिवसेण जोयणसय	१०१ ५८
दिब्बे भोगे अच्छरसाओ	७२५ १५९५
दीणत्त रोसचित्ता	७२३ १५८६
दीसइ जल व मयसण्हिया	६२९ १२५१
दुक्खक्खय कम्मक्खय	६१६ १२१९
दुक्खस्स षडिगरंतो	७९७ १७८९
दुक्ख उप्पादिता	६३४ १२६५
दुक्खा गिद्धोद्यत्यस्ता	७८१ १६५८
दुक्का च भाविद होदि	२५७ २४१
दुक्ख अणत्तसुत्तो	७९४ १७८०
दुक्खेण देवमाणुसभोगे	६३५ १२७०
दुक्खेण लभदि माणुस्स	४८२ ७८०
दुक्खेण लहइ जीवो	३६१ ४६५
दुगच्चदुअणेयपाया	७७२ १७३७
दुज्जणससग्गीए	२०५ ३४६
दुज्जणससग्गीए	२९५ ३४८
दुज्जणससग्गीएवि	२९६ ३५१
दुट्ठा चवला अदि	६४६ १३१०
दुविध त पि अणीहा	८७३ २०१०
दुविहपरिणामवाद	७८८ १७६६
दुविह तु भत्तपच्चक्खाण	१०४ ६४
दुविहा पुण जिणवयणे	१० ३
दुस्सहपरीसहेहि य	२७७ ३०३
दूओ वमणिवग्घो	५७७ ११२५
दूरेण साधुसत्य	६४४ १३००
देवत्त माणुसत्तेज ते	७२३ १५८३
देविगमाणुसभोगे	६१५ १२१३
देविद चक्कवट्टो	७३९ १६५०
देविद चक्कवट्टो	६३२ १२५९
देविद चक्कवट्टो	९०३ २१४२
देविद रायगहवइ	५१३ ८७०
देवोहि भीसिदो वि हु	२३० १९८
देवो माणी सतो	७२५ १५९४
देमकुलस्वमारोग्ग	८३० १८६३
देस ओच्चा हा हा	४५२ ६९२
देसामासिय सुत्त	५७२ १११७
देसेक्क देसविरदो	८८७ २०७२
देहतियवधपरिमोक्खत्थ	८९७ २११७
देहम्मि मच्छुल्लो	५४९ १०२७
देहस्स बोयणिप्पत्ति	५४१ ९९७
देहस्स लाघव णेहसवेगो	२५५ २४६
देहस्स सुक्कसोणिय	५४२ ९९८
देहे छुहादिमहिदे	६२६ १२४३
दोसेहि तेहि वहुण	७९७ १७९०
ध	
धणिद पि सजमतो	१०१ ५९
धण्णा हु ते मणुस्सा	२७५ ३०१
धण्णो सि तुम सुविहिद	३८७ ५१५
धत्ति पि मजमतो	५१२ ८६४
धम्मस्म लक्खण से	७५९ १७०४
धम्म चदुप्पयार	७५१ १६९४
धम्माम्मागासाणि	७१ ३५
धम्माम्मावेण दु लोगगो	९०० २१२८
धम्मेण होदि पुज्जो	८२७ १८५२
धादुगद जह कणय	८२६ १८४७
धादो हवेज्ज अण्णो	४१२ ५८९
धावदि गिरिणदिसोद	७६५ १७१८
धिदिखेडएहि इ दियग्गे	६७१ १३९५
धिदिघणिदवद्धकच्छो	२३५ २०५
धिदिघणिय बद्धकच्छा	७०५ १५३३
धिदिघलकरमादहिद	३७९ ५०७
धिदिघम्मिएहि उवसम	६७२ १४००

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
घोरतणमाहृष्य	७३७	१६४०	पदमक्खर च एक्ख	७६	३८
घोर पुरिस चिण्णाइ	४०६	५७०	पञ्चद्व बोधिलाम्मा	६३९	१२८०
घोरपुरिमपणस्त	७४४	१६७१	परगणवासी य पुणो	३०७	३८९
घूली णेहुत्तुप्पिगत्ते	८०९	१८१७	परदव्वहरणवुद्धी	५१२	८६८
			परदव्वहरणमंद	५११	८५९
प			परदोसगहणलिच्छो	२९६	३४९
पडमणिपत्त व जहा	६०६	११९५	परमिच्चवाए ज ते	७२३	१५८५
पक्कामयामयत्या	५४९	१०२५	परमिद्धि पत्ताण	९०२	२१४१
पक्खिय चाउम्मासिय	४१२	५९२	परमहिल सेवतो	५२५	९२१
पगदे णिम्मेस गाहुए	३७८	५०३	परलोगणिप्पिवासा	८५८	१९४९
पगलत रधिरधारो	७१८	१५७४	परलोगम्मि य चोरो	५१२	८६५
पगुणो वणो मसत्तल	४१४	५९९	परलोगम्मि वि दोसा	५०६	८४४
पच्चवत्थाण पडिक्कमणु	४५७	६८६	परिदड्ढसव्वचम्म	५५०	१०३२
पच्चवत्थाण धामण	१०७	६९	परिभागम्मि असत्ते	६७९	१४२७
पच्चाहरित्तु विसर्येहि	७५७	१७०२	परमाणू वि कहचिवि	५३५	९५९
पजहिय मम्म देह	८५०	१९३१	परियाइगमा लोचिय	८७७	२०२७
पडहत्थस्स न तित्थो	५७९	११३८	परिवडिद्धदोवघाणो	२६५	२७१
पडिक्कविदे विमण्णे	७३१	१६१८	परिहर असत्तवयण	४९८	८१७
पडिचरए आपुच्छिय	३८५	५२०	परिहरइ तत्तणमोद्धी	५६२	१०७८
पडिचोदणा सहणदाए	३०८	३९१	परिहर छज्जीवणिकायवह	४८०	७७५
पडिचोदणा सहणवाय	२६४	२६७	परिहर त मिच्छत्त	४६२	७२५
पडिमापडिवणा वि हु	८८५	२०६५	परसवयणादिगेई	६९९	१५०७
पडिह्वकायसफामणदा	१६६	१२३	परस कडुय वयण	५०२	८२६
पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ	१२९	९६	पदयणणिप्पवयाण	४१७	६०७
पडिसेवणादिचारे	४२६	६१९	पव्वज्जाए सुद्धो	८७६	२०२५
पडिसेवणादिचारे	४२७	६२०	पव्वज्जादी मव्व	३९३	५३७
पडिसेवादो हाणी	४२८	६२०	पव्वज्जादी सव्व	३८२	५१३
पडिसेवित्ता कोई	४२०	६२४	पव्वदमिप्ता माणा	५२८	९२४
पढम असत्तवयण	४९९	८१८	पस्मादि जाणदि य तहा	१०१	२१३५
पटमेण व दोवेण व	३३८	४२९	पहिया उवामये जह	७८२	१७५३
पट्टने मोपदि वेगे	५१८	८८७	पचच्छ सत्तमदाणि जोयणाण	३११	४०३
पणिघाण पि य दुविह	१५०	११५	पचमहव्वयजुत्तो	२८६	३२१
पत्तम्म दायगत्तस य	२४२	२२३	पचमहव्वयरत्तमा	४६०	७३२
पत्य ह्रिदयाणिट्ठ	२९९	३९९	पच य अणुव्वदाइ	८८७	२०७३
पत्य ह्रिदयाणिट्ठ	२९९	३६०	पचविधे आयारे	३३५	४८५
			पचविह जे सुद्धि	२११	१६६

पृ०	गा०	पृ०	गा०
पचविह जे सुद्धि	२१२ १६७	पासत्यादीपणय	२९३ ३४१
पचविध बवहार	३५५ ६५०	पामत्यो पामत्यस्स	४१६ ६०३
पचसमिदा तिगुत्ता	८४९ ११२५	पासित्तु कोइनादी	४५१ ६९०
पचेव अत्यिकाया	७६० १७०६	पासिय मुच्चा व मुर	५६२ १०७५
पचेदियप्पयारो	४३७ ६३४	पासेहि ज च गाढ	७१७ १५७१
पजरमुक्को सउणो	६६८ १३१४	पामो व वधिदु जे	९३९ ९८०
पडिदपडिदमरण	६० २६	पाहाडघादु भजन	५५२ १०४०
पडिदपडिदमरणे	६१ २७	पियधम्मवज्ज मोह	१९० १४७
पय छडिय सो जादि	६६२ १२९३	पियधम्मा दढवम्मा	४३७ ६४६
पाउमकालपदीवोव्व	७३७ ९४८	पियविप्पओग दुक्ख	७२३ १५८४
पाओदएण अत्यो	७७० १७२६	पिल्लेदूण रडत	३६८ ६८१
पाओदएण सुट्टुवि	७७१ १७२७	पिण्ड उवहि सेज्ज	२७१ २९०
पाओवगमणमरणस्स	८८३ २०५७	पिंड उवहि सेज्ज	२७२ २९१
पाओणाभिमुहो वा	८७८ २०३१	पिंड उवधि सेज्जा	२७३ २९२
पाओणोदीचीमुहो	४०१ ५६२	पिंडोवधि सेज्जाए	४१८ ६११
पाओणोदीचीमुहो	३९७ ५५२	पोणत्याणिदुवदणा	५५४ १०४९
पाडयणियसणभिक्षा	२४१ २२१	पोदो भए य सोगे	६८१ १४३६
पाडलिपुत्ते घूदाहेदु	८८६ २०६८	पुज्जो वि परो	६६४ १३६६
पाडलिपुत्ते पचालगीद-	६६० १३५०	पुटविदनागणिपवणे	४१८ ६९०
पाडेडु परसू वा	५३९ ९८३	पुटवो आऊ तेऊ	८८४ २०६०
पाणगभत्तिभल पणिपूय	६९४ १४८५	पुटवी सिलामओ वा	४३६ ६३९
पाणिदलधरिदग्गंडो	५१६ ८८१	पुणरवि तहेव त ससार	७३८ १६४७
पाणवधमुसावादा	८८७ २०७४	पुण्णोदएण कस्सइ	७७१ १७२८
पाणो वि पाडिहेर	६९८ ८१६	पुरिसत्तादिणिदाण	६१६ १०१८
पावे कटयमादि	८८२ २०५१	पुरिमत्तादीणि पुणो	६१७ १२२०
पादोमिय अचिकरणिय	४९० ८०१	पुरिमम्म मण्यमत्यो	५६१ १०७८
पापविमोत्तिग परिणाम	१६८ १२७	पुरिमम्म दु वोसम	५२९ ९३८
पापम्माभवदार	५०६ ८४३	पुरिमम्म पावक्कमोदएण	७२८ १६०५
पायोपगमणमरण	६४ २८	पुरिसम्म पुणो साधू	७८५ १७६१
पावइ दोम भायाए	६६६ १३७८	पुरिम वधमुवणेदि ति	५३७ १७१
पावपओगा मणवच्चिकाया	८१३ १८२७	पुग्गिओ मक्कडिमरिगो	६६३ १३६३
पावपयोगामवदार	८१९ १८२३	पुव्वउदक्कम सडण	८२३ १८४१
पाव करेदि जीवो	७७४ १७६२	पुव्वकदमज्जकम्म	७२३ १ ७४
पासत्यमदमहस्सादो	२९८ ३५६	पुव्वकदमज्जपाव	६७७ १४१९
		पुव्वभणिदेण विणिगा	८८९ २०८५

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
पुष्पमकारिदजोगो	२२७	१९३	वधतो मुच्चतो	७९८	१७९१
पुष्पमभावितजोगो	४८	२४	वाढत्ति भाणिदूण	३०४	३७८
पुष्परिसीण पडिमाओ	८७१	२००२	वादरमालोचेंतो	४०९	५७९
पुष्प कारिदजोगो	२२८	१०५	वादर वाचिग जोग	८१६	२१११
पुष्प ता वण्णोसि	१०३	६३	वारस वासाणि वि	५२२	९०९
पुष्प सयमुवभुत्त	६७७	१४२०	वारम विहम्मि वि त्वे	१३९	१०६
पुष्प सयमुवभुत्त	७३२	१६२१	वालग्गिबग्ग-महिस्-मय	८७३	२०१२
पुष्पाभोगियमग्गेण	८६४	१९७५	वालत्तेण कद सव्वमेव	५४७	१०१९
पुष्पायरियणिबद्धा	९०७	२१६०	वालमरणाणि साहू	२३१	२०१
पुष्पुत्त तवगुणाण	६८६	१४५१	वालादिएहि जइया	८७४	२०१६
पुष्पुत्ताणणदरे	२०७	१५९	वाले बुड्डे सीमे	८६२	१९६९
पुष्पुत्ताणि तणाणिय	८७७	२०३०	वालो अमेज्झलित्तो	५५८	१०६०
पूयावमाणरुव विरुव	६२२	१२३१	वालो विहिसणिज्जाणि	५४७	१०१६
पूयावयण हिदभासण च	१६७	१२५	वाहिर करणविसुद्धी	६५७	१३४२
पोगलगरिम्मि य	७०६	१५३५	वाहिरत्तवेण होदि हु	२५१	२३९
			वाहिर सगा खेत	५६९	१११३
फ			वाहि असद्वडिय	४४४	६६७
फलिहो व दुग्गदीण	६८९	१४६३	वोएण विणा सत्स	४१९	७४९
फासिदिएण गोवे सत्ता	६६०	१३५३	वोभत्थिभीमदरिसण	८७९	२०३९
फासेहि त धरित्त	३८६	५२४			
फिडिदा सत्ती बोधी	८३३	१८६६	भ		
ब					
वत्तोस किर कवला	२३७	२१३	भगव अणुग्गहो मे	३०५	३७९
वद्धस्स वधणे	७७८	१७४८	भज्जा भगिणी मादा	५२७	९२७
बहुगाण भवेगो जायदि	२५५	२४५	भत्त खेत काल	२६०	२५७
बहुगुणसहस्सभरिया	६९५	१४८९	भत्तादीण तत्तो	४५०	६८५
बटुजम्मसहस्सविमाल	७९६	१७८६	भत्तित्थि राय जणवद	४१९	६५०
बटुत्तिव्वदु खसलिल	७८६	१७६४	भत्तो सबोधिमि य	१६४	११९
बटुदुक्कवात्ताए	७९६	१७८४	भत्तो पूया वण्णजणण	८७	४६
बहुपावकम्भकरणाडवोमु	६४४	१२९९	भत्तेण व पाणेण व	४०३	५६५
बहुविग्गमूमिएहि	५५७	१०५९	भत्ते वा पाणे वा	३१०	३९७
बट्टमो वि बुद्धभावणाए	२३०	१९९	भयणीए विधम्मिजत्तीए	२३४	२०३
बट्टमो वि लद्धविजडे	६२०	१२२५	मयमागच्छमु मसारादो	६८२	१४३७
यधणमुक्को पुणरेव	६५१	१३२०	मन्धविए विरत्त	७०६	१५३४
यधवधजादण्णो	५११	८६१	भत्ते मम्म णाण	६९२	१४७६
			मारववत्ती पुरिमो	५८९	११७२

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
भार णरो बहतो	७९६	१७८७	महिलादिभोगसेवी	६३९	१२५०
भावाणुरागपेमाणुराग	६६५	७३६	महिला पुरिममवण्णाए	५३३	९५१
भावे सर्गविसयत्थे	९०१	२१३६	महिला पुरिम वयणेहि	५३६	९६४
भित्तो तिवल्लिमवयणो	६६१	१३५५	महिलालोयण पुव्वरदिसरण	६११	१२०४
मिण्ण पयडिम्मि लोए	७८२	१७५८	महिलावाहविमुक्का	५६९	११०७
भोदो व अभोदो वा	७२७	१६०४	महिला विग्घो घम्मस्स	५३९	९७९
भुजतो वि भुभोयण	६६७	१३१२	महिलावेसविलवी	५२७	९२६
भूमि सभह द लहुओ	४३५	६४२	महिलासु णरिय वीमभ	५२९	९३७
भूमोए सम कोला	७०६	१५३६	मट्ठकरि सभाजिज्जयमट्ठे	४८२	७७९
भोगणिदाणेण य सामण्ण	६२८	१२३६	मट्ठलित्त जसिघार	६५८	१३४६
भोगरदोए णासो	६३३	१२६८	मट्ठलित्त असिघार	७४१	१६६०
भोगा चित्तेदब्बा	६२४	१२३५	मत्ताभियोगकोदुग	२२३	१८४
भोगाण परिमत्ता	८८८	२०७६	मदा दृति कमाया	८४५	१९०६
भोगे अणुत्तरे भुजिळण	८५१	१९३६	मा कासि त पमारद	६६४	७३८
भोगेसु देवमाणुस्सगेसु	७४७	१६८२	मा कुणसु तुम वुद्धि	५०७	८४७
भोगोवभोगसोक्ख	६२६	१२४२	माणस्स भज्जणत्थं	६१७	१२२१
म			माणो वि असरिस्स वि	५२१	९०५
मग्गुज्जोवपजोगा	५९९	११८५	माणो विस्सो सव्वस्स	६६५	१३७१
मज्जणय गद्य पुप्फो	८८४	२०६१	माणुण्यपत्त पुरिमद्वदुमत्त	५२८	९३३
मज्जार रसिद सरिसोवम	२६९	२८५	माणुसगदित्तज्जादि	८९७	२११५
मज्झण्ह तिक्खसूर	५६७	१०९९	माणुमभवे वि अन्या	५१२	८६७
मणदेह दुक्ख वित्तासिदाण	६८९	१४६८	माणुममसपसत्तो	६००	१३५१
मणवयणकायजोगेहि	४५७	७११	माणेण जाइ कुल्लस्व	६१८	१२११
मणमा गुणपरिणामो	८७२	७५३	माद सुद च भगिणी	५६५	१०८९
मणुमाउय व वेदेदि	८९७	२११६	मादाए वि य वेमो	५०६	८४०
मत्तो गउअ णिन्व	५३३	९५३	मादा धूहा भज्जा	५२६	९२३
मत्थयमूचीए जघा	८९२	२०९५	मादुपिदुमुत्तदारेसु	५८७	११८१
मच्चमेव पिच्छदि जहा	६३५	१०६८	मायाए मितमेदे	६६६	१३०९
मयतप्पहादो उदय	३१२	५६१	माया करेदि णोचा	६६७	१३८०
मयतप्पिह्याओ उदय त्ति	४६१	७७४	मायागह्णे बहुदोम	५६८	११०८
मरणणि सत्तरस देमिदाणि	४९	२०	मायादोमा मायाए	६८५	१४५०
मरदि सप वा पुव्व	५५०	१०५१	माया पोसेइ सुय	७८३	१७५५
मल्लस्स णेहाण	८४१	१८८९	माण व होइ विम्मम्मणिज्जो	५०६	८३६
महिलाकुल्लवाम	५२८	९३२	माया वि होइ भज्जा	७०१	१७३३
महिलाण जे दोसा	५४०	०८३			

	पृ०	गा०		पृ०	गाथा
मायामल्लम्सालोयणा	६३८	१२७९	रत्ति रत्ति स्वस्ते	७८१	१७५२
मारणमीलो कुणदि हु	४८७	७९४	रदणाजला सवग्धा	५३७	९६९
मारेदि एवमवि जो	४८८	७९८	रदि अरदि-हरिम-भय	४८१	७७८
मासम्मि सत्तमे तस्स	५४३	१००४	रयसेदाणमगहण	१३०	०७
मासेण पच्च पुलगा	५४३	१००३	रवि-चद-वाद-वेज्जव्वियाण	७७२	१७३३
मिच्छत्तमोहणादो	४६२	७२६	रसपोदय व कडय	८१०	५८५
मिच्छत्त मोहिदमदी	७८५	१७६३	रगगदण्डो व इमो	७९०	१७६९
मिच्छत्त वेदरागा	५७०	१११२	राइणिय अराडणीएसु	१६९	१२०
मिच्छत्त सल्लदोसा	६३९	१२८१	रागहोमाभिह्दा	३९५	५४४
मिच्छत्त सल्लविद्धा	४६३	७३०	रागविवागसत्तप्हा	५९१	११७७
मिच्छत्तस्स य वमण	४६०	७२१	रागेण य दोसेण य	८२८	१८५६
मिच्छत्त अविरमण	८१०	१८१९	रागो दोसो मोहो	५२४	९१४
मिच्छत्त वेदतो	७७	४०	रागो लोभो मोहो	५७१	१११५
मिच्छत्तासवदार	८१८	१८२९	रागो ह्वे मणुण्णे	५८६	११६४
मिच्छादसणसल्ल	३९३	५४०	रामस्म जामदग्निस्म	६६९	१३८८
मित्ते सुयणादीसु य	७४७	१६८१	रायादि कुहु वीण	७२८	१६०६
मुक्को वि णरो कलिणा	६५१	१३२१	रायादिमह्दुटीयांगमण	७४५	१६७४
मुक्खस्स वि होदि मदी	७७०	१७२६	राया वि होइ दामो	७९९	१७९५
मुत्त आठयमेत्त	५५०	१०२९	रहो पगसगे सच्चई य	५६६	१०९५
मेघहिमफेण उक्का	५५६	१०५४	रट्ठो णर वधित्ता	४८८	७९६
मेरुव णिप्पवपा	७०५	१५३१	रुव सुन च असुभ	६७५	१६१०
मोक्खाभिलासिणो	७३५	१६३४	रुवाणि वट्ठकम्मादियाणि	५५६	१०५३
मोक्खाभिलासिणो	७२८	१६०८	रोग इच्छेज्ज जहा	६२५	१०४०
मोणाभिग्गह्णिग्गो	८८२	२०५३	रोगाण पडिगारो णत्थि	७७३	१७२७
मोत्तुण रागदामे	३५७	४५३	रोगाण पडिगारा दिट्ठा	७७३	१७३६
मोहगिणादिमह्दा	२८२	३१३	रोगादकादीहि य	३०९	३९३
मोहोदयेण जीवो	७६	३९	रोगादके सुविहिद	६९९	१५१०
मोहोदयेण जीवो	५६१	९९५	रोगादिवेदणावो	७७४	१०४३
	२		रोगा विविहा वाघावो	७२२	१५८०
रक्खा भएमु सुतवो	६८९	१४६६	रोगो दाहि वा	५३०	९४९
रक्खाहि वंभवेर	५१३	८७१	रोमाइट्ठो णीलो	६६१	१३१८
रज्ज खेत्त अधिवदि	३८४	५१९	रोमेण महायम्मो	६७७	१४१८
रणभूमोए कवच	८४१	१८८७	रोहेडम्मि मत्तोए	७०८	१५४४
रत्ति रागम्मि दुमे	७६४	१७१५			

पृ० गा०

पृ० गा०

ल

लज्ज तदो विहस
लज्ज तदो विहस
लज्जाए गारवेण व
लङ्घूण य सम्मत्त
लङ्घूण वि तेलोक्क
लङ्घेसु वि तेसु पुणो
लघिज्जतो अहिणा
लिग च होदि अन्तरस्स
लीणो वि मट्टियाए
लेम्सासोघो भज्जवसान
लोगम्मि अत्थि पक्खो
लोणागासपसा
लोमो विलीयदि इमो
लोचकदे पु डत्त
लोमे कए वि अत्थो
लोमेणामावतो पावइ दोमे
लोमो तणे वि जावो
लोहेण पीदमुदय व
लोमे पवड्डिदे पुण

२९४ ३४२
७६० १०८०
३७३ ४९२
९७ ५२
४६७ ७४२
८३२ १८६४
६४० १३१७
६५७ १३४४
५६० १०२८
८४५ १००५
५१० ८५७
७९२ १७७४
७६२ १७११
१०३ ८९
६८० १४३१
६६७ १६८०
६६८ १३८८
३७० ४८८
५०८ ८५१

वड्ढत्तलो विहारो
वण्णरणत्तलो विज्जो
वण्णरसगधजुत्त
वत्ता कत्ता य मुणो
वदभडभरिदमान्हिद
वधवन्वरोवधणहरण
वमिग अमेज्जसरिम्
वमिन्ना अमेज्जमज्जे
वमिय व अमेज्ज वा
वयणकमलेहि गणिअभि
वयणपडिडत्ति कुमलत्तण
ववहारमयाणतो
वसदोए पलिविदाए
वसमोसु य उववीसु य
वदणभत्तीमित्तेण
वाड्य-पत्तिय-सिभिय
वादी चत्तारि जणा
वादुभामो व मणो
वायणपरियट्ठण पुच्छणाओ
वायाए अकट्ठा
वायाए ज कहण
वाग्गदी य वसेसा
वाहभयेण पलादो
वाहिव्व दुप्पसज्जा
विक्खेवणी अप्पुग्गदस्स
विच्छिण्णगोवगो
विज्जा जहा पिभाय
विज्जा वि भत्तिवत्तस्म
विज्जावन्धस्म गुणा
विज्जाहरा य वलदेव
विज्जू व चचले केण
विज्जू व चचलाड
विज्जा सहमतत्तल
विज्जायदि सुग्गी

२६९ २८३
५७७ ११२६
४०५ ५६८
३७७ ५०२
६४० १२८३
४८७ ७९५
५४५ १०१०
५४४ १००७
५४६ १०१२
६९१ १४७३
५२२ ९०६
३५८ ४५४
७१० १५५२
१२६ १५५
४७० ७५१
५५६ १०४७
४६५ ६६८
१७५ १३६
८८१ २०६६
३०२ २६८
३०१ ३६७
६६६ १३६८
६४८ १३१३
१०८ ७०
४४१ ६५७
७१७ १५७३
४७१ ७६०
४६८ ७४७
६९५ १४९१
७७३ १७३८
८०६ १८०६
७६२ १७१२
७०२ १७३४
५११ ८९२

व

वहरदणेसु जहा
वग्गपरद्धो लग्गो
वग्गविसचोरअग्गि
वग्गादीण दोसे
वग्गादीषा एदे
वग्गो सुज्जेज्ज मदय
वच्छोहि अवदवणता
वज्जणमणुण्णादगिह
वज्जेदि वमचारी
वज्जेह अप्पमत्ता
वज्जेहि चयणक्कप्प
वज्जो य णिज्जमाणो
वट्ठति अपरिदत्ता

८४२ १८९०
५५७ १०५७
५३१ ९६६
५४० ९८६
५३१ ९४३
६३० १२५०
६९६ १४९४
६११ १००३
१२७ ९३
७९१ ३३२
७७० ७८३
५९६ १०५६
४५८ ७१५

पृ० गा०

पृ० गा०

विट्ठापुणो भिणो	५५१	१०३७	बोहू गिलादि देह	२६५	२७३
विणएण विण्णहणस्स	१७०	१३०	बोलेंज चक्कमत्तो	७७३	१७३९
विणओ पुण पचविहो	१४२	१११	बोसट्टचत्तदेहो	८८४	२०६२
विणओ मोक्खद्वार	१७०	१३१	वदिय णिसुडिय पडिदो	२६८	२८०
विद्धत्थो य अफुडिदो	४३५	६४१	स		
विधिणा कदस्स सस्सस्स	४६९	७५०			
विमलाहेदु धकेण	८०४	१८००	सक्क हविज्ज दट्ठु	५३५	९६१
विमडाए अवियडाए	२४५	२३१	सक्कार उवकार	५३०	९४२
विरियत्तरायमलसत्तणेण	६८५	१८४९	सक्कारो सक्कारो	५१४	८७४
विबहाहि एसणाहि य	२५७	२४९	सक्का वसी छेत्तु	३३८	४३६
विबिहाओ ज्ञायणाओ	५८४	११६०	सक्खीकदराय हीलण	७३४	१६३१
विब्बोगतिवत्तदत्तो	५६०	१ ०८	सक्खीकदरायासादणे	७३५	१६३३
विसएहि से ण कज्ज	९०४	२१४८	सगडालएण वि तथा	८८६	२०७०
विसयमहापकाउल	६८८	१४६०	सगडो हु जइणिगाए	५६६	१०९४
विसयवणरमणलोला	६७३	१४०७	सगणत्थे कालगदे	८६७	१९८९
विसयसमुद्द जीव्वण	५७०	१११०	सगणे आणाकोवो	३०७	३८७
विमयाडवोए उम्मग	८१८	१८५५	सगणे व परगणे था	३०३	३७१
विमयाडवोए मज्जे	६४०	१२८६	मगुणम्मि जणे सगुणो	३०२	३६९
विमयाभिसारगाड	७९६	१७८५	सच्चम्मि तलो सच्चम्मि	५०५	८३६
विस्साकर हव	११८	८३	सच्च अवगददोस	५०४	८३५
वीरपुरिसेहि ज	६९२	१४७९	सच्च असच्चमोस	६००	११८६
वीरमदोए सुल्लगद	५३१	९४५	सच्च बदति रिसलो	५०४	८३१
वीरासणमादीय	८८९	२०८४	सच्चित्ता पुण गया	५८३	११५६
वीरासण च दण्डाय	२४३	२२७	सच्चित्ते साह्रिदो	८८०	२०४३
वीरियमणत्तराय	८९३	२१००	सच्चेण जगे होदि पमाण	५०५	८३७
वीमत्थदाए पुरितो	५६३	१०८१	सच्चेण देवदाजो	५०४	८३३
वीस पलिया पवैत्थ	४९२	८०३	सज्जायकाल पडिलेहणादि	८८१	२०४८
वीसफलतिणिमोदय	४९२	८०३	सज्जायभावणाए	१४१	१०९
बुद्धो वि तरणसीलो	५६१	१०७१	सज्जाय कुव्वतो	१३६	१०३
बेउव्वणमाहारय	८८०	२०५२	सट्ठि साहस्सीवो	६६६	११७५
बेज्जावच्चकरो पुण	२८७	३२३	सइदाए बहिट्टदाए	२८४	३१८
बेडेह विमयेहेदु	५०३	९१३	मण्णाउ कसाए वि	२७४	३००
वेमाणिएसु वणोवगेसु	८८८	२०८०	मण्णा-नारव-पेसुण	५७५	११२०
वेमाणिओ धल्लगदो	८६९	१९९८	मण्णाणदीमु ल्ळा	६४३	१२५७
			सत्त तयाओ कालेज्ज	५४९	१०२४

पृ०	गाथा	पृ०	गाथा
सत्तोए भत्तोए	२८० ३०६	मयणे जणे य सयणा	५१६ ८७९
सत्तो वि ण चेव ह्दो	६७६ १८१७	सयमेव अप्पणो सो	८७९ २०३६
मत्थ बहुल लेवड	४५४ ६९९	सयमेव वतमसण	६४९ १३१८
सदमिस् भरणी अद्दा	८६६ १९८३	सरजूए गममित्तो	६६० १३६९
सदिबाउगे सदिवले	२५७ २५१	सरवामे वि पडते	६०६ ११९६
सदिमलभत्तस्म वि कादव्व	६९८ १५०४	सरत्तोए चदिगाए	८०६ १८०४
सदिमतो घिदीमतो	८५२ १९३७	मलिलादोणि अमेज्ज	८०८ १८१२
सद्दरमत्तवगधे	१५० ११६	मलिलणिवुडोव्व	५२२ ९०८
सद्दवदीण पास	४४९ ६८६	सल्लविसकटएहि	६४२ १२९२
सद्देण मओ ह्वेण	६५८ १३४७	मरल उद्धरिदुमणो	३११ ४१०
सद्दे त्वे गधे	३८७ ५२५	मत्तेह्णा करंतो	२६६ २७४
सद्दे त्वे गधे	६७५ १४०८	सल्लेह्णा करंतो	२१७ १७४
सपरिग्गहस्स अब्भ	६२५ १२३९	मल्लेह्णा पयासेज्ज	३३५ ४२७
मप्प बहुलम्मि रण्णे	५८५ ११६३	सल्लेह्णा सुणिता	४४८ ६७९
समणाण ठिदिक्कप्पो	८६० १९६१	सल्लेह्णाए मूल	४४८ ६८०
समणस्स माणिणो	७०२ १५१८	मल्लेह्णा दिसा खामणा	१०६ ६७
समिदकदो धदपुण्णो	५४२ १०००	सल्लेह्णा परिस्सममिम	७८४ १६७०
समिदा पच्चसु समिदीसु	२७४ २९९	मत्तेह्णा य दुविहा	२३६ २०८
समिदि विट्ठणावमारुहिय	८२२ १८३५	सत्तेह्णा विमुदा	७४३ १६६९
समपलियकणिसेज्जा	२४३ २२६	सल्लेह्णा सरीरे	२५८ २५२
समिदीसु य गुत्तीसु य	३७ १६	सविचारभत्त पच्चवत्ताण	१०४ ६५
समिदीसु य गुत्तीसु य	८५७ १९४७	मविचारभत्तवोसरण	८७१ २००६
सम्मत्तस्स य लभे	४६७ ७४१	सव्वगुण समग्गाण	५४१ ९९४
सम्मत्तादोचारा	७९ ४३	मव्वगयथविमुक्को	५९१ ११७६
सम्मट्टमणत्तुम्भ	८२९ १८५९	सव्वजगजीवहिदए	३०६ ३८३
सम्म कदस्स अपरिस्सवस्स	६९० १४६८	सव्वजयजोवहिदए	३०५ ३८२
सम्म खवएणालोच्चिदम्मि	४२७ ६२१	सव्वत्तो वि विमुत्तो	२९२ ३३७
सम्म सुदिमलहत्तो	३३८ ४३५	मव्वत्थ अप्पवमिओ	५८९ ११७१
सम्मादिट्ठिस्स वि	२२ ७	मव्वत्थ इत्थिवग्गम्मि	२९२ ३३६
सम्मादिट्ठो वि णरो	१११ १८२२	सव्वत्थ णिब्बिसेसो	२१६ १७२
सम्मादिट्ठो जीवो	६८ ३१	सव्वत्थ णिब्बिममो	७४७ १६८४
सम्मोह्णाए काल	८५९ १९५५	सव्वत्थ दव्वपज्जय	२१६ १७२
मयणस्स जणस्स पिओ	६६५ १३७३	सव्वत्थ होइ लहुणो	५८८ ११७०
सयण मित्त आसय	५११ ८६०	सव्वपरियाइयस्स य	४३१ ६३१

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
सञ्चमि इत्यवगमि	५६७	१०१७	सहल माणुसजम्म	८२८	१८५७
सञ्चममाधाणेण य	८४९	१५२६	महमाणाभोगिय दुप्प	८९५	८०८
सञ्चसमाधि पढ्माए	८६१	१९२५	सहमा चुक्कर कलिद	८८२	२०५०
सञ्चम्म दायगाण	३०६	३८५	महमाणाभोगिद दुप्प	६०४	११९२
सञ्च अधियासतो	७४३	१६६६	सहिदय सकण्णयाओ	३०५	३८१
सञ्च आहारविधि	८७८	२०३३	सकप्पडय जादेण	५१७	८८४
सञ्च पि सकमाणो	५८०	११४२	सखित्ता वि य पवहे	२६९	२८४
सञ्च भोच्चा धिद्धो	४५२	६९३	सखेज्जमसखेज्जगुण	९६	५१
मब्बासु अवत्थासु वि	५४४	१००५	सखेज्जमसखेज्ज	७२६	१५९८
मब्बाहारविधानेहि	७३९	१६५२	मखेज्जा सखेज्जाणता	१०२	६२
सञ्चुक्कस्स जोग	८८९	१९२२	सगावि जहणेण व लहुदयाए	८९८	२१२२
सञ्च रत्ते पणीदे	२३६	२७९	सगणिमित्त कुद्धो	५८१	११४७
सञ्चो वि कोहदोसा	६६५	१३७२	सगणिमित्त मारेइ	५७४	१११९
मञ्चे वि गयदोसा	६६९	१३८७	मग परिमग्गणादी	५८७	११६७
मञ्चे वि जये अत्था	६८०	१४३२	मगो मन्नाय्य ज	५७६	११२४
सञ्चे विणिज्जणतो	८७८	२०३४	मघो गुणसघाओ	४५७	७१३
मञ्चे वि निण्णमगा	३८९	५२९	मजदकमेण खवयस्स	४३८	६४९
सञ्चे वि य उवसग्गे	७००	१५११	मजदजणस्स य जम्हि	१९६	१५४
मञ्चे विय ते भुत्ता	९७४	१४११	सज्जदजणावमाण	२९८	३५७
सञ्चे वि य मवधा	४८७	७९२	मजमरण भूमीए	८२६	१८५०
सञ्चेमिमासमाण	४८६	७८९	मजमसाधणमेत्त	२१०	१६८
मञ्चेमि उदय ममागदस्स	८२४	१८४४	मजममिहरास्टो	६१५	१२१४
सञ्चेमि मामण्ण	७३३	१६२६	मजममाराहतेण	१९	६
मञ्चेमि मामण्ण	७३३	१६२७	मजमहेदु पुरिसत्त	६१४	१२१०
मञ्चेसु द्वय पज्जप	७४६	१६७९	मजोगविप्पओग्गेमु	७४६	१६८०
मञ्चेसु य मुलुत्तर गुणेषु	८५८	१९५०	सजोपणमुद्धकम्माण	६९६	८०९
सञ्चो उवहिदवुद्धो	५०९	१५२	मजोयणा क्रमाये	८८९	२०८६
मञ्चो पोगलकाओ	८८०	२०४१	सभाव णरेमु मदा	५३४	९५५
मञ्चो पोगलराओ	८८०	२०४२	मन सगुण कित्तिज्जत	३०१	३६५
मञ्चो वि जणो सयणो	७८१	१७५१	मत्ते सगणे अम्ह	३१०	४००
सञ्चो वि जहायाधे	४८५	७८५	मत्ता वि गुणा अकहितयस्स	३००	३६३
ममगो वाह परद्धो	७९४	१७७७	मत्ता वि गुणा कन्थतयम्स	३००	३६२
मस्सो म भरघामस्स	६६७	१३८३	मत्तो वि मट्टियाए	५६०	१०६९
			मथारपदोम वा	३३९	४४२

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
सथारभतपाणे	३७६	४९८	साकेदपुरे सोमघरस्म	६६८	१३८५
नपत्ति विवत्तीसु य	६३२	१०६०	साधारण सवीचार	२४३	२२५
सपलियक गिसेज्जा	२४३	२२६	माघुस्म धारणाए वि	२८८	३२६
सभर सुविहिय ज ते	७००	१५१२	साघु पडिला हेडु	५५६	१०५५
सभूदो वि णिदाणेण	६३७	१०७५	साघुम्म णत्थि लोए	२९३	३३९
भरभममारभारभ	४९३	८०५	साधेत्ति ज महत्थ	५९१	११७८
सरभो सक्कपो	४९४	८०६	साम सबल्लेहि दोम	७१३	१५६३
सवासो वि अणिच्चो	७६३	१७१६	सारीरादो दुक्खादो	७२५	१५९३
सविग्गदरे पासिय	१९०	१४८	सावज्ज सक्किलिट्ठो	४२८	६२३
सविग्गवज्जभोरुम्म	३११	४०२	मा वा हवे विरत्ता	५५५	१०५२
सविग्गस्सवि समग्गीए	२९४	३४३	साहू जघुत्तचारी	८८९	२०८२
सविग्ग सविग्गाण	१८९	१४६	मिण्हाणम्भगुब्बट्ठ	१२६	९२
सविग्गाण मज्जे	२९७	३५५	मिण्हाणम्भगुब्बट्ठेहि	५५२	१०३९
सविग्गो वि य सविग्गदरो	२९७	३५५	सिदिमाराहित्तु कारण	२१९	१७७
सविग्गजणिय करणा	२८६	३२०	सिद्धपुरमुवल्लीणा	६४४	१३०२
सवेगजणियदकरणा	४६८	७४४	सिद्धे जयप्पसिद्धे	१	१
सवेगजणिय हासो	२६८	२८१	सिगार तरणाए	५६८	११०५
सवेयणो पुण क्हा	४४१	६५६	सोद उण्ह तण्ह	५२३	९१०
समग्गीए पुरिसस्म	५६४	१०८६	सोदावेइ विहार	२७२	२९३
समग्गी समूदो	५६४	१०८७	सोदुण्ह छुहा तण्हा	३७६	४९९
सत्तयवयणीय तहा	६०४	११९०	सोदुण्ह दसमसपादि	५८६	११६५
सयारत्थो खवभो	६९४	१४८७	सोदुण्हादववाद	५७७	११२७
समार महाडाहेण	६८७	१४५७	सोदेण पुब्ब इरियदेवेण	७०८	१५४२
समारमूलहेडु	४६१	७२३	सोलद्धगुणद्धेहि दु	३०६	३८४
समारम्म अणत्ते	७८०	१७५०	सोलवदोओ मुच्चत्ति	५४१	९९२
समारम्म अणत्ते	८२९	१८६१	सोल वद गुणो वा	४८६	७८८
समार विममदुग्गे	६८९	१४६५	सोह तिम्मिगिल गिलिदम्म	७७३	१०४०
समार समावण्णा	७२	३६	सुइपाणएण अणुसट्ठि	७२७	१६०३
समारस्तागरम्म य	३३७	४३२	सुक्क लेम्मसमुवगदा	८५२	१९३९
समारस्तागरम्म य	३४१	४४८	सुक्काए लेस्साए	८४६	१९१०
ससारसागरे मे	८०९	१८१६	सुविए समे विचित्ते	८८९	२०८३
समारडावि गित्थर	६८३	१४३९	सुचिरसवि णिरदिचार	३६	१५
समिट्ठ फल्लिह परिखा	२४१	२२२	सुचिरवि सक्किलिट्ठ	८४०	१८८५
सानेदपुराधिवदो	४२०	९४३	सुजणो वि होइ लुट्ठो	२९५	३४७

	पृ०	गा०		पृ०	गा०
मुद्गुकदाणवि मम्सादीण	६८७	१४५५	सूरो तिवखो मुखो	५७८	११३३
मुद्गुवि आवइपत्ता	७०३	१५२२	सूलो इव भेतु जे	५३९	९८१
मुद्गु वि पिओ मुहुत्तेण	६६३	१३६४	सेज्जा सथाग्य पाणय च	७४८	१६८८
मुद्गु वि मग्गिज्जतो	६०९	१२४८	सेज्जाभासणिसेज्जा	२८०	३०७
मुडय ममग्गीए	५६१	१०७२	सेज्जोवधिसथार	३३५	४२६
मुण्णधर गिरियुहा रक्ख	२४८	२३३	सेदो जायदि सिलेसो	५५१	१०३६
मुत्तत्यथिरोकरण	१९२	१५१	सेवइ णियादि रक्खइ	५७७	११२९
मुत्त गणहरगयिद	६९	३३	सेवदि णिवादि रक्खदि	५२३	९१२
मुत्तादो त सम्म	६९	३२	सेवेज्ज वा अकप्प	४४८	६७७
मुदभावणाए णाण	२२८	९६	सेसा य दृति भवा सत्त	९४	४९
मुदिपाणएण अणुसट्ठि	३३८	४३८	सो कदसामाचारी	४३०	६२९
मुद्धणया पुण णाण	१७	५	सो कठोल्लगिदसिलो	६५१	१३२३
मुद्धे सम्मत्ते अविरोदो	४६६	७३९	सोक्ख अणपेक्खत्ता	६२७	१२४४
मुवहुस्सुदा वि मत्ता	४२५	६१६	सोगस्स सरो वेरस्स	५३८	९७७
मुवहुस्सुदो वि अवमा	६५५	१३३५	सोच्चा सल्लभणत्थ	४५३	६९६
मुमरणपु खा चित्तावेगा	६७०	१३९४	सो णाम वाहिरत्तओ	२५०	२३८
मुयभत्तीए विसुद्धा	८५१	१९३२	सो णिच्छदि मोत्तु जे	६५१	१३२२
मुलहा लोए आददठ	३६९	४८४	सो तेण पचमत्ताकालेण	८०७	२११८
मुविहिय अदीदकाले	७२२	१५८१	सो तेण विडज्जतो	३३९	४४०
मुविहियमिम पवयण	७७	४१	सो दस वि तदो दोसे	४१७	६०८
मुस्सुसया गृएण	२७५	३०२	सोदूण उत्तमट्ठस्स	४४९	६८२
मुहणिकववणपवेसण	४३३	६३६	सोदूण किंचि सह	५८०	११४४
मुहमीलदाए	६८	१४४६	सो भिदइ लोहत्थ	६१६	१२१६
मुहम व वादर वा	४०९	५८०	सोयइ विलपइ कदइ	५८१	११४९
मुहम व यादर वा	४१०	५८४	सोयदि विलपदी परितप्पदि	५१६	८७८
मुहुमादा कि मज्जा	८५७	१९४६	सोलस तित्थयराण	८७५	२०२२
मुहुमीलदाए अलभत्त	६८५	१०६६	सो सल्लेहिद देहो	८८४	२०५९
मुहुम किरिएण ज्ञाणेण	८९७	२११४	सो होदि माघु सत्यादु	६४५	१३०४
मुहुम किरिय मु तदिय	८३५	१८७३	ह		
मुहुमम्मि बायजोगे	८३९	१८८१	हत्थिणापुर गुन्दस्ते	७०९	१५४७
मुहुमाए छेस्साए	८९६	२११३	हतूण कसाए इदियाणि	३८७	५२६
मुडय मसग्गीए	५६१	१०७२	हदमावाम मुट्ठीहि	७३२	१६२७
मूट्ठगी ठहदि दिवा	१५८	८९	हम्मदि भारिज्जदि	५८०	११४०
सूरो तिवग्गो मुखो	५०१	९०४	हास-मय-लोह-कोट्ठ	५०२	८२७

पृ० गा०	पृ० गा०
हासोवहासकीडा	५६४ १०८४
हिमणिचभो वि व गिहसय	७६७ १७२२
हिस अलिय चोज्ज	६६४ १३६७
हिसादि दोस मगरादि	७८७ १७६५
हिसादो अविरमण	४८० ८००
हुकारजलि भमूहगुलोहि	८४३ १८९८
होइ चउत्त्य छट्ठमाइ	२३७ २१२
होइ णरो णिल्लज्जो	७३६ १६३८
होइ सय पि विसीलो	५२७ ९२८
होइ सुतवो य दोवो	६८८ १४६१
होळण अरो वि पुणो	७८३ १७५६
होळण वमणो सोत्तिआ	८०१ १८०१
होळण महड्ढीओ	८०० १७९७
होळण रिऊ बहुदुक्खकागओ	८०४ १७९९
होदि कमाउम्मत्तो	६५२ १३२५
होदि य णरये तिब्वा	७१२ १५६०
होदि सचक्खू वि अचक्खु व	५२२ ९०७
हाडु सिहडा व जडा	५०५ ८३८
होदि य वेस्सो	६६६ १३७८

विजयोदया में आगत पद्यों और वाक्यों की अनुक्रमणी

अ

अचेलगस्स ल्हस्स	३२७
अचेलगाण ल्हस्स	३२७
अजीवकाया धर्माधर्म [त० सू० ५११]	३६
अज्जवसिदेण वधो [समय० २६२]	४९०
अज्जामकाष्ठजनिस्तव-	६७७
अण्णाणपेह्णारव	४२१
अतो न सौख्य तदिहास्ति	८०३
अत्ता चैव अहिंसा	४८९
अत्यल्पमप्यस्य तदस्तु	३५१
अथ कहुति अरुहा	७०
अनुवृत्ति क्रिया भाषा	७१५
अन्यश्च पश्यन् बधिरश्च	७६९
अन्यावज्ञादरातिक्रमाण	३४५
अन्येषा यो दु खमशो	३४५
अन्योन्यघातार्थमनुप्रधाति	७२१
अन्योन्यतो मत्यजनान्च	७२०
अन्योन्यरन्त्रेक्षणनष्टनिद्रा	७२१
अपुटो ण दु भासेज्ज	३८
अप्पहिय कादब्ब	१९७, ३८५, ३९०
अच्छुपमानितजीवितदेवै	८०२
अभाषका एकोष्का	४८३
अरसमरुवमगन्ध [समय० ४९ गा०]	१४
अलाम्बुपत्त दा दासपत्त	३२४
अवग्रहीतु च तयेहितु च	७६९
असदभिधानमनूतम् [त० सू० ७१४]	४९८
असिर्मापि कृपि शिल्प	४८२
अह पुण एव जाणिज्जा	
[आचारा० ७।४।२०९]	३२५

आ

आउगवसेण जीवो	५०
आनेलक्को य ठिदो	३३०

आचेलक्को धम्मो

[वृ० कल्पभा० गा० ६३६९]	३०६
आचेलक्को य जो धम्मो [उत्तरा० २३।२९]	३२७
आज्ञापायविपाकविचयाय धर्म्यम्	
[त० सू० ९।३६]	७५२
आत्मानुभूतान्यपि न स्मरन्ति	७१९
आदाय नैदाघरवि शिर सु	८०१
आदावणादिजोग	१०९
आसंरौद्रधर्म्यशुबलानि [त० सू० ९।२८]	७५४
आलोचना हु दिवसिग	३३२

इ

इद सद वदियाण [पञ्चास्ति० १]	३
इति सततमपोह्यमान	३४८
इत्येवमादि शुभकमचिन्ता	८१७
इत्येवमाद्या सुगुणा	७१५
इन्द्रचापतडिदम्बुधराणा	८००
इरिय गोयर मुमिणादि	३३३
ईशितु सुरनृणामयत्नत	८०१

उ

उच्छ्वसन श्रमज नृपतेऽपि	८०२
उत्तिपेयुरवनी महाबलात्	८०१
उत्तमसहनस्पर्काग्र [त० सू० ९।६५]	७५२
उपपत्तिबलादर्थपरिच्छेदो नय	१७
उष्णणाणुष्णणा [मूलाचार ७।१२५]	३९५
उवसप्पिणी अवसप्पिणी [सर्वार्थ० मे उद्धृत]	७९२

ए

एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्	
[त० सू० ९।५]	४३९
एकेन्द्रियद्वीन्द्रियता भवेपु	७६९
एकान्तदु ख निरयप्रतिप्ल	३५१
एकेन जन्मस्वटता प्रमेय	३५१

विजयोदया मे आगत पद्यो और वाक्यो की अनुक्रमणो

२४३

एगधम्मे पवत्ताण [उत्त० २३।३०]	३२७	गोज्जाविकाधै परिमर्धमाना	७१९
एगेण ताव कप्पेण	३२७	गम्भीरवासिणो पाणा	४१९
एता कर्मभूवो ज्ञेया	४८२	घ	
एत्थ दु उज्जुगभाव	४२७	घ्नन्ति छिन्दन्ति भिन्दन्ति	
एस सुरासुर [प्रव० सा० १]	३	घ्राण विना गन्धमयो हि	७६९
क		च	
कप्पटिदोऽणुकपो	२०३	चर्यामिनार्याचरितामर्धर्या	८१७
कप्पटिदो भुजदि	२०४	चारित खलु घम्मो [प्रव० सा० १।७]	३२
कप्पटिद भुजदि	२०४	छ	
कम्पनै कणयेश्चक्रौ	७१५	छिदि भिदि तुदाकर्प	७१६
कर्मभूमिषु चक्रास्	४८३	छिन्नै शिरोभिश्चरणैश्च भग्नै	७१५
कर्मभूमि समुत्पन्नाश्च	४८२	ज	
कलुपचरितैर्नष्टज्ञान	७९५	जदि सुद्वस्स य वधो	४९०
कसिणाइवत्य कवलाई [निशीय]	३३४	जम्हा विणेदि कम्म	१४३
काओतिक भूदिकम्मे	८५५	जात्या भतो य कुलाद्वापि	३८५
काकिप्प्यामपि गणयन्	३५०	जात्यन्धमृका वधिराश्च वाला	७१९
काये पातिनि का रक्षा	२९१	जाद सय समत्त [प्रव० सा० १।५९]	१३३
काष्ठमग्निमनिल जल	६२१	जीवाजीवास्त्रवन्थ [त० सू० १।४]	१३३
काष्ठशैलशिलारूपे	७११	जीवान्म हन्त्या न मृषा वदेय	८१६
कि दर्पणेनावृतलोचनस्य	७६८	जे नित्य हू लघुसिगा	३३१
कुर्यान्न तम्मदगजोद्धृतदत्तवेग	७९९	ज्योतिर्विभूपान् गगनप्रवेशान्	८०१
कुल च रूप च मशश्च	८८८	ठ	
कोऽधिकार सुकुलेषु	६१९	ठावणिओ आयरिय	३३२
क्षुत्रा सन्ति सहस्रश	२९९	ण	
क्षुधाभिभूतस्य हि	३५२	ण कहेज्जो घम्मकह	३२८
खमणो याणेसणो	३३२	णगास्स भुइस्स म [दवै०]	३२७
खतो मद्दव अज्जव	८५	ण सिण्हयति तम्हा ते	४१९
ग		ण मे णिवारण	३२७
गइ इदिये च काये [मूला० १।१७]	१८	णात्तण अट्ठमुवेच्च	१३०
गदिमधिगदस्स देहो [पञ्चास्ति० १२९]	१३७	णाण दसणचरित्त	८६
गर्भहृतामपि ते दुरवस्था	८०२	णाणी कम्मस्स क्षयत्य	४९०
गारत्यो अण्णनित्य	२०४	णिह न वहू मण्णेज्ज	२७७
गोतवाद्यतत्तित्तमनिनार्द	८००	णिग्ग्यादि जट्ठणादिम् [वा अणु० २८]	७८८
गुणरनेवैरपि मयुता स्त्रिय	८०४	णहुत्तुपिदगत्तस्स [मूलाचार० २३६]	७१०
गुप्तिममितिधर्मानुप्रेक्षा [त० सू० ९।२]	१०५		

न		दृष्टं क्वचित्प्रवृत्तलविभूषणो	६२२
तत्त्वार्थयद्दान [त०सू० १।२]	९९, १८१	दृष्टा क्वचित्पुनरुत्पन्नपुण्यगणप्रधाना	७९९
तस्य एते हिरिमणे	३२४	दृष्टान्तसिद्धावुभयोविवादे [स्व० स्तो० ५४]	४१
तत्रैकजीव सुखभागमेव	३५१	दृष्टुं हित श्रोतुमयेहित च	७६९
तत्स्थैर्यार्थं भावना [त०सू० ७।३]	१४९	द्विधेह बुद्धिं प्रवर्तन्ति	७६८
तत्सेवा यदि न स्यान्न	३४८	न	
तथा प्रकारो विकलेन्द्रियाणा	७१९	न केवलं ते परलोक	२७१
तथा प्रकारैरन्येद्व	७१५	न सृतिविघ्नं तिविधेण	१६०
तथेह सर्वं परिचिन्त्यमान	३१२	नग्नं प्रेत इवाविष्ट	६२८
तदविरतदेशविरत [त०सू० १।३४]	७५४	न नेच्छति द्वेष्टि न	८२१
तद्भाव परिणाम [त०सू० ५।४२]	१०६	न वाञ्छति श्रोतुमिहादरेण	८२०
तम प्रवेशोऽस्मिन् मज्जन	७७०	न सेवितुं रागवशेन वाञ्छति	८२१
तस्मिन् स्वदेहे परिवाध्यमाने	३४६	नान्तर्गतोऽप्य न बहि	३५४
तानपि चासु पतेत् क्षुदनिष्ठा	८०२	नारकान्तत्र तेऽन्योन्य	७१५
तालैर्दि दलेर्दिनि व तलेव [कल्प०]	५७३	नालं विशालं नयनं तृतीय	७३०
तिष्ठ दासेव हन्ति त्वा	७१६	निमज्ज्यमाना उदविन्दुनापि	७१९
तीर्थादवाप्तं श्रुतमस्ति यस्य	७६८	निरोक्ष्य न द्वेष्टि	८२०
तेज्रधिना विधिना बहु	८०३	निशम्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि	८२०
तेस्तै प्रकारं सतत समन्ता	७२०	निपेय्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि	८२०
त्यागाद्भोगादेव समुत्प	८०४	निपेय्य न द्वेष्टि यदृच्छयापि	८२०
त्रिलोकमल्ला	२७१	निपेयितुं रागवशेन काक्षति	८२०
द		नृपश्च दास इवपश्च विप्रो	६१९
ददृक्षु व सौदृण	२०४	प	
दत्त्वा द्यावापृथिव्यो	७७६	पडिकमण गदिय	३३२
दप्प पमाद अणाभोग	४२१	पडिलेखं पात्रकदल	३२३
दर्शनमात्रमपि मना	३४८	पडिलेहं पादपुच्छन [आचा० २।५]	३२३
दानेन तिष्ठन्ति	१३४	पटमम्भि सब्वजीवा [आव० सू०गा० ९१]	३३०
दिव्यवीर्यबलविक्रमायुषो	८०१	परमचियं विगलितिय	३२
दुःखं गद अहाजाद [मूला० ७।१०४]	१५४	परिचत्तेसु वल्येसु	३२६
दुःखेभ्यो भवति नरेण	३५०	पावकाचलमुरन् वनावनी	८०१
दुविध पुण तिविहेण	१६०	पासत्पो सच्छ दो	५५
दूरमप्यतिपन्नन्ति लापवात्	८०१	पित्तप्रकोपेन विदह्यमाने	३५२
देगप्रवृत्तिगृहिणामदृत्स्नात्	८१५	पीठिना मदपत्यके	४१९
देहो भवोति बुच्चदि	४९	पुष्पासव सा त्रिविधानुबम्भा	८१६
ददह्यमानाश्च दवाग्निवेगै	७२१	पुरप्रामादयो यत्र	४८३

पुष्यगहिद पि णाण	१३९	माल्यैर्गन्धै सुखमनुलिप्ता	८०२
पृथिव्यत्तेजो	५	मिथ्यादर्शनाविरति [त०सू० ८।१]	४६१
पृष्टोऽप्यन्यै	३४५	मुष्टिभिर्यष्टिभिलोप्ये	७१५
पचवदाणि जदीण	१५९	मूत्रपथादशुचेरतिदु ख	८०७
प्रपाल्य मयम यत्र	४८२	मृगपासनमस्तकोष	८००
प्रपीयमानेऽम्बुनि पातितो	८०३	मृत्युवृत्त च विचिन्त्य	८०२
प्रबन्धे पातयाम्येन	७१६		
प्रमत्तयोगात् प्राणव्य [त०सू० ७।१३]	६०५	य	
प्रमादलोपार्थमतो नरेभ्यो	७१९	यच्चापद सौख्यमितीष्यतेऽत्र	३५१
प्रमोयते ह्यम्बु तृपाप्रशान्त्यै	३५२	यतश्च नैकान्तमुखप्रदानि	३५२
प्रविकाशय वक्त्रपङ्कजानि	८००	यत्पापे भुजमहिते करोति	३५०
प्रविश्य जन्मोदधिमध्येमेव	७२०	यत्र नार्यो नराश्चैव	४८३
प्राणभृतामिह मध्यमलोके	८०२	यत्र प्रकृतिभद्रत्वात्	४८३
प्राप्नोत्युपात्तादिह	३४५	यन्सुरसौख्यमनाप्य विभावे	८५३
प्राय इत्युच्यते लोक	३९०	यथाणुवेऽपि हतेऽपि भोजने	८०३
		यथा न मायाच्चलमौलिमालो	८१६
फ		यथाहमचेली	३२६
फुल्लपङ्कजसमैरय हस्ती	८००	यदि सन्ति गुणास्तस्य	३०१
ब		यदङ्कुशादिप्रहृतैर्गजाश्च	७२१
वन्ध को वा कोऽथवा	३४६	यद्येकदेहवहने लभतेऽपवाद	७९९
वलायुपो रूपगुणाश्च	३४६	यस्य गुणस्य भावाद्	४३
बुद्धि तव विगुव्य	७०	येषा न माना न पिना	७२०
भ		यस्तु प्राप्याप्यु	३४५
भवेत्वनन्तेषु सुखे तथापि	३५१	य सहसा भयमभ्युपायि	८०३
भूदीय ब धूलीय वा	८५५	र	
भूत्वाङ्गुलस्यासख्येय	४२३	रत्तो वा दुट्ठो वा	४८०
भूत्वाऽय मुन्दरतरोपि	३५०	रूपरसगन्ध	२२
भूत्वा मनुष्यपत्य	६२२	रोगजगदिविकलत्वविहोना	८०३
म		रोपेण मानेन च मायया च	८१६
मज्जयती जलीभूय	७१६	ल	
मति स्मृति सत्ता [त०सू० १।१३]	३७८	लिङ्ग गृहीत्वा महत्तामृषीणा	८१७
मत्यायुतानामलमेतदेव	७२१	लोको नाऽय नापरो नापि चात्मा	३४६
मद्यतूर्याम्बराहार	४८२	व	
महागुहा भीमतम प्रवेशात्	७७०	वने मृगास्तोयतृणप्रपुष्टा	७२१
मात्रावियोमेऽपि सतीह	७२०	वने मृगेभ्य पिशितागनेभ्यो	७२१
मा भेष्ट मा भूतव दु खजात	७२०		

वराङ्गनाङ्गानि व रागचोदितो	८२०	सर्वोपसर्गानिह मोक्षकाभा	७१९
वरिस् चोवरधारी [भावना]	३२४	सर्वतश्च विमलाम्बर वणं	८००
ववहारे मम्मते	६१	सञ्चमि लोमखिते [वा० अणु० २६]	७९१
वातपित्तकफजे परिमुक्त	८००	सधातत्र प्रसिधिलास्थि	३५४
वायुप्रकोपजनिते कफपित्तजैश्च	३५४	सपूर्वांशा स्वसुरभिगन्धे	८०२
विघ्नकण्ठमन्तरायस्य [त० सू० ६।२७]	२	मवासवेदणोपाद	२७४
वियोजिता आत्मसुतेश्च बाले	१२१	ससारोच्छेदकरो	३४८
विरदो सावगवग्ग च	३३०	ममारवासे भ्रमतो हि	६१९
विषममुखप्रतिबद्धलोलचित्तो	८१२	साधना शिवगतिमार्ग	३४९
विषया जनितेन्द्रियोत्पत्तवा	८१२	साधूपसेवन यदि	३४८
श		सिद्ध सिद्धद्वुण [सम्मति० १।१]	३
शङ्काकाक्षा विचिकित्सा [त० सू० ७।२३] ३८		मुखेनैव जीवन्तो	८०२
शार्दुमित्रमुदासीन	७१५	मुदृष्टयो वापि कुदृष्टयो वा	८१५
शरीरसौग्याय न यद्वच सेवते	८२१	सुदुर्लभं मानुषजन्म	८१६
शीतापनृत्प्रावरण च दृष्ट	३५२	सुहृमा सन्ति पाणा	४१९
शीते निवात सलिलादि	७१९	सूक्ष्मे शरीरैरपि ते	७२०
शुक्र सिंघाणक श्लेष्म	४८२	संते पुत्र तित्पयरे [प्रव० सा० १।२]	३
शुक्ले चाद्य पूर्वविद [त० सू० ९।३७] १३७		सोलसविधमुद्देश [कल्प०]	३२७
शुभ न जिघ्रासति	८२०	सौम्य वाछन्नात्मनो	३४५
श्रवणविकलो वाग्धीनोऽज्ञो	७९५	स्तनधयान्त्वानपि भक्षयन्त	७२०
श्रेयोर्धना हि जिनपासन [वराङ्ग १।१३] ३९०		स्त्रोमुद्रा मकरध्वजस्य [अृ० ६०]	३४७
श्रेयाः कथ न यतयो	३४८	स्थानश्रमस्योपघमासन च	३५३
स्वशृगालवृकाभ्याघ्न	७१५	स्वबुद्धिमात्रामपि	७६१
श		स्वभावपापा कुक्कवीरिताभि	७७२
मचेलगो सुखी होदि	३२६	स्वाभाविकी यस्य भर्तिविशुद्धा	७६८
सहादिनु वि पवित्तो	३३३	स्वर्गश्च मोक्षश्च मयोपदिष्टा	८२८
ममणे वदेज्ज मेधावी	३६७	ह	
समुद्रद्वीपमध्यस्था	४८३	हयकर्णी गजकर्णी	४८३
सम्मत्त णाण दमण [] १५		हरिततणोसहिगुच्छा	५७३
सम्पदरान्शनचारिप्राणि [त० सू० १।१] ३६७		हिरिमणे वा जुग्मिदे	३२८
सम्पदृष्टि श्रावक विरता [त० सू० ९।४५] ४७		हिरि हेतुव व होइ	३२५
सर प्रविश्येह यथा नर	७२०	हिसानृतस्तेयविषय [त० सू० ५।३५]	७५४

पारिभाषिक शब्दानुक्रमणी

अ

अच्छेज्ज (दोष)	२४६	आगमभाव सामायिक	१५२
अथालन्द विधि	१९७	आगमभाव मिद्ध	५, ८५८
अद्वानशन	२३७	आगमभाव अहंन्	८४
अद्वायु	५०	आगमभाव नमस्कार	४७१
अनशन	१९	आचार्य	८६
अनशन के भेद	२३६	आजीव (दोष)	२४७
अनभिगृहीत मिथ्यात्व	०९	आजीव कुशील (मुनि)	८५५
अनायतन	८१	आशाविचय	७५८
अनिसृष्ट (दोष)	२४६	आदान निक्षेप समिति	
अनुभवावीचिकामरण	५३	आद्यन्तमरण	५३
अपामविचय (ध्यान)	७५८	आघा कर्म	२४५
अपवादिक लिंग	११३	आलोचना	२०
अप्रशस्त राग	९६	आवीचिमरण	५१
अबोधवृत्त (दोष)	२४५	आसुरो भावना	२०३
अभिगृहीत मिथ्यात्व	९९		
अभिन्न दसपूर्वी	७०	इगाल (दोष)	२४८
अभियोग्य भावना	२२३	इगिनी मरण	८७६
अभाहिड (दोष)	२४६	इन्द्रिय	१४७
अदि	१४५		
अहंन्त अवर्णवाद	९१	ईर्यासमिति	५९९
अवधिमरण	५३		
अवमोदय	१९, २३७	उत्तर गुणप्रत्याख्यान	१५८
अवसन्न (मुनि)	८५३	उत्थित निपण्ण (कायोत्सर्ग)	१६२
		उत्थितोत्थित (कायोत्सर्ग)	१६०

आ

आक्षेपणी कथा	४४०	उद्गम दोष	२४५
आगमद्रव्य नमस्कार	४७०	उद्देश्य	२४५
आगमद्रव्य प्रतिक्रमण	१४६	उत्पादन दोष	२४६
आगमद्रव्य सिद्ध	५, ८४	उद्भिन्न (दोष)	२४६
आगमद्रव्य अहंन्	८४	उद्यवन	८
आगमभाव नमस्कार	४७१	उद्योनन	९
आगमभाव प्रतिक्रमण	१५६	उन्मिथ दोष	२४८
		उपकरणवकुश	८५४
		उपाध्याय	८६

	पृ०		प०
उभय शुद्धि	१४५	ग	
उपमा सत्य	६०२	गच्छ प्रतिबद्ध अथालन्दक	२०१
उवसपा गमाचार	३८०	गिद्धपुद्ग मरण	५७
ए		गुप्ति	३७, १४७
एकत्व वितर्क अवीचार	८३७	घ	
एकत्व भावना	८३४	चारित्र	१९
एकान्त मिथ्यात्व	४६	चारित्राचार	८६, ३७९
एषणा समिति	६०४	चिकित्सा दोष	२४७
ओ		चैत्य अवर्णवाद	९१
ओसण मरण	५५	चैत्य वर्ण जनन	८८
ओ		च्यावित्त	४७१
औत्सर्गिक लिंग	११३	च्युत (शरीर)	८७०
औपशमिक सम्यक्त्व	६७	छ	
क		छेद (प्रायश्चित्त)	२०
कक्व कुशील	८५५	ज	
कन्दर्प भावना	२२२	जनपद सत्य	६०१
कपाय	१४७	जिन कल्प	२०५
कायक्लेश	१९, ०४२	जिन वचन	१०
कायगुप्ति	५९७	जीवाधिकरण	४२४
कापोत्सर्ग	१६१	जायक शरीर अर्हन्ताम	८४
काल प्रतिक्रमण	१५५	ज्ञानाचार	८६, ३१९
काल प्रतिसेवना	३५७	ठ	
काल प्रत्यात्मान	१५८	ठविद	१४१
काल ससार	३४२, ७९१	त	
किल्बिष भावना	२२२	तद्भव मरण	५३
कुशील मुनि	८५४	तद्व्यतिरिक्त द्रव्याहंम्	८४
कुहन कुशील	८५५	तपाचार	८६, ३१९
कौतुक कुशील (मुनि)	८५४	त्यक्त (शरीर)	४७१
धार्मिक सम्यक्त्व	६७	द	
धामोपनिषदिक सम्यक्त्व	६७	दर्शनाचार	८६, ३१९
क्षेत्र प्रतिक्रमण	१५५	दायक दोष	२४८
क्षेत्र प्रतिसेवना	१५६	दूत कर्म दोष	२४७
क्षेत्र प्रत्यास्थान	१५८	देह बबुन	८४४
क्षेत्र ससार	३४२, ७९०	द्रव्य क्रीत	२४६

	पृ०		पृ०
द्रव्य पूजा	८७	निस्तरण	८
द्रव्य प्रतिक्रमण	१५५	नो आगम द्रव्य नमस्कार	४७०
द्रव्य प्रतिमेवना	२५६	नो आगम द्रव्य व्यतिरिक्त कर्म प्रतिक्रमण	१५६
द्रव्य प्रत्याख्यान		नो आगम द्रव्य प्रतिक्रमण	१५६
द्रव्य प्राण	६९	नो आगम द्रव्य तद्व्यतिरिक्त कर्मसामायिक	१५३
द्रव्य शून्य	३०८	नो आगम द्रव्य सामायिक	१५३
द्रव्य श्रिति	२१७	नो आगम द्रव्य मिद्ध	५, ८५
द्रव्य सकार	३४१, ७८९	नो आगम भाव चतुर्विधगतिस्त्व	१५४
		नो आगम भाव नमस्कार	४७०
घ		नो आगम भाव प्रतिक्रमण	१५६
घर्म	८५	नो आगम भाव सामायिक	१५३
घर्म अवर्ण वाद	९२	नो आगम भाव सिद्ध	५
घर्म वर्ण जनन	८९		
घर्मानुकम्पा	८१४	प	
घर्मव्यान	७६९	पण्डित मरण	५४
घात्रोदोष	२४७	परिहृत	२, २६६
घूम दोष	२६८	परिहार मयम द्विग	२०१
घुनिबल भावना	२३४	पादुकार	२४६
		पादोपगमन मरण	६४
न		पाञ्चस्यमुनि	८५४
नाम अहं	८३	पाट्टडिग	२४६
नाम नमस्कार	४७०	पामिच्छ (दोष)	२४६
नाम प्रतिक्रमण	१५५	प्राप्तिगमन मरण	६४
नाम प्रत्याख्यान	१५७	पिहिना (दोष)	२६८
नाम सून्य	६०१	पुनिक (दोष)	२४५
नाम सामायिक	१५३	पूयकत्व वितर्कवोचर	८३५
नाम मिद्ध	४, ८४	प्रतिक्रमण	२०, ३०, १५५, १५७
निक्षिप्ता (वमनि)	१६८	प्रतिष्ठापना मयिति	६०५
निदान	६१३	प्रतीत्यमन्य	६०१
निमित्त दोष	२४७	प्रत्याख्यान	१५७
निमित्त कुशोल	८५५	प्रदेश बोधिकामरण	५३
निर्वहण	८	प्रपातन कुशोल	८५५
निर्वाण	३३	प्रयो विनय	१५५
निर्वेजनी कथा	४४०	प्रमाणाविदेक दोष	२६८
निःशून्य	१-९	प्रवचन माता	६००
निःशून्य-निःशून्य (कायोन्मर्ग)	१६३		

प्रसास्तराग

प्रसेनिका कुशील

ब

बलायमरण

बाल पण्डितमरण

बाल मरण

भ

भक्त प्रत्याख्यान

भक्ति

भव ससार

भवामु

भाव क्रीत

भाव पूजा

भाव प्रत्याख्यान

भाव प्राण

भाव शल्य

भाव धिति

भाव सत्य

भाव ससार

भावि प्रनिद्रमण

भावि सामायिक

भावि सिद्ध

भाषा समिति

भूति कुशील (मुनि)

भ

मनोगुप्ति

मालारोह

मित्र (दोष)

मित्रानुकम्पा

मूल (प्रायश्चित्त)

मूल कर्म दोष

मूल गुण प्रत्याख्यान

मिश्रित दोष

पृ०

२५

८५५

५७

५७

५२

१५८

८७

३४२

४९

२४६

८७

१५८

४९

३९४

२१७

६०१

३४१

७९२

१५६

१५३

५, ८५

६००

८५५

५९५

२४६

२४५

८१५

२७

२४७

१५८

२४७

यथाच्छन्द मुनि
योग

रस परित्याग

रूपसत्य

वचन गुप्ति

वर्णिगवा दोष

वन्दना

वर्ण जनन

वसट्टमरण

विक्षेपणी कथा

विनय

विपरीत भिष्यात्व

विपाक विषय

विष्माणस मरण

विवेक शय्यासन

विवेक

विवेक (के भेद)

वीतरागसम्यग्दर्शन

वीर्याचार

वृत्तिपरिसरस्यान

वैयावृत्य

व्यञ्जनशुद्धि

व्यवहार सत्य

शङ्कित दोष

शुद्धनय

श्रुत

श्रुत भवर्णबाद

श्रुत भावना

श्रुत वर्णजनन

घ

र

व

श

पृ०

८५६

४४

१९, २३८

६०१

५९५

२४७

१५४

८७

५७

४४०

२०, ३०

४७

७५८

५९

२०, २४४

२७

२१४

१६

८६, ३१९

१९, २४०

१४४

६०१

२४७

१७

८५

९२

२२८

८८

स	पृ०	सर्वावधिभरण	पृ०
सभावनासत्य	६०१	सशत्यभरण	५३
समूर्च्छनाकुशील	८५५	सामाचारी	१९३
समाह भावना	२२४	साहारण दोष	२४८
मयोजना	४९५	माधु अवर्णवाद	९२
सर्वेजमी कथा	४४१	साधु वर्णजनन	९०
सशय मिथ्यात्व	४७	सामायिक	१५०, १५५
ससक (मुनि)	८५६	मिद्ध अवर्णवाद	९१
सस्तव दोष	२६७	सिद्ध वर्णजनन	८८
सत्यान विचय	७५८	सूक्ष्मक्रिय ध्यान	८३८
सत्त्वभावना	२३१	स्थापना प्रतिक्रमण	१५५
समिति	३७, १६८	स्थापना प्रत्याख्यान	१५८
मम्भति सत्य	६०१	स्थापना सत्य	६०१
सराग संन्यक्त्व	९६	स्थापना मिद्ध	५, ८४
सर्वानरान	२३७	स्थापना सामायिक	१५३
सर्वानुकम्पा	६१४	स्वाध्याय	१७८



अशुद्धि-शुद्धि पत्रक

पृ०	प०	अशुद्धि	शुद्धि	पृ०	प०	अशुद्धि	शुद्धि
२	१०	रत्न प्रकष	रत्न प्रकर्ष	४४९	८	जत्प	जन्म
७	४	चचित्तिमि	चचित्तिमिति	४५०	१०	तेल्लकायादमोहि	तेल्लकमायादोहि
१०	२	चरित्तिमि	चरित्तिमि	४६८	२	शील	मोल
१४	१३	ज्ञानमे	ज्ञानमेदे	४९६	१४	तत्मान्दि	नन्मादि
४७	१०	वस्तुस्वरूपाव-	वस्तुस्वरूपानव	५०७	१	कक्कम्म	कक्कम्म
५९	११	गिडतुट्टु	गिडपुट्टु	५३७	११	दिट्टुपि	दिट्टुपि प
७२	६	आकग	आकाश	५६५	१	इदियकत्तय	इदियकत्ताय
१६७	४	इच्चेवमानि	इच्चेवमादि	६०६	७	पडते	पडति
१६७	८	पूयावयण	पूयावयण	६२८	१२	स्वनन्निवि	स्वनन्निव
१७१	४	आयारजोव	आयारजोद	६३३	९	अज्जपरदो	अज्जप्परदो
२५५	१४	लाघव	लाघव	६४७	७	मह	तुह
२९८	३	वासत्प	पासत्प	६७१	१३	बाइद्ध	बावद्ध
३००	१०	सत्तो	सत्ता	६९९	१	कडुव	कडुगं
३०४	१	वरस्त	परस्त	७१६	९	पातयाप्पेन	पातयाम्पेन
३१३	१७	सल्ल उट्टारदु	सल्ल उट्टरिदु	७२३	१५	जत्ते	ज ते
३२६	८	उपत्त गंस	उपमर्गं स	७३८	११	पुणरिव	पुणरवि
३६०	२	किल्लामिदगो	गिल्लामिदगो	७४१	१	णिमिसेण	णिमिसेण
३७७	११	मइसपणो	मइमपणो	७८३	१२	कोह	कोइ
३९२	८	आपेण	बोधेण	८६९	७	भयवत्तो	भयवत्ता
४०२	१०	किरियम्म	किरियम्म				